आचार्य अमितगति विरचित

धर्मपरीक्षा

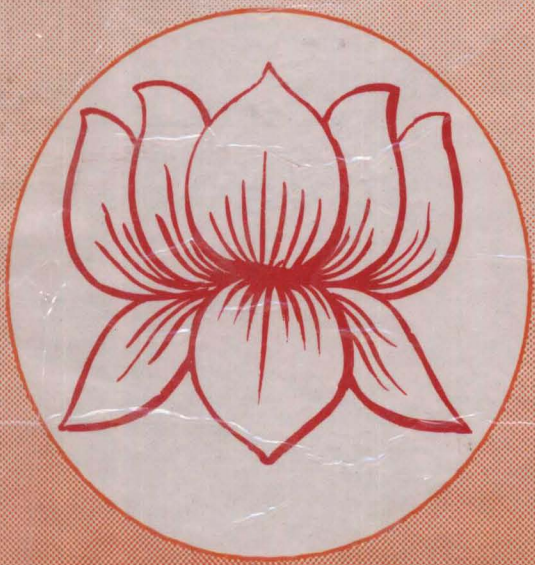

भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत परिषद्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानदिवाकर, मर्यादा शिष्योत्तम, प्रशांतमूर्ति
आचार्यश्री भरतसागर जी महाराज की स्वर्णजयंती वर्ष के उपलक्ष में :

आचार्य अमितगति विरचित

धर्मपरीक्षा

सम्पादक एवं अनुवादक
पण्डित बालचन्द्र शास्त्री

अर्थ सहयोगी
श्री सतीश कुमार जैसवाल, कलकत्ता

भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद् पुष्प संख्या –१०२
आचार्यश्री भरतसागर जी महाराज की स्वर्णजयंती पुष्प संख्या –२५

आशीर्वाद : आचार्यश्री भरतसागर जी महाराज

स्वर्ण जयंती वर्ष निर्देशन : आर्यिका स्याद्वादमती माता जी

ग्रन्थ : **धर्मपरीक्षा**

प्रणेता : **आचार्य अमितगति**

सम्पादक : **पण्डित बालचन्द्र शास्त्री**

सर्वाधिकार सुरक्षित : भा० अ० वि० परि०

संस्करण : प्रथम
वीर नि० सं० २५२४ सन् १९९८

पुस्तक प्राप्ति–स्थान : आचार्य श्री भरतसागर जी महाराज संघ

I.S.B.N. 81-8583-04-3

मुद्रक : वर्द्धमान मुद्रणालय
जवाहरनगर कालोनी, वाराणसी-१०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य श्री विमल सागर जी

तुभ्यं नमः परम धर्म प्रभावकाय,
तुभ्यं नमः परम तीर्थ सुवन्दकाय।
'स्याद्वाद' सूक्ति सरणि प्रतिबोधकाय,
तुभ्यं नमः विमल सिन्धु गुणार्णवाय ॥

आचार्य श्री भरत सागर जी

आचार्यश्री भरतसिन्धु नमोस्तु तुभ्यं,
हे भक्तिप्राप्त गुरुवर्य्य नमोस्तु तुभ्यं।
हे कीर्तिप्राप्त जगदीश नमोस्तु तुभ्यं,
भव्याब्ज सूर्य गुरुवर्य्य नमोस्तु तुभ्यं ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समर्पण

प. पू. वात्सल्य रत्नाकर आचार्य श्री
१०८ विमलसागर जी महाराज के
पट्ट शिष्य
मर्यादा-शिष्योत्तम
ज्ञान-दिवाकर
प्रशान्त-मूर्ति
वाणीभूषण
भुवनभास्कर
गुरुदेव आचार्य श्री १०८ भरतसागर जी महाराज
की स्वर्ण जयन्ती के उपलक्ष में
आपके श्री कर–कमलों में ग्रन्थराज
सादर–समर्पित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तावना

धर्मपरीक्षा

१. हस्तलिखित ग्रन्थोंकी संकलित सूची देखते समय धर्मपरीक्षा[1] नामक जैन ग्रन्थोंकी एक बहुत बड़ी संख्या हमें दृष्टिगोचर होती है। इस लेखमें हम विशेषतया उन्हीं धर्मपरीक्षाओंका उल्लेख कर रहे हैं, जिनकी रचनाओंमें असाधारण अन्तर है।

[१] हरिषेणकृत धर्मपरीक्षा—यह अपभ्रंश भाषामें है और हरिषेणने सं. १०४४ (=५६ सन् ९८८) में इसकी रचना की है।

[२] दूसरी धर्मपरीक्षा अमितगतिकी है। यह माधवसेनके शिष्य थे। ग्रन्थ संस्कृतमें है और सं. १०७० (सन् १०१४) में यह पूर्ण हुआ।

[३] तीसरी धर्मपरीक्षा नृत्तविलासकी है। यह कन्नड़ भाषामें है और ११६० के लगभग इसका निर्माण हुआ है।

[४] चौथी संस्कृत धर्मपरीक्षा सौभाग्यसागरकी है। इसकी रचना सं. १५७१ (सन् १५१५) की है।

[५] पाँचवीं संस्कृत धर्मपरीक्षा पद्मसागरकी है। यह तपागच्छीय धर्मसागर गणीके शिष्य थे। इस ग्रन्थकी रचना सं. १६४५ (सन् १५८९) में हुई।

[६] छठी संस्कृत धर्मपरीक्षा जयविजयके शिष्य मानविजय गणीकी है, जिसे उन्होंने अपने शिष्य देवविजयके लिए विक्रमकी अठारहवीं शताब्दीके मध्यमें बनाया था।

[७] सातवीं धर्मपरीक्षा तपागच्छीय नयविजयके शिष्य यशोविजयकी है। यह सं. १६८० में उत्पन्न हुए थे और ५३ वर्षकी अवस्थामें परलोकवासी हो गये थे। यह ग्रन्थ संस्कृतमें है और वृत्ति सहित है।

[८] आठवीं धर्मपरीक्षा तपागच्छीय सोमसुन्दरके शिष्य जिनमण्डनकी है।

[९] नवीं धर्मपरीक्षा पार्श्वकीर्तिकी है।

[१०] दसवीं धर्मपरीक्षा पूज्यपादकी परम्परागत पद्मनन्दिके शिष्य रामचन्द्रकी है जो देवचन्द्रकी प्रार्थनापर बनायी गयी।

यद्यपि ये हस्तलिखित रूपमें प्राप्य हैं और इनमें-से कुछ अभी प्रकाशित भी हो चुकी हैं। लेकिन जबतक इनके अन्तर्गत विषयोंका अन्य ग्रन्थोंके साथ सम्पूर्ण आलोचनात्मक तथा तुलनात्मक अध्ययन नहीं किया गया है तबतक इनमें-से अधिकांश हमारे लिए नाममात्र ही हैं।

२. यह अमितगतिकी धर्मपरीक्षा है, जिसका पूर्ण रूपसे अध्ययन किया गया है। मिरोनोने इसके विषयोंका सविस्तर विश्लेषण किया है। इसके अतिरिक्त इसकी भाषा और छन्दोंके सम्बन्धमें आलोचनात्मक रिमार्क भी किये हैं। कहानीकी कथावस्तु किसी भी तरह जटिल नहीं है। मनोवेग जो जैनधर्मका दृढ़ श्रद्धानी है, अपने मित्र पवनवेगको अपने अभीष्ट धर्ममें परिवर्तित करना चाहता है और उसे पाटलिपुत्रमें ब्राह्मणोंकी सभामें ले जाता है। उसे इस बातका पक्का विश्वास कर लेना है कि ब्राह्मणवादी मूर्ख मनुष्योंको उन दस

१. अनेकान्त वर्ष ८, कि. १, प. ४८ आदि से साभार उद्धृत।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रेणियोंमें-से किसीमें नहीं हैं जिनके बारेमें दस कहानियाँ सुनाई जाती हैं और जिनकी अन्तिम कथामें चार धूर्तोंकी वे अद्भुत कहानियाँ सम्मिलित हैं, जिनमें असत्य या अतिशयोक्तिसे खूब ही काम लिया गया है। मनोवेग ब्राह्मणवादियोंकी भिन्न-भिन्न सभाओंमें जाकर अपने सम्बन्धमें अविश्वसनीय कथाएँ तथा मूर्खतापूर्ण घटनाएँ सुनाता है। जब वे इनपर आश्चर्य प्रकट करते हैं और मनोवेगका विश्वास करनेके लिए तैयार नहीं होते हैं तो वह महाभारत, रामायण तथा अन्य पुराणोंसे तत्सम कहानियोंका हवाला देकर अपने व्याख्यानोंकी पुष्टिके लिए प्रयत्न करता है। इन समस्त सभाओंमें सम्मिलित होनेसे पवनवेगको विश्वास हो जाता है कि पौराणिक कथाओंका चरित्रचित्रण अस्वाभाविक और असंगत है और इस तरह वह मनोवेगके विश्वासमें पूर्णरीतिसे परिवर्तित हो जाता है।

ग्रन्थका विषय स्पष्टतया तीन भागोंमें विभक्त है। जहाँ कहीं अवसर आया, अमितगतिने जैन सिद्धान्तों और परिभाषाओंका प्रचुरतासे उपयोग करते हुए लम्बे-लम्बे उपदेश इसमें दिये हैं। दूसरे, इसमें लोकप्रिय तथा मनोरंजक कहानियाँ भी हैं जो न केवल शिक्षाप्रद हैं बल्कि जिनमें उच्चकोटिका हास्य भी है और जो बड़ी ही बुद्धिमत्ताके साथ ग्रन्थके सर्वांगमें गुम्फित है। अथ च—अन्तमें ग्रन्थका एक बड़ा भाग पुराणोंकी उन कहानियोंसे भरा हुआ है जिनको अविश्वसनीय बतलाते हुए प्रतिवाद करना है। तथा कहीं सुप्रसिद्ध कथाओंके जैन रूपान्तर भी दिये हुए हैं, जिनसे यह प्रमाणित होता है कि वे कहाँ तक तर्कसंगत हैं।

जहाँ तक अमितगति की अन्य रचनाओं और उनकी धर्मपरीक्षाकी उपदेशपूर्ण गहराईका सम्बन्ध है, यह स्पष्ट है कि वे बहुत विशुद्ध संस्कृत लिख लेते हैं। लेकिन धर्मपरीक्षामें और विशेषतः सुप्रसिद्ध उपाख्यानोंकी गहराईमें हमें बहुत बड़े अनुपातमें प्राकृतपन देखनेको मिलता है। इससे सन्देह होता है कि अमितगति किसी प्राकृत रचनाके ऋणी रहे हैं। पौराणिक कहानियोंकी असंगतिको प्रकाशमें लानेका ढंग इससे पहले हरिभद्रने अपने धूर्ताख्यानमें अपनाया है। ये लोकप्रिय आख्यान, धार्मिक पृष्ठभूमिसे विभक्त करने-पर भारतीय लोकसाहित्यके विशुद्ध अंश हैं और मानवीय मनोविज्ञानके सम्बन्ध में एक बहुत सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि-का निर्देश करते हैं।

३. वृत्तविलासकी धर्मपरीक्षा, जो लगभग सन् ११६० की रचना है, कन्नड़ भाषाका एक चम्पू ग्रन्थ है। यह दस अध्यायोंमें विभक्त है। ग्रन्थकारका कहना है कि इस ग्रन्थकी रचना इससे पूर्ववर्ती संस्कृत रचनाके आधारपर की गयी है और तुलना करनेपर हमें मालूम होता है कि इन्होंने अमितगतिका अनुसरण किया है। यद्यपि वर्णनकी दृष्टिसे दोनोंमें अन्तर है, लेकिन कथावस्तु दोनोंकी एक ही है।

यह कन्नड़ धर्मपरीक्षा अब भी हस्तलिखित रूपमें ही विद्यमान है। और प्राक्काव्यमालिकामें प्रकाशित ग्रन्थोंसे मालूम होता है कि वृत्तविलास गद्य और पद्य दोनों ही में बहुत सुन्दर कन्नड़ शैलीमें लिखते हैं।

४. पद्मसागरकी धर्मपरीक्षा जो सन् १६४५ ई. की रचना है, पं. जुगलकिशोरजीके खोजपूर्ण अध्ययनका विषय रही है। वे इसके सम्बन्धमें निम्नलिखित निष्कर्षपर पहुँचे हैं—पद्मसागरने अमितगतिकी धर्मपरीक्षासे १२६० पद्य ज्योंके त्यों उठा लिये हैं। अन्य पद्य भी इधर-उधरके साधारण-से हेर-फेरके साथ ले लिये गये हैं। कुछ पद्य अपने भी जोड़ दिये हैं। इन्होंने सर्गोंका कोई विभाग नहीं रखा है। अमितगतिके नामके समस्त प्रत्यक्ष और परोक्ष उल्लेख बड़ी चतुराईके साथ उड़ा दिये गये हैं। इस तरह पद्मसागरने अपनी रचनामें अमितगतिका कहीं नाम निर्देश तक नहीं किया। इनकी यह साहित्यिक चोरी साम्प्रदायिक दृष्टिबिन्दुको ध्यानमें रखते हुए सफल रूपमें नहीं हुई है और यही कारण है कि इस ग्रन्थमें कुछ इस प्रकारके भी वर्णन हैं जो श्वेताम्बर सिद्धान्तोंके सर्वथा अनुरूप नहीं हैं। इस तरह पद्मसागरने अमितगतिका पूर्णतया अनुसरण ही नहीं किया है, बल्कि उनकी धर्मपरीक्षाकी नकल तक कर डाली है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. इस निबन्धमें हम उन धर्मपरीक्षाओंकी चर्चा नहीं कर रहे हैं जिनकी हस्तलिखित प्रति या संस्करण हमें अबतक प्राप्त नहीं हो सके हैं। यहाँ हम केवल हरिषेणकी धर्मपरीक्षाके सम्बन्धमें प्रकाश डालना चाहते हैं। इस ग्रन्थकी मुख्य विशेषता यह है कि यह ग्रन्थ अपभ्रंश भाषामें है और अमितगतिकी संस्कृत धर्मपरीक्षाके २६ वर्ष पहले इसकी रचना हुई है। वस्तुतः उपलब्ध धर्मपरीक्षा ग्रन्थोंमें यह सर्वप्रथम रचना है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थमें जयरामकी एक प्राकृत धर्मपरीक्षाका उल्लेख आता है जो इसके पहले की है और जो अबतक प्रकाशमें नहीं आ सकी है।

हरिषेणकृत धर्मपरीक्षा

१. पूनाके भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूटमें हरिषेणकृत धर्मपरीक्षाकी दो हस्तलिखित प्रतियाँ (नं. ६१७, १८७५-७६ की और १००९, १८८७-९१ की) विद्यमान हैं। यद्यपि १००९ की प्रतिपर तिथि नहीं है, किन्तु कागज और लिखावट की दृष्टिसे यह दूसरीकी अपेक्षा आधुनिक प्रतीत होती है। यह प्रति खूब सुरक्षित है, किन्तु इसके ५६ ए., ५७,६९,६९ ए. पन्नोंमें कुछ नहीं लिखा है। और पुस्तककी मूल सामग्रीमें-से कुछ स्थल छूट गया है। नं. ६१७ वाली प्रति आकार-प्रकार में इसकी अपेक्षा पुरानी है। इसकी कोरें फटी हैं, कागज पुराना है और कहीं-कहीं पदि मात्राओंका उपयोग किया गया है। इसमें सं. १५६५ लिखा है और किसी दूसरेके हाथका अपूर्ण रिमार्क भी है जो इस बातको सूचित करता है कि यह प्रति १५३८ से भी प्राचीन है। इसका १३७वाँ पृष्ठ कुछ त्रुटित है और चौथा पृष्ठ गायब है। दोनों प्रतियोंके मिलानेसे सम्पूर्ण ग्रन्थ तैयार हो जाता है और प्रथम सन्धिकी सूक्ष्म तुलनासे प्रतीत होता है, दोनों ही प्रतियाँ सर्वथा स्वतन्त्र हैं—एक दूसरेकी प्रतिलिपि नहीं।

२. यह ग्रन्थ ११ सन्धियोंमें विभक्त है और प्रत्येक सन्धिमें १७ से लेकर २७ कडवक हैं। इस तरह भिन्न-भिन्न सर्गोंमें कडवकोंकी संख्या निम्न प्रकार है—

१ = २०, २ = २४, ३ = २२, ४ = २४, ५ = ३०, ६=१९, ७ = १८, ८=२२, ९=२५, १०= १७, ११ = २७। इस तरह कुल मिलाकर २३८ कड़वक हैं। इनकी रचना भिन्न-भिन्न अपभ्रंश छन्दोंमें है, जिनमें-से कुछ तो खास तौरसे इस ग्रन्थमें रखे गये हैं। कुल पद्य-संख्या, जैसी कि हस्तलिखित प्रतिमें लिखी है, २०७० होती है। सन्धियोंके उपसंहार या पुष्पिकामें लिखा है कि यह धर्मपरीक्षा—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष-स्वरूप चार पुरुषार्थोंके निरूपणके लिए बुध हरिषेणने बनायी है। उदाहरणके लिए ग्रन्थकी समाप्तिके समयकी सन्धि-पुष्पिका इस प्रकार है—

इय धम्म परिक्खाए चउ वग्गाहिट्ठियाए
बुह हरिषेण-कयाए एयारसमो संधि सम्मत्तो।

३. हरिषेणने अन्य अपभ्रंश कवियोंकी तरह कड़बकोंके आदि और अन्तमें अपने सम्बन्धमें बहुत-सी बातोंका निर्देश किया है। उन्होंने लिखा है कि मेवाड़ देशमें विविध कलाओंमें पारंगत एक हरि नामके महानुभाव थे। यह सिरि-उजउर (सिरि ओजपुर) के धक्कड़ कुल के वंशज थे। इनके एक धर्मात्मा पुत्र था, जिसका नाम गोवड्ढण (गोवर्धन) था। उसकी पत्नीका नाम गुणवती था, जो जैनधर्ममें प्रगाढ़ श्रद्धा रखती थी। उसके हरिषेण नामका एक पुत्र हुआ जो विद्वान् कविके रूपमें विख्यात हुआ। उसने अपने किसी कार्यवश (णियकज्जें) चित्तउडु (चित्रकूट) छोड़ दिया और वह अचलपुर चला आया। वहाँ उसने छन्द और अलंकार शास्त्रका अध्ययन किया और प्रस्तुत धर्मपरीक्षाकी रचना की। प्रासंगिक पंक्तियाँ नीचे उद्धृत की जाती हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्धि ११, कड़वक २६

इय मेवाड-देसि-जण-संकुलि, सिरि उजउर-णिग्गय-धक्कड कुलि ।
पाव-करिंद-कुंभ-दारुण-हरि, जाउ कलाहिं कुसलु णामे हरि ।
तासु पुत्त पर-णारि-सहोयरु, गुण-गण-णिहि कुल-गयण-दिवायरु ।
गोवड्ढणु णामे उप्पण्णउ, जो सम्मत्त-रयण-संपुण्णउ ।
तहो गोवड्ढणासु पिय गुण वइ, जा जिणवर-पय णिच्च वि पणवइ ।
ताए जणिउ हरिसेण-णाम सुउ, जो संजाउ विबुह-कइ-विस्सुउ ।
सिरि चित्तउडु चइवि अचलउरहो, गउ णिय-कज्जें जिण-हर-पडरहो ।
तहिं छंदालंकार पसाहिय, धम्मपरिक्ख एह तें साहिय ।
जे मज्झत्थ-मणुय आयण्णहिं, ते मिच्छत्त-भाउ अवगण्णहिं ।
तें सम्मत्त जेण मलु खिज्जइ, केवलणाणु ताण उप्पज्जइ ।

घत्ता—तहो पुणु केवलणाणहो णेय-पमाणहो जीव-पएसहिं सुहडिउ ।
ताहा-रहिउ अणंतउ अइसयवंतउ मोक्ख-सुक्ख-भलु पयडियउ ।

सन्धि ११, कडवक २७—

विक्कम-णिव परिवत्तिय-कालए, ववगयए वरिस-सहस च० लए ।
इय उप्पणु भविय-जण-सुहयरु, डंभ-रहिय-धम्मासव-सरयरु ।

बुध हरिषेणने इस ग्रन्थ की रचनाका कारण इस प्रकार बतलाया है—कि ९० बार मेरे मनमें आया कि यदि कोई आकर्षक पद्य रचना नहीं की जाती है तो मानवीय बुद्धिका प्राप्त होना बेकार है। और यह भी सम्भव है कि इस दिशामें एक मध्यम बुद्धिका आदमी उसी तरह उपहासास्पद होगा, जैसा कि संग्राम-भूमिसे भागा हुआ कापुरुष होता है। फिर भी अपनी छन्द और अलंकार सम्बन्धी कमजोरी जानते हुए भी उन्होंने जिनेन्द्र धर्मके अनुराग और सिद्धसेनके प्रसादसे प्रस्तुत ग्रन्थ लिख ही डाला। इस बातकी झिझक न रखी कि हमारी रचना किस दृष्टिसे देखी जायेगी।

४. हरिषेणने अपने पूर्ववर्तियोंमें चतुर्मुख, स्वयम्भू और पुष्पदन्तका स्मरण किया है। वे लिखते हैं—चतुर्मुखका मुख सरस्वतीका आवासमन्दिर था। स्वयम्भू लोक और अलोकके जाननेवाले महान् देवता थे और पुष्पदन्त वह अलौकिक पुरुष थे जिनका साथ सरस्वती कभी छोड़ती ही नहीं थी। हरिषेण कहते हैं कि इनकी तुलनामें मैं अत्यन्त मन्दमतिका मनुष्य हूँ। पुष्पदन्तने अपना महापुराण सन् ९६५ में पूर्ण किया है। स्वयम्भूकी अपेक्षा चतुर्मुख पूर्ववर्ती हैं।

धर्मपरीक्षा, पहले जयरामने गाथा-छन्दमें लिखी थी और हरिषेणने उसीको पद्धड़िया छन्दमें लिखा है।

उपरिलिखित बातें प्रारम्भके कड़वकमें पायी जाती हैं, जो इस प्रकार हैं—

सन्धि १, कड़वक १ —

सिद्धि-पुरंधिहि कंतु सुद्धें तणु-मण-वयणें । भत्तिय जिणु पणवेवि चिंतिउ वुह-हरिसेणें ॥
मणुय-जम्मि बुद्धिए कि किज्जइ, मणहरु जाइ कव्वु ण रइज्जइ ।
तं करंत अवियाणिय आरिस, हासु लहहिं भड रणिगय पोरिस ।
चउमुहं कव्वविरयणि सयंभुवि, पुप्फयंतु अण्णाणु णिसुंभिवि ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तिण्णि वि जोग्ग जेण तं सीयइ, चउमुह-मुहे थिय ताव सरासइ ।
जो सयंभु सा देउ पहाणउ, अह कह लोयालोय-वियाणउ ।
पुप्फयंतु णवि माणुसु वुच्चइ, जो सरसइए कयावि ण मुच्चइ ।
ने एवंविह हउ जडु झांणउ, तह छंदालंकार-विहूणउ
कव्वु करंतु केम णवि लज्जमि, तह विसेस पिय-जणु किह रंजमि ।
तो वि जिणिंद-धम्म-अणुराएं, वुह-सिरि-सिद्धसेण सुपसाएं ।
करमि सयं जि णलिणि-दल-थिउजलु, अणुहरेइ णिरुवमु मुत्ताहलु ।

घत्ता—जा जयरामें आसि विरइय गाह पवंधि ।
साहमि धम्मपरिक्ख सा पद्धड़िया वंधि ॥

मालूम होता है सिद्धसेन हरिषेणके गुरु रहे हैं और इसीलिए सिद्धसेन अन्तिम सर्गमें भी इस प्रकार स्मरण किये गये हैं—

सन्धि ११, कड़वक २५—

घत्ता—सिद्धसेण पय वंदहिं दुक्किउ णिंदहिं जिण हरिसेण णवंता ।
तहिं थिय ते खग-सहयर कय-धम्मायर विविह सुहइं पावंता ॥

दोनों धर्मपरीक्षाओंकी तुलना

इन तथ्योंको ध्यानमें रखते हुए हरिषेण और अमितगतिके ग्रन्थोंका नाम एक ही है और एक रचना दूसरीसे केवल २६ वर्ष पहलेकी है, यह अस्वाभाविक न होगा कि हम दोनों रचनाओंकी विस्तारके साथ तुलना करनेके लिए तत्पर हों । दोनों ग्रन्थोंमें उल्लेखनीय समानता है और जहाँ तक घटनाचक्रके क्रमका सम्बन्ध है अमितगतिकी धर्मपरीक्षाके विभिन्न सर्ग हरिषेणकृत धर्मपरीक्षाकी विभिन्न सन्धियोंकी तुलनामें स्थूल रूपसे विभक्त किये जा सकते हैं—हरि. १=अमित. १,१७–३,४३; हरि. २=अमित., ३,४४-७, १८; हरि. ३=अमित. ७, १९—१०, ५१; हरि. ४=अमित., १०, ५२–१२, २६; हरि, ५=अमित. २१, २७–१३; हरि. ६ । हरिषेणने लोकस्वरूपका जो विस्तृत वर्णन किया है वह उस कोटिका अमितगतिकी रचनामें एक जगह नहीं है । हरि. ७=अमित. १४, १—१५ १७; हरि. ८=अमित. १५, १८ आदि; हरि. ९=अमित. १६, २१ इत्यादि हरि. १०=कल्पवृक्षोंके वर्णनके लिए अमितगतिकी धर्मपरीक्षाका १८वाँ सर्ग देखिए और हरि. ११=अमित. २०, कुछ प्रारम्भिक पद्य ।

कुछ स्थानोंमें ठीक-ठीक समानता इस कारण नहीं मालूम की जा सकती है कि दोनों रचनाओंमें एक ही स्थानपर शिक्षाप्रद और सैद्धान्तिक चर्चाएँ समान कोटिकी नहीं पायी जातीं । लोकस्थितिके जो विवरण हरिषेणने सातवीं सन्धिमें दिये हैं उन्हें अमितगतिने उन्हींके समानान्तर स्थानपर सम्मिलित नहीं किया है और न उन्होंने अपनी रचनामें कहीं भी उतने विस्तारके साथ उन्हें दिया है । हरिषेणने आठवें सर्गके कतिपय कड़वकोंमें रामचरितके सम्बन्धमें कुछ जैन शास्त्रानुसारी कथाएँ लिखी हैं । लेकिन अमितगति इन कथाओंको बिलकुल उड़ा गये हैं । इसी कारण हरिषेणने ११वें सर्गमें अपने सिद्धान्तोंसे अनुरंजित रात्रिभोजन-विरमण-के सम्बन्धमें जो एक विशेष कथा दी थी वह भी उन्होंने कुछ सैद्धान्तिक निरूपणोंके साथ बिलकुल उड़ा दी है, किन्तु आचारशास्त्रके अन्य नियमोंपर उन्हीं प्रकरणोंमें सबसे अधिक उपदेशपूर्ण विवेचन किया है । लेकिन इधर-उधरके कुछ इस प्रकारके प्रकरणोंको छोड़कर अमितगतिको रचनासे कुछ ऐसे पद्योंका निर्देश किया जा सकता है जो हरिषेणके कड़वकोंसे बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं । हरिषेणने अपने ग्रन्थका जो ग्यारह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्धियोंमें विभाजन किया है इसकी अपेक्षा अमितगतिका अपनी रचनाको २२ सर्गोंमें विभक्त करना अधिक अस्वाभाविक है। जहाँ तक कथानककी घटनाओं और उनके क्रमका सम्बन्ध है दोनों रचनाओंमें बहुत समानता है। विचार एक-से हैं और उन्हें उपस्थित करनेके तरीकेमें भी प्रायः अन्तर नहीं है। नैतिक नियमों, लोकबुद्धिसे पूर्ण हितकर उपदेशों तथा सारगर्भित विवेचनोंके निरूपणमें अमितगति विशेष रूपसे सिद्धहस्त हैं। भोग-विलास तथा सांसारिक प्रलोभनोंकी निन्दा करनेमें वे अधिक वाक्पटु हैं। गृहस्थ और मुनियोंके लिए जैन आचारशास्त्रके नियमानुसार जीवनके प्रधान लक्ष्यको प्रतिपादन करनेका कोई भी अवसर वे हाथ-से नहीं जाने देते। यहाँ तक कि नीरस, सैद्धान्तिक विवेचनोंको भी वे धारावाहिक शैलीमें सजा देते हैं। इस प्रकारके प्रकरणोंके प्रसंगमें हरिषेणकी धर्मपरीक्षाकी अपेक्षा अमितगतिकी रचनामें हमें अधिक विस्तार देखनेको मिलता है। यद्यपि दोनोंका कथानक एक-सा है फिर भी सैद्धान्तिक और धार्मिक विवेचनोंके विस्तारमें अन्तर है।

अमितगतिके वर्णन उच्चकोटिके संस्कृत कलाकारोंकी सालंकार कविताके नमूने हैं, जबकि हरिषेणके वही वर्णन पुष्पदन्त सरीखे अपभ्रंश कवियोंके प्रभावसे प्रभावित हैं। इसलिए नगर आदिके चित्रणमें हमें कोई भी सदृश भावपूर्ण विचार और शब्द दृष्टिगोचर नहीं होते हैं।

यद्यपि मधुबिन्दु दृष्टान्तके वर्णनमें कुछ विभिन्न प्रकार अंगीकार किया गया है। फिर भी उसके विवरण मिलते-जुलते हैं।

यदि उनका परम्परागत सिद्धान्तोंसे समन्वय न किया जाये तो यह सम्भव है कि कुछ प्रकरणोंमें-से एक-सी युक्तियाँ खोज निकाली जायें।

[१] हरिषेण १, १९

तं अवराहं खमदु वराहं। तो हसिऊणं मइवेएणं।
भणियो मित्तो तं परधुत्तो। माया—णेहिय-अप्पाणे हिय।

[१] अमितगति ३, ३६–३७

यत्त्वां धर्ममिव त्यक्त्वा तत्र भद्रं चिरं स्थितः।
क्षमितव्यं ममाशेषं दुर्विनीतस्य तत्त्वया॥
उक्तं पवनवेगेन हसित्वा शुद्धचेतसा।
को धूर्तो भुवने धूर्तैर्वञ्च्यते न वशंवदैः॥

[२] हरिषेण २, ५—

इय दुण्णि वि दुग्गय-तणय-तणं। गिण्हेविणु लक्कड-भारमिणं।
आइय गुरु पूर णिएवि मए। वायउ ण उ जायए वायमए।

[२] अमितगति ३, ८५

तं जगाद खचराङ्गजस्ततो भद्र! निर्धनशरीरभूरहम्।
आगतोऽस्मि तृणकाष्ठविक्रयं कर्तुमत्र नगरे गरीयसि।

[३] हरिषेण २. ११—

णिद्धण जाणेविणु जारएहिं। तप्पिय–आगमणास किएहिं।
मुक्की झड त्ति झाडे वि केम। परिपक्क पंथि थिय वोरि जेम।
णिय-पिय-आगमणु मुणंतियाए। किउ पवसिय-पिय-तिय-वेसु ताए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[३] अमितगति, ४.८४-८५

पत्युरागममवेत्य विटौघैः सा विलुण्ठ्य सकलानि घनानि ।
मुच्यते स्म बदरीदरयुक्तैस्तस्करैरिव फलानि पथिस्था ॥
सा विबुध्य दयितागमकालं कल्पितोत्तमसतीजनवेशा ।
तिष्ठति स्म भवने त्रपमाणा वञ्चना हि सहजा वनितानाम् ॥

[४] हरिषेण २, १५—

भणिउ तेण भो णिसुणहि गइवइ, छाया इव दुगेज्झ महिला-मइ ।

[४] अमितगति ५, ५९—

चौरीव स्वार्थतन्निष्ठा वह्निज्वालेव तापिका ।
छायेव दुर्ग्रहा योषा सन्ध्येव क्षणरागिणी ॥

[५] हरिषेण २, १६—

भणिउ ताय संसारे असारए कोवि ण कासु वि दुह-गरुयारए ।
गुय-मणुएं सहु अत्थु ण गच्छइ सयणु मसाणु जारम अणुगच्छइ ।
धम्माहम्मु णवरु अणुलग्गउ गच्छइ जीवहु सुह-दुह-संगउ ।
इय जाणेवि ताय दाणुल्लउ चित्तिज्जइ सुपत्ते अइभल्लउ ।
इट्ठ देउ णिय-मणि झाइज्जइ सुह-गइ-गमणु जेण पाविज्जइ ।

[५] अमितगति ५, ८२-८५—

तं निजगाद तदीयतनूजस्तात विधेहि विशुद्धमनास्त्वम् ।
कंचन धर्ममपाकृतदोषं यो विदधाति परत्र सुखानि ॥
पुत्रकलत्रधनादिषु मध्ये कोऽपि न याति समं परलोकम् ।
कर्म विहाय कृतं स्वयमेकं कर्त्तुमलं सुखदुःखशतानि ॥
कोऽपि परो न निजोऽस्ति दुरन्ते जन्मवने भ्रमतां बहुमार्गे ।
इत्थमवेत्य विमुच्य कुबुद्धिं तात हितं कुरु किंचन कार्यम् ॥
मोहमपास्य सुहृत्तनुजादौ देहि धनं द्विजसाधुजनेभ्यः ।
संस्मर कंचन देवमभीष्टं येन गतिं लभसे सुखदात्रीम् ॥

अमितगतिका रचना सौष्ठव

अमितगति अपनी निरूपण कलामें पूर्ण कुशल हैं और उनका सुभाषितसंदोह सालंकार कविता और अत्यन्त विशुद्ध शैलीका सुन्दर उदाहरण है। वह संस्कृत भाषाके व्याकरण और कोषपर अपना पूर्णाधिकार समझते हैं और क्रियाओंसे भिन्न-भिन्न शब्दोंकी निष्पत्तिमें उन्हें कोई कठिनाई नहीं मालूम होती। इनकी धर्मपरीक्षामें अनुसन्धान करनेपर बहुत कुछ प्राकृतपन मिलता है। लेकिन अपेक्षाकृत वह बहुत कम है और सुभाषित सन्दोहमें तो उसकी ओर ध्यान ही नहीं जाता। धर्मपरीक्षामें जो प्राकृतका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। वह केवल कुछ उधारू शब्दों तक ही सीमित नहीं है बल्कि वह अधिकांशमें धातु-सिद्ध शब्दोंके उपयोग तक पहुँच गया है जैसा कि हम कुछ उदाहरणोंसे देख सकते हैं। 'जो धातु-रूपभूत कर्म-कृदन्तके रूपमें उपयुक्त किया है वही बादकी प्राकृतमें करीब-करीब कर्तृरूपमें व्यवहृत हुआ है। और यह ध्यान देनेकी बात है कि द्विवचन और बहुवचनमें आज्ञासूचक लकारके स्थानमें स्वार्थसूचक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लकारका उपयोग किया गया है। उत्तरवर्ती प्राकृतमें भी इस प्रकारके कुछ तत्सम प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं। साथ ही एक और वास्तविक स्थिति यह है कि अमितगतिने अनायास ही जिन प्राकृत शब्दोंका उपयोग किया है, उनके स्थानपर संस्कृत शब्दोंको वह आसानीसे काममें ले सकते थे। मिरोनो तो इस निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि प्रस्तुत रचनाके कुछ अध्याय किसी प्राकृत मूल ग्रन्थके आधारसे तैयार किये गये हैं। छौहारा (७–६३) और संकारतमठ (७–१०) जैसे उपयुक्त नाम इस बातको पुष्ट करते हैं कि कुछ कथाएँ अवश्य ही किसी मूल प्राकृत रचनासे ली गयी हैं। एक स्थानपर इन्होंने संस्कृत योषा शब्दकी शाब्दिक व्युत्पत्ति बतायी है और उनके इस उल्लेखसे ही मालूम होता है कि वे किसी मूल प्राकृत रचनाको ही फिरसे लिख रहे हैं। अन्यथा संस्कृतके योषा शब्दको जुष्-जोष् जैसी क्रियासे सम्पन्न करना अमितगतिके लिए कहाँ तक उचित है ? वे पद्य निम्न प्रकार हैं—

यतो जोषयति क्षिप्रं विश्वं योषा ततो मता ।
विदधाति यतः क्रोधं भामिनी भण्यते ततः ॥
यतश्छादयते दोषैस्ततः स्त्री कथ्यते बुधैः ।
विलीयते यतश्चित्तमेतस्यां विलया ततः ॥

उपरि लिखित संकेत इस निर्णयपर पहुँचनेके लिये पर्याप्त हैं कि अमितगतिने किसी मूल प्राकृत रचनाके सहारे अपनी रचना तैयार की है। इसमें सन्देह नहीं कि उपदेशपूर्ण विवेचनोंमें उन्होंने स्वयं ही स्वतन्त्र रूपसे लिखा है। हमें ही नहीं, बल्कि अमितगतिको भी इस बातका विश्वास था कि उनका संस्कृत भाषापर अधिकार है। उन्होंने लिखा है कि मैंने धर्मपरीक्षा दो महीनेके भीतर और अपनी संस्कृत आराधना चार महीनेके भीतर लिखकर समाप्त की है। यदि इस प्रकारका कोई आशु कवि प्राकृतके ढाँचेका अनुसरण करता हुआ संस्कृतमें उन रचनाओंको तैयार करता है तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। इसके साथ ही अमितगति मुञ्ज और भोजके समकालीन थे, जिन्होंने अपने समयकी संस्कृत-विद्याको बड़ा अवलम्ब या प्रोत्साहन दिया था। उनकी आराधना इतनी अच्छी है जैसे कि वह शिवार्यकी प्राकृत आराधनाका निकटतम अनुवाद हो और उनका पंचसंग्रह प्रधानतः प्राकृत[1] पंचसंग्रहके आधारपर ही तैयार किया गया है जो एक हस्तलिखित रूपमें उपलब्ध हुआ है और जिसे कुछ ही दिन हुए पं. परमानन्दजीने प्रकाशमें लाया है। इस प्रकार अमितगतिने अपनी संस्कृत धर्मपरीक्षाकी रचना किसी पूर्ववर्ती मूलप्राकृत रचनाके आधारपर की है, इसमें हर तरहकी सम्भावना है।

हरिषेणकी अपभ्रंश धर्मपरीक्षा

जो अमितगतिकी धर्मपरीक्षासे २६ वर्ष पहले लिखी गयी है और विवरण तथा कथावस्तुकी घटनाओंके क्रमकी दृष्टिसे जिसके साथ अमितगति पूर्णरूपसे एकमत हैं—को प्रकाशमें लानेके साथ ही इस प्रश्नपर विचार करना आवश्यक है कि क्या अमितगति अपने कथानकके लिये हरिषेणके ऋणी हैं ? इस सम्बन्धमें हरिषेणने जो एक महत्त्वपूर्ण बात बतलायी है वह हमें नहीं भूल जानी चाहिए। उन्होंने लिखा है कि जो रचना जयरामकी पहलेसे गाथाछन्दमें लिखी थी उसीको मैंने पद्धरिया छन्दमें लिखा है। इसका अर्थ है कि हरिषेणके सामने भी एक धर्मपरीक्षा थी जिसे जयरामने गाथाओंमें लिखा था और जिसकी भाषा महाराष्ट्री या शौरसेनी रही होगी। जहाँ तक मेरी जानकारी है, इस प्राकृत धर्मपरीक्षाकी कोई भी प्रति प्रकाशमें नहीं आयी है और न यह कहना सम्भव है कि यह जयराम उस नामके

१. अब भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्य ग्रन्थकारोंमें-से थे जिन्हें हम जानते हैं। जबतक यह रचना उपलब्ध नहीं होती है और इसकी हरिषेण और अमितगतिकी उत्तरवर्ती रचनाओंसे तुलना नहीं की जाती है, इस प्रश्नका कोई भी परीक्षणीय (Tentative) बना रहेगा। हरिषेणने जिस ढंगसे पूर्ववर्ती धर्मपरीक्षाका निर्देश किया है उससे मालूम होता है कि उनकी प्रायः समस्त सामग्री जयरामकी रचनामें मौजूद थी। इससे हम स्वभावतः इस निर्णयपर पहुँचते हैं कि धर्मपरीक्षाकी सम्पूर्ण कथावस्तु जयरामसे ली हुई होना चाहिए और इस तरह अमितगति हरिषेणके ऋणी हैं यह प्रश्न ही नहीं उठता। यह अधिक सम्भव है अमितगतिने अपनी धर्मपरीक्षाकी रचना जयरामकी मूल प्राकृत रचनाके आधारपर की हो, जैसे कि उन्होंने अपने पंचसंग्रह और आराधनाकी रचना प्राकृतके पूर्ववर्ती उन-उन ग्रन्थोंके आधारपर की है। संस्कृत रचनाके लिए अपभ्रंश मूलग्रन्थका उपयोग करनेकी अपेक्षा प्राकृतमूल (महाराष्ट्री या शौरसेनी) का उपयोग करना सुलभ है।

७. उपर्युक्त प्रश्नके उत्तरके प्रसंगमें मैं प्रस्तुत समस्यापर कुछ और प्रकाश डालना चाहता हूँ। अमितगतिकी धर्मपरीक्षामें इस प्रकारके अनेक वाक्यसमूह हैं, जिनमें हम प्रत्यक्ष प्राकृतपन देख सकते हैं। यदि यह प्राकृतपन हरिषेणकी धर्मपरीक्षामें भी पाया जाता तो कोई ठीक निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता, क्योंकि उस स्थितिमें हरिषेण और अमितगति—दोनों की ही रचनाएँ जयरामकी रचनानुसारी होतीं। लेकिन यदि यह चीज प्रसंगानुसार हरिषेणकी रचनामें नहीं है तो हम कह सकते हैं कि अमितगति किसी अन्य पूर्ववर्ती प्राकृत रचनाके ऋणी हैं और सम्भवतः वह जयरामकी है। यहाँपर इस तरहके दोनों रचनाओंके कुछ प्रसंग साथ-साथ दिये जाते हैं—

(१) अमितगतिने ३,६ में 'हट्ट' शब्दका उपयोग किया है।

(१) स्थानोंकी तुलनात्मक गिनती करते हुए हरिषेणने इस शब्दका उपयोग नहीं किया है। देखिए १, १७।

(२) अमितगतिने ५, ३९ और ७, ५ में जेम् धातुका उपयोग किया है जो इस प्रकार है—

ततोऽवादीन्नृपो नास्य दीयते यदि भूषणम्।
न जेमति तदा साधो सर्वथा किं करोम्यहम्॥

[२] तुलनात्मक उद्धरणको देखते हुए हरिषेणने कड़वक ११-१४ में इस क्रियाका उपयोग नहीं किया है। तथा दूसरे उद्धरण (११-२४) में उन्होंने भुज् क्रियाका व्यवहार किया है—

ता दुद्धरु पभणइ णउ भुंजइ, जइ तहोणउ आहरणउ दिज्जइ।

[३] अमितगतिने (४, १६ में) योषा शब्दका इस प्रकार शाब्दिक विश्लेषण किया है—

यतो जोषयति क्षिप्रं विश्वं योषा ततो मता।
विदधाति यतः क्रोधं भामिनी भण्यते ततः॥

[३] इसमें सन्देह नहीं है कि अमितगतिकी यह शाब्दिक व्युत्पत्ति प्राकृतके मूल ग्रन्थके आधारपर की गयी है, लेकिन हरिषेणने तुलनात्मक प्रसंगमें इस प्रकारकी कोई शाब्दिक व्युत्पत्ति नहीं की है। देखो २, १८।

[४] अमितगतिने 'ग्रहिल' शब्दका प्रयोग किया है। देखो १३, २३।

[४] हरिषेणने तुलनात्मक उद्धरणमें 'ग्रहिल शब्दका प्रयोग नहीं किया है।

[५] अमितगतिने (१५, २३ में) 'कचरा' शब्दका प्रयोग किया है।

[५] तुलनात्मक कडवक (८, १) में हरिषेणने इय शब्दका प्रयोग नहीं किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उल्लिखित परीक्षणसे इस सम्भावनाका पर्याप्त निरसन हो जाता है कि अमितगतिने अकेली अपभ्रंश रचनाके आधारपर ही अपनी रचनाका निर्माण किया है। इसके सिवाय यत्र तत्र हमें कुछ विचित्रताएँ ही मालूम होती हैं। हरिषेण-ने (१-८ में) विजयपुरी (अपभ्रंश, विजयउरी) नगरीका नाम दिया है, लेकिन अमितगतिने उसी वाक्य समूहमें उसका नाम प्रियपुरी रखा है। दूसरे प्रकरणमें हरिषेणने (२-७ में) मंगलउ ग्रामका नाम दिया है, जबकि अमितगतिने (४, ८ में) उसे संगालो पढ़ा है। मैं नीचे उन उद्धरणोंको दे रहा हूँ। मुझे तो मालूम होता है कि अमितगति और हरिषेणके द्वारा मूल प्राकृतके उद्धरण थोड़े-से हेरफेरके साथ समझ लिये गये हैं।

हरिषेणकृत धर्मपरीक्षा २, ७—

तो मणवेउ भणइ सुक्खालउ, अत्थि गामु मलए मंगालउ।
भमरु णाम तहि णिवसइ गिहवइ, तासु पुत्तु णामे महुयरगइ।

अमितगति धर्मपरीक्षा ४, ७वीं-८—

उवाचेति मनोवेगः श्रूयतां कथयामि वः।
देशो मलयदेशोऽस्ति संगालो गलितासुखः।
तत्र गृहपतेः पुत्रो नाम्ना मधुकरोऽभवत्॥

उपरिलिखित तर्कोंको ध्यानमें रखते हुए यह निष्कर्ष युक्तिसंगत होगा कि हरिषेण और अमितगति दोनों हीने अपने सामने किसी उपलब्ध मूलप्राकृत रचनाके सहारे ही अपनी रचनाका निर्माण किया है और जहाँ तक उपलब्ध तथ्योंका सम्बन्ध है यह रचना जयरामकी प्राकृत धर्मपरीक्षा रही होगी। जहाँ हरिषेणने अपनी रचनाके मूलस्रोतका स्पष्ट संकेत किया है, वहाँ अमितगति उस सम्बन्धमें बिलकुल मौन हैं। यदि कुछ साधारण उद्धरण, जैसे पैराग्राफ नं. सी में नोट किये गये हैं खोज निकाले जायें तो इसका यही अर्थ होगा कि वे किसी साधारण मूलस्रोतसे ज्योंके त्यों ले लिये गये हैं। चूंकि अमितगति अपने मूलस्रोतके बारे-में बिलकुल मौन हैं इसलिए हम सिद्धान्तरूपसे नहीं कह सकते हैं कि अमितगतिने अपनी पूर्ववर्ती मूल प्राकृत रचनाके सिवाय प्रस्तुत अपभ्रंश रचनाका भी उपयोग किया है।

८. धर्मपरीक्षाका प्रधान भाग पौराणिक कथाओंके अविश्वसनीय और असम्बद्ध चरित्रचित्रणसे भरा पड़ा है। और यह युक्त है कि पुराणों और स्मृतियोंके पद्य पूर्वपक्षके रूपमें उद्धृत किये जाते। उदाहरणके लिए जिस तरह हरिभद्रने अपने प्राकृत धूर्ताख्यानमें संस्कृत पद्योंको उद्धृत किया है। इस बातकी पूर्ण सम्भावना है कि जयरामने भी अपनी धर्मपरीक्षामें यही किया होगा। हरिषेणकी धर्मपरीक्षामें भी एक दर्जनसे अधिक संस्कृतके उद्धरण हैं और तुलनामें अमितगतिकी धर्मपरीक्षाके उद्धरणोंकी अपेक्षा अधिक मूल्यवान् हैं, क्योंकि अमितगतिने इन पद्योंका मनचाही स्वतन्त्रताके साथ उपयोग किया है। एक प्राकृत और अपभ्रंशका लेखक उन्हें उसी तरह रखता, जैसे कि वे परम्परासे चले आ रहे थे। लेकिन जो व्यक्ति अपनी रचना संस्कृतमें कर रहा है वह उन्हें अपनी रचनाका ही एक अंग बनानेकी दृष्टिसे उनमें यत्र-तत्र परिवर्तन कर सकता है। अमितगतिने इन पद्योंको 'उक्तं च' आदिके साथ नहीं लिखा है। हम नीचे हरिषेणके द्वारा उद्धृत किये गये ये पद्य दे रहे हैं और साथमें अमितगतिके पाठान्तर भी। इससे मूलका पता लगाना सुलभ होगा। यह ध्यान देनेकी बात है कि इनमें-के कुछ पद्य सोमदेवके यशस्तिलक-चम्पू (ई. स. ९५९) में भी उद्धरणके रूपमें विद्यमान हैं।

[१] हरिषेणकृत धर्मपरीक्षा ४, १ पृ. २२ नं. १००९ वाली हस्तलिखित प्रति—तथा चोक्तम्—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नारसिंहोऽथ वामनः ।
रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्की च ते दश ॥
अक्षराक्षरनिर्मुक्तं जन्ममृत्युविवर्जितम् ।
अव्ययं सत्यसंकल्पं विष्णुध्यायी न सीदति ॥

इन दो पद्योंको अमितगतिने निम्नलिखित रूपमें दिया है—

व्यापिनं निष्कलं ध्येयं जरामरणसूदनम् ।
अच्छेद्यमव्ययं देवं विष्णुं ध्यायन्न सीदति ॥
मोनः कूर्मः पृथुःपोत्री नारसिंहोऽथ वामनः ।
रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्की दश स्मृताः ॥ १०, ५८-९ ।

[२] हरिषेणकी धर्मपरीक्षा, ४, ७ पृ. २४—

अपुत्रस्य गतिर्नास्ति स्वर्गो नैव च नैव च ।
तस्मात् पुत्रमुखं दृष्ट्वा पश्चाद्भवति भिक्षुकः ॥

अमितगतिका पद्य निम्न प्रकार है—

अपुत्रस्य गतिर्नास्ति स्वर्गो न च तपो यतः ।
ततः पुत्रमुखं दृष्ट्वा श्रेयसे क्रियते तपः ॥

[३] हरिषेणकृत ध. प. ४, ७ पृ. २४—

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ॥

उल्लिखित पद्यसे अमितगतिके इस पद्यके साथ तुलना की जा सकती है—

पत्यौ प्रव्रजिते क्लीबे प्रणष्टे पतिते मृते ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ॥ ११, १२

[४] हरिषेणकृत ध. प. ४, ९ पृ. २४ ए.—

का त्वं सुन्दरि जाह्नवी किमिह ते भर्ता हरो नन्वयं
अभ्यस्त्वं किल वेद्मि मन्मथरसं जानात्ययं ते पतिः ।
स्वामिन् सत्यमिदं न हि प्रियतमे सत्यं कुतः कामिनां
इत्येवं हरजाह्नवी गिरिसुता संजल्पनं पातु वः ॥

अमितगतिकी रचनामें इस पद्यकी तुलनाका कोई पद्य नहीं मिला ।

[५] हरिषेणकी ध. प. ४, १२ पृ. २५ ए—

अङ्गुल्या कः कपाटं प्रहरति कुटिले माधवः किं वसन्तो
नो चक्री किं कुलालो नहि धरणिधरः किं द्विजिह्वः फणीन्द्रः ।
नाहं घोराहिमर्दी किमसि खगपतिर्नो हरिः किं कपीशः
इत्येवं गोपबध्वा चतुरमभिहितः पातु वश्चक्रपाणिः ॥

अमितगति इस कोटिका कोई पद्य प्राप्त नहीं कर सके ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[६] हरिषेण ध. प. ५, ९ पृ. ३९ ए—तथा चोक्तं तेन—

अश्रद्धेयं न वक्तव्यं प्रत्यक्षमपि यद्भवेत् ।
यथा वानरसंगीतं तथा सा प्लवते शिला ॥

अमितगतिके इन पद्योंसे भी यही अर्थ निकलता है—

यथा वानरसंगीतं त्वयादर्शि वने विभो ।
तरन्ती सलिले दृष्टा सा शिलापि मया तथा ॥
अश्रद्धेयं न वक्तव्यं प्रत्यक्षमपि वीक्षितम् ।
जानानैः पण्डितैर्नूनं वृत्तान्तं नृपमन्त्रिणोः ॥ १२,७२-३

[७] हरिषेण—ध. प., ५, १७ पृ. ३४—

भो भो भुजङ्गतरुपल्लवलोलजिह्वे, बन्धूकपुष्पदलसन्निभलोहिताक्षे ।
पृच्छामि ते पवनभोजनकोमलाङ्गी, काचित्त्वया शरदचन्द्रमुखी न दृष्टा ॥

अमितगतिकी रचनामें इसकी तुलनाका कोई पद्य नहीं है ।

[८] हरिषेणकृत ध. प. ७, ५ पृ. ४३—

अद्भिर्वाचापि दत्ता या यदि पूर्ववरो मृतः ।
सा चेदक्षतयोनिः स्यात्पुनः संस्कारमर्हति ॥

यद्यपि अर्थमें थोड़ा-सा अन्तर है फिर भी उपरिलिखित पद्यकी अमितगतिके अधोलिखित पद्यसे तुलना की जा सकती है ।—

एकदा परिणीतापि विपन्ने दैवयोगतः ।
भर्तर्यक्षतयोनिः स्त्री पुनः संस्कारमर्हति ॥ १४, ३८

[९] हरिषेण—ध. प. पृ., ४३—

अष्टौ वर्षाण्युदीक्षेत ब्राह्मणी पतितं पतिम् ।
अप्रसूता च चत्वारि परतोऽन्यं समाचरेत् ॥

अमितगतिका पद्य (१४, ३९) निम्न प्रकार है—

प्रतीक्षेताष्टवर्षाणि प्रसूता वनिता सती ।
अप्रसूतात्र चत्वारि प्रोषिते सति भर्त्तरि ॥

[१०] हरिषेण—ध. प. ७, ८ पृ. ४३ ए—

पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सकम् ।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥

अमितगतिकी धर्मपरीक्षा (१४, ४९) में यह पद्य एक-सा है ।

[११] हरिषेण—ध. प. पृ. ४३ ए.—

मानवं व्यासवाशिष्ठं वचनं वेदसंयुतम् ।
अप्रमाणं तु यो ब्रूयात् स भवेद् ब्रह्मघातकः ॥

अमितगतिका तुलनात्मक पद्य (१४, ५०) इस प्रकार है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनुव्यासवसिष्ठानां वचनं वेदसंयुतम् ।
अप्रमाणयतः पुंसो ब्रह्महत्या दुरुत्तरा ॥

[१२] हरिषेण—ध. प. ८, ६ पृ. ४९—

गतानुगतिको लोको न लोकः परमार्थिकः ।
एश्य लोकस्य मूर्खत्वं हारितं ताम्रभाजनम् ॥

अमितगतिका पद्य प्रथम पुरुषमें है—

दृष्टानुसारिभिर्लोकैः परमार्थविचारिभिः ।
तथा स्वं हार्यते कार्यं यथा मे ताम्रभाजनम् ॥ १५, ६४

[१३] हरिषेण—ध. प. ९, २५ पृ. ६१—

प्राणाघातान्निवृत्तिः परधनहरणे संयमः सत्य वाक्यं ।
काले शक्त्या प्रदानं युवतिजनकथामूकभावः परेषाम् ॥
तृष्णास्रोतोविभङ्गो गुरुषु च विनतिः सर्वसत्वानुकम्पा ।
सामान्यं सर्वशास्त्रेष्वनुपहतमतिः श्रेयसामेष पन्था ॥

यह पद्य भर्तृहरिके नीतिशतकसे लिया गया है । (नं. ५४)

अमितगतिने इस प्रकारके विचार विभिन्न प्रकरणोंमें व्यक्त किये हैं । लेकिन इस प्रसंगमें हमें कोई तुलनात्मक पद्य इस कोटिका नहीं मिला है ।

[१४] हरिषेण–ध. प. १०, ९ पृ. ६४—

(१) स्वयमेवागतां नारीं यो न कामयते नरः ।
ब्रह्महत्या भवेत्तस्य पूर्वं ब्रह्मावदीदिदम् ॥
(२) मातरमुपैहि स्वसारमुपैहि पुत्रार्थी न कामार्थी ।

अमितगतिकी रचनामें उल्लिखित कोटिके कोई उल्लेख नहीं हैं ।

१०. हरिभद्रसूरिका (सन् लगभग ७००-७७०) प्राकृतका धूर्ताख्यान प्राकृत और संस्कृतके धर्मपरीक्षा ग्रन्थोंमें उपस्थित साहित्यके अग्रवर्ती रूपका सुन्दर उदाहरण है । इन रचनाओंका लक्ष्य पौराणिक कथाओंके अविश्वसनीय चरित्र-चित्रणका भण्डाफोड़ करना है । हरिभद्र अपने उद्देश्यमें अत्यन्त बुद्धिपूर्ण ढंग पर सफल हुए हैं । कथानक बिलकुल सीधा-सादा है । पाँच धूर्त इकट्ठे होते हैं और वे निश्चय करते हैं कि प्रत्येक अपना-अपना अनुभव सुनावे । जो उनको असत्य कहेगा उसे सबको दावत देनी पड़ेगी और जो पुराणोंसे तत्सम घटनाओंको सुनाता हुआ उसे सर्वोत्तम सम्भव तरीकेपर निर्दोष प्रमाणित करेगा वह धूर्तराज समझा जायेगा । प्रत्येक धूर्त को मनोरंजक और ऊटपटांग अनुभव सुनाना है जिनकी पुष्टि उनका कोई साथी पुराणोंसे तत्सम घटनाओंका उल्लेख करता हुआ करता है । आख्यान केवल रोचक ही नहीं है, बल्कि विविध पुराणोंके विश्वसनीय चरित्र-चित्रणके विरुद्ध एक निश्चित पक्ष भी जागृत करता है । हरिभद्रने जैनधर्मके पक्षका अभिनय जानबूझकर नहीं किया है, यद्यपि उन्होंने ग्रन्थके अन्त तक पहुँचते-पहुँचते इस बातका संकेत कर दिया है (१२०–२१) । पुराणोंके विरुद्ध हरिभद्रका आक्रमण विवाद-रहित और सुझावपूर्ण है, जबकि धर्मपरीक्षाके रचनाकारों—हरिषेण और अमितगतिने इसे अत्यन्त स्पष्ट और तीव्र कर दिया है । दोनोंने आक्रमणके साथ ही जैन आध्यात्मिक और आचार सम्बन्धी बातोंका प्रतिपादन बहुत जोरके साथ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया है। हरिभद्रने पुराणोंकी कल्पित कथाओंके भवनको बड़े ही विनोदके साथ छिन्न-भिन्न किया है, लेकिन हरिषेण और अमितगति तो इससे कुछ कदम इतने आगे बढ़ गये हैं कि उन्होंने उनके स्थानपर जैन-उपदेशोंके गगनचुम्बी महल ही खड़े कर देने चाहे हैं। जयरामकी रचनाके विशुद्ध जैन वर्णनोंका ठीक परिमाण हमें मालूम नहीं है, लेकिन हरिषेणने उन्हें खूब रखा है और अमितगतिने तो हद ही कर दी है।

इसमें सन्देह नहीं कि धर्मपरीक्षाके प्रथम कलाकार—जो मेरी समझसे जयराम हैं—को धूर्ताख्यान या इसके अन्य किसी मूलग्रन्थकी जानकारी अवश्य रही होगी। उद्देश्य और लक्ष्य एक है। लेकिन रचनाएँ भिन्न-भिन्न तरीकेपर सम्पादित की गयी हैं। कथानकके मुख्य कथाके पात्र, स्थितियाँ, सम्बन्ध और कथावस्तुका ढाँचा—सब कुछ धूर्ताख्यानमें उपलब्ध इन वस्तुसे विभिन्न हैं। दस अन्तर्कथाएँ और चार मूर्खों-की कथाएँ, जो धर्मपरीक्षामें ग्रथित हैं इस बातको निश्चित रूपसे बताती हैं कि इसमें धूर्ताख्यान-जैसे अन्य ग्रन्थोंका जरूर उपयोग किया गया है। अमितगतिकी धर्मपरीक्षामें कुछ अप्रमाणिक कथाएँ हैं जो प्रस्तुत धर्मपरीक्षाकी कथाओंसे मिलती-जुलती हैं। उदाहरणके लिए हाथीकमण्डलु (अभि. ध. १-१७ आदि और ध. प. १२-७७ आदि) की उपकथा तथा उस विच्छिन्न सिरकी उपकथा जो वृक्षपर फल खा रहा है (अ. ध. ३, १७ आदि और ध. प. १६-३४ आदि) इत्यादि। यत्र-तत्र वही एक-सी पौराणिक कथाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। जैसे कि इन्द्र-अहिल्याकी, अग्निको भक्षण करती हुई यमपत्नीकी और ब्रह्मा-तिलोत्तमा की उपकथा आदि। लेकिन उपरिनिर्दिष्ट पौराणिक विवरण जो साधारण अप्रमाणिक कथाओंकी पुष्टिमें उपस्थित किये गये हैं, दोनों धर्मपरीक्षाओंमें एक-से नहीं पाये जाते हैं। इसका यह आशय है कि जयराम और उनके अनुयायी—हरिषेण और अमितगति—ने ऊटपटांग कथाओं और अविश्वसनीय विवरणोंके लिए पुराणोंकी स्वतन्त्रताके साथ खूब छानबीन की है। जो हो, अमितगतिकी धर्मपरीक्षा और हरिषेणकी धर्मपरीक्षा दोनों ही रुचिकर और शिक्षाप्रद भारतीय साहित्यके सुन्दर नमूने हैं। पुराणपन्थके उत्साही अनुयायियोंको एक तीखा ताना इन रचनाओंसे मिल सकता है। किन्तु भारतीय साहित्यके निष्पक्ष विद्यार्थी-पर उसका अधिक असर नहीं पड़ेगा; क्योंकि उसके लिए कल्पनाकी प्रत्येक दृष्टि अतीतकी उस महान् साहित्यिक निधिको और अधिक समृद्ध करती है जो उसे विरासतमें मिली है।

—(स्व.) डॉ. ए. एन. उपाध्ये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्री

अमितगति-विरचिता

धर्मपरीक्षा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[१]

श्रीमान्नभस्वत्त्रयतुङ्गशालं जगद्गृहं बोधमयप्रदीपः ।
समन्ततो द्योतयते यदीयो भवन्तु ते तीर्थकराः श्रिये नः ॥१
कर्मक्षयानन्तरमर्थनीयं विविक्तमात्मानमवाप्य पूतम् ।
त्रैलोक्यचूडामणयोऽभवन्ये भवन्तु मुक्तौ मम मुक्तये ते ॥२
वचोंशुभिर्भव्यमनःसरोजं निद्रां न यैर्बोधितमेति भूयः ।
कुर्वन्तु दोषोदयनोदिनस्ते चर्यामगर्ह्यां मम सूरिसूर्याः ॥३

अर्थबोधकटिप्पण्यः—१) १. उद्द्योतलक्ष्मीवान्; क श्रीर्विद्यते यस्यासौ । २. वातत्रयं—घनवात-घनोदधिवात-तनुवातत्रयम्; क नभस्वत्त्रयमेव तुङ्गः शालो यस्य स तम् । ३. त्रि[त्रै]लोक्यगृहम् । ४. केवलज्ञानदीपः; क ज्ञानमयः । ५. युगपत् सर्वत्र; क सामस्त्येन । ६. उद्द्योतं प्रगटीकरोति; क प्रकाशयते । ७. येषां तीर्थकराणाम्; क यस्य अयं यदीयः । ८. अस्माकं कल्याणाय ।

२) १. क प्रकटमात्मस्वरूपम् । २. क प्राप्य । ३. क पवित्रम् । ४. सिद्धपरमेष्ठिनः; क सिद्धाः ।

३) १. क वचनकिरणैः । २. संकोचम् । ३. विकासितम् । ४ क पुनः । ५. रात्रिदोष । ६. आचरणम्; क चरित्रम् । ७. अनिन्दितम्; क अनिन्द्याम् । ८. आचार्यसूर्याः ।

[हिन्दी अनुवाद]

जिनका प्रकाशरूप लक्ष्मीसे सम्पन्न ज्ञानरूपी दीपक तीन वातवलयरूप उन्नत तीन कोटोंसे वेष्टित ऐसे लोकरूप घरको सब ओरसे प्रकाशित करता है वे तीर्थंकर भगवान् हम सबके लिये लक्ष्मीके कारण होवें । अभिप्राय यह है कि तीर्थंकरोंका अनन्त ज्ञान तीनों लोकोंके भीतर स्थित समस्त पदार्थोंको इस प्रकारसे प्रकाशित करता है जिस प्रकार कि दीपक एक छोटे-से घरके भीतर स्थित वस्तुओंको प्रकाशित करता है । इस प्रकार उन तीर्थंकरोंका स्मरण करते हुए ग्रन्थकर्ता श्री अमितगति आचार्य यहाँ यह प्रार्थना करते हैं कि उनकी भक्तिके प्रसादसे हम सबको भी उसी प्रकारकी ज्ञानरूप लक्ष्मी प्राप्त हो ॥१॥

जो सिद्ध परमेष्ठी कर्मक्षयके पश्चात् प्रार्थनीय, निर्मल एवं पवित्र आत्मस्वरूपको प्राप्त करके तीनों लोकके चूडामणि (शिरोरत्न) के समान हो गये हैं—लोकके ऊपर सिद्धक्षेत्रमें जा विराजे हैं—वे मेरे लिए मुक्तिके साधक होवें ॥२॥

जिन आचार्यरूपी सूर्योंके द्वारा अपने वचनोंरूप किरणोंसे प्रबोधित किया गया भव्य जीवोंका मनरूपी कमल फिरसे निद्राको प्राप्त नहीं होता है, दोषोदयको नष्ट करनेवाले वे आचार्यरूपी सूर्य मेरी अनिन्दनीय (निर्मल) चर्याको करें ॥ विशेषार्थ—यहाँ आचार्योंमें

पाठभेदाः—१) ब ड इ बोधमयः । २) क ड इ °मर्च्चनीयं; ब त्रिलोकचूडा°; क °मणयो बभूवुर्भं°, इ °मणयो भवन्ति । ३) इ न वै बोधित° ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरीरजानामिव[1] भाक्तिकानामनुग्रहार्थं[2] पितरो धनानि ।
यच्छन्ति[3] शास्त्राण्युपसेदुषां[4] ये ते ऽध्यापका मे विधुनन्तु[5] दुःखम् ॥४
कदर्थिताशेषजगत्त्रयं ये विदारयन्ते शमशीलशस्त्रैः ।
कषायशत्रुं मम साधुयोधाः कुर्वन्तु ते सिद्धिवधूवरत्वम् ॥५
यस्याः प्रसादेन विनीतचेता[1] दुर्लङ्घ्यशास्त्रार्णवपारमेति ।
सरस्वती मे विदधातु सिद्धिं सा चिन्तितां कामदुघेव धेनुः ॥६

४) १. यथा पुत्राणां भक्तानाम्; क पुत्राणाम् । २. उपकारार्थम् । ३. ददति । ४. समीपवर्तिनां शिष्याणाम् । ५. विध्वंसनं कुरु [कुर्वन्तु]; क दूरीकुर्वन्तु ।

५) १. क पीडिताः ।

६) १. शास्त्रे एकलोलीचित्तः, शास्त्राभ्यासी पुमान् ।

सूर्योंका अध्यारोप करते हुए यह बतलाया है कि जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणोंके द्वारा कमलोंको विकसित किया करता है उसी प्रकारसे आचार्य अपने वचनों (समीचीन उपदेश) के द्वारा भव्य जीवोंके मनको विकसित (आह्लादित) किया करते हैं। तथा सूर्य जैसे दोषोदयको (रात्रिके उदयको) नष्ट करता है वैसे ही आचार्य भी उस दोषोदयको—दोषोंकी उत्पत्तिको—नष्ट किया करते हैं। फिर भी सूर्यकी अपेक्षा आचार्यमें यह विशेषता देखी जाती है कि सूर्य जिन कमलोंको दिनमें विकसित करता है वे ही रातमें निद्रित (मुकुलित) हो जाते हैं, परन्तु आचार्य जिन भव्य जीवोंके मनको धर्मोपदेशके द्वारा विकसित (प्रफुल्लित) करते हैं उनका मन फिर कभी निद्रित (विवेकरहित) नहीं होता है—वह सदा सन्मार्गमें प्रवृत्त रहता है। इस प्रकार आचार्यके स्वरूपका विचार करके ग्रन्थकार उनसे यह प्रार्थना करते हैं कि जिस प्रकार सूर्य उदयको प्राप्त होता हुआ मार्गको दिखलाकर पथिक जनोंके गमनागमनमें सहायक होता है उसी प्रकारसे वे आचार्य परमेष्ठी अपने दिव्य उपदेशके द्वारा निर्बाध मोक्षमार्गको प्रगट करके मुझे उसमें प्रवृत्त होनेके लिये सहायता करें ॥३॥

जिस प्रकार पिता जन अपने पुत्रोंके उपकारके लिये उन्हें धनको दिया करते हैं उसी प्रकार जो अध्यापक (पाठक या उपाध्याय) अपने निकटवर्ती शिष्योंके उपकारके लिये उन्हें शास्त्रोंको दिया करते हैं—शास्त्रोंका रहस्य बतलाते हैं—वे उपाध्याय परमेष्ठी मेरे दुखको दूर करें ॥४॥

जो साधुरूप सुभट तीनों लोकोंके समस्त प्राणियोंको कष्ट पहुँचानेवाले कषायरूप शत्रुको शान्ति एवं शीलरूप शस्त्रोंके द्वारा विदीर्ण किया करते हैं वे साधुरूप सुभट मेरे लिये मुक्तिरूपी रमणीके वरण (परिणयन) में सहायक होवें—मुझे मुक्ति प्रदान करें ॥५॥

जिसके प्रसादसे अभ्यासमें एकाग्रचित्त हुआ प्राणी दुर्गम आगमरूप समुद्रके उस पार पहुँच जाता है वह सरस्वती (जिनवाणी) मुझे जिस प्रकार कामधेनु गाय प्राणियोंके लिये चिन्तित पदार्थको दिया करती है उसी प्रकार अभीष्ट सिद्धिको प्रदान करे ॥६॥

४) इ पितरौ । ५) इ शमसाधु° ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्तवैरमीभिर्मम धूयमाना नश्यन्तु विघ्नाः क्षणतः समस्ताः ।
उद्वेजयन्तो जनतां प्रवृद्धैः सद्यः समीरैरिव रेणुपुञ्जाः ॥७

आनन्दयन्तं सुजनं त्रिलोकीं गुणैः खलः कुप्यति वीक्ष्य दुष्टः ।
किं भूषयन्तं किरणैस्त्रियामां विलोक्य चन्द्रं ग्रसते न राहुः ॥८

शिष्टाय दुष्टो विरताय कामी निसर्गतो जागरुकाय चौरः ।
धर्मार्थिने कुप्यति पापवृत्तिः शूराय भीरुः कवये ऽकविश्च ॥९

शङ्के भुजङ्गैः पिशुनैः कृतान्तैः परापकाराय कृता विधात्रा ।
निरीक्षमाणा जनतां सुखस्थामुद्वेजयन्ते कथमन्यथामी ॥१०

७) १. पञ्चपरमेष्ठिनां स्तोत्रैः । २. क पूर्वोक्तैः । ३. क कम्पमानाः । ४. क पीडयन्तः । ५. क लोकसमूहम् । ६. क पवनैः । ७. क रजःकणसमूहाः ।

८) १. सुजनं दृष्ट्वा कुप्यति । २. रात्रिम् । ३. राहुः चन्द्रमसं किं न ग्रसते, अपि तु ग्रसते; क किं न पीडते ।

९) १. महानुभावपुरुषाय दुष्टपुरुषः कुप्यति; क साधुजनाय । २. क भोगरहिताय । ३. स्वभावतः, क स्वभावात् । ४. कुकुराय । ५. क कायरः ।

१०) १. अहं मन्ये एवम्, अहं विचारयामि । २. क सर्पाः । ३. क वैरिणः । ४. क यमः । ५. क परपीडाकराय । ६. निष्पादिताः । ७. क उत्त्रासयन्ति । ८. क भुजङ्गपिशुनकृतान्ताः ।

जनसमूहको उद्विग्न करनेवाले विघ्न इन स्तुतियोंके द्वारा कम्पित होकर इस प्रकारसे नष्ट हो जावें जिस प्रकार कि वृद्धिंगत वायुके द्वारा कम्पित होकर धूलिके समूह शीघ्र नष्ट हो जाते हैं ॥७॥

जो सज्जन अपने गुणोंके द्वारा तीनों लोकोंको आनन्दित किया करता है उसको देख करके स्वभावसे दुष्ट दुर्जन मनुष्य क्रोधको प्राप्त होता है। सो ठीक भी है, क्योंकि अपनी किरणोंके द्वारा रात्रिको विभूषित करनेवाले चन्द्रमाको देखकर क्या राहु उसे ग्रसित नहीं करता है ? करता ही है। तात्पर्य यह है कि दुर्जन मनुष्यका स्वभाव ही ऐसा हुआ करता है कि वह सज्जन पुरुषोंको उत्तम कृतिको देखकर उसके विषयमें दोषोंको प्रगट करता हुआ उनसे ईर्ष्या व क्रोध करता है। अतएव सत्पुरुषोंको इससे खिन्न नहीं होना चाहिये ॥८॥

दुष्ट पुरुष शिष्टके ऊपर, विषयी मनुष्य विषयविरक्तके ऊपर, चोर जागनेवालेके ऊपर, दुराचारी धर्मात्माके ऊपर, कायर वीरके ऊपर, तथा अकवि (योग्य काव्यकी रचना न कर सकनेवाला) कविके ऊपर स्वभावसे ही क्रोध किया करता है ॥९॥

मैं समझता हूँ कि सर्प, निन्दक (चुगलखोर) और यमराज; इन सबको ब्रह्माने दूसरे प्राणियोंका अहित करनेके लिये ही बनाया है। कारण कि यदि ऐसा न होता तो फिर ये सब जनसमूहको सुखी देखकर उसे उद्विग्न कैसे करते ? नहीं करना चाहिये था। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सर्प व यम जन्मसे ही स्वभावतः दूसरोंका अहित करनेवाले हैं उसी प्रकार दुर्जनका भी स्वभाव जन्मसे ही दूसरोंके अहित करनेका हुआ करता है ॥१०॥

८) इ कोऽपि for वीक्ष्य । १०) क ड इ भुजङ्गाः पिशुनाः; क ड कृतान्ताः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आराध्यमानो[1] ऽपि खलः कवीन्द्रैर्न वक्रिमाणं विजहाति[2] दुष्टः ।
परोपतापप्रथनप्रवीणैः[3] प्रप्लोषते[4] वह्निरुपास्यमानः[5] ॥११

एकेन[1] मन्ये[2] विहिता[3] दलेन[4] स्रष्ट्राम्बुदैकाङ्कशशाङ्कसन्तः[5] ।
विना निमित्तं परथोपकारं किं कुर्वते ऽमी[6] सततं जनानाम् ॥१२

विदूयमानो[1] ऽपि खलेन साधुः सदोपकारं कुरुते गुणैः स्वैः ।
निःपीड्यमानो ऽपि तुषाररश्मी[2] राहुं न किं प्रीणयते सुधाभिः ॥१३

तिग्मेतरांशाविव शीतलत्वं स्वभावतस्तिग्मरुचीव तापम्[1] ।
साधौ गुणं वीक्ष्य खले च दोषं न तोषरोषौ जनयन्ति सन्तः ॥१४

११) १. क सेव्यमानो ऽपि । २. न त्यजति । ३. विस्तरणे । ४. क परपोडाविस्तारपटुः । ५. भस्मीकरोति; क दह्यते । ६. क सेव्यमानः ।

१२) १. क अर्धेन । २. अहं मन्ये । ३. कृताः । ४. खानिमृत्तिकातत्त्वेन । ५. विधात्रा । ६. चन्दन । ७. अन्यथा । ८. अम्बुदहरिचन्दनशशाङ्कसन्तः ।

१३) १. पीड्यमानः । २. चन्द्रः ।

१४) १. क चन्द्रे । २. क आदित्ये ।

बड़े-बड़े कविराज उस दोषग्राही दुष्ट पुरुषकी कितनी ही सेवा क्यों न करें; किन्तु वह अपनी कुटिलताको नहीं छोड़ सकता है । कारण कि वह स्वभावसे ही दूसरोंको अधिकसे अधिक संताप देनेमें प्रवीण हुआ करता है । उदाहरणके रूपमें देखो कि अग्निकी जितनी अधिक उपासना की जाती है—उसे जितने अधिक समीपमें लेते हैं—वह उतने ही अधिक दाहको उत्पन्न किया करती है ॥११॥

ब्रह्मदेवने मेघ, चन्दन, चन्द्र और सत्पुरुष इन सबको एक ही मिट्टीके खण्डसे बनाया है; ऐसा मैं मानता हूँ । कारण कि यदि ऐसा न होता तो फिर ये अकारण ही दूसरे जनोंका निरन्तर क्यों उपकार करते ? नहीं करना चाहिए था । तात्पर्य यह कि सत्पुरुष मेघ, चन्दन और चन्द्रमाके समान निरपेक्ष होकर स्वभावसे ही दूसरोंका भला किया करते हैं ॥१२॥

दुर्जनसे पीड़ित होता हुआ भी सज्जन अपने गुणोंके द्वारा उसका निरन्तर उपकार ही किया करता है । ठीक है—राहुके द्वारा पीड़ित हो करके भी चन्द्र क्या अमृतके द्वारा उसको प्रसन्न नहीं करता है ? अवश्य ही प्रसन्न करता है ॥१३॥

जिस प्रकार चन्द्रमामें स्वभावसे शीतलता तथा सूर्यमें स्वभावसे उष्णता होती है उसी प्रकारसे सज्जनमें स्वभावसे आविर्भूत गुणको तथा दुर्जनमें स्वभावसे आविर्भूत दोषको देख करके विवेकी पुरुष सज्जनसे अनुराग और दुर्जनसे द्वेष नहीं किया करते हैं ॥१४॥

११) इ न चोष्णते for प्रप्लोषते । १२) इ सृष्टा for स्रष्ट्रा; परमोपकारं । १३) ड इ निपीड्य ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्मो गणेशेन[1] परीक्षितो यः कथं परीक्षे तमहं जडात्मा ।
शक्तो हि यं[3] भङ्क्तुमिभाधिराजः स भज्यते किं शशकेन[4] वृक्षः ॥१५
प्राज्ञैर्मुनीन्द्रै[1] र्विहितं[2]प्रवेशे मम प्रवेशोऽस्ति जडस्य धर्मे ।
मुक्तामणौ किं कुलिशेन[3] विद्धे[4] प्रवर्तते ऽन्तः शिथिलं न सूत्रम् ॥१६
द्वीपो ऽथ जम्बूद्रुमचारुचिह्नः परिस्फुरद्रत्नविभासिताशः ।
द्वीपान्तरैरस्त्यभितः[1] सुवृत्तश्चक्री क्षितीशैरिव सेव्यमानः ॥१७
तद्भारतं क्षेत्रमिहास्ति भव्यं[2] हिमाद्रिवार्धित्रयमध्यवर्ति ।
आरोपितज्यं[3] मदनस्य चापं जित्वा श्रिया यन्निजया विभाति ॥१८

१५) १. क जिनेन । २. धर्मम् । ३. यो वृक्षः । ४. क ससो ।
१६) १. क गौतमादिभिः । २. कृते प्रवेशे । ३. वज्रेण; क हीराकणी । ४. सति ।
१७) १. समस्तः [समन्ततः] ।
१८) १. क जंबूद्वीपे । २. मनोज्ञम् । ३. सजिव [सजीवा] कृतम् ।

जिस धर्मकी परीक्षा जिनेन्द्र या गणधरने की है उसकी परीक्षा मुझ जैसा मूर्ख कैसे कर सकता है ? नहीं कर सकता । ठीक है—जिस वृक्षके भंग करनेमें केवल गजराज समर्थ है उस वृक्षको क्या कभी खरगोश भंग कर सकता है ? नहीं कर सकता है ॥१५॥

जिस धर्मके भीतर अतिशय बुद्धिमान् मुनीन्द्र (गणधरादि) प्रवेश कर चुके हैं उस धर्मके भीतर मुझ जैसे जड़बुद्धिका भी प्रवेश सरलतासे हो सकता है । ठीक है—जो मणि वज्रके द्वारा वेधा जा चुका है—जिसके भीतर कठोर वज्र प्रवेश पा चुका है—उसके भीतर क्या शिथिल धागा नहीं प्रविष्ट हो सकता है ? वह तो सरलतासे प्रवेश पा जाता है ॥१६॥

यहाँ सब द्वीपोंके मध्यमें स्थित एक जम्बूद्वीप है जो कि चक्रवर्तीके समान सुशोभित होता है—चक्रवर्ती यदि सुन्दर ध्वजा आदिसे चिह्नित होता है तो वह द्वीप जम्बूवृक्षसे चिह्नित है, चक्रवर्ती जिस प्रकार आभूषणोंमें खचित अनेक प्रकारके रत्नों द्वारा आशाओं—दिशाओं—को प्रकाशित करता है अथवा मूल्यवान् रत्नोंको देकर दूसरोंकी आशाओं—इच्छाओं—को पूर्ण किया करता है उसी प्रकारसे वह जम्बूद्वीप भी अपने भीतर स्थित देदीप्यमान रत्नोंसे समस्त दिशाओंको प्रकाशित करता है तथा उन्हें देकर जनोंकी इच्छाओं-को भी पूरा करता है, सुवृत्त (सदाचारी) जैसे चक्रवर्ती होता है वैसे ही वह जम्बूद्वीप भी सुवृत्त (अतिशय गोल) है, तथा चक्रवर्ती जहाँ अनेक राजाओंसे घिरा रहता है वहाँ वह द्वीप अनेक द्वीपान्तरोंसे घिरा हुआ है । इस प्रकार वह द्वीप सर्वथा चक्रवर्तीकी उपमाको प्राप्त है ॥१७॥

इस जम्बूद्वीपके भीतर एक सुन्दर भारतवर्ष है जो कि हिमालय पर्वत और तीन (पूर्व, पश्चिम और दक्षिण) समुद्रोंके मध्यमें स्थित है । इसीसे वह धनुषके आकारको धारण करता हुआ मानो अपनी छटासे चढ़ी हुई डोरीसे सुसज्जित कामदेवके धनुषपर ही विजय पा रहा है ॥१८॥

१५) ड शक्नोति यं । १६) अ ड विहिते प्रवेशे । १८) इ आरोपितं यन्मदं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खण्डैरखण्डैर्जनयाचनीयां चक्रेश्वराणां यदनन्यगम्यैः ।
आवश्यकैः षड्भिरिवं प्रदत्ते लक्ष्मीं मुनीनामनघं चरित्रम् ॥१९
यज्जाह्नवीसिन्धुखेचारिशैलैर्विभज्यमानं भवति स्म षोढा[२] ।
त्रिभिः प्रशस्तेतरकर्मजालं[३] योगैरिवानेकविशेषयुक्तैः ॥२०
तत्रास्ति शैलो विजयार्धनामा यथार्थनामा महनीयधामा ।
पूर्वापराम्भोधितटावगाही गात्रं स्थितः शेषं इव प्रसार्य ॥२१

१९) १. क्षेत्रम् । २. क सामायिकादिभिः ।

२०) १. विजयार्धैः । २. क त्रिभिः प्रकारैः षोढा । ३. क शुभाशुभकर्मसमूहम् ।

२१) १. क्षेत्रे । २. धरणेन्द्रः ; क नागः ।

वह भरत क्षेत्र जिस प्रकार साधारण जनके लिए दुर्गम ऐसे पूर्ण छह खण्डोंके द्वारा जनोंसे प्रार्थनीय चक्रवर्तियोंकी विभूतिको देता है उसी प्रकारसे अन्य जनोंके लिए दुर्लभ ऐसे अखण्डित छह आवश्यकों (समता-वंदना आदि) के द्वारा मुनियोंके लिए निर्मल सकल चारित्रको भी देता है ॥ विशेषार्थ—गोल जम्बूद्वीपके भीतर दक्षिणकी ओर अन्तमें भरतक्षेत्र स्थित है । उसके उत्तरमें हिमवान् पर्वत और शेष तीन दिशाओंमें लवण समुद्र है । इससे उसका आकार ठीक धनुषके समान हो गया है । उसके बीचोंबीच विजयार्ध पर्वत और पूर्व-पश्चिमकी ओर हिमवान् पर्वतसे निकली हुई गंगा व सिन्धु नामकी दो महानदियाँ हैं । इस प्रकारसे वह भरतक्षेत्र छह खण्डोंमें विभक्त हो गया है । इन छहों खण्डोंके ऊपर विजय प्राप्त कर लेनेपर चक्रवर्तियोंके लिए साम्राज्यलक्ष्मी प्राप्त होती है । तथा कर्मभूमि होनेके कारण यहाँपर भव्य जीव समता-वंदना आदिरूप छह आवश्यकोंका अखण्डित स्वरूपसे परिपालन करके निर्मल सकल चारित्र (महाव्रत) को धारण करते हैं और मोक्षको प्राप्त करते हैं । इस प्रकारसे वह भरतक्षेत्र इस लोकसम्बन्धी तथा परलोकसम्बन्धी भी सर्वोत्कृष्ट सुखको प्रदान करनेवाला है ॥१९॥

वह भरतक्षेत्र गंगा-सिन्धु नदियों तथा विद्याधरोंके पर्वत (विजयार्ध) से विभागको प्राप्त होता हुआ छह खण्डोंमें इस प्रकारसे विभक्त हो गया है जिस प्रकारसे कि शुभाशुभरूप अनेक भेदोंसे युक्त तीन योगों (मन-वचन-काय) के द्वारा पुण्य व पापरूप कर्मसमूह विभक्त हो जाता है ॥२०॥

उस भरतक्षेत्रमें प्रशंसनीय स्थानसे संयुक्त व सार्थक नामवाला विजयार्ध पर्वत पूर्व एवं पश्चिम समुद्रके तटको प्राप्त होकर ऐसे स्थित है जैसे मानो अपने लम्बे शरीरको फैलाकर शेषनाग ही स्थित हो । चूंकि इस पर्वतके पास चक्रवर्तीकी विजयका आधा भाग समाप्त हो जाता है अतएव उसका विजयार्ध यह नाम सार्थक है ॥२१॥

१९) इ खण्डैः सुखण्डै° । २०) इ संजाह्नवी....शैलविभज्य° । २१) इ गात्रस्थितं शेष इव प्रयासं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दीप्रो[1] द्वितीयः परिवर्धमानैर्विराजते ध्वस्तमहान्धकारः ।
विनिर्गतो यैः किरणैप्ररोहैर्विभिद्य धात्रीमिव तिग्मरश्मिः[4] ॥२२

विद्याधरैरुत्तरदक्षिणे द्वे श्रेण्यावभूतामिह[1] सेव्यमाने ।
रेखे मदस्येव करेणुभर्तुर्भृङ्गैरनेकैः श्रवणीयगीतैः[2] ॥२३

नभश्चराणां नगराणि षष्टिं श्रेण्यां श्रुतज्ञा विदुरुत्तरस्याम् ।
पञ्चाशतं तत्र[1] च दक्षिणस्यां मनश्चराणि प्रसरद्द्युतीनाम्[2] ॥२४

विचित्रपत्रैः[1] कटकैरुपेतो[3] रत्नैर्निधानैरवभासमानः[4] ।
निलिम्पैविद्याधरसेव्यपादो यश्चक्रवर्तीव विभाति तुङ्गः[5] ॥२५

२२) १. दीप्तिमान् । २. विजयार्धः । ३. प्रसारैः । ४. क सूर्यः ।

२३) १. गिरौ; क विजयार्धे । २. ऐरावणहस्तिनः ; क हस्ती ।

२४) १. गिरौ । २. क मोटी द्युति ।

२५) १. पक्षी । २. अश्वगजादि । ३. संयुक्तः । ४. क शोभायमानः । ५. देव ।

वह विजयार्ध पर्वत वृद्धिंगत किरणांकुरोंसे महान् अन्धकारको नष्ट करता हुआ ऐसे शोभायमान होता है जैसे मानो अपने किरणसमूहसे पृथिवीको भेदकर निकला हुआ देदीप्यमान दूसरा सूर्य ही हो ॥२२॥

उस विजयार्ध पर्वतके ऊपर विद्याधरोंसे सेव्यमान उत्तर श्रेणी और दक्षिण श्रेणी ये दो श्रेणियाँ हो गयी हैं । ये दोनों श्रेणियाँ इस प्रकारसे शोभायमान होती हैं जैसे कि मानो सुननेको योग्य गीतोंको गानेवाले—गुंजार करते हुए—अनेक भौंरोंसे सेव्यमान गजराजके मदकी दो रेखाएँ ही हों ॥२३॥

श्रुतके पारंगत गणधरादि उस विजयार्धकी उत्तर श्रेणीमें निर्मल कान्तिवाले विद्याधरोंके साठ नगर तथा दक्षिण श्रेणीमें उनके पचास नगर जो कि मनमाने चल सकते थे, बतलाते हैं ॥२४॥

वह उन्नत विजयार्ध पर्वत चक्रवर्तीके समान शोभायमान है । कारण कि चक्रवर्ती जैसे अनेक पत्रों (वाहनों) से संयुक्त कटकों (सेना) से सहित होता है वैसे ही वह पर्वत भी अनेक पत्रों (पक्षियों) से संयुक्त कटकों (शिखरों) से सहित है, चक्रवर्ती यदि चौदह रत्नों और नौ निधियोंसे प्रतिभासमान होता है तो वह भी अनेक प्रकारके रत्नों एवं निधियोंसे प्रतिभासमान है, तथा जिस प्रकार देव और विद्याधर चक्रवर्तीके पादों (चरणों) की सेवा किया करते हैं उसी प्रकार वे देव और विद्याधर उस पर्वतके भी पादों (शिखरों) की सेवा (उपभोग) किया करते हैं, तथा चक्रवर्ती जहाँ विभूतिसे उन्नत होता है वहाँ वह पर्वत अपने शरीरसे उन्नत (२५ योजन ऊँचा) है ॥२५॥

२२) इ दीप्तो । २३) इ सेव्यमानौ....गीतौ । २४) इ षष्टिः; अकडइ दक्षिणस्यां नभश्चराणामनघद्युतीनां ।
२५) इ विचित्रपात्रैः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अकृत्रिमा यत्र जिनेश्वरार्चाः[२] श्रीसिद्धकूटस्थजिनालयस्थाः ।
निषेव्यमाणाः क्षपयन्ति पापं हुताशनस्येव शिखास्तुषारम्[३] ॥२६

आश्वासयन्ते[१] वचनैर्जनौघं श्रीचारणा यत्र[२] मुमुक्षुवर्याः[३] ।
रजोपहारोद्यतयः[४] पयोदा गम्भीरनादा इव वारिवर्षैः ॥२७

श्रेण्याममुत्रोजनि[२] दक्षिणस्यां श्रीवैजयन्ती नगरी प्रसिद्धा ।
निर्जैर्जयन्ती नगरीं[३] सुराणां विभासमानैर्विविधैर्विमानैः[४] ॥२८

मनीषित[१]प्राप्तसमस्तभोगाः परस्परप्रेमविषक्त[२]चित्ताः ।
निराकुला भोगभुवीव यस्यां[३] सुखेन कालं गमयन्ति लोकाः ॥२९

सर्वाणि साराणि गृहाणि यस्यामानीय रम्याणि निवेशितानि[१] ।
प्रजासृजा[२] दर्शयितुं समस्तं [३]सौन्दर्यमेकस्थमिव प्रजानाम् ॥३०

२६) १. गिरौ । २. प्रतिमाः । ३. क शीत ।
२७) १. सुखी कुर्वन्ति; क प्रीणयते । २. क विजयार्धे । ३. क यतिवराः । ४. उद्यमः ।
२८) १. नगे । २. क जाता । ३. क अमरावती । ४. विद्याधरविमानैः ।
२९) १. मनोवाञ्छितः; क मनोऽभीष्ट । २. क संयुक्त । ३. क श्रीवैजयन्तीनगर्याम् ।
३०) १. स्थापितानि । २. ब्रह्मणा । ३. रमणीयताम् ।

उस विजयार्ध पर्वतके ऊपर सिद्धकूटपर स्थित जिनालयमें विराजमान अकृत्रिम जिन प्रतिमाएँ भव्य जीवोंके द्वारा आराधित होकर उनके पापको इस प्रकारसे नष्टकर देती हैं जिस प्रकारसे अग्निकी ज्वालाएँ शैत्यको नष्ट किया करती हैं ॥२६॥

उस पर्वतके ऊपर मोक्षाभिलाषी मुनियोंमें श्रेष्ठ चारण मुनिजन अपने वचनों (उपदेश) के द्वारा पापरूप धूलिके विनाशमें उद्यत होकर मनुष्योंके समूहको इस प्रकारसे आनन्दित करते हैं जिस प्रकार कि गम्भीर गर्जना करनेवाले मेघ पानीकी वर्षासे धूलिको शान्त करके उसे (मनुष्यसमूहको) आनन्दित करते हैं ॥२७॥

उस पर्वतके ऊपर दक्षिण श्रेणीमें वैजयन्ती नामकी एक प्रसिद्ध नगरी है जो कि अपने चमकते हुए अनेक प्रकारके विमानोंसे देवोंकी नगरी (अमरावती) को जीतती है ॥२८॥

उस नगरीमें रहनेवाले मनुष्य अपने समयको इस प्रकारसे सुखपूर्वक बिताते हैं जिस प्रकार कि भोगभूमिज आर्य मनुष्य भोगभूमिमें अपने समयको सुखपूर्वक बिताया करते हैं । कारण यह कि जिस प्रकारसे आर्योंको भोगभूमिमें इच्छानुसार भोग उपलब्ध होते हैं उसी प्रकार इस नगरीमें निवास करनेवाले मनुष्योंको भी इच्छानुसार वे भोग उपलब्ध होते हैं तथा जिस प्रकार भोगभूमिमें आर्योंका मन पारस्परिक प्रेमसे परिपूर्ण रहता है उसी प्रकार इस नगरीके लोगोंका भी मन पारस्परिक प्रेम से परिपूर्ण रहता है ॥२९॥

ब्रह्माने सब सुन्दरताको एक जगह दिखलानेके लिए ही मानो समस्त रमणीय श्रेष्ठ घरोंको लाकर इस नगरीके भीतर स्थापित किया था । तात्पर्य यह है कि उस नगरीके भवन बहुत रमणीय थे ॥३०॥

२६) इ श्रीसिद्धिकूटस्य; क्षपयन्ति दुःखं । २७) इ मुनीन्द्रवर्याः; क °हारोद्युतयः । २८) ब इ नगरी सुराणां ।

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

देव्योऽङ्गनाभिस्त्रिदशा नभोगैः[२] शक्राः[३] खगेन्द्रैर्भवनैर्विमानाः[४]।
यस्यां व्यजीयन्त निजप्रभाभिः सा शक्यते[५] वर्णयितुं कथं पूः ॥३१
नभश्चरेशो जितशत्रुनामा स्वधामनिर्भर्त्सितशत्रुधामा[१]।
सुधाशिपुर्यामिव[२] देवराजस्तस्यामभूद्वज्रविराजिहस्तः[३] ॥३२
वाचंयमो यः परदोषवादे न न्यायशास्त्रार्थविचारकार्ये।
निरस्तहस्तो[१] ऽन्यधनापहारे न दर्पितारातिमदप्रमर्दे ॥३३
अन्धो ऽन्यनारीरवलोकितुं यो न हृद्यरूपा[१] जिननाथमूर्तीः।
निःशक्तिकः कर्तुमवद्यकृत्यं[२] न धर्मकृत्यं शिवशर्मकारि ॥३४

३१) १. विद्याधरीभिः। २. विद्याधरैः। ३. इन्द्रः। ४. खगराजभिः। ५. क अस्माभिः।

३२) १. प्रताप-बल। २. क स्वतेजोनिरस्तशत्रुतेजाः। ३. देवनगर्याम्। ४. क श्रीवैजयन्ती-नगर्याम्।

३३) १. संकोचित; क हस्तरहितः।

३४) १. मनोज्ञा; क मनोहररूपा। २. पापकार्यम्।

जिस नगरीमें प्रजाने विद्याधर स्त्रियोंके द्वारा देवियोंको, विद्याधरोंके द्वारा देवोंको, विद्याधर राजाओंके द्वारा इन्द्रोंको, तथा भवनोंके द्वारा विमानोंको जीत लिया था उस नगरीका पूरा वर्णन कैसे किया जा सकता है ? अभिप्राय यह है कि वह नगरी स्वर्गपुरीसे भी श्रेष्ठ थी ॥३१॥

उस नगरीमें अपने प्रतापसे शत्रुओंके नामको झिड़कनेवाला (तिरस्कृत करनेवाला) जितशत्रु नामक विद्याधरोंका राजा राज्य करता था। वज्रके समान कठोर सुन्दर भुजाओं-वाला वह राजा उस नगरीमें इस प्रकारसे स्थित था जिस प्रकारसे देवोंकी पुरी (अमरावती) में वज्र आयुधसे शोभायमान हाथवाला इन्द्र स्थित रहता है ॥३२॥

वह विद्याधर नरेश दूसरोंके दोषोंके दिखलानेमें जिस प्रकार मौनका अवलम्बन लेता था उस प्रकार न्याय और शास्त्रके अर्थका विचार करनेमें मौनका अवलम्बन नहीं लेता था, तथा वह दूसरोंके धनका अपहरण करनेमें जैसे हाथोंसे रहित था—उनका उपयोग नहीं करता था—वैसे अभिमानी शत्रुओंके मानमर्दनमें वह हाथोंसे रहित नहीं था—इसके लिए वह अपनी प्रबल भुजाओंका उपयोग करता था (परिसंख्यालंकार) ॥३३॥

वह यदि अन्धा था तो केवल रागपूर्वक परस्त्रियोंके देखनेमें ही अन्धा था, न कि मनोहर आकृतिको धारण करनेवाली जिनेन्द्र प्रतिमाओंके देखनेमें—उनका तो वह अतिशय भक्तिपूर्वक दर्शन किया करता था। इसी प्रकार यदि वह असमर्थ था तो केवल पापकार्यके करनेमें असमर्थ था, न कि मोक्षसुखके करनेवाले धर्मकार्यमें—उसके करनेमें तो वह अपनी पूरी शक्तिका उपयोग किया करता था (परिसंख्यालंकार) ॥३४॥

३१) अ दिव्याङ्गनाभिः। ३४) इ जिनराजमूर्तीः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चन्द्रः कलङ्की तपनो ऽतितापी जडः[1] पयोधिः कठिनः सुराद्रिः[2]।
यतो ऽमरेन्द्रो ऽजनि गोत्रभेदी ततो न ते[3] यस्य समा बभूवुः ॥३५
यः पार्थिवो[1] ऽप्युत्तमबोधधारी स्थिरस्वभावो ऽजनि पावनो[2] ऽपि।
कलानिधानो[3] ऽपि निरस्तदोषः सत्यानुरागी[4] वृषवर्धको[5] ऽपि ॥३६
विवर्धमानस्मरवायुवेगा प्रियाप्रियास्याजनि वायुवेगा।
जिनेन्द्रचन्द्रोदितधर्मविद्या विद्याधरी साधितभूरिविद्या ॥३७

३५) १. अज्ञानः मूर्खः। २. क मेरुः। ३. चन्द्रादयः ते।
३६) १. पाषाणराजः। २. पवित्रः। ३. समूहः। ४. सत्यभामा। ५. धर्म।
३७) १. कथित।

चूंकि चन्द्रमा कलंक (काला चिह्न) से सहित है और वह राजा उस कलंकसे रहित (निष्पाप) था, सूर्य विशिष्ट सन्ताप देनेवाला है और वह उस सन्तापसे रहित था, समुद्र जड़ है—जलस्वरूप या शीतल है और वह जड़ नहीं था—अज्ञानी नहीं था, मेरु कठोर है और वह कठोर (निर्दय) नहीं था, तथा इन्द्र गोत्रभेदी है—पर्वतोंका भेदन करनेवाला है और वह गोत्रभेदी नहीं था—वंशको कलंकित करनेवाला नहीं था; इसीलिए ये सब उसके समान नहीं हो सकते थे—वह इन सबसे श्रेष्ठ था ॥३५॥

वह राजा पृथिवी स्वरूप हो करके भी उत्तम ज्ञानको धारण करनेवाला था—जो पृथिवीस्वरूप होता है वह ज्ञानका धारक नहीं हो करके जड़ होता है, इस प्रकार यहाँ यद्यपि सरसरी तौरपर विरोध प्रतीत होता है, परन्तु उसका ठीक अर्थ जान लेनेपर यहाँ कुछ भी विरोध नहीं दिखता है। यथा—वह पार्थिव—पृथिवीका ईश्वर (राजा)—होता हुआ भी सम्यग्ज्ञानी था। वह पावन (पवनस्वरूप) होता हुआ भी स्थिर स्वभाववाला था—जो पवन (वायु) स्वरूप होगा वह कभी स्थिर नहीं होगा, इस प्रकार यद्यपि यहाँ आपाततः विरोध प्रतिभासित होता है, परन्तु वास्तविक अर्थके ग्रहण करनेपर वह विरोध नहीं रहता है। यथा—वह राजा पावन अर्थात् पवित्र होता हुआ भी स्थिर स्वभाववाला (दृढ़) था। कलाओंका निधानभूत चन्द्रमा हो करके भी वह निरस्तदोष अर्थात् दोषा (रात्रि) के संसर्गसे रहित था—चूँकि चन्द्र कभी रात्रिके संसर्गसे रहित नहीं होता है, इसलिए यद्यपि यहाँ वैसा कहनेपर आपाततः विरोध प्रतिभासित होता है, परन्तु यथार्थमें कोई विरोध नहीं है। यथा—कलाओंका निधान अर्थात् बृहत्तर कलाओंका ज्ञाता हो करके भी वह निरस्तदोष अर्थात् दोषोंसे रहित था। वह वृषवर्धक—बैलका बढ़ानेवाला महादेव—होता हुआ भी सत्यानुरागी अर्थात् सत्यभामासे अनुराग करनेवाला कृष्ण था—महादेव चूँकि कृष्ण नहीं हो सकता है, अतएव यहाँ आपाततः यद्यपि विरोध प्रतिभासित होता है, परन्तु यथार्थ अर्थके ग्रहण करनेपर कोई विरोध नहीं रहता है। यथा—वह वृषवर्धक अर्थात् धर्मका बढ़ानेवाला होता हुआ भी सत्यानुरागी—सत्यसंभाषणमें अनुराग रखनेवाला था (विरोधाभास) ॥३६॥

उस जितशत्रु राजाके वायुवेगा नामकी अतिशय प्यारी पत्नी थी। वह विद्याधरी

३५) अ ब इ तपनो वितापी; अ यतो सुरेन्द्रो। ३६) ब बोधकारी; इ वृषवर्धनो। ३७) इ सर्व for भूरि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्त्रियां क्वचिल्लोचनहारि रूपं शीलं परस्यां बुधवन्दनीयम् ।
शीलं च रूपं च बभूव यस्यामनन्यलभ्यं महनीयकान्त्याम् ॥३८
गौरीव शम्भोः कमलेव विष्णोः शिखेव दीपस्य दयेव साधोः ।
ज्योत्स्नेव चन्द्रस्य विभेव भानोस्तस्याविभक्ताजनि सा मृगाक्षी ॥३९
विधाय तां नूनमनूनकान्तिं कामं[1] विधाता कृतरक्षितारम् ।
विलोकमानं सकलं जनं तां विव्याध बाणैः कथमन्यथासौ[2] ॥४०
मनोरमा पल्लविता कराभ्यां फुल्लेक्षणाभ्यां विरराज यस्याः ।
तारुण्यवल्ली फलिता स्तनाभ्यां विगाह्यमाना[1] तरुणाक्षिभृङ्गैः ॥४१॥
रंरम्यमाणः कुलिशीव[1] शच्या रत्येव कामः कमनीयकायः ।
तया स[2] सार्धं नयति स्म कालं विचिन्तितानन्तरलब्धभोगः ॥४२

४०) १. क कामदेवम् । २. कामः ।
४१) १. सेव्यमाना ।
४२) १. इन्द्रः । २. सो [स] जितशत्रुः ।

बढ़ती हुई कामाग्निके लिए वायुके वेगके समान, श्रेष्ठ जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा प्ररूपित धर्मविद्याकी धारक तथा साधी गयी बहुत सी विद्याओंसे सम्पन्न थी (यमकालंकार) ॥३७॥

किसी स्त्रीमें यदि नेत्रोंको आनन्ददायक मनोहर रूप होता है तो दूसरीमें विद्वानोंके द्वारा वन्दना किये जाने योग्य शील रहता है । परन्तु श्रेष्ठ कान्तिको धारण करनेवाली उस वायुवेगामें दूसरोंके लिए दुर्लभ वे रूप और शील दोनों ही आकर एकत्रित हो गये थे ॥३८॥

मृगके समान नेत्रोंको धारण करनेवाली वह वायुवेगा जितशत्रु राजाके लिए इस प्रकारसे अविभक्त थी—सदा उसके साथ रहनेवाली थी—जिस प्रकार कि महादेवके लिए पार्वती, विष्णुके लिए लक्ष्मी, दीपकके लिए उसकी शिखा, साधुकी दया, चन्द्रमाकी चाँदनी तथा सूर्यकी प्रभा उसके साथ रहती है ॥३९॥

ब्रह्माने उस वायुवेगाको अतिशय कान्तियुक्त बना करके कामदेवको उसका रक्षक (पहरेदार) बनाया । कारण कि यदि ऐसा न होता तो फिर वह कामदेव उस (वायुवेगा) की ओर देखनेवाले जनसमूहको अपने समस्त बाणोंसे क्यों वेधता ? नहीं वेधना चाहिए था ॥४०॥

वायुवेगाकी मनोहर तारुण्यरूपी बेल (जवानीरूप लता) दोनों हाथोंरूप पत्तोंसे सहित, नेत्रोंरूप फूलोंसे विकसित और दोनों स्तनोंरूप फलोंसे फलयुक्त होकर युवा पुरुषोंके नेत्रोंरूप भौंरोंसे उपभुक्त होती शोभायमान होती थी ॥४१॥

रमणीय शरीरको धारण करनेवाला वह जितशत्रु राजा चिन्तनके साथ ही भोगोंको प्राप्त करके उसके साथ रमता हुआ इस प्रकारसे कालको बिता रहा था जिस प्रकार कि इन्द्राणीके साथ रमता हुआ इन्द्र तथा रतिके साथ रमता हुआ कामदेव कालको बिताता है ॥४२॥

३८) इ बुधनीयशालं; तथा स्वरूपं च बभूव; ब °कान्त्याः । ३९) क ड इ विविक्ताजनि ।
४०) अ ब सकलैर्जनं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तन्वी[1] मनोवेगमनिन्द्यवेगं निषेव्यमाणा खचरेश्वरेण ।
सासूत शोकापनुदं[2] तनूजं महोदयं नीतिरिवार्थनीयम् ॥४३

हिमांशुमालीव[1] हतान्धकारः कलाकलापेन विशुद्धवृत्तः ।
दिने दिने ऽसौ ववृधे कुमारः समं गुणौघेन विनिर्मलेन ॥४४

जग्राह विद्या वसुधाधिपानां बुद्ध्या चतस्रो ऽपि विशुद्धयासौ ।
समुद्रयोषा[2] इव वेलयाब्धिर्लक्ष्मीनिवासः स्थितिमानगाधः[3] ॥४५

मुनीन्द्रपादाम्बुजचञ्चरीको[1] जिनेन्द्रवाक्यामृतपानपुष्टः ।
बभूव बाल्ये ऽपि महानुभावः सद्धर्मरागी महनीयबुद्धिः[2] ॥४६

सद्यो वशीकर्तुमनन्तसौख्यामकल्मषां सिद्धिवधूं समर्थाम् ।
बभार[1] यः क्षायिकमर्चनीयं सम्यक्त्वरत्नं भववह्निवारि ॥४७

४३) १. क सूक्ष्माङ्गी । २. क शोकस्फेटकम् ।
४४) १. चन्द्रकिरण इव; क चन्द्रः ।
४५) १. क राज्ञाम् । २. नदीव । ३. क निश्चलः ।
४६) १. क भ्रमरः । २. क पूजनीयबुद्धिः ।
४७) १. क धारयामास ।

विद्याधरोंके स्वामी जितशत्रुके द्वारा सेव्यमान उस कृशांगी (वायुवेगा) ने प्रशंसनीय वेगसे संयुक्त, शोकको नष्ट करनेवाले और महान् अभ्युदयसे सहित ऐसे एक मनोवेग नामक पुत्रको इस प्रकारसे उत्पन्न किया जिस प्रकार कि नीति अभीष्ट पदार्थको उत्पन्न करती है ॥४३॥

जिस प्रकार चन्द्रमा अन्धकारको नष्ट करता हुआ प्रतिदिन अपनी कलाओंके समूहके साथ वृद्धिको प्राप्त होता है उसी प्रकार विशुद्ध आचरण करनेवाला वह मनोवेग पुत्र अपने निर्मल गुणसमूहके साथ प्रतिदिन वृद्धिको प्राप्त होने लगा ॥४४॥

जिस प्रकार लक्ष्मी (रत्नोंरूप सम्पत्ति) का स्थानभूत, स्थिर एवं गहरा समुद्र अपनी बेला (किनारा) के द्वारा नदियोंको ग्रहण किया करता है उसी प्रकार लक्ष्मी (शोभा व सम्पत्ति) के निवासस्थानभूत, दृढ़ एवं गम्भीर उस मनोवेगने अपनी निर्मल बुद्धिके द्वारा राजाओंकी चारों ही प्रकारकी विद्याओं (साम, दान, दण्ड व भेद) को ग्रहण कर लिया ॥४५॥

अतिशय प्रभावशाली व प्रशंसनीय बुद्धिवाला वह मनोवेग बाल्यावस्थामें ही मुनियोंके चरण-कमलोंका भ्रमर बनकर (मुनिभक्त होकर) जिनागमरूप अमृतके पीनेसे पुष्ट होता हुआ धर्ममें अनुराग करने लगा था ॥४६॥

उसने अनन्त सुखसे परिपूर्ण, कर्म-कलंकसे रहित एवं अनन्त सामर्थ्य (वीर्य) से सहित ऐसी मुक्तिरूप कामिनीको शीघ्र ही वशमें करनेके लिए पूजनेके योग्य क्षायिक सम्यक्त्वरूप रत्नको धारण कर लिया । वह सम्यक्त्व संसाररूप अग्निको शान्त करनेके लिए जलके समान उपयोगी है ॥४७॥

४४) क इ सुनिर्म्मलेन । ४७) इ भवरत्नवारि ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रियापुरीनाथखगेन्द्रसूनुः[1] परः सखा[2]सीत्पवनादिवेगः ।
तस्यार्थकारी[3] क्षतजाड्यवृत्तेः[4] समीरणो ऽग्नेरिव वेगशाली ॥४८
अन्योन्यमुन्मुच्य महाप्रतापौ स्थातुं क्षमौ नैकमपि क्षणं तौ[1] ।
मतौ[2] दिनार्काविव सज्जनानां मार्गप्रकाशप्रवणावभूताम् ॥४९
दुरन्तमिथ्यात्वविषावलीढो जिनेशवक्त्रोद्गततत्त्वबाह्यः ।
कुहेतुदृष्टान्तविशेषवादी प्रियापुरीनाथसुतो ऽभवत्सः ॥५०
मिथ्यात्वयुक्तं[1] तमवेक्षमाणो जिनेशधर्मं प्रतिकूलवृत्तिम् ।
मनोऽन्तरे[2] मानसवेग[3]भव्यस्तताप[4] शोकेन सुदुःसहेन ॥५१
दुःखे दुरन्ते सुहृदं पतन्तं मिथ्यात्वलीढं विनिवारयामि ।
मित्रं तमाहुः सुधियो ऽत्र पथ्यं[1] यः पावने योजयते[2] हि धर्मे ॥५२

४८) १. प्रभाशङ्खविपुलमत्योरपत्यम् । २. क मित्र । ३. क मनोवेगस्य । ४. क हितकर्ता । ५. क क्षता निरस्ता जाड्यवृत्तिर्येनासौ, निर्मलबुद्धेः ।
४९) १. क मनोवेगपवनवेगौ । २. कथितौ; क मान्यौ ।
५१) १. क विपरीतस्वभावम् । २. मनो ऽभ्यन्तरे । ३. मनोवेगः । ४. पीडितवान्; क खेदं प्राप्तवान् ।
५२) १. गुणकारिणे [णि] । २. क स्थापयेत ।

उधर प्रियापुरीके स्वामी विद्याधर नरेशके एक पवनवेग नामका पुत्र था जो उस मनोवेगका गाढ़ मित्र था । जिस प्रकार वेगशाली वायु अग्निकी वृद्धिमें सहायक होती है उसी प्रकार वह पवनवेग अज्ञानतापूर्ण प्रवृत्तिसे रहित (विवेकी) उस मनोवेगकी कार्य-सिद्धिमें अतिशय सहायक था ॥४८॥

वे दोनों महाप्रतापी एक दूसरेको छोड़कर क्षणभर भी नहीं रह सकते थे । उक्त दोनों मित्र दिन और सूर्यके समान माने जाते थे, अर्थात् जैसे दिन सूर्यके साथ ही रहता है—उसके बिना नहीं रहता है—वैसे ही वे दोनों भी एक दूसरेके बिना नहीं रहते थे । तथा वे सूर्य और दिनके समान ही सज्जनोंके लिए मार्गके दिखलानेमें प्रवीण थे ॥४९॥

प्रियापुरीके राजाका पुत्र वह पवनवेग दुर्विनाश मिथ्यात्वरूप विषसे व्याप्त और जिनेन्द्रके मुखसे निकले हुए (उपदिष्ट) तत्त्वसे बहिर्भूत—जिन भगवान्के द्वारा प्ररूपित तत्त्वोंपर श्रद्धान न करनेवाला—होकर कुयुक्ति व खोटे दृष्टान्तोंके आश्रयसे विवाद किया करता था ॥५०॥

उसको मिथ्यात्वसे युक्त होकर जैन धर्मके प्रतिकूल प्रवृत्ति करते हुए देखकर भव्य मनोवेग अन्तःकरणमें दुःसह शोकसे सन्तप्त हो रहा था ॥५१॥

मिथ्यात्वसे ग्रसित उस पवनवेग मित्रको दुर्विनाश दुखमें पड़ते हुए देखकर मनोवेगने विचार किया कि मैं उसे इस कुमार्गमें चलनेसे रोकता हूँ । ठीक भी है—विद्वान् मनुष्य मित्र उसीको बतलाते हैं जो कि यहाँ उसे हितकारक पवित्र धर्ममें प्रवृत्त करता है ॥५२॥

४९) इ स्थातुं क्षणं नैकमपि क्षमौ । ५१) इ जिनेशधर्मामृतमग्नवृत्तिः । ५२) इ मिथ्यात्वभावं विनिवारयैनम्; योजयते सुधर्मे ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिथ्यात्वमुत्सार्य[1] कथं मयायं[3] नियोजनीयो जिननाथधर्मे ।
मनोजवो[4] नो लभते स्म निद्रां विचिन्तयन्नेवमहर्निशं सः ॥५३

जिनेन्द्रचन्द्रायतनानि लोके स वन्दमानो भ्रमति स्म नित्यम् ।
न धर्मकार्ये रचयन्ति सन्तः कदाचनालस्यमनर्थमूलम् ॥५४

निवर्तमानस्य[1] कदाचनास्य प्रवन्द्य सर्वा जिनपुङ्गवार्चाः ।
श्रीकृत्रिमाकृत्रिमभेदभिन्ना विमानमार्गे[2] स्खलितं[3] विमानम् ॥५५

किं वैरिणा मे स्खलितं विमानं महर्द्धिभाजाथ तपस्विनेदम् ।
दध्यौविति व्याकुलचित्तवृत्तिर्विनिश्चलं वीक्ष्य विमानमेषः ॥५६

विबोद्धुकामः[1] प्रतिबन्धहेतुं[2] विलोकमानो वसुधामधस्तात् ।
पुराकरग्रामवनादिरम्यं स मालवाख्यं विषयं ददर्श ॥५७

५३) १. क त्यक्ता । २. क मनोवेगेन स्थापनीयः । ३. क पवनवेगः । ४. क मनोवेगः ।

५४) १. क चैत्यालय । २. कथंभूतम् आलस्यम् । कथा-

५५) १. व्याघुट्यमानस्य । २. क आकाशमार्गे । ३. क स्तम्भितं ।

५६) १. क चिन्तयति स्म ।

५७) १. वाञ्छा; क ज्ञातुमिच्छुः । २. क विमानस्तम्भनकारणम् ।

उस मनोवेगको दिन-रात यही चिन्ता रहती थी कि मैं पवनवेगके मिथ्यात्वको हटाकर किस प्रकारसे उसे जैनधर्ममें नियुक्त करूँ । इसी कारण उसे नींद भी नहीं आती थी ॥५३॥

लोकमें जो भी श्रेष्ठ जिनेन्द्रदेवके आयतन (जिनभवन आदि) थे उनकी वन्दनाके लिए वह निरन्तर घूमा करता था । ठीक है—सज्जन मनुष्य धर्मकार्यमें अनर्थके कारणभूत आलसको कभी नहीं किया करते हैं—वे धर्मकार्यमें सदा ही सावधान रहते हैं ॥५४॥

किसी समय वह मनोवेग कृत्रिम और अकृत्रिमके भेदसे भेदको प्राप्त हुई समस्त जिनप्रतिमाओंकी वन्दना करके वापिस आ रहा था । उस समय उसका विमान अकस्मात् आकाशमें रुक गया ॥५५॥

तब यह मनोवेग अपने विमानको निश्चल देखकर मनमें कुछ व्याकुल होता हुआ विचार करने लगा कि मेरे इस विमानको क्या किसी शत्रुने रोक दिया है अथवा वह किसी उत्कृष्ट ऋद्धिके धारी मुनिके प्रभावसे रुक गया है ॥५६॥

इस प्रकार विमानके रुक जानेके कारणके जाननेकी इच्छासे उसने नीचे पृथिवीकी ओर देखा । वहाँ उसे नगरों, खानों, गाँवों और वनादिकोंसे रमणीय मालव नामका देश दिखाई दिया ॥५७॥

५४) इ °नर्थभूतम् । ५५) ड इ अकृत्रिमाः कृत्रिमं । ५६) इ विमानमेघः । ५७) अ विबोधकामः; क ड इ वसुधां समस्तां; इ ग्रामविशेषरम्यं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मध्यस्थितामुज्जयिनीं[1] प्रसिद्धां तस्यालुलोके[3] नगरीं गरिष्ठाम् ।
पुरन्दरस्येव पुरीमुपेतां[5] द्रष्टुं धरित्रीश्रियमुत्तमर्द्धिम् ॥५८

क्षितिं विभिद्योज्ज्वलरत्नमूर्ध्ना निरीक्षितुं नाकमिव प्रवृत्तः ।
शालो यदीयः शशिरश्मिशुभ्रो विभाति शेषाहिरिवाविलङ्घ्यः ॥५९

संपद्यमानोद्धतभाववक्रा[2] पण्याङ्गनामानसवृत्तिकल्पा ।
अलभ्यमध्या परिखा[3] विरेजे समन्ततो यत्र सुदुष्प्रवेशा ॥६०

अभ्रंकषानेकविशालशृङ्गा यत्रोच्छलच्चित्रमृदङ्गशब्दाः ।
प्रासादवर्या[2] ध्वजलोलहस्तैर्निवारयन्तीव कलिप्रवेशम् ॥६१

५८) १. मालवदेशमध्यस्थिताम् उज्जयिनीं नगरीम् । २. क मालवस्य । ३. क दृष्टवान् । ४. इन्द्रस्य पुरीव । ५. आगताम् ।

५९) १. धरणेन्द्रः ।

६०) १. क उत्पद्यमान । २. क जलचरमकरादि । ३. क खातिका । ४. क उज्जयिन्याम् ।

६१) १. आकाशलग्ना । २. क प्रासादो देवभूभुजाम् ।

वहाँ उसने मालव देशकी पृथिवीपर मध्यमें अवस्थित गौरवशालिनी प्रसिद्ध उज्जयिनी नगरीको देखा । वह नगरी इस प्रकार सुशोभित थी मानो उत्तम ऋद्धिसे संयुक्त पृथिवीकी शोभाको देखनेकी इच्छासे इन्द्रकी ही नगरी आ गयी हो ॥५८॥

चन्द्रकी किरणोंके समान धवल उस नगरीका कोट ऐसा शोभायमान होता था जैसे कि मानो उज्ज्वल रत्नयुक्त शिरसे पृथिवीको भेदकर स्वर्गके देखनेमें प्रवृत्त हुआ अलंघनीय शेषनाग ही हो ॥५९॥

उस नगरीके चारों ओर जो खाई शोभायमान थी वह वेश्याकी मनोवृत्तिके समान थी—जिस प्रकार वेश्याकी मनोवृत्ति उद्धतभाव (अविनीतता) और वक्रता (कपट) से परिपूर्ण होती है उसी प्रकार वह खाई भी उद्धतभाव (पानीकी अस्थिरता) के साथ वक्र (टेढ़ी-मेढ़ी) थी, जैसे वेश्याकी मनोवृत्तिका मध्य अलभ्य होता है—उसके अन्तःकरणकी बात नहीं जानी जा सकती है—वैसे ही उस खाईका मध्य भी अलभ्य था—मध्यमें वह अधिक गहरी थी, तथा जिस प्रकार वेश्याकी मनोवृत्तिमें प्रवेश पाना अशक्य होता है उसी प्रकार गहराईके कारण उस खाईमें भी प्रवेश करना अशक्य था ॥६०॥

उस नगरीके भीतर आकाशको छूनेवाले (ऊँचे) अनेक विस्तृत शिखरोंसे सहित और उठते हुए विचित्र मृदंगके शब्दसे शब्दायमान जो उत्तम भवन थे वे फहराती हुई ध्वजाओं-रूप चपल हाथोंके द्वारा मानो कलिकालके प्रवेशको ही रोक रहे थे ॥६१॥

६०) इ अलब्धमध्या ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रामा विदग्धा[1] रमणीयरूपाः कटाक्षविक्षेपशरैस्तुदन्त्यः[2]।
भ्रूचारुचापास्तरुणं[3] जनौघं[4] जयन्ति यस्यां[5] द्युनिवासियोषाः[6] ॥६२

यदीयलक्ष्मीमवलोक्य यक्षा[1] व्रजन्ति लज्जां हृदि दुर्निवाराम्।
महानिधानाधिपतित्वगर्वाः सा[2] शक्यते वर्णयितुं कथं पूः ॥६३

अस्त्युत्तरस्यां दिशि चारु तस्या[1] महाफलैः सद्भिरिवाग्र्यपूगैः[3]।
उद्यानमुद्द्योतितसर्वदिक्कं प्रप्रीणिताशेषशरीरिवर्गैः ॥६४

सर्वर्तुभिर्दर्शितचित्रचेष्टैर्विरोधमुक्तैरवगाह्यमानम्[1]।
यदिन्द्रियानन्दकरैरनेकैः सत्त्वैरिवाभात्सुमनोभिरामैः[2] ॥६५

६२) १. निपुणाः; क प्रवीणाः। २. पीडयन्त्यः; क पीडयन्तः। ३. क युवानम्। ४. क जनसमूहम्। ५. क नगर्यां। ६. स्वर्ग। ७. क देवाङ्गनाः।

६३) १. क कुबेरादयः। २. क उज्जयिनी।

६४) १. क मनोहरनगर्याः। २. सत्पुरुषैरिव। ३. वृक्षसमूहैः।

६५) १. वनम्। २. वनचरैः श्वापदैः पक्षिभिः। ३. पुष्पं, पक्षे मनः।

उस नगरीमें स्थित चतुर व सुन्दर रूपको धारण करनेवाली स्त्रियाँ कटाक्षोंके फेंकनेरूप बाणोंसे संयुक्त भ्रुकुटियोंरूप मनोहर धनुषोंके द्वारा युवावस्थावाले जनसमूहको पीड़ित करती हुई देवांगनाओंको जीतती हैं ॥६२॥

जिस नगरीकी लक्ष्मीको देखकर महती सम्पत्तिके स्वामी होनेका अभिमान करनेवाले कुबेर हृदयमें अनिवार्य लज्जाको प्राप्त होते हैं उस नगरीका वर्णन भला कैसे किया जा सकता है ? अर्थात् नहीं किया जा सकता है—वह अवर्णनीय है ॥६३॥

उस उज्जयिनी नगरीकी उत्तर दिशामें एक सुन्दर उद्यान शोभायमान है। वह उद्यान सत्पुरुषोंके समान महान् फलोंको देनेवाले वृक्षसमूहोंके द्वारा सब दिशाओंको प्रकाशित करता था—जिस प्रकार सत्पुरुष दूसरोंके लिए महान् फल (स्वर्गादि) को दिया करते हैं उसी प्रकार उस उद्यानके वृक्षसमूह भी प्राणियोंके लिए अनेक प्रकारके फलों (आम, नीबू एवं नारंगी आदि) को देते थे तथा जैसे सब प्राणिसमूह सत्पुरुषोंके आश्रयसे सन्तुष्ट होते हैं उसी प्रकार वे उन वृक्षसमूहोंके आश्रयसे भी सन्तुष्ट होते थे। इसके अतिरिक्त वह उद्यान परस्परके विरोधसे रहित होकर प्राप्त हुई व अनेक प्रकारकी चेष्टाओंको दिखलानेवाली सब ऋतुओंके द्वारा सेवित होता हुआ जिस प्रकार इन्द्रियोंको आह्लादित करनेवाले अनेक प्राणियों (भील, सिंह-व्याघ्र एवं तोता आदि) से सुशोभित होता था उसी प्रकार वह सुन्दर सुमनों (फूलों तथा पवित्र मनवाले मुनियों आदि) से भी सुशोभित होता था ॥६४-६५॥

६२) अ °चारुचापैस्तरुणं ; °निवासयोषाः। ६४) ब सिद्धिरिवाग्र° ; इ रिवाशुपूगैः ; इ सर्वदिक्षु। ६५) इ विरोधिमुख्यैरव°।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नरामरव्योमचरैरुपासितं महामुनिं केवलबोधलोचनम्[1] ।
प्ररूढघातिद्रुमदाहपावकं भवाम्बुराशिं तरितुं तरण्डकम्[3] ॥६६
महोच्छ्रयं[1] स्फाटिकमत्र विष्टरं[3] निजं यशः पुञ्जमिवैक्षताश्रितम् ।
उपास्यमानं[4] मुनिभिर्विभास्वरैर्मरीचिजालैरिव शीतरोचिषम् ॥६७
घनं[1] कलापीव रजोपहारिणं चिरप्रवासीव सहोदरं प्रियम् ।
मुदं प्रपेदे भुवनेन्द्रवन्दितं मुनीन्द्रमालोक्य खगेन्द्रनन्दनः ॥६८
[1]ततो ऽवतीर्यैष विहायसः कृती विसारिरत्नद्युतिमौलिभूषितः ।
विवेश नाकीव वनं महामना मुनिक्रमाम्भोजविलोकनोत्सुकः ॥६९

६६) १. अत्र कथान्तरम्-सुकोशलदेशे अयोध्यायां राजा वसुपूज्यः । तन्मण्डलिक-जयंधरः । तस्य भार्या सुन्दर्योः (?) पुत्री सुमतिः वासुपूज्याय दत्ता । जयंधरस्य भागिनेयः पिङ्गलाख्यो रूपदरिद्रः । मह्यं स्थिता कन्यानेन परिणीता । सांप्रतं मयास्य किंचित् कर्तुं न शक्यते । भवान्तरे ऽस्य विनाशहेतुर्भवामीति तापसो भूत्वा मृतो राक्षसकुले धूमकेतुर्नाम देवो जातः इति । अयोध्यायां वासुपूज्यवसुमत्योर्ब्रह्मदत्ताख्यः पुत्रो जातः । राजा एकदा मेघविलयं दृष्ट्वा निर्विण्णः । तस्मै राज्यं दत्त्वा निष्क्रान्तः । सो ऽयं सकलागमधरो भूत्वा द्वादशवर्षैरेकविहारी जातः । स एकदा उज्जयिनीबाह्योद्याने ध्यानेन स्थितः । विमानारूढो [ढ] धूमकेतुना दृष्टः । वैरं स्मृत्वा तेन मुनेर्दुर्धरोपसर्गः कृतः । समुत्पन्ने केवले देवागमो जातः । धनदेवेन [°देन] समवसृतिश्च कृताः [ता] ततः । २. दीर्घ । ३. क जहाजं ।

६७) १. अत्युच्चम् । २. वने । ३. क सिंहासनम् । ४. दृष्ट । ५. मुनीश्वरम् । ६. क देदीप्यमानैः । ७. क किरणसमूहैः । ८. चन्द्रम् ।

६८) १. मेघम् । २. क दीर्घकालगतः । ३. क मनोवेगः ।

६९) १. मुनिदर्शनानन्तरम् । २. आकाशात्; क आकाशमार्गतः ।

उस उद्यानमें मनोवेगने एक ऐसे महामुनिको देखा जो मनुष्य, देव एवं विद्याधरोंके द्वारा आराधित; केवलज्ञानरूप नेत्रके धारक; उत्पन्न होकर विस्तारको प्राप्त हुए चार घातिया कर्मोंरूप वृक्षोंके जलानेमें अग्निकी समानताको धारण करनेवाले तथा संसाररूप समुद्रको पार करनेके लिए नौका जैसे थे । वे मुनिराज अपने यशसमूहके समान एक अतिशय ऊँचे स्फटिक मणिमय आसनके आश्रित होकर मुनियों द्वारा सेवित होते हुए ऐसे शोभायमान होते थे जैसे कि मानो अतिशय प्रकाशमान किरणसमूहोंसे सेवित चन्द्र ही हो ॥६६-६७॥

तीनों लोकोंके स्वामियों (इन्द्र, धरणेन्द्र और चक्रवर्ती) से वन्दित उन मुनिराजको देखकर जितशत्रु विद्याधर नरेशके पुत्र (मनोवेग) को ऐसा अपूर्व आनन्द प्राप्त हुआ जैसा कि रज (धूलि, मुनीन्द्रके पक्षमें ज्ञानावरणादि) को नष्ट करनेवाले मेघको देखकर मयूरको तथा प्रिय भाईको देखकर चिरकालसे प्रवास करनेवाले पथिकको प्राप्त होता है ॥६८॥

तत्पश्चात् फैलनेवाली रत्नोंकी कान्तिसे संयुक्त मुकुटको धारण करनेवाला वह महामनस्वी पुण्यशाली मनोवेग मुनिराजके चरण-कमलोंके दर्शनकी अभिलाषासे आकाशसे नीचे उतरकर देवके समान उस उद्यानके भीतर प्रविष्ट हुआ ॥६९॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अमितगतिविकल्पैर्मूर्धविन्यस्तहस्तै-
र्मनुजदिविजवर्गैः सेव्यमानं जिनेन्द्रम् ।
यतिनिवहसमेतं स प्रणम्योरुसत्त्वो
मुनिसदसि निविष्टस्तत्र संतुष्टचित्तः ॥७०

इति धर्मपरीक्षायाम् अमितगतिकृतायां प्रथमः परिच्छेदः ॥१॥

---

७०) १. अगणितमनुषा [ष्य] देवैः । २. उपविष्टः ।

वहाँ जाकर उसने अपरिमित भेदोंसे सहित तथा नमस्कारमें तत्पर होकर शिरपर दोनों हाथोंको रखनेवाले ऐसे मनुष्यों एवं देवोंके समूहों द्वारा आराधनीय और मुनिसमूहसे वेष्टित उन मुनीन्द्रको प्रणाम किया और तत्पश्चात् मनमें अतिशय हर्षको प्राप्त होता हुआ वह महासत्त्वशाली मनोवेग वहाँ मुनिसभा (गन्धकुटी) में बैठ गया ॥७०॥

इस प्रकार अमितगतिविरचित धर्मपरीक्षामें प्रथम परिच्छेद समाप्त हुआ ॥१॥

---

७०) ब क ड इ प्रणम्य प्रणम्य ।

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

[२]

सभायामथ तत्रैको भव्यः पप्रच्छ भक्तितः ।
नत्वा जिनमतिं साधु[1]मवधिज्ञानलोचनम् ॥१

भगवन्नत्र संसारे सरतां[1] सारवर्जिते ।
कियत्सुखं कियद् दुःखं कथ्यतां मे प्रसादतः ॥२

ततो ऽवादीद्यतिर्भद्र[1] श्रूयतां कथयामि ते ।
विभागो दुःशकः[2] कर्तुं संसारे सुखदुःखयोः ॥३

मया निदर्शनं[1] दत्त्वा किंचित्तदपि कथ्यते ।
न हि बोधयितुं शक्यास्तद्विना[2] मन्दमेधसः[3] ॥४

अनन्तसत्त्वकीर्णायां संसृत्यामिव मार्गगः ।
दीर्घायां कश्चनाटव्यां प्रविष्टो दैवयोगतः ॥५

---

१) १. क मुनिम् ।

२) १. भ्रमतां जीवानाम् ।

३) १. हे मनोवेग । २. असाध्यः अशक्यः; क दुःशक्यः ।

४) १. दृष्टान्तमाह । २. क तेन दृष्टान्तेन विना । ३. क मूर्खस्य ।

५) १. ना पुमान् ।

उस सभामें किसी एक भव्यने जिनमति नामके अवधिज्ञानी साधुको भक्तिपूर्वक नमस्कार करके उनसे पूछा कि हे भगवन्! इस असार संसारमें परिभ्रमण करनेवाले प्राणियोंको सुख कितना और दुःख कितना प्राप्त होता है, यह कृपा करके मुझे कहिए ॥१-२॥

इसपर वे मुनि बोले कि हे भद्र! सुनो, मैं उसको तुम्हें बतलाता हूँ। यद्यपि संसारमें सुख और दुःखका विभाग करना अशक्य है, तो भी मैं दृष्टान्त देकर उसके सम्बन्धमें कुछ कहता हूँ। कारण यह है कि विना दृष्टान्तके मन्दबुद्धि जनोंको समझाना शक्य नहीं है ॥३-४॥

जैसे—दुर्भाग्यसे कोई एक पथिक अनन्त जीवोंसे परिपूर्ण संसारके समान अनेक जीव-जन्तुओंसे व्याप्त किसी लम्बे वनके भीतर प्रविष्ट हुआ ॥५॥

---

१) इ पप्रच्छ सादरम्; ड जिनपतिं । ४) ड इ न विबोध°; ब शक्यात्तद्विना ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऊर्ध्वीकृतकरं रौद्रं कृतान्तमिव कुञ्जरम् ।
क्रुद्धं संमुखमायान्तं तत्रादर्शद् गुरुस्यदम् ॥६
त्रस्तो ऽतो ऽग्रीकृतस्तेन पथिको भिल्लवर्त्मना ।
अदृष्टपूर्वके कूपे धावमानः पपात सः ॥७
शरस्तम्बं पतंस्तत्र त्रस्तधीः स व्यवस्थितः ।
भव्यो धर्ममिवालम्ब्य दुर्गमे नरकालये ॥८
अधस्तात्सिन्धुरात्त्रस्तो यावदेष विलोकते ।
यमदण्डमिवाद्राक्षीत्तावत्तत्र महाशयुम् ॥९
आखुभ्यां शुक्लकृष्णाभ्यां पश्यति स्म स सर्वतः ।
खन्यमानं शरस्तम्बं पक्षाभ्यामिव जीवितम् ॥१०
उरगांश्चतुरस्तत्र दिक्चतुष्टयवर्तिनः ।
ददर्शागच्छतो दीर्घान् कषायानिव भीषणान् ॥११

६) १. क वने । २. महावेगम्; क गुरुतरशरीरं ।
७) १. भयभीतः ।
९) १. क हस्तिनः । २. क कूपे । ३. अजगरम् ।
१०) १. क मूषकाभ्याम् ।

वहाँ उसने सूँढ़को ऊपर उठाकर भयानक यमराजके समान अतिशय वेगसे सामने आते हुए क्रुद्ध हाथीको देखा ॥६॥

उस हाथीने उसे भीलोंके मार्गसे अपने आगे कर लिया । तब उससे भयभीत होकर वह पथिक भागता हुआ जिसको पहिले कभी नहीं देखा था ऐसे कुएँके भीतर गिर पड़ा ॥ ७ ॥

भयभीत होकर उसमें गिरता हुआ वह तृणपुंजका (अथवा खशके गुच्छे या वृक्षकी जड़ोंका) आलम्बन लेकर इस प्रकारसे वहाँ स्थित हो गया जिस प्रकार कोई भव्य जीव दुर्गम नरकरूप घरमें पहुँचकर धर्मका आलम्बन लेता हुआ वहाँ स्थित होता है ॥८॥

हाथीसे भयभीत होकर जब तक यह नीचे देखता है तब तक उसे वहाँ यमके दण्डेके समान एक महान् अजगर दिखाई दिया ॥९॥

तथा उसने यह भी देखा कि उस तृणपुंजको—जिसके कि आश्रयसे वह लटका हुआ था—श्वेत और काले रंगके दो चूहे सब ओरसे इस प्रकार खोद रहे हैं जिस प्रकार कि शुक्ल और कृष्ण ये दो पक्ष जीवित (आयु) को खोदते हैं—उसे क्षीण करते हैं ॥१०॥

इसके अतिरिक्त उसने वहाँ चार कषायोंके समान चारों दिशाओंमें आते हुए अतिशय भयानक चार लम्बे सर्पोंको देखा ॥११॥

६) अ ड इ °मायातं; अ इ तत्रापश्यद्; ब क ड इ गुरुस्पदम् । ७) इ वर्त्मनि अ क इ अदृश्यपूर्वके ।
८) अ क इ सरस्तंबं; इ त्रसधीः । ९) इ सिंधुरत्रस्तो । १०) इ सरस्तम्बं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रुष्टेन गजराजेन वृक्षः कूपतटस्थितः ।
कम्पितो रभसाभ्येत्यासंयतेनेव संयमः ॥१२

चलिताः सर्वतस्तत्र चलिते मधुमक्षिकाः ।
विविधा मधुजालस्था वेदना इव दुःखदाः ॥१३

मक्षिकाभिरसौ ताभिर्मर्माविद्धिः समन्ततः ।
ऊर्ध्वं विलोकयामास दश्यमानो बृहद्व्यथः ॥१४

ऊर्ध्वीकृतमुखस्यास्य वीक्षमाणस्य पादपम् ।
दीनस्यौष्ठतटे सूक्ष्मः पतितो मधुनः कणः ॥१५

श्वभ्रबाधाधिकां बाधामवगण्य स दुर्मनाः ।
स्वादमानो महासौख्यं मन्यते मधुविप्रुषम् ॥१६

अविचिन्त्यैव ताः पीडास्तत्स्वीकृतमुखो ऽधमः ।
तदेवास्वादनासक्तः सो ऽभिलालष्यते पतत् ॥१७

१२) १. शीघ्रम् ।
१३) १. वृक्षे ।
१६) १. बिन्दुकम्; क कणं ।
१७) १. [अ] विचार्य, विसार्य । २. क मधुकणः पुनर्वाञ्छन् ।

उधर क्रुद्ध उस हाथीने आकर कुएँके किनारेपर स्थित वृक्षको इस प्रकार वेगसे झकझोर दिया जिस प्रकार कि असंयमी जीव आराधनीय संयमको झकझोर देता है ॥१२॥

उस वृक्षके कम्पित होनेसे उसके ऊपर छत्तोंमें स्थित अनेक प्रकारकी मधुमक्खियाँ दुःखद वेदनाओंके समान ही मानो सब ओरसे विचलित हो उठीं ॥१३॥

मर्मको वेधनेवाली उन मधुमक्खियोंके द्वारा सब ओरसे काटनेपर वह पथिक महान् दुःखका अनुभव करता हुआ ऊपर देखने लगा ॥१४॥

उस वृक्षकी ओर देखते हुए उसने जैसे ही अपने मुँहको ऊपर किया वैसे ही उस बेचारे पथिकके ओठोंके किनारे एक छोटी-सी शहदकी बूँद आ पड़ी ॥१५॥

उस समय यद्यपि उसको नरककी वेदनासे भी अधिक वेदना हो रही थी, तो भी उसने उस वेदनाको कुछ भी न मानकर उस शहदकी बूँदके स्वादमें ही अतिशय सुख माना ॥१६॥

तब वह मूर्ख उन सब पीड़ाओंका कुछ भी विचार न करके अपने मुखमें वह शहद लेता हुआ उसी शहदकी बूँदके स्वादमें मग्न हो गया और उसीके बार-बार गिरनेकी अभिलाषा करने लगा ॥१७॥

१२) अ ब रभसा सेव्यः संय°; क °भ्येत्यासंयमेनेव । १३) अ इ दुःसहाः । १४) इ मर्मविद्धिः; इ बृहद्व्यथाम् । १६) अ ब इ °मवमन्य । १७) अ ब इ अविचिन्त्य स ताः पीडाः स्तब्धीकृतमुखो; अ °भिलाषेष्यते; अ ड पतन् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तावे ऽत्रास्य पान्थस्य यादृशे स्तः[1] सुखासुखे ।
जीवस्य तादृशे ज्ञेये संसारे व्यसनाकरे ॥१८
भिल्लवर्त्म मतं पापं शरीरी पथिको जनः ।
हस्ती मृत्युः शरस्तम्बो जीवितं कूपको भवः ॥१९
नरको ऽजगरः पक्षौ मूषिकावसितेतरौ[1] ।
कषायाः पन्नगाः प्रोक्ता व्याधयो मधुमक्षिकाः ॥२०
मधुसूक्ष्मकणास्वादो भोगसौख्यमुदाहृतम्[1] ।
विभागमिति जानीहि संसारे सुखदुःखयोः ॥२१
भवे[1] बंभ्रम्यमाणानामन्तरं सुखदुःखयोः ।
जायते तत्त्वतो[2] नूनं मेरुसर्षपयोरिव ॥२२
दुःखं मेरूपमं सौख्यं संसारे सर्षपोपमम् ।
यतस्ततः सदा कार्यः संसारत्यजनोद्यमः ॥२३

१८) १. भवतः । २. क दुःख ।
२०) १. क शुक्लकृष्णौ ।
२१) १. क कथितं ।
२२) १. संसारे । २. क निश्चयात् ।

बस, अब जैसे इस पथिकके प्रकरणमें उसे सुख और दुःख दोनों हैं वैसे ही सुख-दुःख इस आपत्तियोंके खानस्वरूप संसारमें प्राणीके भी समझने चाहिए ॥१८॥

उपर्युक्त उदाहरणमें जिस भीलोंके मार्गका निर्देश किया गया है उसके समान प्रकृतमें पाप, पथिक जनके समान प्राणी, हाथीके समान मृत्यु, शरस्तम्ब (तृणपुंज) के समान आयु, कुएँके समान संसार, अजगरके समान नरक, चूहोंके समान कृष्ण और शुक्ल पक्ष, चार सर्पोंके समान चार कषाएँ, मधुमक्खियोंके समान व्याधियाँ तथा शहदके छोटे बिन्दुके स्वाद के समान भोगजनित सुख माना गया है। इस प्रकार हे भव्य, उस पथिकके सुख-दुखके समान संसारमें परिभ्रमण करनेवाले प्राणियोंके सुख-दुःखके विभागको समझना चाहिए ॥१९-२१॥

इस संसारमें बार बार परिभ्रमण करनेवाले प्राणियोंके सुख और दुखके मध्यमें वस्तुतः इतना भारी अन्तर है जितना कि अन्तर मेरु पर्वत और सरसोंके बीचमें है—संसारी प्राणियोंका सुख तो सरसोंके समान तुच्छ और दुःख तो मेरु पर्वतके समान महान् है ॥२२॥

जब कि संसारमें दुख तो मेरु पर्वतके बराबर बहुत और सुख सरसोंके दानेके बराबर बहुत ही थोड़ा (नगण्य) है तब विवेकी जनको निरन्तर उस संसारके छोड़नेका उद्यम करना चाहिए ॥२३॥

१८) ब प्रस्तावे त्रस्त, क ड प्रस्तावे तत्र, इ प्रस्तावे त्वस्य । १९) क ड जनैः; ब कूपकः पुनः ।
२१) अ °कणाः स्वादो; ब संसारसुख° । २३) अ त्यजनोपमः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ये ऽणुमात्रसुखस्यार्थे कुर्वते भोगसेवनम् ।
ते शङ्के शीतनाशाय भजन्ते[1] कुलिशानलम्[2] ॥२४

मृग्यमाणं[1] हिमं जातु वह्निमध्ये विलोक्यते ।
संसारे न पुनः सौख्यं कथंचन कदाचन ॥२५

दुःखं वैषयिकं मूढा भाषन्ते सुखसंज्ञया ।
विध्यातो दीपकः किं न नन्दितो भण्यते जनैः ॥२६

दुःखदं सुखदं जीवा मन्यन्ते विषयाकुलाः ।
कनकाकुलिताः[1] किं न सर्वं पश्यन्ति काञ्चनम् ॥२७

संपन्नं धर्मतः सौख्यं निषेव्यं धर्मरक्षया ।
वृक्षतो हि फलं जातं भक्ष्यते वृक्षरक्षया ॥२८

२४) १. क सेवन्ते । २. क वज्रानलम् ।

२५) १. क अवलोक्यमानं—विचार्यमाणम् ।

२७) १. धत्तूराकुलाः ।

जो मूर्ख परमाणु प्रमाण सुखके लिए विषयभोगोंका सेवन करते हैं वे मानो शैत्यको नष्ट करनेके लिए वज्राग्निका उपयोग करते हैं, ऐसी मुझे शंका होती है। अभिप्राय यह है कि जैसे वज्राग्निसे कभी शीतका दुःख दूर नहीं किया जा सकता है वैसे ही इन्द्रियविषयोंके सेवनसे कभी दुःखको दूर करके सुख नहीं प्राप्त किया जा सकता है ॥२४॥

यदि खोजा जाय तो कदाचित् अग्निके भीतर शीतलता मिल सकती है, परन्तु संसारके भीतर सुख कभी और किसी प्रकारसे भी उपलब्ध नहीं हो सकता है ॥२५॥

मूर्ख जन विषयोंके निमित्तसे उत्पन्न हुए दुःखको 'सुख' इस नामसे कहते हैं। सो ठीक भी है—कारण कि क्या लोग बुझे हुए दीपक को 'बढ़ गया' ऐसा नहीं कहते हैं? कहते ही हैं। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार व्यवहारी जन बुझे हुए दीपको 'बुझ गया' न कहकर 'बढ़ गया' ऐसा व्यवहार करते हैं उसी प्रकार अज्ञानी जन विषयसेवनसे उत्पन्न होनेवाले दुःखमें सुखकी कल्पना किया करते हैं ॥२६॥

विषयोंसे व्याकुल हुए प्राणी दुखदायीको सुख देनेवाला मानते हैं। ठीक भी है—धतूरेके फलको खाकर व्याकुल हुए प्राणी क्या सब वस्तुओंको सुवर्ण जैसा पीला नहीं देखते? अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार धतूरे फलके भक्षणसे मनुष्यको सब कुछ पीला ही पीला दिखाई देता है उसी प्रकार विषयसेवनमें रत हुए प्राणीको भ्रान्तिवश दुख ही सुखस्वरूप प्रतीत होता है ॥२७॥

प्राणियोंको जो सुख प्राप्त हुआ है वह धर्मके निमित्तसे ही प्राप्त हुआ है। अतएव उन्हें उस धर्मकी रक्षा करते हुए ही प्राप्त सुखका सेवन करना चाहिए। जैसे—बुद्धिमान् मनुष्य वृक्षसे उत्पन्न हुए फलको उस वृक्षकी रक्षा करते हुए ही खाया करते हैं ॥२८॥

२४) अ ब इ भजन्ति । २६) अ निंदितो । २७) अ इ दुःखं च, ब विषयं for दुःखदं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पश्यन्तः पापतो दुःखं पापं मुञ्चन्ति सज्जनाः ।
जानन्तो वह्नितो दाहं वह्नौ हि प्रविशन्ति के ॥२९

सुन्दराः सुभगाः सौम्याः कुलीनाः शीलशालिनः ।
भवन्ति धर्मतो दक्षाः शशाङ्कयशसः स्थिराः ॥३०

विरूपा दुर्भगा द्वेष्या दुःकुलाः शीलनाशिनः ।
जायन्ते पापतो मूढा दुर्यशोभागिनश्चलाः ॥३१

व्रजन्ति सिन्धुरारूढा धर्मतो जनपूजिताः ।
धावन्ति पुरतस्तेषां पापतो जननिन्दिताः ॥३२

लभन्ते वल्लभा रामा लावण्योत्पत्तिमेदिनीः ।
धर्मतः पापतो दीना जम्पानस्था[1] वहन्ति ताः[2] ॥३३

धर्मतो ददते केचिद् द्रव्यं कल्पद्रुमा इव ।
याचन्ते पापतो नित्यं प्रसारितकराः परे ॥३४

३१) १. दुष्टो [ष्टं] यशो भजन्तीति दुर्यशोभागिनो ऽशुभा वा ।
३२) १. गजचटिताः; क गजारूढाः ।
३३) १. क शिबिकारूढाः । २. क ललनाः ।

सज्जन मनुष्य पापसे उत्पन्न हुए दुखको देखकर उस पापका परित्याग करते हैं । ठीक है—अग्निसे उत्पन्न होनेवाले संतापको जानते हुए भी कौन-से ऐसे मूर्ख प्राणी हैं जो उसी अग्निके भीतर प्रवेश करते हों ? कोई भी समझदार उसके भीतर प्रवेश नहीं करता है ॥ २९ ॥

जो भी प्राणी सुन्दर, सुभग, सौम्य, कुलीन, शीलवान्, चतुर, चन्द्रके समान धवल यशवाले और स्थिर देखे जाते हैं वे सब धर्मके प्रभावसे ही वैसे होते हैं ॥३०॥

इसके विपरीत जो भी प्राणी कुरूप, दुर्भग, घृणा करने योग्य, नीच, दुर्व्यसनी, मूर्ख, बदनाम और अस्थिर देखे जाते हैं वे सब पापके कारण ही वैसे होते हैं ॥३१॥

धर्मके प्रभावसे मनुष्य अन्य जनोंसे पूजित होते हुए हाथीपर सवार होकर जाया करते हैं और पापके प्रभावसे दूसरे मनुष्य जननिन्दाके पात्र बनकर उनके (गजारूढ़ मनुष्योंके) ही, आगे-आगे दौड़ते हैं ॥३२॥

प्राणी धर्मके प्रभावसे सौन्दर्यकी उत्पत्तिकी भूमिस्वरूप प्रिय स्त्रियोंको प्राप्त किया करते हैं और पापके प्रभावसे बेचारे वे हीन प्राणी शिबिकामें बैठी हुई उन्हीं स्त्रियोंको ढोया करते हैं ॥३३॥

कितने ही मनुष्य धर्मके प्रभावसे कल्पवृक्षोंके समान दूसरोंके लिए द्रव्य दिया करते हैं तथा इसके विपरीत दूसरे मनुष्य पापके प्रभावसे अपने हाथोंको फैलाकर याचना किया करते हैं—भीख माँगा करते हैं ॥३४॥

३१) अ °भागिनश्चिरं, क °नश्चरां, इ °नः खलाः । ३२) ब पापिनो जन° । ३३) अ लभंति; अ दीनास्ते हवंति युगस्थिताः, ब दीना युग्यारूढा वह°, इ जयानस्था । ३४) इ ददतः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धार्मिकाः कान्तयाश्लिष्टाः शेरते मणिमन्दिरे ।
पापिनो रक्षणं तेषां कुर्वते शस्त्रपाणयः ॥३५

भुञ्जते मिष्टमाहारं सौवर्णमत्रेसंस्थितम् ।
धार्मिकाः पापिनस्तेषामुच्छिष्टं मण्डला इव ॥३६

धार्मिका वसते वस्त्रं महार्घं[1] कोमलं घनम् ।
लभन्ते न शतच्छिद्रं कौपीनमपि पापिनः ॥३७

गीयन्ते पुण्यतो धन्या लोकविख्यातकीर्तयः ।
गायन्ति पुरतस्तेषां पापतश्चित्रचाटवः ॥३८

चक्रिणस्तीर्थकर्तारः केशवाः प्रतिकेशवाः ।
सर्वे धर्मेण जायन्ते कीर्तिव्याप्तजगत्त्रयाः ॥३९

वामनाः पामनाः[1] खञ्जा रोमशाः किङ्करा शठाः ।
जायन्ते पापतो नीचाः सर्वलोकविनिन्दिताः ॥४०

३६) १. भाजनम् ।

३७) १. अमूल्यम्; प्रमोल्यकम् ।

४०) १. कण्डूसंयुक्ताः ।

पुण्यशाली मनुष्य स्त्रीके द्वारा आलिंगित होकर मणिमय भवनके भीतर सोते हैं और पापके प्रभावसे दूसरे मनुष्य हाथमें शस्त्रको ग्रहण करके उक्त पुण्यशाली पुरुष-स्त्रियोंकी रक्षा किया करते हैं ॥३५॥

पुण्यपुरुष सुवर्णमय पात्रमें स्थित मधुर आहारको ग्रहण किया करते हैं और पापी जन कुत्तोंके समान उनकी जूठनको खाया करते हैं ॥३६॥

धर्मात्मा जन प्रशस्त, बहुमूल्य, कोमल और सघन वस्त्रको प्राप्त करते हैं, परन्तु पापी जन सौ छेदोंवाली लँगोटीको भी नहीं प्राप्त कर पाते हैं ॥३७॥

पुण्यके उदयसे जिनकी कीर्ति लोकमें फैली हुई है ऐसे प्रशंसनीय पुरुषोंका यशोगान किया जाता है और पापके उदयसे इनकी अनेक प्रकारसे खुशामद करनेवाले दूसरे जन उनके आगे उन्हींकी कीर्तिको गाया करते हैं ॥३८॥

तीनों लोकोंको अपनी कीर्तिसे व्याप्त करनेवाले चक्रवर्ती, तीर्थंकर, नारायण और प्रतिनारायण ये सब धर्मके प्रभावसे ही उत्पन्न होते हैं ॥३९॥

इसके विपरीत सब लोगोंके द्वारा अतिशय निन्दित बौने, खुजलीयुक्त शरीरवाले, कुबड़े, अधिक रोमोंवाले, दास, मूर्ख और नीच जन पापके उदयसे उत्पन्न हुआ करते हैं ॥ ४० ॥

३५) अ पापतो; अ ब कुर्वते । ३६) ब मृष्टमाहारं; इ सौवर्णपात्रसं° ब क ड इ °मुत्सृष्टं । ३७) अ धार्मिका वसनं शस्तं, क इ वासते । ३८) क गायन्ते पुरत° ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्मः कामार्थमोक्षाणां काङ्क्षितानां वितारकः[1] ।
अधर्मो नाशकस्तेषां सर्वानर्थमहाखनिः ॥४१

प्रशस्तं धर्मतः सर्वमप्रशस्तमधर्मतः ।
विख्यातमिति सर्वत्र बालिशैरपि[1] बुध्यते ॥४२

प्रत्यक्षमिति विज्ञाय धर्माधर्मफलं बुधाः ।
अधर्मं सर्वथा मुक्त्वा धर्मं कुर्वन्ति सर्वदा ॥४३

नीचा एकभवस्यार्थे[1] किंचित्तत्कर्म[2] कुर्वते ।
लभन्ते भवलक्षेषु यतो[3] दुःखमनेकशः ॥४४

दुःसहासुखसंवर्धिविषयासवमोहिताः ।
कृपणाः कुर्वते पापमद्यश्वीने[2] ऽपि जीविते ॥४५

न किंचिद् विद्यते वस्तु संसारे क्षणभङ्गुरे ।
शर्मदं सहगं[1] पूतमात्मनीनं[2]मनश्वरम्[3] ॥४६

४१) १. क दाता ।

४२) १. क मूर्खैः ।

४४) १. विषयोद्भवसुखस्यार्थे । २. क पापकर्म । ३. क यस्मात्पापकर्मणः सकाशात् ।

४५) १. मद्य; क पञ्चेन्द्रियविषयोद्भवमोहिताः । २. अद्यश्वसंबंधीनादीचिते [?]

४६) १. क सहजोत्पन्नम् । २. क आत्महितम् । ३. क निरन्तरं ।

धर्म तो अभीष्ट काम, अर्थ और मोक्ष इनका देनेवाला तथा सब अनर्थोंकी खानस्वरूप अधर्म उन्हीं कामादिकोंको नष्ट करनेवाला है ॥४१॥

लोकमें जितने भी प्रशंसनीय पदार्थ हैं वे सब धर्मके प्रभावसे तथा जितने भी निन्दनीय पदार्थ हैं वे सब पापके प्रभावसे होते हैं, यह सर्वत्र विख्यात है और इसे मूर्ख भी जानते हैं ॥४२॥

इस प्रकार धर्म और अधर्मके फलको प्रत्यक्षमें जान करके विवेकी जीव सब प्रकारसे अधर्मका परित्याग करते हुए निरन्तर धर्म किया करते हैं ॥४३॥

नीच पुरुष एक भवमें ही किंचित् सुखकी अभिलाषासे वह कार्य कर बैठते हैं कि जिससे उन्हें लाखों भवोंमें अनेक प्रकारके दुःखोंको भोगना पड़ता है ॥४४॥

क्षुद्र जन दुःसह दुखको बढ़ानेवाली विषयरूप मदिराके सेवनमें मुग्ध होकर जीवनके आज-कल रहनेवाला (नश्वर) होनेपर भी पाप कर्मको किया करते हैं ॥४५॥

क्षणनश्वर संसारमें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो कि सुखप्रद, जीवके साथ जानेवाली, पवित्र, आत्माके लिए हितकारक और स्थायी हो ॥४६॥

---

४२) इ °शैरपि कथ्यते । ४५) ब दुःसहाः सुख; इ दुःसहादुःख, अ ड इ कुटिलाः कुर्वते । ४६) अ °नीनमविनश्वरं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तारुण्यं जरसा ग्रस्तं जीवितं समवर्तिना[1] ।
संपदो विपदा पुंसां तृष्णैका निरुपद्रवा ॥४७
आरोहतु धराधीशं धात्रीं भ्राम्यतु सर्वतः ।
प्राणी विशतु पातालं तथापि ग्रसते ऽन्तकः[1] ॥४८
सज्जनाः पितरो भार्याः स्वसारो[1] भ्रातरो ऽङ्गजाः ।
नागच्छन्तं क्षमा रोद्धुं समवर्तिमतङ्गजम् ॥४९
हस्त्यश्वरथपादाति बलं पुष्टं चतुर्विधम् ।
भक्ष्यमाणं न शक्नोति रक्षितुं मृत्युरक्षसा ॥५०
दानपूजामिताहारैमन्त्रतन्त्ररसायनैः ।
पार्यते[2] न निराकर्तुं कोपनो यमपन्नगः ॥५१
स्तनंधयो[1] युवा वृद्धो दरिद्रः सधनो ऽधनः ।
बालिशः[2] कोविदः शूरः कातरः प्रभुरप्रभुः ॥५२

४७) १. क यमेन ।
४८) १. क यमः ।
४९) १. भगिनी [न्यः] ।
५१) १. अवमोदर्यं । २. न प्रवर्तते शक्यते; क सामर्थ्यते ।
५२) १. क बालकः । २. अज्ञानी मूर्खः ।

मनुष्योंकी युवावस्था (जवानी) बुढ़ापेसे, जीवित यम (मृत्यु) से और सम्पत्तियाँ विपत्तिसे व्याप्त हैं । हाँ, यदि कोई बाधासे रहित है तो वह उनकी एक तृष्णा ही है । अभिप्राय यह है कि युवावस्था, जीवन और सम्पत्ति ये सब यद्यपि समयानुसार अवश्य ही नष्ट होनेवाले हैं फिर भी अज्ञानी मनुष्य विषयतृष्णाको नहीं छोड़ते हैं—वह उनके साथ युवावस्थाके समान वृद्धावस्थामें भी निरन्तर बनी रहती है ॥४७॥

प्राणी चाहे पर्वतके ऊपर चढ़ जावे, चाहे पृथिवीके ऊपर सब ओर घूमे, और चाहे पातालमें प्रविष्ट हो जावे; तो भी यमराज उसे अपना ग्रास बनाता ही है—वह मरता अवश्य है ॥४८॥

सत्पुरुष, पिता (गुरुजन), स्त्रियाँ, बहिनें, भाईजन और पुत्र; ये सब आते हुए उस यमराजरूप उन्मत्त हाथीके रोकनेमें समर्थ नहीं हैं—मृत्युसे बचानेवाला संसारमें कोई भी नहीं है ॥४९॥

हाथी, घोड़ा, रथ और पादचारी; यह परिपुष्ट चार प्रकारका सैन्य भी मृत्युरूप राक्षसके द्वारा खाये जानेवाले प्राणीकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं है ॥५०॥

दान, पूजा, परिमित भोजन, मन्त्र, तन्त्र और रसायन (रोगनाशक औषधि) इनके द्वारा भी उस क्रोधी यमरूप सर्पका निराकरण नहीं किया जा सकता है ॥५१॥

स्तनपान करनेवाला शिशु, युवा, वृद्ध, दरिद्र, धनवान्, निर्धन, मूर्ख, विद्वान्, शूर,

४७) ड तृष्णैव । ४८) अ प्रविशत्पातालम् । ४९) इ पितरौ । ५०) अ ब पादातबलं; अ मृत्युराक्षसात् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वदान्यः[1] कृपणः पापी धार्मिकः सज्जनः खलः ।
न को ऽपि मुच्यते जीवो दहता मृत्युवह्निना ॥५३॥ युग्मम् ।

हन्यन्ते त्रिदशा येन बलिनः सपुरंदराः[2] ।
न नरान्निघ्नंस्तस्य[3] मृत्योः[4] खेदो ऽस्ति कश्चन ॥५४

दह्यन्ते पर्वता येन दृढपाषाणबन्धनाः ।
विमुच्यन्ते कथं तेन वह्निना[1] तृणसंचयाः ॥५५

नोपायो विद्यते को ऽपि न भूतो न भविष्यति ।
निवार्यते यमो येन प्रवृत्तः प्राणिचर्वणे ॥५६

सर्वज्ञभाषितं धर्मं रत्नत्रितयलक्षणम् ।
विहाय नापरः शक्तो जरामरणमर्दने ॥५७

जीविते मरणे दुःखे सुखे विपदि संपदि ।
एकाकी सर्वदा जीवो न सहायो ऽस्ति कश्चन ॥५८

५३) १. दातार; क दाता ।

५४) १. क अग्निना । २. इन्द्रेण सहिताः । ३. निहतः । ४. यमस्य ।

५५) १. क अग्निना ।

कायर, स्वामी, सेवक, दाता, सूम, पापी, पुण्यात्मा, सज्जन, और दुर्जन; इनमेंसे कोई भी जीव उस जलानेवाली मृत्युसे नहीं छूट सकता है—समयानुसार ये सब ही मरणको प्राप्त होनेवाले हैं ॥५२-५३॥

जिस मृत्युके द्वारा इन्द्रके साथ अतिशय बलवान् देव भी मारे जाते हैं उस मृत्युको मनुष्योंको मारनेमें कोई खेद नहीं होता है । ठीक ही है—जो अग्नि मजबूत पत्थरोंसे सम्बन्धित पर्वतोंको जला डालती है वह अग्नि तृणसमूहों (घास-फूस) को भला कैसे छोड़ सकती है ? नहीं छोड़ती है ॥५४-५५॥

वह कोई भी उपाय न वर्तमानमें है, न भूतकालमें हुआ है, और न भविष्यमें होनेवाला है; जिसके कि द्वारा जीवोंके चबानेमें प्रवृत्त हुए यमको रोका जा सके—उनको मरनेसे बचाया जा सकता हो ॥५६॥

सर्वज्ञके द्वारा उपदिष्ट रत्नत्रयस्वरूप धर्मको छोड़कर और दूसरा कोई भी जरा एवं मृत्युके नष्ट करनेमें समर्थ नहीं है—यदि जन्म, जरा एवं मरणसे कोई बचा सकता है तो वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वरूप रत्नत्रय ही बचा सकता है ॥५७॥

जीवित और मरण, सुख और दुख तथा सम्पत्ति और विपत्ति इनके भोगनेमें प्राणी निरन्तर अकेला ही रहता है; उसकी सहायता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है ॥५८॥

५३) ब इ om युग्मम् । ५६) अ प्राणचर्वणे, ब जनचर्वणे ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भिन्नप्रकृतिका[1] भिन्ना जन्तोर्ये ऽत्रैव बान्धवाः ।
ते ऽमुत्र[2] न कथं[3] सन्ति निजकर्मवशीकृताः ॥५९

नात्मनः किंचनात्मीयं निरस्यात्मानमञ्जसा[1] ।
अयं निजः परश्चायं कल्पना[2] मोहकल्पिता ॥६०

आत्मनः सह देहेन नैकत्वं यस्य विद्यते ।
बहिर्भूतैः कथं तस्य[1] मित्रपुत्राङ्गनादिभिः ॥६१

कार्यमुद्दिश्य[1] निःशेषा भजन्त्यत्र जने जनाः ।
न वाचमपि यच्छन्ति स्वकीयां कार्यवर्जिताः ॥६२

न को ऽपि कुरुते स्नेहं विना स्वार्थेन निश्चितम् ।
क्षीरक्षये विमुञ्चन्ति मातरं किं न तर्णकाः[1] ॥६३

दुःखदं सुखदं मत्वा स्थावरं गत्वरं[1] जनाः ।
बतानात्मीयमात्मीयं[2] कुर्वते पापसंग्रहम् ॥६४

---

५९) १. क भिन्नस्वभावाः । २. परलोके । ३. केन प्रकारेण ।
६०) १. विहाय । २. कल्पकल्पने ।
६१) १. आत्मनः; क नरस्य ।
६२) १. क विचार्य ।
६३) १. वत्सकाः ।
६४) १. अनित्यम् । २. क अहितम् ।

भिन्न-भिन्न स्वभाववाले जो बन्धुजन इसी भवमें प्राणीसे भिन्न हैं वे अपने-अपने कर्मके आधीन होकर भला परभवमें कैसे भिन्न नहीं होंगे ? भिन्न होंगे ही ॥५९॥

वास्तवमें अपनी आत्माको छोड़कर और कुछ भी अपना निजी नहीं है । यह अपना है और यह दूसरा है, यह केवल मोहके द्वारा कोरी कल्पना की जाती है ॥६०॥

जिस आत्माकी शरीरके साथ भी एकता नहीं है, उसकी क्या मित्र, पुत्र और स्त्री आदि बाहरी पदार्थोंके साथ कभी एकता हो सकती है ? नहीं हो सकती है ॥६१॥

समस्त जन अपने कार्यके उद्देश्यसे ही यहाँ मनुष्यकी सेवा करते हैं । कार्यसे रहित होनेपर वे अपने वचनको भी नहीं देते हैं—बात भी नहीं करते हैं ॥६२॥

स्वार्थके बिना निश्चयसे कोई भी स्नेह नहीं करता है । ठीक ही है—दूधके नष्ट हो जानेपर क्या नवजात बछड़े भी माँ को (गायको) नहीं छोड़ देते हैं ? छोड़ ही देते हैं ॥६३॥

यह खेदकी बात है कि प्राणी दुखदायक वस्तुको सुखदायक, अस्थिरको स्थिर और परको स्वकीय मानकर यों ही पापका संचय करते हैं ॥६४॥

---

५९) अ जन्तोरत्रैव, क ड जन्तोर्ह्यत्रैव, इ जन्तोरत्रैव । ६०) ड कल्पिताः । ६१) ब भिद्यते for विद्यते ।
६२) क ड स्वकीया वर्जिता ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुत्रमित्रशरीरार्थं कुर्वते कल्मषं[1] जनाः ।
श्वभ्रादिवेदनां घोरां सहन्ते पुनरेककाः[2] ॥६५

न क्वापि दृश्यते सौख्यं मृग्यमाणं[1] भवार्णवे ।
उद्वेष्टिते[2] ऽपि किं सारो रम्भास्तम्भे विलोक्यते ॥६६

न को ऽपि सह[1] गन्तेति जानद्भिरपि सज्यते[2] ।
यत्तदर्थं महारम्भे मूढत्वं किमतः परम् ॥६७

अक्षार्थसुखतो दुःखं यत्तपः क्लेशतः सुखम् ।
तदक्षार्थसुखं हित्वा[2] तप्यते कोविदैस्तपः ॥६८

ये[1] यच्छन्ति[2] महादुःखं पोष्यमाणा निरन्तरम् ।
विषयेभ्यः परस्तेभ्यो न[3] वैरी को ऽपि दुस्त्यजः ॥६९

६५) १. क पापम् । २. एकाकिनः ।

६६) १. क प्रविचार्यमाणम् । २. क छेदिते सति ।

६७) १. तेन सह गन्ता । २. क क्रियते ।

६८) १. कारणात् । २. त्यक्त्वा ।

६९) १. विषयाः । २. क ददन्ते । ३. स्यात् ।

प्राणी पुत्र, मित्र और शरीर आदिके लिए तो पापाचरण करते हैं, परन्तु उससे उत्पन्न होनेवाली नरकादिकी वेदनाको भोगते वे अकेले ही हैं ॥६५॥

खोजनेपर संसाररूप समुद्रके भीतर कहींपर भी सुख नहीं दिखता है । ठीक ही है— केलेके खम्भेको छीलनेपर भी क्या उसमें कभी सार देखा जाता है ? नहीं देखा जाता है ॥ ६६ ॥

कोई भी बाह्य पदार्थ अपने साथ जानेवाला नहीं है, यह जानते हुए भी प्राणी जो उन्हीं बाह्य पदार्थोंके निमित्तसे महान् आरम्भमें प्रवृत्त होते हैं; इससे दूसरी मूर्खता और कौन-सी होगी ? अभिप्राय यह है कि जब कोई भी चेतन व अचेतन पदार्थ प्राणीके साथ नहीं जाता है तब उसके निमित्तसे व्यर्थ ही पापकार्यमें प्रवृत्त नहीं होना चाहिए ॥६७॥

चूँकि इन्द्रियविषयजनित सुखसे भविष्यमें दुःख तथा तपश्चरणजनित दुःखसे भविष्यमें अतिशय सुख प्राप्त होता है, इसीलिए विद्वज्जन उस इन्द्रियविषयजनित सुखको छोड़कर तपको किया करते हैं ॥६८॥

निरन्तर पोषण करनेपर भी जो विषय महान् दुख दिया करते हैं उनसे दूसरा और कोई भी दुःसह शत्रु नहीं हो सकता है । अभिप्राय यह है कि इन्द्रियविषय शत्रुसे भी अधिक दुखदायक हैं । कारण कि शत्रु तो प्राणीको केवल उसी भवमें दुख दे सकता है, परन्तु वे विषय उसे अनेक भवोंमें भी दुख दिया करते हैं ॥६९॥

६५) इ °वदनां घोरां । ६७) अ इ महारम्भो । ६८) इ अक्षार्थं....तदक्षार्थं । ६९) अ दुस्सहः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नायान्ति प्रार्थिताः[1] क्वापि ये[2] यान्त्यप्रेषिताः[3] स्वयम् ।
आत्मीयास्ते कथं सन्ति धनबन्धुगृहादयः ॥७०

संसारे यत्र विश्वासस्ततः संपद्यते भयम् ।
अविश्वासः सदा यत्र तत्र सौख्यमनुत्तरम् ॥७१

आत्मकार्यमपाकृत्य[1] देहकार्येषु ये रताः ।
परकर्मकराः सन्ति परे तेभ्यो न निन्दिताः ॥७२

अनेकभवसौख्यानि पावनानि हरन्ति ये ।
तस्करेभ्यो विशिष्यन्ते न कथं ते सुतादयः ॥७३

अनात्मनोनमालोच्य[1] सर्वं सांसारिकं सुखम् ।
आत्मनीनः सदा कार्यो बुधैर्धर्मो जिनोदितः ॥७४

७०) १. क वाञ्छिताः । २. धनबन्धुगृहादयः । ३. क अप्रेरिताः ।
७२) १. क परित्यज्य ।
७४) १. आत्मनो ऽहितम् ।

जो धन, बन्धु और घर आदि प्रार्थना करनेपर कहींपर आते नहीं हैं और भेजनेके बिना स्वयं ही चले जाते हैं वे धनादि भला अपने कैसे हो सकते हैं ? अभिप्राय यह है कि जो धन आदि बाह्य पदार्थ हैं उनका संयोग और वियोग अपनी इच्छानुसार कभी भी नहीं होता है—वे प्राणीके कर्मानुसार स्वयं ही आते और जाते रहते हैं। इसीलिए उनके संग्रहमें प्रवृत्त होकर पापकार्य करना योग्य नहीं है ॥७०॥

संसारमें जिन बाह्य पदार्थोंके विषयमें विश्वास है उनसे भय उत्पन्न होता है—वे वास्तवमें दुख ही देनेवाले हैं और जिन सम्यग्दर्शनादि या तपश्चरणादिमें प्राणीका कभी विश्वास नहीं रहता है उनसे अनुपम सुख प्राप्त होता है ॥७१॥

जो प्राणी आत्मकार्यको छोड़कर शरीरके कार्योंमें संलग्न रहते हैं वे परके ही गुलाम रहते हैं, उनसे निकृष्ट और दूसरे नहीं हैं ॥७२॥

जो पुत्र-मित्रादि अनेक भवोंके पवित्र सुखोंका अपहरण किया करते हैं वे भला चोरोंसे विशिष्ट कैसे न होंगे ? उन्हें लोकप्रसिद्ध चोरोंसे भी विशिष्ट चोर समझना चाहिये—कारण कि चोर तो धन आदिका अपहरण करके एक ही भवके सुखको नष्ट करते हैं, परन्तु ये विशिष्ट चोर अपने निमित्तसे प्राणीको पापाचरणमें प्रवृत्त करके उसके अनेक भवोंके सुखको नष्ट किया करते हैं ॥७३॥

जितना कुछ भी सांसारिक सुख है वह सब आत्माके लिए हितकारक नहीं है—उसे नरकादिके कष्टमें डालनेवाला है, ऐसा विचार करके विवेकी जनोंको निरन्तर जिनेन्द्रके द्वारा उपदिष्ट धर्मका आचरण करना चाहिए, क्योंकि आत्माके लिए हितकारक वही है ॥७४॥

७०) अ यान्ति प्रें । ७१) ड इ विश्वासस्तत्र; ब स्वयं for भयम्; अ ब क ततः सौख्यं । ७२) इ परं तेभ्यो । ७४) क अनात्मनीयमालोक्य ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्मो ऽस्ति क्षान्तितः कोपं मानं मार्दवतो ऽस्यतेः[1] ।
मायामार्जवतो लोभं क्षिप्रं संतोषतः परः ॥७५
निर्मलं दधतेः[1] शीलं धर्मो ऽस्ति जिनमर्चतः ।
पात्रेभ्यो ददतो दानं सदा पर्वण्यनाश्नुषेः[2] ॥७६
देहिनो रक्षतो[1] धर्मो वदतः सूनृतं वचः ।
स्तेयं वर्जयतो रामां राक्षसीमिव मुञ्चतः ॥७७
धीरस्य त्यजतो ग्रन्थं संतोषामृतपायिनः ।
वत्सलस्य विनीतस्य धर्मो भवति पावनः ॥७८
यो भावयति भावेन जिनानामिति भाषितम् ।
विध्यापयति संसारवज्रवह्निं सुदुःखदम् ॥७९
योगिनो वचसा तेन प्रीणिता निखिला सभा ।
पर्जन्यस्येव[1] तोयेन मेदिनी तापनोदिता ॥८०

७५) १. त्यजतात् [त्यजतः] ।
७६) १. धरतः । २. क उपवासं कुर्वतः ।
७७) १. जीवानां दय तः ।
८०) १. क मेघस्य ।

जो जीव क्षमाके आश्रयसे क्रोधको, मृदुताके आश्रयसे मानको, ऋजुता (सरलता) के आश्रयसे मायाको तथा सन्तोषके आश्रयसे लोभको भी शीघ्र फेंक देता है—नष्ट कर देता है—उसके धर्म रहता है ॥७५॥

जो भव्य जीव सदा निर्मल शीलको धारण करता है, जिन भगवान्‌की पूजा करता है, पात्रोंके लिए दान देता है, तथा पर्व (अष्टमी आदि) में उपवास करता है; उसके धर्म होता है (वह धर्मात्मा है) ॥७६॥

जो प्राणी अन्य प्राणियोंकी रक्षा करता है, सत्य वचन बोलता है, चोरीका परित्याग करता है, स्त्रीको राक्षसीके समान छोड़ देता है, तथा परिग्रहका त्याग करके सन्तोषरूप अमृतका पान करता है; उसी धीर प्राणीके पवित्र धर्म होता है । ऐसा प्राणी नम्रीभूत होकर धर्मात्मा जनोंसे अतिशय अनुराग करनेवाला होता है ॥७७–७८॥

जो भव्य जीव यथार्थमें जिनदेवके भाषित (जिनागम) का विचार करता है वह अतिशय कठिनाईसे शान्त होनेवाली संसाररूप वज्र-अग्निको बुझाता है ।७९॥

उन जिनमति मुनिराजके इस कथनसे (धर्मोपदेशसे) सारी सभा इस प्रकारसे प्रसन्न हुई जिस प्रकार कि तापको नष्ट करनेवाले मेघके जलसे पृथिवी प्रसन्न हो जाती है ॥८०॥

७५) क ड इ परम् । ७७) अ क रक्षितो । ७८) अ °पायतः, इ पानतः । ७९) अ ब सुदुःशमम् ।
८०) इ सकला सभा, अ ब इ तापनोदिना ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्मोपदेशनिरतो[1] ऽवधिबोधनेत्रो
विज्ञाय[2] तं[3] जिनमतिर्जितशत्रुपुत्रम् ।
वात्सल्यकर्मकुशलो निजगाद योगी
भव्येषु धर्ममनसामपि पक्षपातः[4] ॥८१
क्षेमेण तिष्ठति पिता तव भद्र भव्यो
धर्मोद्यतः परिजनेन निजेन सार्धम् ।
एतन्निशम्य वचनं खगराजसूनु-
र्वाणीमवोचदिति हृष्टमनाः प्रणम्य ॥८२
पादाः सदा विदधते तव यस्य रक्षां
विघ्ना भवन्ति कथमस्य[1] खचारिभर्तुः ।
यं पालयन्ति विनतातनया[2] हि[3] साधो
किं पीडयते विषधरैः[4] स कदाचनापि ॥८३
उक्त्वेति मस्तकनिविष्टकराम्बुजो ऽसौ
प्रोत्थाय केवलमरीचिविकासितार्थम्[1] ।
पप्रच्छ केवलिरविं विनयेन नत्वा
कृत्स्नं हि[2] संशयतमो न परो हिनस्ति[3] ॥८४

८१) १. क धर्मोपदेशं कथयित्वा स्थितः । २. ज्ञात्वा । ३. क मनोवेगं । ४. धर्मवताम् । ५. भवेत् ।
८३) १. तस्य । २. गरुडपक्षिणः; क विनता गरुडमाता स्यात् । ३. यस्मात् कारणात् । ४. क सर्पैः ।
८४) १. क केवलज्ञानकिरणप्रकाशितपदार्थम् । २. यस्मात् कारणात् । ३. स्फेटयति ।

इस प्रकार धर्मोपदेशको समाप्त करके उन अवधिज्ञानी जिनमति मुनिराजने जब यह ज्ञात किया कि यह जितशत्रु राजाका पुत्र मनोवेग है तब धर्मात्मा जनोंसे अनुराग करनेमें कुशल वे योगिराज उससे इस प्रकार बोले । ठीक है—जिनका चित्त केवल धर्ममें ही आसक्त रहता है ऐसे योगी जनोंको भी भव्य जीवोंके विषयमें पक्षपात (अनुराग) हुआ ही करता है ॥ ८१ ॥

हे भद्र ! धर्ममें निरत तेरा भव्य पिता अपने परिवारके साथ कुशलपूर्वक है ? तब राजा जितशत्रु विद्याधरका पुत्र वह मनोवेग मुनिराजके इस वाक्यको सुनकर हर्षित होता हुआ प्रणामपूर्वक इस प्रकार बोला ॥८२॥

हे मुनीन्द्र ! जिस विद्याधरोंके स्वामी (मेरे पिता) की रक्षा निरन्तर आपके चरण करते हैं उसके लिए भला विघ्नबाधाएँ कैसे हो सकती हैं ? अर्थात् नहीं हो सकती हैं । ठीक है—जिसकी रक्षा गरुड़ पक्षी करते हैं उसे क्या सर्प कभी भी पीड़ा पहुँचा सकते हैं ? नहीं पहुँचा सकते हैं ॥८३॥

इस प्रकार कहकर वह मनोवेग उठा और मस्तकपर दोनों हस्त-कमलोंको रखता हुआ केवलज्ञानरूप किरणोंके द्वारा पदार्थोंको विकसित (प्रगट) करनेवाले उन केवलीरूप

८१) अ ब °विरतो; अ जिनपतिं । ८३) ब च for हि । ८४) ब केवलरविं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राणप्रियो मम सुहृद्विपरीतचेता
मिथ्यात्वदुर्जरविषाकुलितो ऽस्ति खेटः[1]।
वर्तिष्यते किमयमत्र जिनेन्द्रधर्मे
किं वा न जातु मम देव निवेदयेदम् ॥८५

वज्राशुशुक्षणिशिखामिव[1] देव चित्ते
चिन्तां ददाति कुपथे सं[2] विवर्तमानः।
दुर्वारतापजननीं मम दृश्यमानं
सख्यं[3] सुखाय समशीलगुणेन सार्धम् ॥८६

मिथ्यापथे विविधदुःखनिधानभूते
ये[1] वारयन्ति[2] सुहृदं न विषक्तचित्तम्[3]।
कूपे विभीषणभुजङ्गमलीढमध्ये
ते नोदयन्ति[4] निपतन्तमलभ्यमूले ॥८७

मिथ्यात्वतो न परमस्ति तमो दुरन्तं
सम्यक्त्वतो न परमस्ति विवेककारि।
संसारतो न परमस्ति निषेधनीयं
निर्वाणतो न परमस्ति जनार्थनीयम्[1] ॥८८

८५) १. अधमविद्याधरः, क पवनवेगः। २. पवनवेगः।
८६) १. क वज्राग्निशिखा। २. क पवनवेगः। ३. क मित्रत्वम्।
८७) १. क ये पुरुषाः। २. क निवारयंति। ३. क लग्नचित्त। ४. प्रेरयन्ति।
८८) १. क याचनं; प्रार्थनीयं—याचनीयम्।

सूर्यसे प्रणामपूर्वक सविनय इस प्रकार पूछने लगा। ठीक भी है, क्योंकि केवलीरूप सूर्यके बिना दूसरा कोई सन्देहरूप अन्धकारको पूर्णरूपसे नहीं नष्ट कर सकता है ॥८४॥

हे देव! मेरे एक प्राणोंसे प्यारा विद्याधर मित्र है जो कि दुर्विनाश मिथ्यात्वरूप विषसे व्याकुल होकर विपरीत मार्गमें प्रवृत्त हो रहा है। वह क्या कभी इस जैन धर्ममें प्रवृत्त होगा अथवा नहीं होगा, यह मुझे बतलाइए ॥८५॥

हे देव! उसे इस प्रकार कुमार्गमें वर्तमान देखकर मेरे मनमें जो चिन्ता है वह मुझे दुर्निवार सन्तापको उत्पन्न करनेवाली वज्राग्निकी शिखाके समान सन्तप्त कर रही है। ठीक है—समान स्वभाव और गुणवालेके साथमें जो मित्रता होती है वही वास्तवमें सुख देनेवाली होती है। ८६॥

जो मनुष्य अनेक प्रकारके दुःखोंको उत्पन्न करनेवाले मिथ्या मार्गमें आसक्त हुए मित्रको उससे नहीं रोकते हैं वे उसे भयानक सर्पोंसे व्याप्त अतिशय गहरे कुएँमें गिरनेके लिए प्रेरित करते हैं ॥८७॥

मिथ्यात्वको छोड़कर और दूसरा कोई दुर्विनाश अन्धकार नहीं है, सम्यग्दर्शनके

८५) ब °कुलितो हि। ८६) अ स च वर्त°। ८७) अ ब °दुःखविधानदक्षे; इ नियतं तमलभ्य°।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भव्यत्वमस्ति जिन नास्त्यथ तस्य[1] पूतं
तत्त्वप्रपञ्चरचनास्तदृते[2] निरर्थाः[3] ।
व्यर्थीभवन्ति सकलाः खलु कंकडूके
मुद्गे विपाकविधयो विनिवेश्यमानाः ॥८९
पृष्ट्वेति तत्र विरते[1] सति खेटपुत्रे
भाषानघा यतिपतेरुदपादि[2] हृद्या ।
मिथ्यात्वदोषमपहास्यति[3] भद्र सद्यो
नीत्वा सँ[4] पुष्पनगरं[5] प्रतिबोध्यमानः ॥९०
मिथ्यात्वशल्यमवगाह्य[1] मनःप्रविष्टं
दृष्टान्तहेतुनिवहैरभिपाटयास्यं[2] ।
संदंशकैरिवँ शरीरगतं सुबुद्धे
काण्डादि[4] दुःसहनिरन्तरकष्टकारि ॥९१
प्रत्यक्षतः परमतानि विलोकमानः
पूर्वापरादिबहुदूषणदूषितानि ।
मिथ्यान्धकारमपहायं सँ भूरिदोषं
ज्ञानप्रकाशमुपयास्यति तत्र[3] सद्यः ॥९२

८९) १. मित्रस्य । २. भव्यत्वं विना । ३. भवन्ति ।
९०) १. मौनाश्रिते । २. उत्पन्ना । ३. क त्यजति । ४. तव मित्रः । ५. क पट्टननगरं ।
९१) १. क व्याप्यमान । २. क निःकासय । ३. सांढसि वा । ४. क मालि; शल्य-बाण ।
९२) १. त्यक्त्वा । २. क पवनवेगः । ३. पाटलिपुरे; क पट्टणनगरे ।

सिवाय अन्य कोई विवेकको उत्पन्न करनेवाला नहीं है, संसारके अतिरिक्त अन्य किसीका निषेध करना योग्य नहीं है, तथा मुक्तिके बिना और कोई भी वस्तु मनुष्योंके द्वारा प्रार्थनीय नहीं है । ८८॥

हे सर्वज्ञ देव ! उसके पवित्र भव्यपना है अथवा नहीं है ? कारण कि उसके बिना वस्तुस्वरूपकी प्ररूपणा व्यर्थ होती है । ठीक है—कंकड़क (कांकटुक) मूँगके (न सीझने योग्य उड़दके) होनेपर उसके पकानेके लिए की जानेवाली सब ही विधियाँ व्यर्थ ठहरती हैं ॥८९॥

इस प्रकार पूछकर उस विद्याधरकुमार (मनोवेग) के चुप हो जानेपर यतिश्रेष्ठकी निष्पाप एवं मनोहर भाषा उत्पन्न हुई—हे भद्र ! पुष्पनगर (पटना) ले जाकर प्रतिबोधित करनेपर वह शीघ्र ही उस मिथ्यात्वके दोषको छोड़ देगा ॥९०॥

हे सुबुद्धे ! तुम उसके मनमें स्थान पाकर प्रविष्ट हुए उस मिथ्यात्वरूप काँटेको अनेक दृष्टान्त एवं युक्तियोंके द्वारा इस प्रकारसे निकाल दो जिस प्रकार कि शरीरके भीतर प्रविष्ट होकर निरन्तर दुःसह दुःखको देनेवाले काँटे आदिको संडासियोंके द्वारा निकाला जाता है ॥ ९१ ॥

वह वहाँ पूर्वापर आदि अनेक दोषोंसे दूषित अन्य मतोंको प्रत्यक्ष देखकर शीघ्र ही

८९) ब रचना....निरर्था; इ कंकटूके । ९०) अ ब इ जिनपते° । ९१) अ °रुत्पादयास्य, इ °रुत्पाटयास्य ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यावज्जिनेन्द्रवचनानि न सन्ति लोके
तावल्लसन्ति[1] विपरीतदृशां वचांसि ।
लोकप्रकाशकुशले सति तिग्मरश्मौ[2]
तेजांसि किं ग्रहगणस्य परिस्फुरन्ति ॥९३

शुद्धैरभव्यमपहाय[1] विरुद्धदृष्टि
वाक्यैर्जिनेन्द्रगदितैर्न विबोध्यते कः ।
ध्वान्तापहारचतुरै रविरश्मिजालै-
र्घूकं विमुच्य सकलो ऽपि विलोकते ऽर्थम् ॥९४

श्रुत्वेति वाचमवनम्य[1] गुरुप्रमोदैः[3]
पापापनोदि[3] जिनदेवपदारविन्दम् ।
खेटाङ्गजो ऽमितगतिः सॅ जगाम गेहं
विद्याप्रभावकृतदिव्यविमानवर्ती ॥९५

इति धर्मपरीक्षायाममितगतिकृतायां
द्वितीयः परिच्छेदः ॥२

९३) १. क दीप्यन्ति । २. क सूर्ये ।
९४) १. विना ।
९५) १. क नत्वा । २. क गुरुतरहर्षः । ३. क पापस्फेटकम् । ४. क मनोवेगः ।

प्रचुर दोषयुक्त उस मिथ्यात्वरूप अन्धकारको छोड़ता हुआ ज्ञानरूप प्रकाशको प्राप्त करेगा ।।९२।।

लोकमें जब तक जिनेन्द्रके वचन नहीं है—जैन धर्मका प्रचार नहीं है—तब तक ही मिथ्यादृष्टियोंके वचन (उपदेश) प्रकाशमें आते हैं । ठीक है—लोकमें प्रकाश करनेमें कुशल ऐसे सूर्यके विद्यमान होनेपर क्या ग्रहसमूहकी प्रभा दिखती है ? नहीं दिखती है ।।९३।।

जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा कहे गये शुद्ध वाक्योंके द्वारा अभव्यको छोड़कर और दूसरा कौन प्रतिबोधको नहीं प्राप्त होता है ? अर्थात् अभव्यको छोड़कर शेष सब ही प्राणी जिन-प्ररूपित तत्त्वस्वरूपके द्वारा प्रतिबुद्ध होते हैं । ठीक है—अन्धकारके नष्ट करनेमें प्रवीण सूर्यकी किरणोंके समूहोंसे उल्लूको छोड़कर शेष सब ही प्राणी पदार्थका अवलोकन करते हैं ।।९४।।

इस प्रकार केवलीकी वाणीको सुनकर वह विद्याधरकुमार (मनोवेग) अतिशय आनन्दको प्राप्त हुआ । तत्पश्चात् वह पापको नष्ट करनेवाले जिनदेवके चरणकमलोंमें नमस्कार करता हुआ विद्याके प्रभावसे दिव्य विमानको निर्मित करके व उसमें बैठकर अपरिमित गतिके साथ घरको चला गया ।।९५।।

इस प्रकार अमितगतिविरचित धर्मपरीक्षामें
द्वितीय परिच्छेद समाप्त हुआ । २।।

९४) अ बुद्धैरभव्य° । ९५) ब इ प्रमोदं; अ गेहे; व इति द्वितीयः परिच्छेदः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[३]

अथ यावन्मनोवेगो याति स्वां नगरीं प्रति ।
दिव्यं विमानमारूढो नाकीव स्फुरितप्रभः ॥१
विमानवर्तिना[1] तावत् सुरेणेव सुरोत्तमः ।
दृष्टः पवनवेगेन स[2] संमुखमुपेयुषा[3] ॥२
स दृष्टो गदितस्तेन[1] क्व स्थितस्त्वं मया विना ।
इयन्तं कालमाचक्ष्व[2] नयेनेव[3] स्मरातुरः ॥३
यो न त्वया विना शक्तः स्थातुमेकमपि क्षणम् ।
दिवसो भास्करेणेव सं[1] तिष्ठामि कथं चिरम् ॥४
मया त्वं यत्नतो मित्र सर्वत्रापि गवेषितः[1] ।
धर्मो निर्वाणकारीव शुद्धसम्यक्त्वशालिना[1] ॥५

२) १. प्रवर्तमानः [?] । २. क मनोवेगः । ३. प्राप्तेन; क प्राप्तवता ।
३) १. पवनवेगेन । २. क कथय । ३. क नीत्या ।
४) १. अहम् । २. सो ऽहम् ।
५) १. क आलोकितः । २. मोक्षैषिणा-वाञ्छया ।

वह मनोवेग देदीप्यमान कान्तिसे प्रकाशमान देवके समान दिव्य विमानपर चढ़कर अपनी नगरीकी ओर जा ही रहा था कि इस बीचमें उसे विमानमें बैठकर सन्मुख आते हुए पवनवेगने इस प्रकारसे देखा कि जिस प्रकार एक देव दूसरे किसी उत्तम देवको देखता है—उससे मिलता है ॥१-२॥

तब उसको देखकर पवनवेगने पूछा कि जिस प्रकार नीतिके बिना कामातुर मनुष्य बहुत काल स्थित रहता है उस प्रकार तुम मेरे बिना (मुझे छोड़कर) इतने काल तक कहाँपर स्थित रहे, यह मुझे बतलाओ ॥३॥

जिस प्रकार सूर्यके बिना दिन नहीं रह सकता है उस प्रकार जो मैं तुम्हारे बिना एक क्षण भी रहनेको समर्थ नहीं हूँ वही मैं भला इतने दीर्घ काल तक तुम्हारे बिना कैसे रह सकता हूँ ? नहीं रह सकता हूँ ॥४॥

हे मित्र ! मैंने तुम्हें प्रयत्नपूर्वक सर्वत्र इस प्रकारसे खोजा जिस प्रकार कि शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव मुक्तिप्रद धर्मको खोजता है ॥५॥

१) ब प्रभं । ३) ब क ड इ दृष्ट्वा । ५) अ शुद्धः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आरामे[1] नगरे हट्टे मया राजगृहाङ्गणे ।
सर्वेषु जिनगेहेषु यदा त्वं न निरीक्षितः ॥६

पिता पितामहः पृष्टो गत्वोद्विग्नेन ते[2] तदा ।
नरेण क्रियते सर्वमिष्टसंयोगकाङ्क्षिणा ॥७

वार्तामलभमानेन[1] त्वदीयां पृच्छताभितः ।
दैवयोगेन दृष्टो ऽसि त्वमत्रागच्छता सता ॥८

किं हित्वा[1] भ्रमसि स्वेच्छं संतोषमिव संयतः ।
मां[2] वियोगासहं[3] मित्रमानन्दजननक्षमम् ॥९

तिष्ठतोर्नौ[1] वियोगे ऽपि वातपावकयोरिव ।
प्रसिद्धिमात्रतः[2] सख्यं तिर्यगूर्ध्वविहारिणोः ॥१०

६) १. क वने ।
७) १. उच्चाटेन । २. तव ।
८) १. मया ।
९) १. त्यक्त्वा । २. हे मित्र अहम् । ३. क त्वदीयविरहसहनाशक्तः ।
१०) १. आवयोः । २. वचनमात्र ।

इस प्रकार खोजते हुए जब मैंने तुम्हें उद्यान, नगर, बाजार, राजप्रासादके आँगन और समस्त जिनालयोंमें-से कहींपर भी नहीं पाया तब घबड़ाकर मैं तुम्हारे घर गया और वहाँ तुम्हारे पिता तथा पितामह (आजा) से पूछा । ठीक है—इष्टसंयोगकी इच्छा करनेवाला मनुष्य सब कुछ करता है ॥६-७॥

इस प्रकार मैंने सब ओर पूछा, परन्तु मुझे तुम्हारा वृत्तान्त प्राप्त नहीं हुआ । अब दैवयोगसे मैंने तुम्हें यहाँ आते हुए देखा है ॥८॥

जिस प्रकार संयमी पुरुष सन्तोषको छोड़कर इच्छानुसार घूमता है उसी प्रकार तुम मुझ जैसे मित्रको—जो कि तुम्हारे वियोगको नहीं सह सकता है तथा तुम्हें आनन्द उत्पन्न करनेवाला है—छोड़कर क्यों अपनी इच्छानुसार घूमते हो ? अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार संयमी पुरुषका सन्तोषको छोड़कर इधर-उधर घूमना उचित नहीं है उसी प्रकार मुझको छोड़कर तुम्हारा भी इच्छानुसार इधर-उधर घूमते फिरना उचित नहीं है ॥९॥

वायु स्वभावसे तिरछा जाता है तथा अग्नि ऊपर जाती है । इस प्रकार पृथक्-पृथक् स्थित रहनेपर भी जिस प्रकार इन दोनोंके मध्यमें मित्रताकी प्रसिद्धि है उसी प्रकार वियोगमें स्थित होकर भी हम दोनोंके बीचमें प्रसिद्धिमात्रसे मित्रता समझना चाहिए ॥१०॥

६) अ °गृहीगणे । ७) इ चेतसा for ते तदा । ८) क ड पृच्छता हितः । ९) अ संयमः, क इ संयमी । १०) अ प्रसिद्धमा° ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नाजन्ममृत्युपर्यन्तो वियोगो विद्यते ययोः ।
देहात्मनोरिव क्वापि तयोः संगतमुत्तमम् ॥११
कीदृशी संगतिर्दर्शे[1] सूर्याचन्द्रमसोरिव ।
एकदा मिलतोर्मासे सप्रतापाप्रतापयोः ॥१२
तत्कर्तव्यं बुधैर्मित्रं कलत्रं च मनोरमम् ।
यज्जातु न पराधीनं चित्रस्थमिव जायते ॥१३
शंसनीया तयोर्मैत्री शश्वदव्यभिचारिणोः[1] ।
वियोगो न ययोरस्ति दिवसादित्ययोरिव ॥१४
यः क्षीणे क्षीयते साधौ वर्धते वर्धिते सति ।
तेनामा श्लाघ्यते सख्यं चन्द्रस्येव पयोधिना ॥१५
ततो ऽवोचन्मनोवेगो मा कोपीस्त्वं महामते ।
भ्रान्तो ऽहं मानुषे क्षेत्रे वन्दमानो जिनाकृतीः ॥१६

११) १. मित्रत्वम् ।
१२) १. अमावास्यायाम् ।
१४) १. अवञ्चकयोः ।

शरीर और आत्माके समान जिन दोनोंका जन्मसे लेकर मरणपर्यन्त कहींपर भी वियोग नहीं होता है उनका संयोग (मित्रता) ही वास्तवमें उत्तम है ॥११॥

जो तेजस्वी सूर्य और निस्तेज चन्द्रमा दोनों महीनेमें केवल एक बार अमावस्याके दिन परस्पर मिला करते हैं उनके समान भिन्न स्वभाववाले होकर महीनेमें एक-आध बार परस्पर मिलनेवाले दो प्राणियोंके बीचमें भला मित्रता किस प्रकार हो सकती है ? नहीं हो सकती है ॥१२॥

बुद्धिमान् मनुष्योंको ऐसे मनोरम (मनको मुदित करनेवाले) प्राणीको मित्र और स्त्री बनाना चाहिए जो कि चित्रमें स्थितके समान कभी भी दूसरोंके अधीन नहीं हो सकता हो ॥१३॥

निरन्तर एक दूसरेके बिना न रहनेवाले दिन और सूर्यके समान जिन दो प्राणियोंमें कभी वियोगकी सम्भावना नहीं है उनकी मित्रता प्रशंसनीय है ॥१४॥

जो साधु (सज्जन) के क्षीण (कृश) होनेपर स्वयं क्षीण होता है तथा उसके वृद्धिंगत होनेपर वृद्धिको प्राप्त होता है उसके साथ की गयी मित्रता प्रशंसाके योग्य है। जैसे— समुद्रके साथ चन्द्रकी मित्रता। कारण कि कृष्ण पक्षमें चन्द्रके क्षीण होनेपर वह समुद्र भी स्वयं क्षीण होता है तथा उसके शुक्ल पक्षमें वृद्धिंगत होनेपर वह भी वृद्धिको प्राप्त होता है ॥१५॥

पवनवेगके इस उलाहनेको सुनकर मनोवेग बोला कि हे अतिशय बुद्धिमान् मित्र !

१२) क इ सूर्यचन्द्र° ; क सत्प्रतापा° । १४) इ वियोगे न । १५) इ यत्क्षीणे; अ इ साधो; ब इ तन्नाम; इ श्लाघते सत्यं । १६) अ ब मानुषक्षेत्रे ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कृत्रिमाकृत्रिमाः केचिन्नरामरनमस्कृताः ।
द्वीपेष्वर्धतृतीयेषु[1] ये विद्यन्ते ऽर्हदालयाः ॥१७
ते मया भक्तितः सर्वे वन्दिताः पूजिताः स्तुताः ।
अर्जितं निर्मलं पुण्यं दुःखविद्रवणक्षमम्[1] ॥१८
न जात्वहं त्वया हीनस्तिष्ठाम्येकमपि क्षणम्[1] ।
संयमः प्रशमेनेव[2] साधोर्हृदयतोषिणा ॥१९
भ्रमता भरतक्षेत्रे ललनातिलकोपमम् ।
अदर्शि पाटलीपुत्रं नगरं बहुवर्णकम् ॥२०
गगने प्रसरन्यत्र यज्ञधूमः सदेक्ष्यते ।
चञ्चरीककुलश्यामः[1] केशपाश इव स्त्रियः ॥२१
चतुर्वेदध्वनिं श्रुत्वा बधिरीकृतपुष्करम्[1] ।
नृत्यन्ति केकिनो यत्र नीरदारवशङ्किनः[2] ॥२२

१७) १. क द्वीप अढाई ।
१८) १. स्फेटने विध्वंसने समर्थं; क दुःखनाशनसमर्थम् ।
१९) १. विना । २. उपशमेन विना ।
२१) १. भ्रमरसमूह ।
२२) १. आकाशम् । २. क मेघशब्दात् शङ्कितः ।

तू क्रुद्ध न हो। कारण कि मनुष्यक्षेत्र (अढ़ाई द्वीप) में स्थित जिनप्रतिमाओंकी वन्दना करता हुआ घूमता रहा हूँ ॥१६॥

जिनको मनुष्य और देव नमस्कार किया करते हैं ऐसे जो कुछ भी कृत्रिम और अकृत्रिम जिनालय अढ़ाई द्वीपोंके भीतर स्थित हैं उन सबकी मैंने भक्तिपूर्वक पूजा, वन्दना और स्तुति की है। इससे जिस निर्मल पुण्यका मैंने उपार्जन किया है वह सब प्रकारके दुखका विनाश करनेमें समर्थ है ॥१७-१८॥

जिस प्रकार साधुके हृदयको सन्तुष्ट करनेवाले प्रशम (कषायोपशमन) के बिना कभी संयम नहीं रह सकता है उसी प्रकार मैं तुम्हारे बिना एक क्षण भी कभी नहीं रह सकता हूँ ॥१९॥

मैंने भरतक्षेत्रमें घूमते हुए बहुत वर्णों (ब्राह्मण आदि) से संयुक्त पाटलीपुत्र नगरको देखा है। वह नगर महिलाके मस्तकगत तिलकके समान श्रेष्ठ है ॥२०॥

इस नगरमें निरन्तर आकाशमें फैलनेवाला यज्ञका धुआँ ऐसे देखनेमें आता है जैसे कि मानो भ्रमरसमूहके समान कृष्ण वर्णका स्त्रीके बालोंका समूह ही हो ॥२१॥

उस नगरमें आकाशको बहरा करनेवाली चार वेदोंकी ध्वनिको सुनकर मेघोंके आगमनकी शंका करनेवाले मयूर नाचा करते हैं ॥२२॥

१८) अ ब ड इ पूजिता वन्दिताः । १९) इ संयमाः; क ड साधो हृदय° । २०) अ ब °क्षेत्रं । २१) अ नगरे प्रसरत्यत्र; ब इ सदेक्षते; ब इव श्रियः । २२) अ नीरदा इव श°, ब नीरदागमश° ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वसिष्ठव्यासवाल्मीकमनुब्रह्मादिभिः कृताः ।
श्रूयन्ते स्मृतयो यत्र वेदार्थप्रतिपादकाः ॥२३
दृश्यन्ते परितश्छात्राः संचरन्तो विशारदाः ।
गृहीतपुस्तका यत्र भारतीतनया इव ॥२४
वचोभिर्वादिनो ऽन्योन्यं कुर्वते मर्मभेदिभिः ।
यत्र वादं गतक्षोभा[1] युद्धं योधाः शरैरिव ॥२५
सर्वतो यत्र दृश्यन्ते पण्डिताः कलभाषिभिः ।
शिष्यैरनुवृता[2] हृद्याः पद्मखण्डा इवालिभिः ॥२६
ध्यानाध्ययनतन्निष्ठा[1] यत्र मुण्डितमस्तकाः ।
गङ्गातटे विलोक्यन्ते भव्या मस्करिणो[2] ऽभितः ॥२७
यत्राम्बुवाहिनीः श्रुत्वा कुर्वतीः शास्त्रनिश्चयम् ।
वादकण्डूवागताः[1] क्षिप्रं पलायन्ते ऽन्यवादिनः ॥२८

२३) १. क पट्टणनगरे ।·२. क कथकाः ।
२५) १. रहितक्षोभाः ।
२६) १. मधुर । २. क युक्ताः; वेष्टितालंकृताः । ३. भ्रमरैरलंकृताः ।
२७) १. तत्पराः । २. संन्यासिनः; क परिव्राजकाः ।
२८) १. क वादखर्जू ।

वहाँ वेदके अर्थका प्रतिपादन करनेवाली ऐसी वसिष्ठ, व्यास, वाल्मीकि, मनु और ब्रह्मा आदिके द्वारा रची गयीं स्मृतियाँ सुनी जाती हैं ॥२३॥

वहाँ पुस्तकोंको लेकर सब ओर संचार करनेवाले विद्वान् विद्यार्थी सरस्वतीके पुत्रों जैसे दिखते हैं ॥२४॥

जिस प्रकार योद्धा उद्वेगसे रहित होकर मर्मको भेदन करनेवाले बाणोंसे परस्पर युद्ध किया करते हैं उसी प्रकार उस नगरमें वादीजन उद्वेगसे रहित होकर मर्मभेदी वचनोंके द्वारा परस्परमें वाद किया करते हैं ॥२५॥

वहाँपर सब ओर मधुरभाषी शिष्योंसे वेष्टित पण्डित जन भ्रमरोंसे वेष्टित मनोहर कमलखण्डोंके समान दिखते हैं ॥२६॥

उस नगरमें सिरको मुड़ाकर ध्यान व अध्ययनमें संलग्न रहनेवाले उत्तम संन्यासी गंगाके किनारे सब ओर देखे जाते हैं ॥२७॥

वहाँ शास्त्रनिश्चयको करनेवाली अम्बुवाहिनीको सुनकर वादकी खुजलीको मिटानेके लिए आये हुए दूसरे वादी जन शीघ्र ही भाग जाते हैं ॥२८॥

२३) इ वाल्मीकि । २५) ब वादिनो नित्यं; अ मर्म्मवेदिभिः । २६) ब शिष्यैश्च संयुता, क शिष्यैरनुगता, ड शिष्यैरनुद्रुता । २८) ड इ वाहिनीं....कुर्वतीं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अग्निहोत्रादिकर्माणि कुर्वन्तो यत्र भूरिशः ।
वसन्ति ब्राह्मणा दक्षा वेदा इव सविग्रहाः[1] ॥२९

मीमांसां[1] यत्र सर्वत्र मीमांसन्ते[2] ऽनिशं द्विजाः ।
विभ्रमा[3] इव भारत्याः सर्वशास्त्रविचारिणः ॥३०

अष्टादशपुराणानि व्याख्यायन्ते सहस्रशः ।
यत्र ख्यापयितुं[1] धर्मं दुःखदारुहुताशनम् ॥३१

तर्कं व्याकरणं काव्यं नीतिशास्त्रं पदे पदे ।
व्याचक्षाणैर्यदालीढं[2] वाग्देव्या इव मन्दिरम् ॥३२

वेला मे महती याता पश्यतस्तत्समन्ततः ।
व्याक्षिप्तचेतसा[1] भद्र गतः कालो न बुध्यते ॥३३

यदाश्चर्यं मया दृष्टं तत्राश्चर्यनिकेतने ।
विवक्षामि न शक्नोमि तद्वक्तुं वचनैः परम् ॥३४

---

२९) १. सशरीराः ।
३०) १. वेदविचारणाम् । २. विचारयन्ति । ३. विलासाः ।
३१) १. क कथयितुं । २. काष्ठ ।
३२) १. व्याख्यानं कुर्वद्भिः पुरुषैः वाचकैः । २. नगरं व्याप्तम्; क यत्स्वनगरं पण्डितैरालीढम् ।
३३) १. मया; क व्यग्रचित्तेन ।

वहाँ बहुत बार अग्निहोत्र आदि कार्योंको करनेवाले चतुर ब्राह्मण शरीरधारी वेदोंके समान निवास करते हैं ॥२९॥

उस नगरमें समस्त शास्त्रोंका विचार करनेवाले ब्राह्मण संरस्वतीके विलासोंके समान सर्वत्र निरन्तर मीमांसा (जैमिनीय दर्शन) का विचार किया करते हैं ॥३०॥

जो धर्म दुःखरूपी लकड़ियोंको भस्म करनेके लिए अग्निके समान है उसकी प्रसिद्धिके लिए वहाँ अठारह पुराणोंका हजारों बार व्याख्यान किया जाता है ॥३१॥

स्थान-स्थानपर तर्क, व्याकरण, काव्य और नीतिशास्त्रका व्याख्यान करनेवाले विद्वानोंसे व्याप्त वह नगर साक्षात् सरस्वती देवीके मन्दिरके समान प्रतीत होता है ॥३२॥

हे भद्र ! उस नगरको चारों ओर देखते हुए मेरा बहुत-सा काल बीत गया । ठीक भी है—जिसका चित्त विक्षिप्त होता है वह बीते हुए कालको नहीं जान पाता है ॥३३॥

आश्चर्यके स्थानस्वरूप उस पाटलीपुत्र नगरमें मैंने जो आश्चर्य देखा है उसको मैं कहना तो चाहता हूँ परन्तु वचनोंके द्वारा उसे कह नहीं सकता हूँ ॥३४॥

---

२९) ब अग्निहोत्राणि; अ कुर्वन्ते । ३०) क °शास्त्रविशारदाः । ३१) इ व्यापयितुं । ३२) अ वाग्देवीमिव । ३३) ब क ड इ महती जाता । ३४) इ किं वक्ष्यामि ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावा[1] भद्रानुभूयन्ते ये हृषीकैः[2] शरीरिणा
सरस्वत्यापि शक्यन्ते वचोभिस्ते न भाषितुम् ॥३५
यत्त्वां धर्ममिव त्यक्त्वा तत्र भद्र चिरं स्थितः ।
क्षमितव्यं ममाशेषं दुर्विनीतस्य तत्त्वया ॥३६
उक्तं पवनवेगेन हसित्वा शुद्धचेतसा ।
को धूर्तो भुवने धूर्तैर्वञ्च्यते न वशंवदैः[1] ॥३७
दर्शयस्व ममापीदं यद्दृष्टं कौतुकं त्वया ।
संविभागं विना साधो भुञ्जते न हि सज्जनाः ॥३८
मित्रागच्छ पुनस्तत्र ममोत्पन्नं कुतूहलम् ।
प्रार्थनां कुर्वते ऽमोघां[1] सुहृदः[2] सुहृदां[3] न हि ॥३९
मनोवेगस्ततो ऽवोचद् गमिष्यामः स्थिरीभव ।
उत्तालवशतः साधो पच्यते न ह्युदुम्बरः ॥४०
विधाय भोजनं प्रातर्गमिष्यामो निराकुलाः ।
बुभुक्षाग्लानचित्तानां कौतुकं हि पलायते ॥४१

३५) १. इन्द्रियविषयाः । २. इन्द्रियैः ।
३७) १. मधुरविदैः; क पण्डितैः ।
३९) १. विफलाम् । २. मित्राणि । ३. मित्राणाम् ।

हे भद्र ! प्राणी इन्द्रियोंके द्वारा जिन वस्तुओंका अनुभव किया करता है उनको वचनोंके द्वारा कहनेके लिए सरस्वती भी समर्थ नहीं है ॥३५॥

हे भद्र ! धर्मके समान तुमको छोड़कर मैं दुर्विनीत जो वहाँपर बहुत काल तक स्थित रहा हूँ इस मेरे सब अपराधको तुम क्षमा करो ॥३६॥

यह सुनकर निर्मलचित्त पवनवेगने हँसकर कहा कि लोकमें कौन सा धूर्त अपने अधीन होकर भाषण करनेवाले (अनुकूलभाषी) धूर्तोंके द्वारा नहीं ठगा जाता है ? ॥३७॥

हे सज्जन ! तुमने जो कौतुक देखा है उसे मुझे भी दिखलाओ । कारण कि सज्जन पुरुष दूसरोंको विभाग करनेके बिना कभी किसी वस्तुका उपभोग नहीं किया करते हैं ॥३८॥

हे मित्र ! वहाँ फिरसे चलो, मुझे देखनेका अतिशय कुतूहल है । कारण कि मित्र जन मित्रोंकी प्रार्थनाको व्यर्थ नहीं किया करते हैं ॥३९॥

इसपर मनोवेग बोला कि हे मित्र ! स्थिर होओ, चलूँगा; क्योंकि, शीघ्रतासे कभी ऊमरका फल नहीं पकता है ॥४०॥

भोजन करके प्रातःकालमें निश्चिन्त होकर दोनों चलेंगे, क्योंकि भूखरूप अग्निकी चिन्तामें सब कौतुक भाग जाता है ॥४१॥

३५) क इ शरीरिणाम् । ३६) ब यस्त्वां....यत्र भद्र चिरं स्थिरः; इ मया शेषं । ३९) ब मित्र गच्छ; इ पुनः सौख्यं; अ ममात्यन्तं । ४०) अ गमिष्यामि; इ स्थिरो भव; ब ह्युदंबरं । ४१) ब गमिष्यामि; अ चितायां ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकीभूय ततः प्रीतौ जग्मतुस्तौ स्वमन्दिरम् ।
सुन्दरस्फुरितश्रीकौ नयोत्साहाविवोर्जितौ ॥४२
मिलितौ शयितौ भुक्तौ तत्र तावासितौ स्थितौ ।
क्षमन्ते न वियोगं हि स्नेहलङ्घितचेतसः[1] ॥४३
प्रातर्विमानमारुह्य कामगं[1] प्रस्थितावि[2]मौ ।
सुराविव वराकारौ दिव्याभरणराजितौ ॥४४
वेगेन तौ ततः प्राप्तौ पावनं पुष्पपत्तनम् ।
विचित्राश्चर्यसंकीर्णं मनसेव मनीषितम्[1] ॥४५
अवतीर्णौ तदुद्याने तौ काङ्क्षितफलप्रदे ।
अनेकपादपालीढे त्रिदशाविव नन्दने ॥४६
स्तबकस्तननम्राभिर्वल्लीभिर्यत्र वेष्टिताः ।
शोभन्ते सर्वतो वृक्षाः कान्ताभिरिव कामुकाः[2] ॥४७

४२) १. नीत्युद्यमौ ।
४३) १. पुरुषाः ।
४४) १. इष्टं गच्छतीति । २. चलितौ निर्गतौ ।
४५) १. मनोवाञ्छितं स्थानमिव ।
४७) १. झुंबखैः लंब्यैः [लुम्बाभिः] । २. भर्तारः ।

तत्पश्चात् सुन्दर एवं प्रकाशमान लक्ष्मीसे संयुक्त वे दोनों वृद्धिगत नय (नीति) और उत्साहके समान एक होकर प्रसन्नतापूर्वक अपने घरको गये ॥४२॥

वहाँ उन दोनोंने मिलकर भोजन किया और फिर वे साथ ही बैठे, स्थित हुए एवं साथ ही सोये भी । ठीक है—जिनका चित्त स्नेहसे परिपूर्ण होता है वे एक दूसरेके वियोगको नहीं सह सकते हैं ॥४३॥

फिर प्रातःकालमें दिव्य आभरणोंसे विभूषित होकर उत्तम आकारको धारण करनेवाले वे दोनों मित्र दो देवोंके समान इच्छानुसार गमन करनेवाले विमानपर चढ़कर पाटलीपुत्रकी ओर चल दिये ॥४४॥

तत्पश्चात् वे दोनों मित्र विचित्र आश्चर्योंसे व्याप्त उस पवित्र पाटलीपुत्र नगरमें इतने वेगसे जा पहुँचे जैसे किसी अभीष्ट स्थानमें मनके द्वारा शीघ्र जा पहुँचते हैं ॥४५॥

वहाँ वे अनेक वृक्षोंसे व्याप्त होकर इच्छित फलोंको देनेवाले उस (पाटलीपुत्र) के उद्यानमें इस प्रकारसे उतर गये जिस प्रकार मानो दो देव नन्दन वनमें ही उतरे हों ॥४६॥

उस उद्यानमें गुच्छोंरूप स्तनोंसे झुकी हुई बेलोंसे वेष्टित वृक्ष सब ओर इस प्रकारसे सुशोभित थे जिस प्रकार कि गुच्छोंके समान सुन्दर स्तनोंके बोझसे झुकी हुई स्त्रियोंसे वेष्टित होकर कामी जन सुशोभित होते हैं ॥४७॥

४३) क तौ वसितौ, इ तौ वसिता । ४४) इ प्रस्थितावुभौ; क नराकारौ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनोवेगेन तत्रोक्तं तव मित्र कुतूहलम् ।
पूरयामि तदानीं त्वं कुरुषे यदि मे वचः ॥४८
ततः पवनवेगो ऽपि श्रुत्वा तस्य वचो ऽवदत् ।
गिरं तव करिष्यामि मा शङ्किष्ठा महामते ॥४९
सुहृदस्ते वचः सर्वं कुर्वे ऽहमिति निश्चितम् ।
अन्योन्यवञ्चनावृत्तौ मित्रता कीदृशी सखे ॥५०
श्रुत्वेति वचनं सख्युर्मनोवेगो व्यचिन्तयत् ।
भविष्यत्येष सद्दृष्टिर्नान्यथा जिनभाषितम् ॥५१
सो[1] ऽवादीति ततस्तेन[2] तोषाकुलितचेतसा ।
यद्येवं तर्हि गच्छावो विशावो नगरं[3] सखे ॥५२
गृहीत्वा तृणकाष्ठानि चित्रालङ्कारधारिणौ ।
अविक्षतां[1] ततो मध्यं लीलया नगरस्य तौ ॥५३
दृष्ट्वा तौ तादृशौ लोका विस्मयं प्रतिपेदिरे ।
अदृष्टपूर्वके दृष्टे चित्रीयन्ते न के भुवि ॥५४

५२) १. पवनवेगः । २. मनोवेगेन । ३. नगरमध्ये ।
५३) १. प्रविष्टौ; क प्रवेशं कुरुताम् ।

वहाँपर मनोवेगने पवनवेगसे कहा कि हे मित्र ! तुम यदि मेरा कहना मानते हो तो मैं नगरके भीतर ले जाकर तुम्हारे कौतूहलको पूरा करता हूँ ॥४८॥

उसके वचनको सुनकर पवनवेग भी बोला कि हे महाबुद्धि ! मैं तुम्हारा कहना मानूँगा, तुम इसमें शंका न करो ॥४९॥

हे मित्र ! मैं तुम जैसे मित्रके सब वचनोंका परिपालन करूँगा, यह निश्चित समझो । कारण यह कि यदि परस्परमें एक दूसरेको ठगनेकी वृत्ति रही तो फिर दोनोंके बीचमें मित्रता ही कैसे स्थिर रह सकती है ? नहीं रह सकती ॥५०॥

मित्र पवनवेगके इन वचनोंको सुनकर मनोवेगने विचार किया कि यह भविष्यमें सम्यग्दृष्टि हो जायेगा, जिन भगवान्का कहना असत्य नहीं हो सकता ॥५१॥

फिर उसने मनमें अतिशय सन्तुष्ट होकर पवनवेगसे कहा कि यदि ऐसा है तो हे मित्र ! चलो फिर हम दोनों नगरके भीतर चलें ॥५२॥

तब अनेक प्रकारके आभूषणोंको धारण करनेवाले वे दोनों घास और लकड़ियोंको ग्रहण करके लीला (क्रीड़ा) से उस नगरके भीतर प्रविष्ट हुए ॥५३॥

उन दोनोंको उस प्रकारके वेषमें देखकर लोगोंको बहुत आश्चर्य हुआ । ठीक है—लोकमें जिस वस्तुको पहले कभी नहीं देखा है उसके देखनेपर किनको आश्चर्य नहीं होता है ? अर्थात् सभीको आश्चर्य होता है ॥५४॥

४८) अ तदा नीत्वा । ४९) अ मा संकष्ट । ५०) अ मा कुर्व्वं for सर्वं । ५२) ब नगरे । ५३) इ मध्ये; अ नगरांतके । ५४) अ misses verses 54 to 87; क चित्रायन्ते ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[1]प्रेक्षकैर्वेष्टितौ लोकैर्भ्रमन्तौ तौ समन्ततः ।
गुडपुञ्जौ महारावैर्मक्षिकानिवहैरिव ॥५५
केचिदूचुर्नरास्तत्र पश्यताहो सभूषणौ ।
वहतस्तृणदारूणि वराकाराविमौ कथम् ॥५६
जजल्पुरपरे स्वानि विक्रीयाभरणानि किम् ।
भूरिमौल्यानि सौख्येन तिष्ठतो न नराविमौ ॥५७
अन्ये ऽवोचन्नहो न स्तस्तार्णदारविकाविमौ ।
देवौ विद्याधराक्तौ कुतो ऽपि भ्रमतः स्फुटम् ॥५८
बभाषिरे परे भद्राः किं कृत्यं परचिन्तया ।
परचिन्ताप्रसक्तानां पापतो न परं फलम् ॥५९
तावालोक्य स्फुरत्कान्ती क्षुभ्यन्ति स्म पुराङ्गनाः ।
निरस्तापरकर्माणो मनोभववशीकृताः ॥६०
एको मनोनिवासीति प्रसिद्धिविनिवृत्तये ।
जातः कामो[1] द्विधा नूनमित्यभाषन्त काश्चन ॥६१

५५) १. क अवलोकनं कुर्वद्भिः ।
६१) १. क कामदेवः ।

उस समय इस प्रकारके वेषमें सब घूमते हुए उन दोनोंको दर्शकजनोंने इस प्रकारसे घेर लिया जिस प्रकार कि मानो महान् शब्दको करनेवाली मक्खियोंके समूहोंने गुड़के दो ढेरोंको ही घेर लिया हो ॥५५॥

उनको इस प्रकारसे देखकर वहाँ कुछ लोगोंने कहा कि देखो ! आश्चर्य है कि भूषणोंसे विभूषित होकर उत्तम आकारको धारण करनेवाले ये दोनों बेचारे घास और लकड़ियोंके भारको कैसे धारण करते हैं ? ॥५६॥

दूसरे कुछ मनुष्य बोले कि ये दोनों मनुष्य अपने बहुमूल्य भूषणोंको बेचकर सुखसे क्यों नहीं स्थित होते ? ॥५७॥

अन्य कुछ मनुष्य बोले कि विचार करनेपर ऐसा प्रतीत होता है कि ये दोनों घास और लकड़ी बेचनेवाले नहीं हैं, किन्तु ये दोनों देव अथवा विद्याधर हैं जो कि स्पष्टतः किसी कारणसे घूम रहे हैं ॥५८॥

दूसरे कुछ भद्र पुरुष बोले कि हमें दूसरोंकी चिन्तासे क्या करना है, क्योंकि, जो दूसरोंकी चिन्तामें आसक्त रहते हैं उन्हें पापके सिवा दूसरा कुछ भी फल प्राप्त नहीं होता है ॥५९॥

अतिशय कान्तिशाली उन दोनोंको देखकर कामके वशीभूत हुईं नगरकी स्त्रियाँ अन्य कामोंको छोड़कर क्षोभको प्राप्त हुईं ॥६०॥

कुछ स्त्रियाँ बोलीं कि कामदेव एक है यह जो प्रसिद्धि है उसको नष्ट करनेके लिए

५५) ब °निकरैरिव । ५८) इ तृण for तार्ण; ड वि for ऽपि । ६१) क ड प्रसिद्धिविनिवर्तये, इ प्रसिद्धि विनिवर्तये ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निजगादापरा दृष्टास्तार्णिकाः काष्ठिका मया ।
परासाधारणश्रीकौ नेदृशौ रूपिणौ परौ ॥६२

मन्मथाकुलितावादीदन्या तज्जल्पकाङ्क्षिणी ।
वयस्ये[1] काष्ठिकावेतौ क्षिप्रमाहूयतामिह ॥६३

तृणकाष्ठं यथा दत्तस्तथा गृह्णामि निश्चितम् ।
इष्टेभ्यो वस्तुनि प्राप्ते गणना क्रियते न हि ॥६४

इत्यादिजनवाक्यानि शृण्वन्तौ चारुविग्रहौ ।
ब्रह्मशालामिमौ[1] प्राप्तौ सचामीकरविष्टराम् ॥६५

मुक्त्वात्र[1] तृणकाष्ठानि भेरीमाताड्य वेगतः ।
एतौ सिंहाविवारूढौ[2] निर्भयौ कनकासने ॥६६

क्षुभ्यन्ति स्म द्विजाः सर्वे श्रुत्वा तं भेरिनिःस्वनम् ।
कुतः को ऽत्र प्रवादीति वदन्तो वादलालसाः ॥६७

६३) १. क हे सखे ।
६५) १. क मनोवेगपवनवेगौ ।
६६) १. क सभायाम् । २ क उपविष्टौ ।

ही मानो वह कामदेव निश्चयसे दो प्रकारका हो गया है। अभिप्राय यह है कि वे दोनों मित्र उन स्त्रियोंके लिए साक्षात् कामदेवके समान दिख रहे थे ॥६१॥

दूसरी कोई स्त्री बोली कि मैंने घास और लकड़ियोंके बेचनेवाले तो बहुत देखे हैं, परन्तु अन्य किसीमें न पायी जानेवाली ऐसी अनुपम शोभाको धारण करनेवाले इन दोनोंके समान अतिशय सुन्दर घास एवं लकड़ियोंके बेचनेवाले कभी नहीं देखे हैं ॥६२॥

अन्य कोई कामसे व्याकुल स्त्री उनके साथ सम्भाषण करनेकी इच्छासे बोली कि हे सखि ! तू इन दोनों लकड़हारोंको शीघ्र बुला ॥६३॥

ये दोनों घास और लकड़ियोंको जैसे (जितने मूल्यमें) देंगे मैं निश्चयसे वैसे (उतने मूल्यमें) ही लूँगी। ठीक है—अभीष्ट जनोंसे वस्तुके प्राप्त होनेपर मूल्य आदिकी गिनती नहीं की जाती है ॥६४॥

उत्तम शरीरके धारक वे दोनों मित्र इत्यादि उपर्युक्त वाक्योंको सुनते हुए सुवर्णमय आसनसे संयुक्त ब्रह्मशाला (ब्राह्मणोंकी वादशाला) में जा पहुँचे ॥६५॥

यहाँ ये घास और लकड़ियोंको छोड़कर भेरीको बजाते हुए सिंहके समान निर्भय होकर वेगसे उस सुवर्णमय आसनपर बैठ गये ॥६६॥

उस भेरीके शब्दको सुनकर कौन वादी यहाँ कहाँसे आया है, इस प्रकार बोलते हुए सब ब्राह्मण वादकी इच्छासे क्षोभको प्राप्त हुए ॥६७॥

६२) क ड निजगाद परा; ब रूपिणौ परं । ६३) ब °हूयतामिति । ६७) ड ते भेरिं°; इ तद्भेरिं° ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विद्यादर्पहुताशेन दह्यमाना निरन्तरम् ।
निरीयुर्ब्राह्मणाः क्षिप्रं परवादिजिगीषया ॥६८

केचित्तत्र वदन्ति स्म किं तर्काध्ययनेन नः ।
वादे पराङ्मुखीकृत्य यदि कश्चन गच्छति ॥६९

युष्माभिर्निर्जिता वादा बहवः परदुर्जयाः ।
यूयं तिष्ठत मौनेन वयं वादं विदध्महे ॥७०

एवमेव गतः कालः कुर्वतां पठनश्रमम् ।
अवादिषुः[1] परे तत्र[2] विप्राः प्रज्ञामदोद्धताः ॥७१

अपरे बभणुस्तत्र पातयित्वा यशःफलम् ।
परनिर्जयदण्डेन गृह्णीमो वादवृक्षतः ॥७२

एवमादीनि वाक्यानि जल्पन्तो द्विजपुंगवाः ।
वादकण्डूयया[1]श्लिष्टाः ब्रह्मशालां प्रपेदिरे ॥७३

७१) १. क ब्रुवन्ति स्म । २. क सभायाम् ।
७३) १. क वादखर्जया ।

तब निरन्तर विद्याके अभिमानरूप अग्निसे जलनेवाले वे ब्राह्मण दूसरे वादीको जीतनेकी इच्छासे निकल पड़े ॥६८॥

वहाँ कुछ ब्राह्मण विद्वान् बोले कि यदि कोई हमें वादमें पराङ्मुख करके चला जाता है तो फिर हमारे तर्कशास्त्रके पढ़नेका फल ही क्या होगा ? ॥६९॥

कुछ विद्वान् बोले कि जो बहुत-से वाद (शास्त्रार्थ) दूसरोंके द्वारा नहीं जीते जा सकते थे उन्हें आप लोग जीत चुके हैं । अतएव अब आप लोग मौनसे स्थित रहें, इस समय हम वाद करेंगे ॥७०॥

दूसरे कुछ ब्राह्मण विद्वान् वहाँ बुद्धिके अभिमानमें चूर होकर बोले कि पढ़नेमें परिश्रम करनेवाले हमलोगोंका समय अब तक यों ही गया । अर्थात् अब तक कोई वादका अवसर न मिलनेसे हम अपने विद्याध्ययनमें किये गये परिश्रमका कुछ भी फल नहीं दिखा सके थे, अब चूँकि वह अवसर प्राप्त हो गया है अतएव अब हम वादीको परास्त कर अपने पाण्डित्यको प्रकट करेंगे ॥७१॥

वहाँ अन्य विद्वान् बोले कि अब हम वादीको वादमें परास्त करके उसके ऊपर प्राप्त हुई विजयरूपी लाठीके द्वारा वादरूपी वृक्षसे यशरूपी फलको गिराकर उसे ग्रहण करते हैं ॥७२॥

इनको आदि लेकर और भी अनेक वाक्योंको बोलते हुए वे श्रेष्ठ ब्राह्मण वादकी खुजलीसे संयुक्त होकर ब्रह्मशालामें जा पहुँचे ॥७३॥

६८) ब परवाद° । ६९) क ड इ °ध्ययने मम; इ वादैः; क कश्चिन्न । ७२) ब परिनिर्जय° ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हारकङ्कणकेयूरश्रीवत्समुकुटादिभिः ।
अलंकृतं मनोवेगं ते दृष्ट्वा विस्मयं गताः ॥७४
नूनं विष्णुरयं प्राप्तो ब्राह्मणानुजिघृक्षया[1] ।
शरीरस्येदृशी लक्ष्मीर्नान्यस्यास्ति मनोरमा ॥७५
निगद्येति नमन्ति स्म भक्तिभारवशीकृताः ।
प्रशस्तं क्रियते कार्यं विभ्रान्तमतिभिः कदा ॥७६
तत्र केऽपि वभाषन्त ध्रुवमेष पुरन्दरः ।
नापरस्येदृशी कान्तिर्भुवनानन्ददायिनी ॥७७
परे प्राहुरयं शंभुः संकोच्याक्षि तृतीयकम् ।
धरित्रीं द्रष्टुमायातो रूपमन्यस्य नेदृशम् ॥७८
अन्ये ऽवदन्नयं कश्चिद्विद्याधारो मवोद्धतः ।
करोति विविधां क्रीडामीक्षमाणो महीतलम् ॥७९
नैवमालोचयन्तो ऽपि चक्रुस्ते तस्य[1] निश्चयम् ।
प्रभापूरितदिक्कस्य विश्वरूपमणे[2]रिव ॥८०

७५) १. क कृपया ।
८०) १. क मनोवेगस्य । २. क सूर्यस्य ।

वहाँ भी हार, कंकण, केयूर, श्रीवत्स और मुकुट आदि आभूषणोंसे विभूषित मनोवेगको देखकर आश्चर्यको प्राप्त हुए ॥७४॥

वे बोले कि यह निश्चयसे ब्राह्मणोंका अनुग्रह करनेकी इच्छासे हमें भगवान् विष्णु ही प्राप्त हुआ है, क्योंकि, दूसरे किसीके भी शरीरकी ऐसी मनोहर कान्ति सम्भव नहीं है । यह कहते हुए उन लोगोंने उसे अतिशय भक्तिके साथ प्रणाम किया । ठीक ही है—जिनकी बुद्धिमें विपरीतता होती है वे भला उत्तम कार्य कैसे कर सकते हैं ? अर्थात् वे ऐसे ही जघन्य कार्य किया करते हैं ॥७५-७६॥

उनमेंसे कुछ बोले कि यह निश्चयसे इन्द्र है, क्योंकि, लोकको आनन्द देनेवाली ऐसी उत्तम कान्ति दूसरेकी नहीं हो सकती है ॥७७॥

अन्य कितने ही बोले कि यह महादेव है और अपने तीसरे नेत्रको संकुचित करके पृथिवीको देखनेके लिए आया है, क्योंकि, ऐसी सुन्दरता और दूसरेके नहीं हो सकती है ॥७८॥

दूसरे कुछ ब्राह्मण बोले कि यह कोई अभिमानी विद्याधर है जो पृथिवीतलका निरीक्षण करता हुआ अनेक प्रकारकी क्रीड़ा कर रहा है ॥७९॥

इस प्रकार विचार करते हुए भी वे ब्राह्मण विश्वरूप मणि (सर्वरत्न) के समान अपनी प्रभासे समस्त दिशाओंको परिपूर्ण करनेवाले उस मनोवेगके विषयमें कुछ भी निश्चय नहीं कर सके ॥८०॥

७) इ ध्रुवमेव । ७९) क ड इ महोद्धतः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कश्चनेति निजगाद कोविदो निश्चयार्थमयमेव पृच्छ्यताम् ।
कङ्कणे सति करे व्यवस्थिते नादरं विदधते ऽब्दके[1] बुधाः ॥८१

वादिनिर्जयविषक्तमानसो वादमेष यदि कर्तुमागतः ।
तं तदा सममनेन कुर्महे सर्वशास्त्रपरमार्थवेदिनः ॥८२

दर्शनेषु न तदस्ति दर्शनं षट्सु[1] यन्न सकलो ऽपि बुध्यते ।
तत्त्वतो ऽत्र नगरे बुधाकुले किं वदिष्यति कुधीरयं परम् ॥८३

भारतीमिति निशम्य तस्य तां कश्चिदेत्य निजगाद तं द्विजः ।
को भवानिह किमर्थमागतस्त्वं विरुद्धकरणो निगद्यताम् ॥८४

तं जगाद खचराङ्गजस्ततो भट्ट निर्धनशरीरभूरहम् ।
आगतो ऽस्मि तृणकाष्ठविक्रयं कर्तुमत्र नगरे गरीयसि ॥८५

भाषते स्म तमसौ ततो द्विजो भद्र वादमविजित्य[1] विष्टरे ।
किं न्यविक्षत[2] भवानिहार्चिते दुन्दुभिं लघु[3] निहत्य वादिकम् ॥८६

८१) १. क आदर्शे ।
८२) १. क आसक्त ।
८३) १. क शिवबौद्धवेदनैयायिकमीमांसकजैनमतानि ।
८५) १. क निर्धनपुत्रः ।
८६) १. क अनिर्जित्य । २. क उपविष्ट[वा]न् । ३. क शीघ्रम् ।

उस समय कोई विद्वान् बोला कि यह कौन है, इसका निश्चय करनेके लिए इसीसे पूछ लेना चाहिए; क्योंकि, हाथमें कंकणके स्थित रहनेपर विद्वान् मनुष्य दर्पणके विषयमें आदर नहीं किया करते हैं—हाथ कंगनको आरसी क्या ॥८१॥

यदि यह वादियोंके जीतनेकी इच्छासे यहाँ वाद करनेके लिए आया है तो समस्त शास्त्रोंके रहस्यको जाननेवाले हम लोग इसके साथ उसे (वादको) करेंगे ॥८२॥

छह दर्शनोंमें वह कोई भी दर्शन नहीं है जिसे कि यथार्थमें पूर्णरूपसे हम न जानते हों। यह नगर विद्वानोंसे भरपूर है, यहाँ यह दुर्बुद्धि दूसरा (छह दर्शनोंसे बाह्य) क्या बोलेगा ? ॥८३॥

उसकी इस वाणीको सुनकर कोई एक ब्राह्मण आकर मनोवेगसे बोला कि आप कौन हैं और विरुद्ध कार्यको करते हुए तुम यहाँ किस लिए आये हो, यह हमें बतलाओ ॥८४।

यह सुनकर उससे वह विद्याधर पुत्र (मनोवेग) बोला कि हे भट्ट ! मैं एक निर्धन मनुष्य का पुत्र हूँ और इस बड़े भारी नगरमें घास व लकड़ियोंको बेचनेके लिए आया हूँ ॥८५॥

इसपर वह ब्राह्मण उससे बोला कि हे भद्र पुरुष ! आप यहाँ वादको जीतनेके बिना ही शीघ्रतासे वादकी भेरीको बजाकर इस पूज्य सिंहासनके ऊपर क्यों बैठ गये ? ॥८६॥

८१) क ड इ पृच्छतां; ब ड इ करव्य°; ड विदधतेष्टके । ८२) ब निषक्त । ८३) ड इ वरं for परं ।
८५) इ भद्र । ८६) इ °मवजित्य; ब विष्टरं, ड न्यविक्ष्यत; इ न्यवीक्षत ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शक्तिरस्ति यदि वादनिर्जये त्वं कुरुष्व सह पण्डितैस्तदा ।
वादमेभिरनवद्यबुद्धिभिर्वादिदर्पदलनैर्द्विजोत्तमैः ॥८७
को ऽपि याति न पुरादतो बुधो वादनिर्जयजशोविभूषितः[1] ।
मूढ नागभवनादपैति[2] कः शेषमूर्धमणिरश्मिरञ्जितः ॥८८
वातकी[1] किमु पिशाचकी नु[2] किं यौवनोर्जितमदातुरो ऽसि किम् ।
येन दिव्यमणिरत्नभूषणस्त्वं करोषि तृणकाष्ठविक्रयम् ॥८९
सन्ति धृष्टमनसो[1] जगत्त्रये भूरिशो जनमनोविमोहकाः ।
त्वादृशो न परमत्र दृश्यते यस्तनोति बुधलोकमोहनम् ॥९०
जल्पति स्म स ततो नभश्चरो विप्र किं विफलमेव कुप्यसि ।
कारणेन रहितेन रुष्यते पन्नगेन न पुनर्मनीषिणा[1] ॥९१
काञ्चनासनमवेक्ष्य बन्धुरं[1] कौतुकेन विनिविष्टवानहम् ।
भोः कियान् वियति जायते ध्वनिश्चेतसेति निहतश्च दुन्दुभिः ॥९२

८८) १. सन् । २. क प्राप्नोति ।
८९) १. क वातरोगवान् । २. अहो ।
९०) १. दृढः धीरः ।
९१) १. पण्डितेन ।
९२) १. क मनोहरम् । २. वादितः ।

यदि तुममें वादको जीतनेकी शक्ति है तो फिर तुम निर्मल बुद्धिसे संयुक्त होते हुए वादिजनोंके अभिमानको चूर्ण करनेवाले ये जो श्रेष्ठ ब्राह्मण विद्वान् हैं उनके साथ वाद करो ॥८७॥

हे मूर्ख ! इस नगरसे कोई भी विद्वान् वादियोंके जीतनेसे प्राप्त यशसे विभूषित होकर नहीं जाता है । ठीक ही है—नागभवनसे कौन-सा मनुष्य शेषनागके मस्तकगत मणिकी किरणोंसे रंजित होकर जाता है ? अर्थात् कोई नहीं जा पाता है ॥८८॥

क्या तुम वातूल (वायुके विकारको न सह सकनेवाले) हो, क्या पिशाचसे पीड़ित हो अथवा क्या जवानीके वृद्धिंगत उन्मादसे व्याकुल हो; जिससे कि तुम दिव्य मणिमय एवं रत्नमय आभूषणोंसे भूषित होकर घांस व लकड़ियोंके बेचनेरूप कार्यको करते हो ? ॥८९॥

तीन लोकोंमें प्राणियोंके मनको मुग्ध करनेवाले बहुत-से ढीठचित्त (प्रगल्भ) मनुष्य हैं, परन्तु तुम जैसा ढीठ मनुष्य यहाँ दूसरा नहीं देखा जाता है जो कि पण्डितजनोंको मोहित करता हो ॥९०॥

तत्पश्चात् वह मनोवेग विद्याधर बोला कि हे विप्र ! तुम व्यर्थ ही क्रोध क्यों करते हो ? देखो, कारणके बिना सर्प क्रोधको प्राप्त होता है, परन्तु बुद्धिमान् मनुष्य कारणके बिना क्रोधको प्राप्त नहीं होता ॥९१॥

इस रमणीय (या उन्नत-आनत) सुवर्णमय आसनको देखकर मैं कौतुकसे उसके ऊपर

८७) क वादनिर्णये; ड वाददर्प° । ८८) क ड इ °दुपैति । ८९) क ड °भूषितस्त्वं । ९०) अ ब विमोहिकाः । ९१) इ कुप्यसे । ९२) इ °श्चेतसीति; क ड निहितः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तार्णदारविकदेहजा वयं शास्त्रमार्गमपि विद्म नाञ्जसा[1] ।
वादनाम तव वाक्यतो ऽधुना भट्ट बुद्धमपबुद्धिना[3] मया ॥९३

भारतादिषु कथासु[1] भूरिशः सन्ति किं न पुरुषास्तवेदृशाः ।
केवलं हि परकोयमीक्षते दूषणं जगति नात्मनो जनः ॥९४

काञ्चने स्थितवता मनःक्षतिं[1] विष्टरे यदि मयात्र ते तदा ।
उत्तरामि तरसेत्यवातरत्[2] खेचरो ऽमितगतिस्ततः सुधीः ॥९५

इति धर्मपरीक्षायाममितगतिकृतायां
तृतीयः परिच्छेदः ॥३

९३) १. क परमार्थेन । २. ज्ञातम् । ३. अल्पबुद्धिना; क विगतबुद्धिना ।
९४) १. पुराणेषु । २. मादृशाः ।
९५) १. मनःपीडा । २. इत्युक्त्वा विष्टरात् उत्तीर्य [र्णः] ।

बैठ गया तथा हे विप्र ! इसकी आकाशमें कितनी ध्वनि होती है, इस विचारसे मैंने भेरीको भी बजा दिया ।।९२।।

हम तो तृण-काष्ठ बेचनेवालेके लड़के हैं जो वास्तवमें शास्त्रके मार्गको भी नहीं जानते हैं । हे भट्ट ! मैं बुद्धिहीन हूँ, 'वाद' शब्दको इस समय मैंने तुम्हारे वाक्यसे जाना है ।।९३।।

क्या तुम्हारे यहाँ महाभारत आदिकी कथाओंमें ऐसे (मुझ जैसे) पुरुष नहीं हैं ? ठीक है—संसारमें मनुष्य केवल दूसरोंके ही दोषको देखा करता है, किन्तु वह अपने दोषको नहीं देखता है ।।९४।।

यदि मेरे इस सुवर्णमय सिंहासनपर बैठ जानेसे तुम्हारे मनमें खेद हुआ है तो मैं उसके ऊपरसे उतर जाता हूँ, यह कहता हुआ वह अपरिमित गतिवाला बुद्धिमान् मनोवेग विद्याधर उसपरसे शीघ्र ही उतर पड़ा ।।९५।।

इस प्रकार अमितगतिविरचित धर्मपरीक्षामें तीसरा
परिच्छेद समाप्त हुआ ।।३।।

९३) क ड °दारुविक; ब नाञ्जसं; अ बुद्धमपि । ९५) अ क ड इ मनःक्षिति° ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[४]

तमालोक्यासनोत्तीर्णमथावादीद् द्विजाग्रणीः ।
तार्णिकाः काष्ठिका दृष्टा न मया रत्नमण्डिताः ॥१

परप्रेष्यकरा[1] मर्त्या दिव्यालङ्काररराजिताः ।
वहन्तस्तृणकाष्ठानि दृश्यन्ते न कदाचन ॥२

स[1] प्राह भारताद्येषु पुराणेषु सहस्रशः ।
श्रूयन्ते[2] न प्रपद्यन्ते भवन्तो विधियः[3] परम्[4] ॥३

यदि रामायणे दृष्टा भारते वा त्वयेदृशाः ।
प्रत्येष्यामस्[1]तदा ब्रूहि द्विजेनेत्युदिते ऽवदत् ॥४

ब्रवीमि केवलं[1] विप्रा ब्रुवाणो ऽत्र बिभेम्यहम् ।
यतो न दृश्यते को ऽपि युष्मन्मध्ये विचारकः ॥५

---

२) १. क परकार्यकराः ; कार्य ।
३) १. क मनोवेगः । २. क कथयन्ते; जानन्ति । ३. अज्ञानिनः; क निर्बुद्धयः । ४. क अन्यम् ; पण । [मराठी ?]
४) १. प्रतीति कुर्मः ; क अङ्गीकर्तुः ।
५) १. पण । [मराठी ?]

तत्पश्चात् मनोवेगको आसनसे उतरा हुआ देखकर ब्राह्मणोंमें अग्रगण्य वह ब्राह्मण उससे बोला कि मैंने रत्नोंसे अलंकृत होकर घास और लकड़ियोंके बेचनेवाले नहीं देखे हैं । स्वर्गीय अलंकारोंसे सुशोभित मनुष्य दूसरोंकी सेवा करते हुए अथवा तृण-काष्ठोंको ढोते हुए कभी भी नहीं देखे जाते हैं ॥१–२॥

यह सुनकर मनोवेग बोला कि महाभारत आदि पुराणोंमें ऐसे हजारों मनुष्य सुने जाते हैं । परन्तु आप जैसे लोग उन्हें स्वीकार नहीं करते हैं ॥३॥

इसपर वह ब्राह्मण विद्वान् बोला कि यदि तुमने रामायण या महाभारतमें ऐसे मनुष्य देखे हैं तो बतलाओ, हम उन्हें स्वीकार करेंगे । इस प्रकार उक्त ब्राह्मणके कहनेपर मनोवेग बोला कि हे विप्र ! मैं केवल बतला तो दूँ, परन्तु कहते हुए मैं यहाँ डरता हूँ । कारण इसका यह है कि आप लोगोंमें कोई विचार करनेवाला नहीं दिखता है ॥४–५॥

---

१) ब क °मथ वादी° । २) अ ब इ रत्नालङ्कार ; ब वहन्ति तृण° ; इ न दृश्यन्ते कदाचन ।
३) ड इ ज्ञायन्ते न; ब भवन्ति; अ ब ड इ विधयः । ५) अ ब ड इ विप्र ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खलाः सत्यमपि प्रोक्तमादायासत्यबुद्धितः ।
मुष्टिषोडशकन्यायं रचयन्त्यविचारकाः ॥६
कीदृशो ऽसौ[1] महाबुद्धे ब्रूहीति गदिते द्विजैः ।
उवाचेति मनोवेगः श्रूयतां कथयामि वः[2] ॥७
देशो मलयदेशो[1] ऽस्ति संगालो[2] गलितासुखः ।
तत्र गृहपतेः[3] पुत्रो नाम्ना मधुकरो ऽभवत् ॥८
एकदा जनकस्यासौ[1] निर्गत्य गृहतो रुषा ।
अभ्रमीद्धरणीपृष्ठं रोषतः क्रियते न किम् ॥९
आभीरविषये[1] तुङ्ग गतेनानेन राशयः ।
दृष्टा विभज्यमानानां चणकानामनेकशः ॥१०
तानवेक्ष्य विमुग्धेन तेन विस्मितचेतसा ।
अहो चित्रमहो चित्रं मया दृष्टमितीरितम्[1] ॥११

७) १. न्यायः । २. क युष्मान् ।
८) १. मलयदेशे मृणालग्रामे भ्रमरस्य पुत्रो मधुकरगतिः इति वा पाठः । २. ग्रामे । ३. भ्रमरस्य पुत्रो मधुकर इति ।
९) १. मधुकरगतिः ।
१०) १. क देशे ।
११) १. क कथितम् ।

जो दुष्ट मनुष्य विचारसे रहित (अविवेकी) होते हैं वे कही गयी सच बातको भी असत्य बुद्धिसे ग्रहण करके मुष्टिषोडशक (सोलह मुक्केरूप) न्यायकी रचना करते हैं ॥६॥

इसपर हे अतिशय बुद्धिशालिन् ! वह मुष्टिषोडशक न्याय किस प्रकारका है, यह हमें बतलाइए । इस प्रकार उन ब्राह्मणोंके पूछनेपर मनोवेग बोला कि मैं तुम्हें उसे बतलाता हूँ, सुनिए ॥७॥

मलय नामका जो एक देश है उसमें दुःखोंसे रहित एक संगाल नामका ग्राम है । वहाँ एक गृहपति (सदा अन्नादिका दान करनेवाला—सत्री) रहता था । उसके मधुकर नामका एक पुत्र था ॥८॥

एक समय वह पिताके ऊपर रुष्ट होकर घरसे निकला और पृथिवीपर घूमने लगा । ठीक है—क्रोधके वश होकर मनुष्य क्या नहीं करता है ? अर्थात् क्रोधके वशमें होकर मनुष्य नहीं करने योग्य कार्यको भी किया करता है ॥९॥

इस प्रकार घूमता हुआ वह आभीर देशमें पहुँचा । वहाँपर उसने अलग-अलग विभक्त किये हुए चनोंकी अनेक ऊँची-ऊँची राशियाँ देखीं ॥१०॥

उनको देखकर उस मूर्खने आश्चर्यसे चकित होकर कहा कि अरे ! मैंने बहुत आश्चर्यजनक बात देखी है ॥११॥

६) अ इ षोडशकं न्यायं । ७) अ ते for वः । ८) ड मालवदेशो°; अ संगाले....सुखे, क मंगलो ।
९) इ बम्भ्रमी°; ड °पृष्ठे । ११) अ विमुखेन; अ दृष्टमतीकृतम्; ब °मित्ती चिरं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किमाश्चर्यं त्वया दृष्टं करणेनेति भाषिते ।
अगदीदिति मूढो ऽसौ जानात्यज्ञो हि नापदम् ॥१२

यादृशा विषये ऽमुत्र तुङ्गाश्चणकराशयः ।
मरीचिराशयः सन्ति तादृशा विषये मम ॥१३

करणेन ततो ऽवाचि स[1] भृशं कुपितात्मना ।
किं त्वं ग्रस्तो ऽसि वातेन येनासत्यं विभाषसे ॥१४

मरीचिराशयस्तुल्या दृष्टाश्चणकराशिभिः ।
नास्माभिर्विषये[1] क्वापि दुष्टबुद्धे कदाचन ॥१५

किलात्र चणका देशे मरीचानीव दुर्लभाः ।
मम नो गणना क्वापि[1] मरीचेष्वपि विद्यते ॥१६

विज्ञायेत्ययमस्माकं दुष्टो मुग्धत्वनर्मणा[2] ।
उपहासं करोतीति क्षिप्रमेष निगृह्यताम्[3] ॥१७

१४) १. मधुकरः ।
१५) १. क नगरे ।
१६) १. चणकेषु ।
१७) १. मधुकरः । २. हासेन । ३. वध्यताम् ।

यह सुनकर उनके अधिकारीने उससे पूछा कि तुमने यहाँ कौन-सी आश्चर्यजनक बात देखी है ? इसपर वह मूर्ख इस प्रकार बोला। ठीक है—अज्ञानी पुरुष आनेवाली आपत्तिको नहीं जानता है ॥१२॥

वह बोला—इस देशमें जैसी ऊँची चनोंकी राशियाँ हैं मेरे देशमें वैसी मिरचोंकी राशियाँ हैं ॥१३॥

यह सुनकर अधिकारीने अतिशय क्रोधित होकर उससे कहा कि क्या तुम वायुसे ग्रस्त (पागल) हो जो इस प्रकारसे असत्य बोलते हो ॥१४॥

हे दुर्बुद्धे ! हम लोगोंने किसी भी देशमें व कभी भी चनोंकी राशियोंके समान मिरचोंकी राशियाँ नहीं देखी हैं ॥१५॥

इस देशमें मिरचोंके समान चना दुर्लभ है, मेरी गिनती कहींपर भी मिरचोंमें भी नहीं है; ऐसा जान करके यह दुष्ट मूर्खतासे हम लोगोंकी हँसी करता है । इसीलिए इसको शीघ्र दण्ड दिया जाना चाहिए ॥१६-१७॥

१२) अ भाषितः, ब भाषितं । १३) क ड मरीच° । १४) अ ब °सत्यानि भाषसे । १६) इ मरीचात्यन्त°; ब गणका । १७) ब मुग्धेन; इ भर्मणा; ब क ड °मेव ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करणस्येतिवाक्येन बबन्धुस्तं कुटुम्बिनः ।
अश्रद्धेयवचोवादी[1] बन्धनं लभते न कः ॥१८

केनापि करुणार्द्रेण तत्रावादि कुटुम्बिना ।
अनुरूपो[1] ऽस्य दोषस्य दण्डो भद्र विधीयताम् ॥१९

वर्तुला[1] वर्तुले[2] ऽमुष्य दीयतामष्ट मूर्धनि ।
उपहासं पुनर्येन न कस्यापि करोत्यसौ ॥२०

तस्येतिवचनं श्रुत्वा विमुच्यास्य कुटुम्बिभिः ।
वर्तुला मस्तके दत्ता निष्ठुरा निर्घृणात्मभिः[1] ॥२१

यत्यक्तो वर्तुलैरेभिर्लाभो ऽयं परमो मम ।
जीवितव्ये ऽपि संदेहो दुष्टमध्ये निवासिनाम् ॥२२

विचिन्त्येति पुनर्भीतो निजं देशमसौ गतः ।
बालिशा न निवर्तन्ते[1] कदाचिदकदर्थिताः[2] ॥२३

१८) १. क अश्रद्धवचन ; अणगमतावचोवादी ।
१९) १. सदृशः ।
२०) १. मुष्ट्यः । २. क मस्तके ।
२१) १. क दयारहितैः ।
२२) १. कुटुम्बिभिः ।
२३) १. अज्ञानिनः ; क मूर्खाः । २. व्याघुट्यन्ते । ३. अपीडिताः ।

इस प्रकार उस अधिकारीके कहनेसे किसानोंने उस मधुकरको बाँध लिया। ठीक ही है—अविश्वसनीय वचनको बोलनेवाला ऐसा कौन-सा मनुष्य है जो बन्धनको न प्राप्त होता हो ? ॥१८॥

उस समय वहाँ कोई एक दयालु किसान बोला कि हे भद्र ! इस बेचारेको इसके अपराधके अनुसार दण्ड दिया जाये ॥१९॥

इसके गोल शिरके ऊपर आठ वर्तुला (मुक्के) दी जावें, जिससे कि वह फिर किसीकी भी हँसी न करे ॥२०॥

उसके इस वचनको सुनकर उन किसानोंने उसे बन्धनमुक्त करते हुए मस्तकपर कठोर आठ वर्तुलाएँ दे दीं ॥२१॥

इन लोगोंने जो मुझे इन आठ वर्तुलोंके साथ छोड़ दिया है, यह मुझे बहुत बड़ा लाभ हुआ। कारण यह कि जो लोग दुष्टजनोंके मध्यमें रहते हैं उनके तो जीवनके विषयमें भी सन्देह रहता है, फिर भला मुझे तो केवल आठ मुक्के ही सहने पड़े हैं ॥२२॥

यही विचार करके वह भयभीत होता हुआ अपने देशको वापस चला गया। ठीक ही है—मूर्ख जन कभी कष्ट सहनेके बिना वापस नहीं होते हैं ॥२३॥

१९) अ दण्डस्य, ब दग्धस्य for दोषस्य; अ ब भद्रा । २०) इ वर्तुले मुष्ट्या । २१) क ड इ विमुञ्चास्य; क ड इ निर्दयात्मभिः । २२) ड °तव्येति°; ब °मध्यनिवासिनां ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विभागेन कृतास्तेन देशं संगालमीयुषा[1] ।
मरीचिराशयो दृष्टास्तुल्याश्चणकराशिभिः ॥२४

तत्र तेन तदेवोक्तं लब्धो दण्डो ऽपि पूर्वकः ।
बालिशो जायते प्रायः खण्डितो ऽपि न पण्डितः[1] ॥२५

मुष्टिषोडशकं प्राप्तं[1] यतः सत्ये ऽपि भाषिते ।
मुष्टिषोडशकन्यायः प्रसिद्धिमगमत्ततः ॥२६

न सत्यमपि वक्तव्यं पुंसा[1] साक्षिविवर्जितम् ।
परैर्व्यापीड्यते लोकैरसत्यस्येव भाषकाः ॥२७

असत्यमपि मन्यन्ते लोकाः सत्यं ससाक्षिकम् ।
वञ्चकैः[1] सकलो लोको वञ्च्यते कथमन्यथा ॥२८

पुंसा सत्यमसत्यं वा वाच्यं लोकप्रतीतिकम् ।
भवन्ती महती पीडा परथा केन वार्यते ॥२९

२४) १. गतेन तेन ।
२५) १. निपुणः ।
२६) १. प्राप्तवान् ।
२७) १. निपुणेन ।
२८) १. धूर्तैः ।

जब वह (मधुकर) अपने संगाल देशमें वापस आ रहा था तब उसने वहाँ चनोंकी राशियोंके समान विभक्त की गयीं मिरचोंकी राशियोंको देखा ॥२४॥

तब उसने वहाँपर भी वही बात (जैसी यहाँ मिरचोंकी राशियाँ हैं वैसी आभीर देशमें मैंने चनोंकी राशियाँ देखी हैं) कही और वही पूर्वका दण्ड (आठ मुक्के) भी प्राप्त किया। ठीक है—मूर्ख मनुष्य कष्टको पाकर भी चतुर नहीं होता ॥२५॥

इस प्रकार सत्य बोलनेपर भी चूँकि मधुकरको सोलह मुक्कोंस्वरूप दण्ड सहना पड़ा इसीलिए तबसे 'मुष्टिषोडशन्याय' प्रसिद्धिको प्राप्त हुआ ॥२६॥

पुरुषको साक्षीके बिना सत्य भाषण भी नहीं करना चाहिए, अन्यथा उसको असत्य-भाषीके समान दूसरोंके द्वारा पीड़ा सहनी पड़ती है ॥२७॥

साक्षीके रहनेपर लोग असत्यको भी सत्य मानते हैं, नहीं तो फिर धूर्त लोग सब जनोंको धोखा कैसे दे सकते हैं ? नहीं दे सकते ॥२८॥

इसलिए पुरुषको चाहे वह सत्य हो और चाहे असत्य हो, ऐसा वचन बोलना चाहिए जिसपर कि लोग विश्वास कर सकें। क्योंकि, नहीं तो फिर आगे होनेवाले महान् कष्टको कौन रोक सकता है ? कोई भी नहीं रोक सकेगा ॥२९॥

२४) इ 24 after 25; ब सांगाल, क मंगाल, ड मंगल; अ ब मरीच । २५) ड तेन तत्र; अ इ दण्डश्च । २७) अ परतः पीड्यते, ब परथा पीड्यते, इ परं व्या°; इ °रसत्यस्यैव । २९) ब पुंसां; अ परघातेन वार्यते ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुंसा सत्यमपि प्रोक्तं प्रपद्यन्ते[1] न बालिशाः ।
यतस्ततो न वक्तव्यं तन्मध्ये[2] हितमिच्छता ॥३०

अनुभूतं श्रुतं दृष्टं प्रसिद्धं च प्रपद्यते ।
अपरं न यतो लोको न वाच्यं पटुना ततः ॥३१

ममापि निर्विचाराणां मध्ये ऽत्र वदतो[1] यतः ।
ईदृशो जायते दोषो न वदामि ततः स्फुटम् ॥३२

विचारयति यः कश्चित् पूर्वापरविचारकः[1] ।
उच्यते[2] पुरतस्तस्य[3] न परस्य पटीयसा ॥३३

इत्युक्त्वावसिते[1] खेटे जगाद द्विजपुंगवः ।
मैवं साधो गदीर्नास्ति कश्चिदत्राविवेचकः[2] ॥३४

---

३०) १. मन्यन्ते । २. अज्ञानिमध्ये ।

३२) १. वचनस्य मम मनोवेगस्य ।

३३) १. विभाषितम् । २. न कथ्यते । ३. अविचारकस्य ।

३४) १. स्थितवति, मौने कृते सति ; क उक्त्वा स्थिते सति । २. क सभायाम् ।

पुरुष यदि सत्य बात भी कहता है तो भी मूर्खजन उसे नहीं मानते हैं। इसलिए विचारशील मनुष्यको अपने हितकी इच्छासे मूर्खोंके मध्यमें सत्य बात भी नहीं कहना चाहिए ॥३०॥

लोकमें जो बात अनुभवमें आ चुकी है, सुनी गयी है, देखी गयी है या प्रसिद्ध हो चुकी है उसीको मनुष्य स्वीकार करता है ; इसके विपरीत वह अननुभूत, अश्रुत, अदृष्ट या अप्रसिद्ध बातको स्वीकार नहीं करता है। इसीलिए चतुर पुरुषको ऐसी (अननुभूत आदि) बात नहीं कहना चाहिए ॥३१॥

यहाँ विचारहीन मनुष्योंके बीचमें बोलते हुए चूँकि मेरे सामने भी वही दोष उत्पन्न हो सकता है, इसीलिए मैं यहाँ स्पष्ट बात नहीं कहना चाहता हूँ ॥३२॥

पूर्वापरका विचार करनेवाला जो कोई मनुष्य दूसरेके कहे हुए वचनपर विचार करता है उसके आगे ही चतुर पुरुष बोलता है, अन्य (अविचारक) के आगे वह नहीं बोलता ॥३३॥

इस प्रकार कहकर मनोवेगके चुप हो जानेपर ब्राह्मणोंमें प्रमुख वह विद्वान् बोला कि हे सज्जन ! ऐसा मत कहो, क्योंकि इस देशमें अविवेकी कोई नहीं है—सब ही विचारक हैं ॥३४॥

---

३१) अ च for न; अ क लोके । ३४) अ ऽगदीन्नास्ति देशे ऽत्राप्यविवेचकः; इ °दत्ताविचारकः ।

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

मा ज्ञासीरविचाराणां दोषमेषु विचारिषु ।
पशूनां जायते धर्मो[1] मानुषेषु न सर्वथा ॥३५
आभीरसदृशानस्मान्मा बुधो मुग्धचेतसः ।
वायसैः[2] सदृशाः सन्ति न हंसा हि कदाचन ॥३६
अत्र[1] न्यायपटीयांसो[2] युक्तायुक्तविचारिणः ।
सर्वे ऽपि ब्राह्मणा भद्र मा शङ्किष्ठा वदेप्सितम्[3] ॥३७
यद्युक्त्या घटते वाक्यं साधुभिर्यच्च बुध्यते ।
तद् ब्रूहि भद्र निःशङ्को ग्रहीष्यामो विचारतः ॥३८
इति विप्रवचः श्रुत्वा मनोवेगो ऽलपद्[1]वचः ।
जिनेशचरणाम्भोजचञ्चरीकः कलस्वनः[2] ॥३९
रक्तो द्विष्टो मनोमूढो व्युद्ग्राही पित्तदूषितः ।
चूतः क्षीरो ऽगुरुर्ज्ञेयाश्चन्दनो बालिशो दश[1] ॥४०

३५) १. क विचाररहितः धर्मः ।
३६) १. मूढ । २. क काकपक्षिभिः ।
३७) १. क सभायां । २. क न्यायप्रवीणाः । ३. क मनोभिलषितम् ।
३९) १. क अवादीत् । २. सुस्वरः ।
४०) १. इति दश मूढा ज्ञेयाः ।

तुमने जो दोष आभीर देशके अविचारी जनोंमें देखा है उसे इन विचारशील विद्वानोंमें मत समझो । कारण यह कि पशुओंका धर्म मनुष्योंमें बिलकुल नहीं पाया जाता है ॥३५॥

तुम हम लोगोंको आभीर देशवासियोंके अविचारक मत समझो, क्योंकि, कौवोंके समान कभी हंस नहीं हुआ करते हैं ॥३६॥

हे भद्र ! यहाँ पर सब ही ब्राह्मण नीतिमें अतिशय चतुर और योग्य-अयोग्यका विचार करनेवाले हैं । इसलिए तुम किसी प्रकारकी शंका न करके अपनी अभीष्ट बातको कहो ॥३७॥

हे भद्र ! जो वचन युक्तिसे संगत है तथा जिसे साधुजन योग्य मानते हैं उसे तुम निःशंक होकर बोलो । हम लोग उसे विचारपूर्वक ग्रहण करेंगे ॥३८॥

इस प्रकार उस ब्राह्मणके द्वारा कहे गये वचनको सुनकर जिनेन्द्र भगवान्के चरणरूप कमलोंका भ्रमर (जिनेन्द्रभक्त) वह मनोवेग मधुर वाणीसे इस प्रकार बोला ॥३९॥

रक्त, द्विष्ट, मनोमूढ, व्युद्ग्राही, पित्तदूषित, चूत, क्षीर, अगुरु, चन्दन और बालिश ये दस मूर्ख जानने चाहिए ॥४०॥

३५) इ मानवेषु । ३६) अ ब बुद्धा, क बुधा । ३७) इ शङ्किष्ट । ३८) अ यद्युक्त्वा । ४०) अ क ड दुष्टो, ब द्विष्टो; क ड मतो मूढो, ड क्षीरागुरः ज्ञेयाश्चंदना; क ड इ बालिशा ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वापरविचारेण तिर्यञ्च इव वर्जिताः[1] ।
सन्त्यमी यदि युष्मासु तदा वक्तुं बिभेम्यहम् ॥४१

मनुष्याणां तिरश्चां च परमेतद्विभेदकम् ।
विवेचयन्ति[1] यत्सर्वं प्रथमा[2] नेतरे[3] पुनः ॥४२

पूर्वापरविचारज्ञा मध्यस्था धर्मकाङ्क्षिणः ।
पक्षपातविनिर्मुक्ता भव्याः सभ्याः[1] प्रकीर्तिताः ॥४३

सुभाषितं[1] सुखाधायि[2] मूर्खेषु विनियोजितम् ।
ददाति महतीं पीडां पयःपानमिवाहिषु[3] ॥४४

पर्वते जायते पद्मं सलिले जातु पावकः ।
पीयूषं कालकूटे च विचारस्तु न बालिशे[1] ॥४५

कीदृशाः सन्ति ते[1] साधो द्विजैरिति निवेदिते ।
वक्तुं प्रचक्रमे[2] खेटो रक्तद्विष्टादिचेष्टितम् ॥४६

४१) १. मूढा ।
४२) १. विचारयन्ति देवकुदेवादिपृथक्करणे मनुष्याः, तिर्यश्चः न । २. मनुष्याः । ३. तिर्यञ्चः ।
४३) १. सभायाः योग्याः ; क सभायां साधवः ।
४४) १. क सुष्ठु वचनम् । २. क स्थापितं; सुखकर । ३. सर्पेषु ।
४५) १. क मूर्खे ।
४६) १. मूर्खाः । २. प्रारेभे ।

ये मूर्ख पशुओंके समान पूर्वापरविचारसे रहित होते हैं । वे यदि आप लोगोंके बीचमें हैं तो मैं कुछ कहनेके लिए डरता हूँ ॥४१॥

मनुष्यों और पशुओंमें केवल यही भेद है कि प्रथम अर्थात् मनुष्य तो सब कुछ विचार करते हैं, किन्तु दूसरे (पशु) कुछ भी विचार नहीं करते हैं ॥४२॥

जो भव्य मनुष्य पूर्वापरविचारके ज्ञाता, राग-द्वेषसे रहित, धर्मके अभिलाषी तथा पक्षपातसे रहित होते हैं वे ही सभ्य सदस्य (सभामें बैठनेके योग्य) कहे गये हैं ॥४३॥

यदि मूर्खोंके विषयमें सुखदायक सुन्दर वचनका भी प्रयोग किया जाता है तो भी वह इस प्रकारसे महान् पीड़ाको देता है जिस प्रकार कि सर्पोंको पिलाया गया दूध महान् पीड़ाको देता है ॥४४॥

कदाचित् पर्वतके ऊपर कमल उत्पन्न हो जावे, जलमें आग उत्पन्न हो जावे और या कालकूट विषमें अमृत उत्पन्न हो जावे; परन्तु कभी मूर्ख पुरुषमें विचार नहीं उत्पन्न हो सकता है ॥४५॥

हे सत्पुरुष ! वे रक्तादि दस प्रकारके मूर्ख कैसे होते हैं, इस प्रकार उन ब्राह्मणोंके पूछनेपर उस मनोवेग विद्याधरने उक्त रक्त व द्विष्ट आदि मूर्ख पुरुषोंकी चेष्टा (स्वरूप) को कहना प्रारम्भ किया ॥४६॥

४६) क ड रक्तदुष्टादि[2], अ रक्तदुष्टादिवेरितं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामन्तनगरस्थायी रेवाया[1] दक्षिणे तटे ।
ग्रामकूटो बहुद्रव्यो बभूव बहुधान्यकः ॥४७

सुन्दरी च कुरङ्गी च तस्य भार्ये बभूवतुः ।
भागीरथी[1] च गौरी च शम्भोरिव मनोरमे ॥४८

कुरङ्गीं तरुणीं प्राप्य वृद्धां तत्याज[1] सुन्दरीम् ।
सरसायां हि लब्धायां विरसां को निषेवते ॥४९

सुन्दरी भणिता तेन[1] गृहीत्वा भागमात्मनः[2] ।
ससुता तिष्ठ भद्रे त्वं विभक्ता[3] भवनान्तरे ॥५०

साध्वी तथा स्थिता सापि स्वामिना गदिता यथा ।
शीलवत्यो न कुर्वन्ति भर्तृवाक्यव्यतिक्रमम्[1] ॥५१

अष्टौ तस्या[1] बलीवर्दा[2] वितीर्णा[3] दश धेनवः ।
द्वे दास्यौ हालिकौ द्वौ च मन्दिरं सोपचारकम्[4] ॥५२

४७) १. क रेवानदी ।
४८) १. गंगा ।
४९) १. क असौ ग्रामकूटः ।
५०) १. क ग्रामकूटेन । २. स्वस्य । ३. भिन्ना ।
५१) १. क भर्तारिकवचनउल्लङ्घनम् ।
५२) १. क सुन्दर्याः । २. क वृषभाः । ३. दत्ताः । ४. उपकरणसहितम्; क बहुधान्यकम् ।

रेवा नदीके दक्षिण किनारेपर एक सामन्त नगर है । उसका स्वामी एक बहुधान्यक नामका ग्रामकूट (शूद्र) था जो बहुत धन और धान्यसे सम्पन्न था ॥४७॥

जिस प्रकार महादेवके गंगा और पार्वती ये दो मनोहर पत्नियाँ हैं उसी प्रकार उसके सुन्दरी और कुरंगी नामकी दो रमणीय स्त्रियाँ थीं ॥४८ ।

इनमें कुरंगी युवती और सुन्दरी वृद्धा थी । तब उसने युवती कुरंगीको स्वीकार कर सुन्दरीका परित्याग कर दिया । ठीक है—सरस स्त्रीके प्राप्त होनेपर भला नीरस स्त्रीका सेवन कौन करता है ? कोई नहीं करता ॥४९॥

उसने सुन्दरीसे कहा कि हे भद्रे ! तू अपना हिस्सा लेकर पुत्रके साथ अलगसे दूसरे मकानमें रह ॥५०॥

तब उत्तम स्वभाववाली वह सुन्दरी भी जैसा कि पतिने कहा था तदनुसार अलग मकानमें रहने लगी । ठीक है—शीलवती स्त्रियाँ कभी अपने पतिकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं करती हैं ॥५१॥

उस समय ग्रामकूटने उसे आठ बैल, दस गायें, दो दासियाँ, दो हलवाहे (हल चलानेवाले) और एक उपकरणयुक्त घर दिया ॥५२॥

४७) अ °नगरस्वामी, इ °नगरस्थाया । ४८) अ ब ड इ भागीरथीव गौरीव । ५०) ब भुवनान्तरे । ५१) अ ब क शीलवंत्यो ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भुञ्जानः काङ्क्षितं भोगं कुरङ्ग्या स[1] विमोहितः[2] ।
न विवेद गतं कालं वारुण्येव[3] मदातुरः[4] ॥५३
आसाद्य सुन्दराकारां तां प्रियां नवयौवनाम् ।
पौलोम्यालिङ्गितं[1] शक्रं स मेने[2] नात्मनो ऽधिकम् ॥५४
युवती राजते नारी न वृद्धे पुरुषे रता ।
किं विभाति स्थिता जीर्णे कम्बले नेत्रपट्टिका[1] ॥५५
अवज्ञाय जरां योषां[1] तरुणीं यो निषेवते ।
विपदा पीड्यते सद्यो ददात्याशु सदा व्यथाम्[2] ॥५६
तरुणीतः परं नास्ति वृद्धस्यासुखवर्धकम् ।
वह्निज्वालामपाकृत्य किं परं तापकारणम् ॥५७
तरुणीसंगपर्यन्ता वृद्धानां जीवितस्थितिः ।
वज्रवह्निशिखासंगे स्थितिः शुष्कतरोः कुतः ॥५८

५३) १. बहुधान्यकः नाम । २. सन् । ३. क मदिरया । ४. पीडितः मोहितः प्राणी ।
५४) १. इन्द्राण्यालिङ्गितं इन्द्रम् । २. ज्ञातवान् ।
५५) १. पट्टकूल ।
५६) १. जरामेव स्त्रियम् । २. कष्टम् ।

उधर कुरंगीमें आसक्त होकर इच्छानुसार भोगको भोगते हुए उसका बहुत-सा समय इस प्रकार बीत गया जिस प्रकार कि शराबके नशेमें चूर होकर शराबीका बहुत समय बीत जाता है और उसे भान नहीं होता है ॥५३॥

वह ग्रामकूट सुन्दर आकृतिको धारण करनेवाली और नवीन यौवन (जवानी) से विभूषित उस प्यारी पत्नीको पाकर इन्द्राणीसे आलिंगित इन्द्रको भी अपनेसे अधिक नहीं मानता था—उसे भी अपनेसे तुच्छ समझने लगा था ॥५४॥

पुरुषके वृद्ध हो जानेपर उसमें अनुरक्त स्त्री सुशोभित नहीं होती है । ठीक है—पुराने कम्बलमें स्थित रेशमी वस्त्र क्या कभी शोभायमान होता है ? नहीं होता है ॥५५॥

जो जरारूप स्त्रीका तिरस्कार करके युवती स्त्रीका सेवन करता है वह शीघ्र ही विपत्तिसे पीड़ित किया जाता है । उसे वह युवती निरन्तर कष्ट दिया करती है ॥५६॥

युवती स्त्रीको छोड़कर दूसरी कोई भी वस्तु वृद्ध पुरुषके दुखको बढ़ानेवाली नहीं है—उसे सबसे अधिक दुख देनेवाली वह युवती स्त्री ही है । ठीक है—अग्निकी ज्वालाको छोड़कर और दूसरा सन्तापका कारण कौन हो सकता है ? कोई नहीं ॥५७॥

वृद्ध पुरुषोंके जीवनकी स्थितिका अन्त—उनकी मृत्यु—उक्त युवती स्त्रियोंके ही संयोगसे होता है । ठीक है—वज्राग्निकी शिखाका संयोग होनेपर भला सूखे वृक्षकी स्थिति कहाँसे रह सकती है ? नहीं रह सकती ॥५८॥

५४) ब नात्मनाधिकं । ५५) क स्थिरा; अ °पट्टिकाः,° ब पत्रिका । ५६) ब क ड ददत्याशु । ५७) इ °ज्वालामुपा° । ५८) ड वज्रं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुरङ्गीवदनाम्भोजं स्नेहादित्यप्रबोधितम्[1] ।
तस्यावलोकमानस्य स्कन्धावारो[2] ऽभवत्प्रभोः[3] ॥५९

विषयस्वामिनाहूय भणितो बहुधान्यकः ।
स्कन्धावारं व्रज क्षिप्रं सामग्रीं त्वं कुरूचिताम् ॥६०

स तत्वैवं करोमीति निगद्य गृहमागतः ।
आलिङ्ग्य वल्लभां गाढमुवाच रहसि स्थिताम् ॥६१

कुरङ्गि तिष्ठ गेहे त्वं स्कन्धावारं व्रजाम्यहम् ।
स्वस्वामिनां हि नादेशो लङ्घनीयः सुखार्थिभिः ॥६२

कटकं मम संपन्नं स्वामिनस्तत्र सुन्दरि ।
अवश्यमेव गन्तव्यं परथा कुप्यति प्रभुः ॥६३

आकर्ण्येति वचस्तन्वी सा बभाषे विषण्णधीः[1] ।
मयापि नाथ गन्तव्यं त्वया सह विनिश्चितम् ॥६४

शक्यते सुखतः सोढुं प्लोषमाणो[1] विभावसुः[2] ।
वियोगो न पुनर्नाथ तापिताखिलविग्रहः ॥६५

५९) १. विकसितम् । २. कटकम् । ३. राज्ञः ।
६०) १. देशाधिपेन ।
६४) १. व्याकुलधीः ।
६५) १. दह्यमानो । २. क अग्निः ।

बहुधान्यकके अनुरागरूप सूर्यके द्वारा विकासको प्राप्त हुए उस कुरंगीके मुखरूप कमलका अवलोकन करते हुए राजाके कटकका अवस्थान हुआ ॥५९॥

तब उस देशके राजाने बहुधान्यकको बुलाकर उससे कहा कि तुम कटकमें जाओ और समुचित सामग्रीको तैयार करो ॥६०॥

उस समय वह राजाको नमस्कार करके यह निवेदन करता हुआ कि मैं ऐसा ही करता हूँ, घर आ गया। वहाँ वह एकान्तमें स्थित प्रियाका गाढ़ आलिंगन करके उससे बोला कि हे कुरंगी ! तू घरमें रहना, मैं कटकमें जाता हूँ, क्योंकि जो सुखकी इच्छा करते हैं उन्हें कभी अपने स्वामीकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं करना चाहिए ॥६१-६२॥

हे सुन्दरी ! मेरे स्वामीका कटक सम्पन्न है, मुझे वहाँ अवश्य जाना चाहिए, नहीं तो राजा क्रोधित होगा ॥६३॥

बहुधान्यकके इन वचनोंको सुनकर वह कृश शरीरवाली कुरंगी खिन्न होकर बोली कि हे स्वामिन् ! तुम्हारे साथ मुझे भी निश्चयसे चलना चाहिए ॥६४॥

हे नाथ ! कारण इसका यह है कि जलती हुई अग्निको तो सुखसे सहा जा सकता है, किन्तु समस्त शरीरको सन्तप्त करनेवाला तुम्हारा वियोग नहीं सहा जा सकता है ॥६५॥

६१) ब मत्वैवं; अ निवेद्य । ६२) क ड स्कन्धावारे । ६३) इ नान्यथा । ६५) ब विभासुरः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वरं मृता तवाध्यक्षं[1] प्रविश्य ज्वलने विभो ।
न[2] परोक्षे[3] तव क्षिप्रं मारिता विरहारिणा ॥६६
एकाकिनीं स्थितामत्र मां निशुम्भति[1] मन्मथः ।
कुरङ्गीमिव पञ्चास्यः[2] कानने शरणोज्झिताम् ॥६७
यदि गच्छसि गच्छ त्वं पन्थानः सन्तु ते शिवाः[1] ।
ममापि जीवितव्यस्य गच्छतो यममन्दिरम् ॥६८
ग्रामकूटस्ततो ऽवादीन्मैवं वादीर्मृगेक्षणे ।
स्थिरीभूय गृहे तिष्ठ मा कार्षीर्गमने मनः ॥६९
परस्त्रीलोलुपो राजा त्वां गृह्णातीक्षितां यतः ।
स्थापयित्वा ततः कान्ते त्वां गच्छामि निकेतने ॥७०
त्वादृशीं विभ्रमाधारां दृष्ट्वा गृह्णाति पार्थिवः ।
अनन्यसदृशाकारं स्त्रीरत्नं को विमुञ्चति ॥७१
संबोध्येति प्रियां मुक्त्वा स्कन्धावारमसौ गतः ।
ग्रामकूटपतिर्गेहं समर्प्य धनपूरितम् ॥७२

६६) १. समीपम् । २. वरं न । ३. देशान्तरं गते ।
६७) १. पीडयति । २. सिंहः ।
६८) १. कल्याणकारिणः ।

हे स्वामिन् ! तुम्हारे देखते हुए अग्निमें प्रविष्ट होकर मर जाना अच्छा है, किन्तु तुम्हारे बिना वियोगरूप शत्रुके द्वारा शीघ्र मारा जाना अच्छा नहीं है ॥६६॥

यहाँ अकेले रहनेपर मुझे कामदेव इस तरहसे मार डालेगा जिस प्रकार कि जंगलमें रक्षकसे रहित हिरणीको सिंह मार डालता है ॥६७॥

फिर भी यदि तुम [मुझे अकेली छोड़कर] जाते हो तो जाओ, तुम्हारा मार्ग कल्याणकारक हो । इधर यमराजके घरको जानेवाले मेरे जीवनका भी मार्ग कल्याणकारक हो—तुम्हारे बिना मेरी मृत्यु निश्चित है ॥६८॥

कुरंगीके इन वचनोंको सुनकर वह बहुधान्यक बोला कि हे मृग जैसे नेत्रोंवाली ! तू इस प्रकार मत बोल, तू स्थिर होकर घरपर रह और मेरे साथ जानेकी इच्छा न कर ॥६९॥

कारण यह है कि राजा परस्त्रीका लोलुपी है, वह तुझे देखकर ग्रहण कर लेगा । इसीलिए मैं तुझे घरपर रखकर जाता हूँ ॥७०॥

राजा तुम जैसी विलासयुक्त स्त्रीको देखकर ग्रहण कर लेता है । ठीक है—अनुपम आकृतिको धारण करनेवाली स्त्रीरूप रत्नको भला कौन छोड़ता है ? कोई नहीं छोड़ता ॥७१॥

इस प्रकार वह ग्रामकूट अपनी प्रिया (कुरंगी) को समझाकर और वहींपर छोड़कर धनसे परिपूर्ण घरको उसे समर्पित करते हुए कटकको चला गया ॥७२॥

६६) अ मृतं, क इ तवाध्यक्षे । ६८) अ सन्ति....जीवितस्यास्य....गच्छता । ७१) अ विमुञ्चते; इ हि for वि । ७२) इ प्रियामुक्त्वा ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अयं धर्मः सरागस्य यदवाप्य मनीषितम् ।
न विश्वसिति[1] कस्यापि वियोगे च मुमूर्षति[2] ॥७३

मण्डलो मण्डलीं प्राप्य मन्यते भुवनाधिकम् ।
भषति ग्रहणत्रस्तो दीनः स्वर्गपतेरपि ॥७४

नीचः कलेवरं लब्ध्वा कृमिजालमलाविलम्[1] ।
कपिलो[2] मन्यते दीनः पीयूषमपि दूरसम् ॥७५

रक्तो[1] यो यत्र तस्यासौ कुरुते रक्षणं परम् ।
काकः पालयते किं न विष्ठां संगृह्य सर्वतः ॥७६

सुन्दरं मन्यते रक्तो विरूपमपि मूढधीः ।
गवास्थि ग्रसते श्वा हि मन्यमानो रसायनम् ॥७७

चिक्रीड सा[1] विटैः सार्धं सदेहैरिव[2] दुर्नयैः ।
गते भर्तरि निःशङ्का मन्मथादेशकारिणी ॥७८

भोजनानि विचित्राणि धनानि वसनानि च ।
सा विटेभ्यो ददाति स्म कृतकाममनोरथा[1] ॥७९

७३) १. विश्वासं करोति । २. मृत्युम् इच्छति ।
७५) १. सान्द्रम् । २. क कुर्कुरः; शृगालः ।
७६) १. प्रीतः ।
७८) १. कुरङ्गी । २. शरीरसहितदुर्नयैरिव ।
७९) १. कृतः कामस्य मनोरथो यस्य [यया] ।

यह रागी प्राणीका स्वभाव होता है कि वह अभीष्टको प्राप्त करके किसीका भी विश्वास नहीं करता है तथा उसके वियोगमें मरनेकी अभिलाषा करता है ॥७३॥

कुत्ता कुत्तीको पाकर के वह उसे संसारमें सबसे श्रेष्ठ मानता है। वह बेचारा उसके ग्रहणसे भयभीत होकर इन्द्रको भी गुर्राता है ॥७४॥

बेचारा नीच कुत्ता कीड़ोंके समूहके मैलेसे मलिन मृत शरीर (शव) को पाकर अमृतको भी दूषित स्वादवाला मानता है ॥७५॥

जो प्राणी जिसके विषयमें अनुरक्त होता है वह उसकी पूरी रक्षा करता है। ठीक है—कौआ क्या विष्ठाका संग्रह करके उसकी सबसे रक्षा नहीं करता है ? करता है ॥७६॥

अनुरागी मनुष्य मूढबुद्धि होकर कुरूपको भी सुन्दर मानता है। ठीक है—कुत्ता गायकी हड्डीको रसायन मानकर खाया (चबाया) करता है ॥७७॥

पतिके चले जानेपर वह कुरंगी कामकी आज्ञाका पालन करती हुई शरीरधारी दुर्नयों (अन्यायों) के समान व्यभिचारी जनोंके साथ निर्भय होकर रमण करने लगी ॥७८॥

कामकी इच्छाको पूर्ण करनेवाली वह कुरंगी उन जार पुरुषोंके लिए अनेक प्रकारके भोजनों, धनों और वस्त्रोंको भी देने लगी ॥७९॥

७३) ब समवाप्य; अ वि for च । ७६) ब तस्यापि । ७९) ब क इ °मनोरथाः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ददाति या निजं देहं संस्कृत्य[1] चिरपालितम् ।
रक्तताया द्रविणं तस्या ददत्याः को ऽपि न श्रमः ॥८०
वासरैर्नवदशैरपि रक्ता जारलोकनिवहाय वितीर्य ।
खादति स्म सकलं धनराशिं किंचनापि भवने न मुमोच ॥८१
कामबाणपरिपूरितदेहा सा चकार वसतिं[1] हतबुद्धिः ।
कुप्यभाण्डधनधान्यविहीनां मूषकव्रजविहारधरित्रीम् ॥८२
सर्वतो ऽपि विजहार[1] विशङ्का संयुता विटगणैर्मदनार्ता ।
यत्र तत्र पशुकर्मविषक्ता नचिकीव[3] वृषभैर्मदनार्तैः ॥८३
पत्युरागममवेत्य विटौघैः[1] सा विलुण्ठ्य सकलानि धनानि ।
मुच्यते स्म बदरी[2] दरयुक्तैस्तस्करैरिव फलानि पथिस्था[3] ॥८४
सा विबुध्य दयितागमकालं कल्पितोत्तमसतीजनवेषा ।
तिष्ठति स्म भवने त्रपमाणा[1] वञ्चना हि सहजा वनितानाम् ॥८५

८०) १. शृङ्गारसहितं विधाय ।
८२) १. गृहम् ।
८३) १. भ्रमति स्म । २. क मैथुनकर्म । ३. नूतनगौः, रजस्वला गौः; गाय ।
८४) १. क पुरुषैः । २. भययुतैः । ३. क पंथीजनाः ।
८५) १. लज्जमाना ।

जो स्त्री चिरकालसे रक्षित अपने शरीरको अलंकृत करके जार पुरुषोंके लिए दे सकती है उस अनुरागिणीको भला धन देनेमें कौन सा परिश्रम होता है ? कुछ भी नहीं ॥८०॥

इस प्रकारसे अनुरक्त होकर कुरंगीने नौ-दस दिनमें ही उन जार पुरुषोंके समूहको समस्त धनकी राशिको देकर खा डाला और घरमें कुछ भी नहीं छोड़ा ॥८१॥

उस मूर्खाने कामसे सन्तप्त होकर अपने घरको वस्त्र-बर्तन और धन-धान्यसे रहित कर दिया—उन जार पुरुषोंके लिए सब कुछ दे डाला। अब वह घर केवल चूहोंके घूमने-फिरनेका स्थान बन रहा था ॥८२॥

वह कुरंगी कामसे पीड़ित होती हुई निर्भय होकर जार पुरुषोंके साथ सब ओर घूमने-फिरने लगी और जहाँ-तहाँ पशुओं जैसा आचरण इस प्रकारसे करने लगी जिस प्रकार कि उत्तम गाय कामसे पीड़ित अनेक बैलोंके साथ किया करती है ॥८३॥

तत्पश्चात् जब जारसमूहको उसके पतिके आनेका समाचार ज्ञात हुआ तब भयभीत होते हुए उन सबने उसके समस्त धनको लूटकर उसे इस प्रकारसे छोड़ दिया जिस प्रकार कि भयभीत चोर फलोंको लूटकर मार्गकी बेरीको छोड़ देते हैं ॥८४॥

तब कुरंगीने पतिके आनेके समयको जानकर अपना ऐसा वेष बना लिया जैसा कि वह उत्तम पतिव्रताजनोंका हुआ करता है। फिर वह लज्जा करती हुई भवनके भीतर स्थित हो गयी। ठीक है—धोखा देना, यह स्त्रियोंके स्वभावसे ही होता है ॥८५॥

८०) अ ब या ददाति; क ड इ रक्तापि । ८१) ब क ड इ भुवने । ८२) अ ब मूषिक । ८३) अ निषक्ता नैचकीव । ८४) अ विलुम्प्य; अ बदरैर्दर, बदरीवर । ८५) ब सावबुध्य ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सा तथा स्थितवती शुभवेषा को ऽपि वेत्ति न यथा कुलटेति ।
या विमोहयति शक्रमपि स्त्री मानवेषु गणनास्ति न तस्याः ॥८६
साधिताखिलनिजेश्वरकार्यो वल्लभान्तिकमसौ बहुधान्यः ।
एकमेत्य पुरुषं[1] प्रजिघाय[2] ग्रामबाह्यतरुखण्डनिविष्टः ॥८७
तामुपेत्य[1] निजगाद स नत्वा वल्लभस्तव कुरङ्गि समेतः[2] ।
भोजनं लघु[3] विधेहि विचित्रं प्रेषितः कथयितुं तव[4] वार्ताम् ॥८८
तस्य वाक्यमवधार्य विदग्धा जल्पति स्म पुरुषं कुटिला सा ।
ज्यायसीं[1] त्वमभिधेहि महेलां[2] निन्द्यते[3] क्रमविलङ्घनमार्यैः ॥८९
सा समेत्य सह तेन तदन्तं भाषते स्म तव सुन्दरि भर्ता ।
आगतो बहुरसं कुरु भोज्यं भोक्ष्यते ऽद्य तव सद्मनि पूर्वम् ॥९०
सुन्दरी निगदति स्म कुरङ्गीं कल्पयामि कलभाषिणि भोज्यम् ।
चारुयौवनमिवोज्ज्वलवर्णं भोक्ष्यते न परमेष पतिस्ते ॥९१

८७) १. विप्रम् । २. प्रेषयामास ।
८८) १. प्राप्य । २. आगतः । ३. क शीघ्रम् । ४. तवाग्रे ।
८९) १. अग्रवल्लभामभिधेहि कथय । २. क बड़ी स्त्रियों । ३. क आज्ञा उल्लङ्घन बड़ोंकी करै नहीं

वह उत्तम वेषको धारण करके इस प्रकारसे स्थित हो गयी कि जिससे कोई यह न समझ सके कि यह दुराचारिणी है । ठीक है—जो स्त्री इन्द्रको भी मुग्ध कर लेती है उसके भला मनुष्योंमें क्या गिनती है ? वह मनुष्योंको तो सरलतासे ही मुग्ध कर लेती है ॥८६॥

उधर अपने स्वामीके कार्यको सिद्ध करके वह बहुधान्यक वापस आ गया । वह उस समय गाँवके बाहर वृक्षसमूहके मध्यमें ठहर गया । आनेकी सूचना देनेके लिए उसने एक पुरुषको अपनी प्रियतमा (कुरंगी) के पास भेज दिया ॥८७॥

वह आकर नमस्कार करता हुआ बोला कि हे कुरंगी ! तेरा प्रियतम आ गया है । उसने शीघ्र ही अनेक प्रकारका उत्तम भोजन बना । इस वार्ताको कहनेके लिए उसने मुझे तेरे पास भेजा है ॥८८॥

उसके वाक्यसे पतिके आनेका निश्चय करके वह चतुर कुरंगी कुटिलतापूर्वक उस पुरुषसे बोली कि तुम ज्येष्ठ पत्नीसे जाकर कहो । कारण यह कि सज्जन पुरुष क्रमके उल्लंघन की निन्दा किया करते हैं ॥८९॥

इस प्रकार कहकर वह उसके साथ आयी और बोली कि हे पूज्य सुन्दरि ! तुम्हारा पति वापस आ गया है । तुम उसके लिए बहुत रसोंसे संयुक्त भोजन बनाओ, वह तुम्हारे घरपर भोजन करेगा ॥९०॥

यह सुनकर सुन्दरी उस कुरंगीसे बोली कि हे मधुर भाषण करनेवाली कुरंगी ! मैं उज्ज्वल वर्णवाले यौवनके समान भोजनको बनाती तो हूँ, किन्तु यह तेरा पति यहाँ भोजन करेगा नहीं ॥९१॥

८७) ड नरेश्वर[2] । ८९) क महेलीं; अ ड कुटिलास्या । ९०) अ क ड इ भोज्यते; ड वेश्मनि; अ पूज्ये for पूर्व । ९१) क इ भोज्यते ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सा विहस्य सुभगा पुनरूचे मन्यते स यदि मां स्फुटमिष्टाम् ।
वाक्यतो मम तदा महनीये भोक्ष्यते तव गृहे कुरु भोज्यम् ॥९२
वाक्यमेतदवगम्य[1] तदीयं सा ससाध[2] विविधं शुभमन्नम् ।
सज्जना हि सकलं निजतुल्यं प्राञ्जलं[3] विगणयन्ति जनौघम् ॥९३
छद्मना निजगृहं धनहीनं सा [1]न्यगूहयदलक्षितदोषा ।
छादयन्ति वनिता निकृतिस्था[2] दूषणानि सकलानि निजानि ॥९४
धर्ममार्गमपहाय निहीना[1] सा[2] ववञ्च पतिमुल्बणदोषा ।
पापिनो हि न कदाचन जीवा जानते ऽमितगतिं भवदुःखम् ॥९५

इति धर्मपरीक्षायाममितगतिकृतायां
चतुर्थः परिच्छेदः ॥४

---

९३) १. क ज्ञात्वा । २. रन्धयामास । ३. क प्राञ्जलं सरलं ऋजुरित्यमरः ।
९४) १. क आच्छादयत् । २. क कपटस्था; मायासहिता ।
९५) १. क नीचा । २ क कुरङ्गी ।

यह सुनकर कुरंगीने कुछ हँसकर फिरसे कहा कि हे पूज्ये ! यदि वह सचमुचमें मुझे प्यारी मानता है तो मेरे कहनेसे वह तुम्हारे घरपर भोजन करेगा। तुम भोजनको बनाओ ॥९२॥

तब सुन्दरीने उसके इस वाक्यको सुनकर अनेक प्रकारका उत्तम भोजन बनाया। ठीक है—सज्जन मनुष्य समस्त जनसमूहको अपने समान ही सरल समझते हैं ॥९३॥

इस प्रकारसे उस कुरंगीने अपने दोषको गुप्त रखकर छलपूर्वक अपने उस धनहीन घरको प्रगट नहीं होने दिया। ठीक है—मायाव्यवहारमें निरत स्त्रियाँ अपने सब दोषोंको आच्छादित किया करती हैं ॥९४॥

इस प्रकार भयंकर दोषोंसे परिपूर्ण उस अधम कुरंगीने धर्मके मार्गको छोड़कर पतिको धोखेमें रखा। ठीक है—पापी जीव कभी अपरिमित गतियोंमें घूमनेके दुखको नहीं जानते हैं ॥९५॥

इस प्रकार अमितगतिविरचित धर्मपरीक्षामें चतुर्थ
परिच्छेद समाप्त हुआ ॥४॥

---

९२) क इ भोज्यते । ९४) इ न्यगूह्यदल[2]....सकलानि धनानि । ९५) क ड इ विहीना ; इ किमु for हि न; ब ड ऽमितगतिभ्रमदुःखं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रामकूटो ऽथ सोत्कण्ठो मन्मथव्यथिताशयः[1] ।
आगत्य तरसा दिष्ट्या[2] कुरङ्गीभवनं गतः ॥१

बलाहकैरिव व्योम पौरैरिव पुरोत्तमम् ।
धनधान्यादिभिर्हीनमीक्षमाणो ऽपि मन्दिरम् ॥२

कुरङ्गीमुखराजीवं[1]दर्शनाकुलमानसः ।
अद्राक्षीदेष[2] मूढात्मा चक्रवर्तिगृहाधिकम् ॥३

सो ऽमन्यत प्रियं यन्मे तदेषा[1] कुरुते प्रिया ।
न पुनस्तत्प्रियं सर्वं यदेषा[2] कुरुते न मे ॥४

न किंचनेदमाश्चर्यं यन्नेक्षन्ते परं नराः ।
नात्मानमपि पश्यन्ति रागान्धीकृतलोचनाः ॥५

---

१) १. क कामपीडितचेताः २. आनन्देन ।
२) १. क बकपङ्क्तिभिः ; हीनं रहितमिव ।
३) १. मुखकमल । २. बहुधान्यः एवं मन्यते ।
४) १. कुरङ्गी । २. सुन्दरी [?] !

तत्पश्चात् वह बहुधान्यक ग्रामकूट हृदयमें कामकी व्यथासे पीड़ित होकर उत्सुकता पूर्वक आया और सहर्ष वेगसे कुरंगीके घरपर जा पहुँचा ॥१॥

वह मूर्ख मेघोंसे रहित आकाश एवं पुरवासीजनोंसे रहित उत्तम नगरके समान धन-धान्यादिसे रहित कुरंगीके उस घरको देखता हुआ भी चूँकि मनमें उसके मुखरूप कमलके देखनेमें अतिशय व्याकुल था; अत एव उसे वह घर चक्रवर्तीके घरसे भी अधिक सम्पन्न दिखा ॥२–३॥

वह यह समझता था कि मुझको जो अभीष्ट है उसे यह मेरी प्रियतमा करती है । तथा यह मेरे लिए जो कुछ भी करती नहीं है वह सब उसके लिए प्रिय नहीं है ॥४॥

जिनके नेत्र रागसे अन्धे हो रहे हैं वे मनुष्य यदि किसी दूसरेको नहीं देखते हैं तो यह कुछ आश्चर्यकी बात नहीं है, क्योंकि, वे तो अपने आपको भी नहीं देखते हैं—अपने हिताहितको भी नहीं जानते हैं ॥५॥

---

१) इ ऽप्यनुत्कण्ठो; ब °व्यषिताशयः; क हृष्ट्या for दिष्ट्या । ३) अ इ गृहादिकं । ४) ड इ स मन्यते; ब क तन्मे; क यदेषा for तदेषा; अ ड इ मम, ब खलु for न मे ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न जानाति नरो रक्तो धर्मं कृत्यं सुखं गुणम् ।
वस्तु हेयमुपादेयं यशोद्रव्यगृहक्षयम् ॥६
स्वीकरोति पराधीनमात्माधीनं विमुञ्चति ।
पातके रमते रागी धर्मकार्यं विमुञ्चति ॥७
रागाक्रान्तो नरः क्षिप्रं लभते विपदं पराम् ।
सामिषे[1] किं गले लग्नो मीनो याति न पञ्चताम् ॥८
दुर्निवारैः शरैरक्तं[1] निशुम्भति[2] मनोभवः ।
युक्तायुक्तमजानन्तं कुरङ्गमिव लुब्धकः[4] ॥९
सज्जनैः शोच्यते रक्तो दुर्जनैरुपहस्यते[1] ।
सदाभिभूयते[2] लोकैः कां वा प्राप्नोति नापदम् ॥१०
मत्वेति दूषणं रागः शश्वद्धेयः[1] पटीयसा ।
पृदाकुस्त्यज्यते किं न जानानेन विषालयः[2] ॥११

८) १. मांसे ।
९) १. पुरुषम् । २. विध्यति-हन्ति; क पीडति । ३. क मृगम् । ४. क भिल्लः ।
१०) १. क निन्द्यते । २. पीड्यते ।
११) १. क त्याज्यः । २. सर्पः ।

रक्त (रागान्ध) मनुष्य धर्म, अनुष्ठेय कार्य, सुख, गुण, हेय व उपादेय वस्तु, यश तथा धन और घरके विनाशको भी नहीं जानता है ॥६॥

रागी मनुष्य पराधीन सुखको तो स्वीकार करता है और आत्माधीन (स्वाधीन) निराकुल सुखको छोड़ता है । वह धर्मकार्यसे विमुख होकर पापकार्यों में आनन्द मानता है ॥७॥

रागके आधीन हुआ मनुष्य शीघ्र ही महाविपत्तिको प्राप्त करता है । ठीक है—मछली मांससे लिप्त काँटेमें अपने गलेको फँसाकर क्या मृत्युको प्राप्त नहीं होती है ? होती ही है ॥८॥

जिस प्रकार व्याध तीक्ष्ण बाणोंके द्वारा हिरणको विद्ध करता है उसी प्रकार कामदेव योग्य-अयोग्यके परिज्ञानसे रहित रक्त पुरुषको अपने दुर्निवार बाणोंके द्वारा विद्ध करता हो—विषयासक्त करता है ॥९॥

रक्त पुरुषके विषयमें सज्जन खेदका अनुभव करते हैं—उसे कुमार्गपर जाता हुआ देखकर उन्हें पश्चात्ताप होता है, किन्तु दुर्जन मनुष्य उसकी हँसी किया करते हैं । उसका सब लोग तिरस्कार करते हैं । तथा ऐसी कौन-सी आपत्ति है जिसे वह न प्राप्त करता है—उसे अनेकों प्रकारकी आपत्तियाँ सहनी पड़ती हैं ॥१०॥

यह जानकर बुद्धिमान् मनुष्यको निरन्तर उस रागरूप दूषणका परित्याग करना चाहिए । ठीक है—जो सर्पको विषका स्थान (विषैला) जानता है वह विवेकी मनुष्य क्या उस सर्पका परित्याग नहीं करता है ॥११॥

६) अ ब जनो रक्तो; ब धर्मकृत्यं; गुणं सुखं । ७) ब पातकै....धर्मं । ९) अ ब °मजानानं । १०) क रप-हास्यते, ड इ उपहास्यते; ड सदा विभू° । ११) अ वृंदाकुः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लीलया भवनद्वारे स्थितो ऽध्यास्य[1] चतुष्किकाम् ।
स पश्यन्नुल्लसत्कान्ति प्रियावदनपङ्कजम् ॥१२

क्षणमेकमसौ स्थित्वा निजगाद मनःप्रियाम् ।
कुरङ्गि देहि मे[1] क्षिप्रं भोजनं किं विलम्बसे ॥१३

सा कृत्वा भृकुटीं भीमां यमस्येव धनुर्लताम् ।
अवादीत्कुटिलस्वान्ता कान्तं[1] पुरुषनाशिनी ॥१४

स्वमातुर्भवने तस्या भुङ्क्ष्व दुष्टमते व्रज ।
यस्या निवेदिता वार्ता पूर्वां पालयता स्थितिम् ॥१५

सुन्दर्याः स्वयमाख्याय वार्तां भर्त्रे चुकोप सा ।
योजयन्ति न कं दोषं जिते भर्तरि योषितः ॥१६

कृत्वा दोषं स्वयं दुष्टा पत्ये कुप्यति कामिनी ।
पूर्वमेव स्वभावेन स्वदोषविनिवृत्तये ॥१७

१२) १. आश्रितस्य ।

१३) १. मह्यम् ।

१४) १. भर्तारं प्रति ।

वह बहुधान्यक क्रीड़ापूर्वक जाकर कुरंगीके भवनके द्वारपर स्थित हो गया। फिर वह चौके (रसोईघर) में जाकर कान्तिमान् प्रियाके मुखरूप कमलको देखता हुआ क्षणभरके लिए वहाँ स्थित हो गया और मनको प्रिय लगनेवाली पत्नीसे बोला कि हे कुरंगी ! मुझे जल्दी भोजन दे, देर क्यों करती है ? ॥१२-१३॥

इस पर मनमें कुटिल अभिप्रायको रखनेवाली वह पुरुषोंकी घातक कुरंगी यमराजकी धनुर्लता (धनुषरूप बेल) के समान भृकुटीको भयानक करके पतिसे बोली कि हे दुर्बुद्धि ! अपनी उस माँके घरपर जा करके भोजन कर जिसके पास स्थितिका पालन करनेवाले तूने पहले आनेका समाचार भेजा है ॥१४-१५॥

इस प्रकार वह सुन्दरीसे स्वयं ही उसके आने की बात कह करके पतिके ऊपर क्रोधित हुई। ठीक है—पतिके अपने अधीन हो जानेपर स्त्रियाँ कौन-कौनसे दोषका आयोजन नहीं करती हैं ? अर्थात् वे पति को वशमें करके उसके ऊपर अनेक दोषोंका आरोपण किया करती हैं ॥१६॥

दुष्ट कामुकी स्त्री स्वयं ही अपराध करके अपने दोषको दूर करनेके लिए स्वभावसे पहले ही पतिके ऊपर क्रोध किया करती है ॥१७॥

१२) इ °कान्ति । १४) अ धनुर्गतां; ब न्यवादीत्; क परुषभाषिणी । १५) ब °र्भुवने ; ड सर्वां for पूर्वां ; अ पालयिता । १७) अ पत्यै ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा विचिन्त्य जल्पन्ति विलयाः[1] कुटिलाशयाः[2]।
ह्रियते भ्राम्यते चेतो यथा ज्ञानवतामपि ॥१८

क्रोधे मानमवज्ञां[1] स्त्री माने जानाति तत्त्वतः।
सम्यक्कर्तुमवज्ञायां स्थिरतां परदुष्कराम् ॥१९

योषया वर्ज्यते नीचो नरो रक्तो यथा यथा।
तस्यास्तथा तथा याति मण्डूक[1] इव संमुखम् ॥२०

कषाययति[1] सा रक्तं विचित्राश्चर्यकारिणी।
कषायितं पुनः पुंसां सद्यो रञ्जयते मनः ॥२१

प्रेम्णो विघटने शक्ता रामा संघटते पुनः।
योजयित्वा महात्तापमयस्कार इवायसम्[1] ॥२२

१८) १. स्त्रियः। २. कुटिलचित्ताः।

१९) १. अपमानम्।

२०) १. क मीडका इव।

२१) १. कषायिनं करोति।

२२) १. लोहस्य।

अन्तरंगमें दुष्ट अभिप्राय रखनेवाली स्त्रियाँ इस प्रकारसे विचार करके बोलती हैं कि जिससे जानकार पुरुषोंका भी चित्त भ्रान्तिको प्राप्त होकर हरा जाता है ॥१८॥

स्त्री क्रोधके अवसरपर मान करना जानती है। मानके समय (दूसरोंका) अपमान करना जानती है। और जब स्वयं स्त्रीका अपमान दूसरोंसे होता है, तब वह अच्छी तरहसे स्तब्ध रह सकती है कि जो स्तब्धता अन्य कोई नहीं पाल सकेगा ॥१९॥

स्त्री नीच रक्त पुरुषको जैसे-जैसे रोकती है वैसे-वैसे वह मेंढककी तरह उसके सन्मुख जाता है ॥२०॥

विचित्र आश्चर्यको करनेवाली स्त्री रक्त पुरुषको कषाय सहित करती है और तत्पश्चात् कषाय सहित पुरुषोंके मनको शीघ्र ही अनुरंजायमान करती है ॥२१॥

जिस प्रकार लुहार महातापकी योजना करके—अग्निमें अतिशय तपाकर—लोहेको तोड़ता है और उसे जोड़ता भी है उसी प्रकार स्त्री प्रेमके नष्ट करनेमें समर्थ होकर उसे फिरसे जोड़ भी लेती है ॥२२॥

१८) अ भाव्यते चेतो....ज्ञातवता°। १९) ब इ क्रोध°; अ स्वां मनो for स्त्री माने, क स्वमनो। २०) अ यथाथवा। २१) अ कषायितुं, ड कषायिना, इ कषायिता; इ पुंसो। २२) ब प्राप्ता विघटते; क ड इ संघटने; क ड इवायसः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स श्रुत्वा वचनं तस्या मूकीभूय व्यवस्थितः ।
संकोचितसमस्ताङ्गो बिडाल्या इव मूषकः ॥२३

सुखेन शक्यते सोढुं कुलिशाग्निशिखावली ।
न च वक्रीकृता दृष्टिर्नार्या भृकुटिभीषणा ॥२४

आलापिता[1] खला पुंसा संकोचितभुजद्वया ।
क्रुधा पूत्कुरुते रामा सर्पिणीव महाविषा ॥२५

ईदृश्यः सन्ति दुःशीला महेलाः पापतः सदा ।
पुंसां पीडाविधायिन्यो दुर्निवारा रुजा इव ॥२६

आगच्छ भुङ्क्ष्वेति तातेति तनूजेनैत्य[2] सादरम् ।
आकारितो[3] ऽप्यसौ मूकश्चिन्तावस्थ इव स्थितः ॥२७

पाखण्डं किं त्वयारब्धं खाद याहि प्रियागृहम् ।
तयेत्युक्तो गतो भीतः स सुन्दर्या निकेतनम् ॥२८

२५) १. आकारिता सती ।

२७) १. त्वम् । २. क आगत्य । ३. आहूतः ।

जिस प्रकार चूहा बिल्लीसे भयभीत होकर अपने सब अंगोपांगोंको संकुचित करता हुआ स्थित होता है उसी प्रकार वह बहुधान्यक कुरंगीके इन वचनोंको सुनकर अपने समस्त शरीरके अवयवोंको संकुचित करता हुआ चुपचाप स्थित रहा ॥२३॥

मनुष्य वज्र एवं अग्निकी ज्वालाओंको सुखपूर्वक सह सकता है, किन्तु स्त्रीकी भृकुटियोंसे भयंकर कुटिल दृष्टिको नहीं सह सकता है ॥२४॥

बुलायी गयी दुष्ट स्त्री महाविषैली सर्पिणीके समान क्रोधित होकर दोनों भुजाओंको संकुचित करती हुई पुरुषोंको फुंकार मारती है ॥२५॥

पापके उदयसे उत्पन्न हुई इस प्रकारकी दुष्ट स्वभाववाली महिलाएँ असाध्य रोगके समान पुरुषोंको निरन्तर कष्ट दिया करती हैं ॥२६॥

हे पिताजी ! आओ भोजन करो, इस प्रकार पुत्रके द्वारा आकर आदर पूर्वक बुलाये जानेपर भी वह बहुधान्यक चुपचाप इस प्रकार बैठा रहा जैसे मानो वह चित्रलिखित ही हो ॥२७॥

अरे पाखण्डी ! तूने यह क्या ढोंग प्रारम्भ किया है ? जा, अपनी प्रियाके घरपर खा । इस प्रकार कुरंगीके कहनेपर वह भयभीत होकर सुन्दरीके घर गया ॥२८॥

२३) इ बिडालादिव । २४) अ ब न तु । २५) अ पुंसां; अ ब इ क्रुद्धा; ब क फूत्कुरुते । २६) ब ड महिला, क महिलाः । २७) अ इ तनुजे°; अ °चित्रावस्थ° ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशालं कोमलं दत्तं तया तस्य वरासनम् ।
कुर्वत्या परमं स्नेहं स्वचित्तमिव निर्मलम् ॥२९
अमत्राणि[1] विचित्राणि पुरस्तस्य निधाय सा ।
भव्यं विश्राणयामास तारुण्यमिव भोजनम् ॥३०
वितीर्णं तस्य सुन्दर्या नाभवद्रुचये ऽशनम् ।
अभव्यस्येव सम्यक्त्वं जिनवाचा विशुद्धया ॥३१
ममानिष्टं करोत्येषा[1] सर्वमेवमबुध्यत ।
न पुनस्तत्तथानिष्टं यदेषा[2] कुरुते ऽखिलम् ॥३२
विरक्तो जायते जीवो यत्र यो मोहवाहितः ।
प्रशस्तमपि तत्तस्मै[1] रोचते न कथंचन ॥३३
पुष्टिदं विपुलस्नेहं कलत्रमिव भोजनम् ।
सुवर्णराजितं भव्यं न तस्याभूत्प्रियंकरम् ॥३४

३०) १. पात्राणि ।
३२) १. क सुन्दरी । २ क कुरंगी ।
३३) १. पुरुषाय ।
३४) १. सुन्दरी ।

वहाँ अतिशय स्नेह करनेवाली उस सुन्दरीने उसे अपने निर्मल अन्तःकरणके समान विशाल एवं कोमल उत्तम आसन दिया ॥२९॥

पश्चात् उसने उसके सामने थाली आदि अनेक प्रकारके बर्तनोंको रखकर सुन्दर यौवनके समान उत्तम भोजन परोसा ॥३०॥

सुन्दरीके द्वारा दिया गया भोजन उसको इस प्रकारसे रुचिकर नहीं हुआ जिस प्रकार कि विशुद्ध जिनागमके द्वारा दिया जानेवाला चारित्र अभव्य जीवके लिए रुचिकर नहीं होता है ॥३१॥

यह सुन्दरी मेरा सब अनिष्ट करती है। और जो सब यह कुरंगी करती है वह मेरे लिए वैसा अनिष्ट नहीं है ॥३२॥

मोहसे प्रेरित जो जीव जिसके विषयमें विरक्त होता है वह कितना ही भला क्यों न हो, उसे किसी प्रकारसे भी नहीं रुचता है ॥३३॥

उसे जिस प्रकार वह सुन्दरी स्त्री प्रिय नहीं थी उसी प्रकार उसके द्वारा दिया गया पौष्टिक, बहुत घी-तेलसे संयुक्त और सुवर्णमय थाली आदि (अथवा पीत आदि उत्तम वर्ण) से सुशोभित वह उत्तम भोजन प्रिय नहीं लगा। वह भद्र सुन्दरी स्त्री वस्तुतः पुष्टिकारक, अतिशय प्रेम करनेवाली और उत्तम रूपसे शोभायमान थी ॥३४॥

२९) ब परमस्नेहं । ३०) क ड इ विधाय; अ ब रसं for भव्यं । ३१) अ नाभवद्धृदये, क माभवद्रुचये; अ ब क चारित्रं for सम्यक्त्वं । ३२) अ व्यबुध्यते, इ विबुध्यते; अ क ड इ °स्तन्ममानिष्टं । ३४) क ड विपुलं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ईक्षमाणः पुरः क्षिप्रं भाजने भोज्यमुत्तमम् ।
व्यचिन्तयदसावेवं कामान्धतमसावृतः ॥३५

चन्द्रमूर्तिरिवानन्ददायिनी सुपयोधरा ।
किं कुरङ्गी मम क्रुद्धा न दृष्टिमपि यच्छति[1] ॥३६

नूनं मां वेश्यया सार्धं सुप्तं ज्ञात्वा चुकोप मे ।
तन्नास्ति भुवने मन्ये[1] ज्ञायते यन्न दक्षया ॥३७

ऊर्ध्वीकृतमुखो[1] ऽवादि परिवारजनैरयम्[2] ।
किं तुभ्यं रोचते नात्र भुङ्क्ष्व सर्वं मनोरमम् ॥३८

स जगौ किमु जेमामि न किंचिन्मे मनीषितम् ।
कुरङ्गीगृहतो भोज्यं किञ्चिदानीयतां मम ॥३९

श्रुत्वेति सुन्दरी गत्वा कुरङ्गीभवनं जगौ[1] ।
कुरङ्गि देहि किंचित्त्वं कान्तस्य रुचये ऽशनम् ॥४०

३६) १. न विलोकयति; क ददाति ।

३७) १. अहम् ।

३८) १. बहुध्यान [धान्यः] । २. जनः ।

४०) १. अवादीत् ।

कामसे अन्धा हुआ वह बहुधान्यक अज्ञानताके कारण सामने पात्रमें परोसे हुए उत्तम भोजनको शीघ्रतासे देखता हुआ इस प्रकार विचार करने लगा—चन्द्रके समान आह्लादित करनेवाली वह सुन्दर स्तनोंसे संयुक्त कुरंगी मेरे ऊपर क्यों क्रोधित हो गयी है जो मेरी ओर निगाह भी नहीं करती है । निश्चयसे इसने मुझे वेश्याके साथ सोया हुआ जानकर मेरे ऊपर क्रोध किया है । ठीक है—मैं समझता हूँ कि संसारमें वह कोई वस्तु नहीं है कि जिसे चतुर स्त्री नहीं जानती हो ॥३५-३७॥

इस प्रकार ऊपर मुख करके स्थित—चिन्तामें निमग्न होकर आकाशकी ओर देखनेवाले—उससे परिवारके लोगोंने कहा कि क्या तुम्हें यहाँ भोजन अच्छा नहीं लगता है ? जीमो, सब कुछ मनोहर है ॥३८॥

यह सुनकर वह बोला कि क्या जीमूँ, जीमनेके योग्य कुछ भी नहीं है । तुम मेरे लिए कुछ भोजन कुरंगीके घरसे लाओ ॥३९॥

उसके इस कथनको सुनकर सुन्दरी कुरंगीके घर जाकर उससे बोली कि हे कुरंगी ! तुम पतिके लिए रुचिकर कुछ भोजन दो ॥४०॥

३५) अ कामान्धस्त° । ३७) इ जायते यन्न । ३८) अ रोचते चान्नं; अ इ मनोहरं । ३९) अ ब किंचिज्जेमनोचितं । ४०) ब देहि मे किंचित् कांतेति रुचये ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सावादीन्न मयाद्यान्नं किंचनाप्युपसाधितम् ।
त्वदीये भवने तस्य भोजनं मन्यमानया ॥४१

यदि वल्भिष्यते[1] दत्तं गोमयं स पतिर्मया ।
तदा सहिष्यते सर्वं दूषणं मम रक्तधीः ॥४२

विचिन्त्येति तदादाय कवोष्णं[1] गोमयं नवम् ।
[2]उच्छूनैकैकगोधूमकणं निन्द्यं बहुद्रवम्[3] ॥४३

गृहाण त्वमिदं नीत्वा[1] तेमनं वितरे[2] प्रभोः ।
इत्युक्त्वा भाजने कृत्वा सुन्दर्यास्तत्समर्पयत् ॥४४ युग्मम्

आनीय तत्तया दत्तं स्तावं[1] स्तावमभक्षयत् ।
भोजनं सुन्दरं हित्वा[2] स शूकर इवाशुचि ॥४५

किमेतदद्भुतं रागी गोमयं यदभुङ्क्त सः ।
स्वस्त्रीजघनवक्त्रस्थमशुच्याद्यपि खादति ॥४६

४२) १. भोक्ष्यति ।
४३) १. ईषदुष्णम् । २. फुल्लमानम् । ३. शिथिल ।
४४) १. रहसि नीत्वा । २. क देहि ।
४५) १. क स्तुतिं कृत्वा । २. त्यक्त्वा ।
४६) १. योनिद्वारस्थम् ।

इसपर कुरंगी बोली कि तुम्हारे घरपर उसके भोजनको जानकर मैंने आज कुछ भी भोजन नहीं बनाया है ॥४१॥

यदि वह मेरा पति मेरे द्वारा दिये गये गोबरको खा लेगा तो मेरे विषयमें बुद्धिके आसक्त रहनेसे वह मेरे सब दोषको सह लेगा, ऐसा सोचकर वह एक-एक गेहूँके कणसे वृद्धिंगत, निन्दनीय, बहुत पतले एवं कुछ गरम ताजे गोबरको लायी और बोली कि लो इस कढ़ीको ले जाकर स्वामीके लिए दे दो; यह कहते हुए उसने उसे एक बर्तनमें रखकर सुन्दरी-को दे दिया ॥४२-४४॥

सुन्दरीने उसे लाकर पतिके लिए दे दिया। तब वह बहुधान्यक सुन्दर भोजनको छोड़कर बार-बार प्रशंसा करता हुआ उसको इस प्रकार खाने लगा जिस प्रकार कि शूकर अपवित्र विष्ठाको खाता है ॥४५॥

उस विषयानुरागी ग्रामकूटने यदि गोबरको खा लिया तो इसमें कौन-सा आश्चर्य है ? कारण कि विषयी मनुष्य तो अपनी स्त्रीके योनिद्वारमें स्थित घृणित पदार्थोंको भी खाया करता है ॥४६॥

४१) ब °द्याक्व, °द्यापि । ४३) अ ब तयादाय, क ड तदादायि; ब °कैकचणककणं । ४४) क ड तीमनं; ब भोजनं कृत्वा ; इ सुन्दर्या ; अ क ड इ सा for तत् ; ब समर्पितम् ; अ क युग्मं । ४५) अ स्तावं स भक्षयन्....°शुचिं । ४६) अ ब यदभुक्त; ब स स्त्री°; अ क °मशुच्यद्यपि °शुच्यादपि, ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अप्रशस्तं विरक्तस्य प्रशस्तमपि जायते ।
प्रशस्तं रागिणः सर्वमप्रशस्तमपि स्फुटम् ॥४७

तन्नास्ति भुवने किंचित् स्त्रीवशा यन्न कुर्वते ।
अमेध्यमपि वल्भन्ते[1] गोमयं पावनं न किम् ॥४८

गोमयं केवलं भुक्त्वा शालायां संनिविष्टवान् ।
ग्रामकूटो द्विजं प्रष्टुं प्रवृत्तः प्रेयसीक्रुधम्[1] ॥४९

किं प्रेयसी मम क्रुद्धा किं किंचिद्भणिता त्वया ।
ममाथ दुर्नयः कश्चित् कथ्यतां भद्र निश्चयम् ॥५०

सो ऽवादीद् भद्र तावत्तें तिष्ठतु प्रेयसीस्थितिः ।
श्रूयतां चेष्टितं स्त्रीणां सामान्येन निवेद्यते ॥५१

न सो ऽस्ति विष्टपे[1] दोषो विद्यते यो न योषिताम् ।
कुतस्तनो ऽन्धकारो ऽसौ शर्वर्यां[2] यो न जायते ॥५२

४८) १. भोक्ष्यन्ते ।

४९) १. क कुरङ्गीं ।

५२) १. क संसारे । २. रात्रौ ।

ठीक है—विरक्त मनुष्यके लिए प्रशंसनीय वस्तु भी निन्दनीय प्रतीत होती है, किन्तु इसके विपरीत रागी मनुष्यके लिए स्पष्टतया घृणित भी सब कुछ उत्तम प्रतीत होता है ॥४७॥

लोकमें वह कुछ भी नहीं है जिसे कि स्त्रीके वशीभूत हुए मनुष्य न करते हों। जब वे घृणित गोबरको भी खा जाते हैं तब पवित्र वस्तु का क्या कहना है? उसे तो खाते ही हैं ॥४८॥

वह बहुधान्यक एकमात्र उस गोबरको खाकर ब्राह्मणसे अपनी प्रियतमा (कुरंगी) के क्रोधके कारणको पूछनेके लिए उद्यत होता हुआ सभा-भवनमें बैठ गया ॥४९॥

उसने ब्राह्मणसे पूछा कि हे भद्र! क्या तुम कुछ कह सकते हो कि मेरी प्रिया कुरंगी मेरे ऊपर क्यों रुष्ट हो गयी है? अथवा यदि मेरा ही कुछ दुर्व्यवहार हुआ हो तो निश्चयसे वह मुझे बतलाओ ॥५०॥

इसपर ब्राह्मण बोला कि हे भद्र! तुम अपनी प्रियाकी स्थितिको अभी रहने दो। मैं पहले सामान्य से स्त्रियोंकी प्रवृत्तिके विषयमें कुछ निवेदन करता हूँ, उसे सुनो ॥५१॥

लोकमें वह कोई दोष नहीं है जो कि स्त्रियोंमें विद्यमान न हो। ठीक है—वह कहाँका अन्धकार है जो रात्रिमें नहीं होता है। अर्थात् जिस प्रकार रात्रिमें स्वभावसे अन्धकार हुआ करता है उसी प्रकार स्त्रियोंमें दोष भी स्वभावसे रहा करते हैं ॥५२॥

४८) इ वल्म्यन्ते । ४९) इ भुङ्क्त्वा; ब प्रदत्तः; क ड प्रेयसीं प्रति । ५०) अ प्रेयसीं....क्रुद्धां; क भणितं, इ किंचिज्ज्ञायते; ब ममाप्य; इ निश्चितम् । ५१) अ °स्थितः....न विद्यते ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शक्यते परिमां[1] कर्तुं जलानां सरसीपतेः ।
दोषाणां न पुनर्नार्याः सर्वदोषमहाखनेः ॥५३

परच्छिद्रनिविष्टानां[1] द्विजिह्वानां महाक्रुधाम् ।
भुजङ्गीनामिव स्त्रीणां कोपो जातु न शाम्यति ॥५४

परमां वृद्धिमायाता[1] वेदनेव नितम्बिनी ।
सदोपचर्यमाणापि[2] विधत्ते[3] जीवितक्षयम् ॥५५

दोषाणां भ्रमतां लोके परस्परमपश्यताम् ।
वेधसा[1] विहिता[2] गोष्ठी महेलां कुर्वता ध्रुवम् ॥५६

अनर्थानां निधिर्नारी वारीणामिव वाहिनी[1] ।
वसतिर्दुश्चरित्राणां विषाणामिव सर्पिणी[2] ॥५७

५३) १. परिमाणम् ।
५४) १. क परदोष-परगृहप्रविष्टवतीनाम् ।
५५) १. वृद्धिं प्राप्ता बहुमान्या । २. क सेव्यमाना । ३. करोति ।
५६) १. मया महिलां विहिता युष्माकं स्थानमिति गोष्ठि (?) । २. कृता ।
५७) १. क नदी । २. गृहम् ।

कदाचित् समुद्रके जलका परिमाण किया जा सकता है, किन्तु समस्त दोषोंकी विशाल खानिभूत स्त्रीके दोषोंका परिमाण नहीं किया जा सकता है ॥५३॥

जिस प्रकार उत्तम छेद (बाँबी) में स्थित रहनेवाली, दो जीभोंसे संयुक्त और अतिशय क्रोधी सर्पिणियोंका क्रोध कभी शान्त नहीं होता है उसी प्रकार दूसरेके छेद (दोष) के देखनेमें तत्पर रहनेवाली, चुगलखोर—दूसरोंकी निन्दक—और अतिशय क्रोधी स्त्रियोंका क्रोध भी कभी शान्त नहीं होता है ॥५४॥

जिस प्रकार अतिशय वृद्धिंगत वेदना (व्याधिजन्य पीड़ा) का निरन्तर उपचार (इलाज) करनेपर भी वह प्राणोंका अपहरण ही करती है उसी प्रकार अतिशय पुष्टिको प्राप्त हुई स्त्री निरन्तर उपचार (सेवा-शुश्रूषा) के करनेपर भी पुरुषके प्राणोंका अपहरण ही करती है ॥५५॥

स्त्रीकी रचना करनेवाले ब्रह्मदेवने मानो उसे एक दूसरेको न देखकर इधर-उधर घूमनेवाले दोषोंकी सभा—उनका निवासस्थान—ही कर दिया है ॥५६॥

जिस प्रकार नदी जलका भण्डार होती है उसी प्रकार स्त्री अनर्थोंका भण्डार है । तथा जिस प्रकार सर्पिणी विषोंका स्थान होती है उसी प्रकार स्त्री असदाचारोंका स्थान है ॥५७॥

५३) ड परमा, अ ब क परिमा, इ परमां । ५४) क ड द्विजिह्वानामहो ध्रुवं; अ °मविस्त्रीणां । ५५) ड क्षणं for क्षयं । ५६) ब क इ महिलां ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नारी हेतुरकीर्तीनां वल्लीनामिव मेदिनी ।
दुर्नयानां महाखानिस्तमसामिव यामिनी[1] ॥५८

चौरीव स्वार्थतन्निष्ठा[1] वह्निज्वालेव तापिका ।
छायेव दुर्ग्रहा योषा सन्ध्येव क्षणरागिणी ॥५९

अस्पृश्या सारमेयीव[1] नीचा चाटुविधायिनी ।
पापकर्मभवा भामा मलिनोत्सृष्टभक्षिणी ॥६०

दुर्लभे रज्यते क्षिप्रमात्माधीनं विमुञ्चति ।
साहसं कुरुते घोरं न बिभेति न लज्जते ॥६१

क्षणरोचिरिवास्थेया[2] व्याघ्रीवामिषलालसा ।
मत्स्यीव चपला योषा दुर्नीतिरिव दुःखदा ॥६२

५८) १. क रात्रिः ।
५९) १. स्थिता ।
६०) १. कुक्कुरीव ।
६२) १. क विद्युत् । २. क अस्थिरा ।

जिस प्रकार बेलोंकी उत्पत्तिका कारण पृथिवी है उसी प्रकार अपयशों (बदनामी) की उत्पत्तिका कारण स्त्री है तथा जिस प्रकार रात्रि अन्धकारकी खान है उसी प्रकार स्त्री अनीतिकी खान है ॥५८॥

स्त्री चोरके समान स्वार्थको सिद्ध करनेवाली, अग्निकी ज्वालाके समान सन्तापजनक, छायाके समान ग्रहण करनेके लिए अशक्य, तथा सन्ध्याके समान क्षण-भरके लिए अनुराग करनेवाली है ॥५९॥

जिस प्रकार पापकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई नीच कुत्ती छूनेके अयोग्य, स्वामीकी खुशामद करनेवाली, और घृणित जूठनके खानेमें तत्पर होती है; उसी प्रकार पापकर्मसे होनेवाली नीच स्त्री भी स्पर्शके अयोग्य, स्वार्थसिद्धिके लिए खुशामद करनेवाली, और नीच पुरुषोंके द्वारा निक्षिप्त वीर्य आदिकी ग्राहक है ॥६०॥

वह दुर्लभ वस्तु (पुरुषादि) में तो अनुराग करती है और अपने अधीन (सुलभ) वस्तुको शीघ्र ही छोड़ देती है। तथा वह भयानक साहस करती है, जिसके लिए न तो वह भयभीत होती है और न लज्जित भी ॥६१॥

स्त्री बिजलीके समान अस्थिर, व्याघ्रीके समान मांसकी अभिलाषा करनेवाली, मछलीके समान चंचल और दुष्ट नीतिके समान दुखदायक है ॥६२॥

६०) ब भावा for भामा । ६१) इ रम्यते.... मात्मानं च वि°; ब सहसा कुरुते । ६२) ब क °रिवास्थेष्टा; ड °रिव दोषदाः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बहुनात्र किमुक्तेन महत्तर निबुध्यताम् ।
प्रत्यक्षवैरिणी गेहे कुरङ्गी तव तिष्ठति ॥६३

विटेभ्यो निखिलं द्रव्यं तव दत्त्वा विनाशितम् ।
कुरङ्ग्या पापया भद्र चारित्रमिव दुर्लभम् ॥६४

तव या हरते द्रव्यं निर्भयीभूतमानसा ।
हरन्ती वार्यते केन जीवितं सा दुराशया ॥६५

स्खलनं[1] कुरुते पुंसामुपानदिव निश्चितम् ।
अयन्त्रिता[2] सती रामा सद्यो ऽमार्गानुसारिणी ॥६६

यो विश्वसिति रामाणां मूढो निर्घृणचेतसाम्[1] ।
बुभुक्षातुरदेहानां व्यालीनां विश्वसित्यसौ ॥६७

भुजङ्गी तस्करी व्याली राक्षसी शाकिनी गृहे ।
वसन्ती वनिता दुष्टा दत्ते प्राणविपर्ययम् ॥६८

६६) १. क चञ्चलम् । २. न यन्त्रिता ।

६७) १. निर्दयमनसाम् ।

हे ग्रामकूट ! बहुत कहनेसे क्या लाभ है ? वह कुरंगी तुम्हारे घरमें साक्षात् शत्रुके समान अवस्थित है ॥६३॥

हे भद्र ! उस पापिष्ठा कुरंगीने दुर्लभ चारित्रके समान तुम्हारा सब धन भी जार पुरुषोंको देकर नष्ट कर डाला है ॥६४॥

जो कुरंगी मनमें किसी प्रकारका भय न करके तुम्हारे धनका अपहरण कर सकती है वह दुष्टा यदि तुम्हारे प्राणोंका अपहरण करती है तो उसे कौन रोक सकता है ? ॥६५॥

स्त्री यदि नियन्त्रणसे रहित (स्वतन्त्र) हो तो वह जूतीके समान कुमार्गमें प्रवृत्त होकर निश्चयतः शीघ्र ही पुरुषोंको मार्गसे भ्रष्ट कर देती है ॥६६॥

जो मूर्ख भूखसे पीड़ित शरीरसे सहित और मनमें क्रूरताको धारण करनेवाली स्त्रियोंका विश्वास करता है वह भूखसे व्याकुल क्रूर सर्पिणियोंका विश्वास करता है, ऐसा समझना चाहिए ॥६७॥

सर्पिणी, चोर स्त्री, श्वापदी (हिंस्र स्त्री पशुविशेष), राक्षसी और शाकिनीके समान घरके भीतर निवास करनेवाली दुष्ट स्त्री मरणको देती है—प्राणोंका अपहरण करती है ॥६८॥

६३) ब विबुध्यताम्, क ड विमुच्यतां । ६४) ब चरित्रमिव । ६६) ड इ सद्योन्मार्गा° । ६७) अ क ड विश्वसति.... विश्वसत्यसौ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निशम्येति वचस्तस्य भद्रस्य हितभाषिणः ।
स गत्वा सूचयामास कुरङ्गचाः सकलं कुधीः[1] ॥६९

सा जगाद दुराचारा चारित्रं हर्तुमुद्यतः ।
मया स्वामिन्ननिष्टो ऽयं गृह्णीते दूषणं मम ॥७०

अन्यायानामशेषाणां नक्राणामिव नीरधिः ।
निधानमेष दुष्टात्मा क्षिप्रं निर्घाटचतां प्रभो ॥७१

तस्यास्तेनेति[1] वाक्येन स हितो ऽपि निराकृतः ।
किं वा न कुरुते रक्तो रामाणां वचसि स्थितः ॥७२

सद्वाक्यमविचाराणां दत्तं दत्ते महाभयम् ।
द्विजिह्वानामिवाहीनां क्षीरपानं हितावहम् ॥७३

६९) १. मूढः ।
७१) १. जलचरजीवानां मत्स्यादीनाम् ।
७२) १. क ग्रामकूटेन ।

इस प्रकार हितकारक भाषण करनेवाले उस भद्र ब्राह्मणके कथनको सुनकर उस दुर्बुद्धि ग्रामकूटने जाकर उस सबकी सूचना कुरंगीको कर दी ॥६९॥

उसे सुनकर वह दुराचारिणी बोली कि हे स्वामिन्! वह मेरे शीलको नष्ट करनेके लिए उद्यत हुआ, परन्तु मैंने उसकी इच्छा पूर्ण नहीं की। इसीलिए वह मेरे दोषको ग्रहण करता है—मेरी निन्दा करता है ॥७०॥

जिस प्रकार समुद्र मगर-मत्स्य आदि हिंसक जलजन्तुओंका स्थान है उसी प्रकार यह दुष्ट ब्राह्मण समस्त अन्यायोंका घर है। हे स्वामिन्! उसे शीघ्र निकाल दीजिए ॥७१॥

कुरंगीके उस वाक्यसे उस हितैषी ब्राह्मणका भी निराकरण किया गया—उसके कहे अनुसार उक्त ब्राह्मणको भी निकाल दिया गया। ठीक है—स्त्रियोंके वचनपर विश्वास करनेवाला रक्त पुरुष क्या नहीं करता है? अर्थात् वह उनके ऊपर भरोसा रखकर अनेक अयोग्य कार्योंको किया करता है ॥७२॥

विवेकसे रहित चुगलखोर मनुष्योंको दिया गया सदुपदेश भी इस प्रकार महान् भयको देता है जिस प्रकार कि दो जिह्वावाले सर्पोंके लिए कराया गया दुग्धपान महान् भयको देता है ॥७३॥

६९) अ भद्रस्य हित° । ७०) अ °चारचारित्रं, ड °चाराश्चारित्रं; ड तेन, क मयि for मया; अ स्वामिन्निहष्टोऽयं । ७१) अ निधानमेव; अ निर्द्वार्यतां, ब निर्द्वाद्यतां, क निर्द्धाद्यतां, ड निर्द्धार्यतां, इ निर्घाट्यतां । ७२) अ स्थितिः । ७३) इ दत्तं दत्तं; ब पयःपानं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हितेऽपि भाषिते दोषो दीयते निर्विचारकैः ।
परैरपीह रागान्धैर्ग्रामकूटसमैः स्फुटम् ॥७४

चरित्रं दुष्टशीलायाः कथितं हितकारिणा ।
यस्तस्या[2] एव तद्[3]ब्रूते विधत्ते[4] स न किं परम् ॥७५

इत्थं रक्तो मया विप्राः सूचितो दुष्टचेतसः ।
इदानीं श्रूयतां द्विष्टः सूच्यमानो[1] विधानतः ॥७६

ग्रामकूटावभूतां द्वौ कोटीनगरवासिनौ[1] ।
प्रथमः कथितः स्कन्दो वक्रो वक्रमनाः परः ॥७७

भुञ्जानयोस्तयोर्ग्राममेकं वैरमजायत ।
एकद्रव्याभिलाषित्वं वैराणां कारणं परम् ॥७८

दुर्निवारं तयोर्जातं काककौशिकयोरिव[1] ।
निसर्गजं महावैरं प्रकाशतिमिरैषिणोः ॥७९

---

७५) १. बहुधान्यः । २. कुरङ्ग्याः । ३. तच्चरित्रम् । ४. करोति ।
७६) १. क कथ्यमानः ।
७७) १. नाम ।
७९) १. घूयड ।

दूसरोंके द्वारा किये गये हितकारक भी भाषणमें विषयानुरागसे अन्ध हुए अविवेकी जन उक्त बहुधान्यक ग्रामकूटके समान स्पष्टतया दोष दिया करते हैं ॥७४॥

ग्रामकूटके हितकी अभिलाषासे उस हितैषी भट्टने दुश्चरित्र कुरंगीके वृत्तान्तको उससे कहा था। उसे जो ग्रामकूट उसी कुरंगीसे कह देता है वह भला अन्य क्या नहीं कर सकता है ॥७५॥

इस प्रकार हे ब्राह्मणो ! मैंने दुष्ट आचरण करनेवाले रक्त पुरुषकी सूचना की है—उसकी कथा कही है। अब मैं इस समय द्विष्ट पुरुषकी विधिपूर्वक सूचना करता हूँ, उसे आप लोग सुनें ॥७६॥

कोई दो ग्रामकूट कोटीनगरमें निवास करते थे। उनमें पहलेका नाम स्कन्द तथा दूसरेका नाम वक्र था। दूसरा वक्र ग्रामकूट अपने नामके अनुसार मनसे कुटिल था ॥७७॥

वे दोनों एक ही गाँवका उपभोग करते थे—उससे होनेवाली आय (आमदनी) पर अपनी आजीविका चलाते थे। इसीलिए उन दोनोंके बीचमें वैमनस्य हो गया था। ठीक है—एक वस्तुकी अभिलाषा उत्कृष्ट वैरका कारण हुआ ही करती है ॥७८॥

जिस प्रकार क्रमसे प्रकाश और अन्धकारकी अभिलाषा करनेवाले कौवा और उल्लूके बीचमें स्वभावसे महान् वैर (शत्रुता) रहा करता है उसी प्रकार उन दोनोंमें भी परस्पर महान् वैर हो गया था जिसका निवारण करना अशक्य था ॥७९॥

---

७५) अ परैरपि हि । ७६) ब दुष्टचेष्टितः । ७७) इ स्वन्धो for स्कन्दो ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वक्रः करोति लोकानां सर्वदोपद्रवं परम् ।
सुखाय जायते[1] कस्य वक्रो दोषनिविष्टधीः[2] ॥८०

व्याधिमवाप कदाचन वक्रः प्राणहरं यमराजमिवासौ ।
यो वितनोति परस्य हि दुःखं कं न स दोषमुपैति वराकः ॥८१

तं निजगाद तदीयतनूजस्तात विधेहि विशुद्धमनास्त्वम्[1] ।
कंचन धर्ममपाकृतदोषं[2] यो[3] विदधाति परत्र सुखानि ॥८२

पुत्रकलत्रधनादिषु मध्ये को ऽपि न याति समं परलोकम् ।
कर्म[1] विहाय कृतं स्वयमेकं कर्तुमलं[2] सुखदुःखशतानि ॥८३

को ऽपि परो न निजो ऽस्ति दुरन्ते जन्मवने भ्रमतां बहुमार्गे ।
इत्थमवेत्य[1] विमुच्य कुबुद्धिं तात हितं कुरु किंचन कार्यम् ॥८४

८०) १. अपि तु न । २. क परदोषस्थापितबुद्धिः ।

८२) १. वक्रदासः । २. दूरीकृतदोषम् । ३. यः धर्मः ।

८३) १. पुण्यपापम् । २. समर्थम् ।

८४) १. ज्ञात्वा ।

वक्र निरन्तर ग्रामवासी जनोंको पीड़ा दिया करता था । ठीक है—जिसकी बुद्धि सदा दोषोंपर ही निहित रहती है वह भला किसके लिए सुखका कारण हो सकता है ? नहीं हो सकता ॥८०॥

किसी समय वह वक्र प्राणोंका अपहरण करनेवाले यमराजके समान किसी व्याधिको प्राप्त हुआ—उसे भयानक रोग हो गया । ठीक है—जो दूसरेको दुख दिया करता है वह बेचारा कौन-से दोषको नहीं प्राप्त होता है ? अर्थात् वह अनेक दोषोंका पात्र बनता है ॥८१॥

यह देखकर उसका वक्रदास नामका पुत्र बोला कि हे पिताजी ! तुम निर्मल मनसे दोषोंको दूर करनेवाले किसी ऐसे धर्मकार्यको करो जो परलोकमें सुखोंको देने वाला है ॥८२॥

जो स्वयं किया हुआ कर्म सैकड़ों सुख-दुःखोंके करनेमें समर्थ है उस एक कर्मको छोड़कर दूसरा पुत्र, स्त्री और धन आदिमें-से कोई भी जीवके साथ परलोकमें नहीं जाता है ॥८३॥

हे पिताजी ! जिस संसाररूप वनका अन्त पाना अतिशय कठिन है तथा जो अनेक योनियोंरूप बहुत-से मार्गोंसे व्याप्त है उस जन्म-मरणरूप संसार-वनके भीतर परिभ्रमण करनेवाले प्राणियोंका कोई भी पर पदार्थ अपना नहीं हो सकता है, ऐसा विचार करके दुर्बुद्धिको छोड़ दीजिए और किसी हितकर कार्यको कीजिए ॥८४॥

८३) ब क ड इ °लोके । ८४) इ कंचन ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोहमपास्य सुहृत्तनुजादौ देहि[1] धनं द्विजसाधुजनेभ्यः ।
संस्मर कंचन देवमभीष्टं येन[2] गतिं लभसे सुखधात्रीम्[3] ॥८५

वाचमिमां स[1] निशम्य बभाषे कार्यमिदं कुरु मे हितमेकम् ।
पुत्र[2] पितुर्न कदाचन पूज्यं वाक्यमपाकुरुते[3] हि सुपुत्रः ॥८६

रे मयि जीवति वत्स न वैरी स्कन्द इयाय[1] कदाचन सौख्यम् ।
बन्धुतनूजविभूतिसमेतो नापि विनाशमयं[2] प्रतिपेदे ॥८७

एष[1] यथा क्षयमेति समूलं किंचन कर्म तथा कुरु वत्स ।
येन[2] वसामि सुखं सुरलोके हृष्टमनाः कमनीयशरीरः ॥८८

क्षेत्रममुष्य[1] विनीय[2] मृतं मां यष्टिनिषण्णतनुं सुत कृत्वा ।
गोमहिषोहयवृन्दमशेषं सस्य[3]समूहविनाशि विमुञ्च ॥८९

८५) १. हे तात । २. स्मरणेन । ३. क गतिम् ।

८६) १. ग्रामकूटः । २. हे । ३. उल्लङ्घते ।

८७) १. न प्राप्तवान् । २. स्कन्दः ।

८८) १. येन कारणेन धर्मेण ।

८९) १. स्कन्दस्य । २. आनीय । ३. धान्य ।

मित्र और पुत्र आदिके विषयमें मोहको छोड़कर ब्राह्मण और साधुजनोंके लिए धनको दीजिए—उन्हें यथायोग्य दान कीजिए । साथ ही ऐसे किसी अभीष्ट देवका स्मरण भी कीजिए जिससे कि आपको सुखप्रद गति प्राप्त हो सके ॥८५॥

पुत्रके इस कथनको सुनकर वह (वक्र) बोला कि हे पुत्र ! तुम मेरे लिए हितकारक एक इस कार्यको करो, क्योंकि, योग्य पुत्र कभी पिताके आदरणीय वाक्यका उल्लंघन नहीं करता है ॥८६॥

हे पुत्र ! मेरे जीवित रहते हुए वैरी स्कन्द कभी सुखको प्राप्त नहीं हुआ । परन्तु जैसा कि मैं चाहता था, यह भाई, पुत्र एवं विभूतिके साथ विनाशको प्राप्त नहीं हो सका ॥८७॥

हे वत्स ! जिस प्रकारसे यह समूल नष्ट हो जावे वैसा तू कोई कार्य कर । ऐसा हो जानेपर मैं स्वर्गलोकमें सुन्दर शरीरको प्राप्त होकर सन्तोषके साथ सुखपूर्वक रहूँगा ॥८८॥

इसके लिए तू मेरे मुर्दा शरीरको उसके खेतपर ले जाकर लकड़ीके सहारे खड़ा कर देना और तब फसलको नष्ट करनेवाले समस्त गाय, भैंस और घोड़ोंके समूहको छोड़ देना । तत्पश्चात् तू उसके आनेको देखनेके लिए मेरे पास वृक्ष और घासमें छुपकर स्थित हो जाना । इस प्रकारसे जब वह क्रोधित होकर मेरा घात करने लगे तब तू समस्त जनोंको

८५) अ मोहमपश्य; ब सुहृत्तनयादौ; इ धात्री । ८७) इ स्कन्ध । ८८) इ कंचन; इ चिरं for सुखं । ८९) क °निष्पन्नतनुं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वृक्षतृणान्तरितो मम तीरे तिष्ठ निरीक्षितुमागतिमस्य ।
कोपपरेण[2] कृते मम घाते पूत्कुरु[3] सर्वजनश्रवणाय ॥९०

माममुना निहतं क्षितिनाथो दण्डममुष्य[1] करिष्यति मत्वा[2] ।
तां सुत भूतिमपास्य समस्तां येन मरिष्यति गोत्रयुतो ऽयम् ॥९१

इत्थममुं[1] निगदन्तमवद्यं मृत्युरुपेत्य जघान निहीनम् ।
तस्य[2] चकार वचश्च तनूजः पापपरस्य भवन्ति सहायाः ॥९२

वीक्ष्य परं सुखयुक्तमधीर्यो द्वेषपरः क्षणुते[1] म्रियमाणः ।
तस्य विमुच्य कृतान्तमदन्तं[2] को ऽपि परो ऽस्ति न बोधविधायी ॥९३

वक्रदासतनयस्य न वक्रो यश्चकार वचनं हितशंसि[1] ।
तत्समा यदि भवन्ति निकृष्टाः सूचयामि न हितानि तदाहम् ॥९४

---

९०) १. आगमनम् । २. स्कन्देन । ३. क पापयुक्तं वचनम् ।

९१) १. स्कन्दस्य । २. गृहीत्वा ।

९२) १. वक्रम् । २. पापरतस्य पुरुषस्य ।

९३) १. क न सहते, मारयति । २. भुञ्जन्तं, भक्षमाणम् ।

९४) १. कथित ।

सुनानेके लिए चिल्ला देना कि मेरे पिताको स्कन्धने मार डाला । तब राजा मुझे उसके द्वारा मारा गया जानकर उसकी समस्त सम्पत्तिको हरण करता हुआ उसे दण्डित करेगा । इससे यह सकुटुम्ब मर जायेगा ॥८९–९१॥

इस प्रकारसे वह बोल ही रहा था कि इसी समय मृत्युने आकर उस निकृष्ट पापीको नष्ट कर दिया । उधर लड़केने उसके वचनको पूरा किया : ठीक है—जो पापमें तत्पर होता है उसे सहायक भी उपलब्ध हो जाते हैं ॥९२॥

जो मूर्ख मनुष्य मरणोन्मुख होता हुआ दूसरेको सुखी देखकर वैरके वश उसका घात करना चाहता है उसको अपना ग्रास बनानेवाले यमराजको छोड़कर दूसरा कोई भी प्रबुद्ध नहीं कर सकता है ॥९३॥

जिस वक्र ग्रामकूटने अपने पुत्र वक्रदासके हितके सूचक कथनको नहीं किया—तदनुसार निर्दोष आचरणको नहीं किया—उसके समान निकृष्टजन यदि आप लोगोंके मध्यमें हैं तो मैं हितकी सूचना नहीं करता हूँ ॥९४॥

---

९०) क फूत्कुरु । ९१) क ड इ पुत्र for गोत्र । ९२) ब क विहीनम् । ९३) क इ क्षुणुते । ९४) इ यच्चकार ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न भुङ्क्ते न शेते विनान्यस्य चिन्तां
न लक्ष्मीं विसोढुं[2] क्षमो योऽन्यदीयाम् ।
महाद्वेषवज्राग्निदग्धाशयो ऽसौ
न लोकद्वये ऽप्येति सौख्यं पवित्रम् ॥९५

ज्वलन्तं दुरन्तं स्थिरं श्वभ्रवह्निं
प्रविश्य क्षमन्ते चिरं स्थातुमज्ञाः ।
न संपत्तिमन्यस्य नीचा विसोढुं
सदा द्विष्टचित्ता निकृष्टाः कनिष्ठाः[1] ॥९६

यो विहाय वचनं हितमज्ञः स्वीकरोति विपरीतमशेषम् ।
नास्य दुष्टहृदयस्य पुरस्ताद्भाषते [1]ऽमितगतिर्वचनानि ॥९७

इति धर्मपरीक्षायाममितगतिकृतायां
पञ्चमः परिच्छेदः ॥५

९५) १. दुःखदानं विना । २. द्रष्टुम् ।

९६) १. हीनाः ।

९७) १. अप्रमितबुद्धिः ।

वह मनमें महान् वैररूप वज्राग्निसे जलता हुआ दूसरेकी विभूतिको न सह सकनेके कारण केवल दूसरेके विनाशका चिन्तन करता है । इसको छोड़कर वह न खाता है, न सोता है, और न दोनों ही लोकोंमें पवित्र (निराकुल) सुखको भी प्राप्त होता है ॥९५॥

इस प्रकारके अधम हीन अज्ञानी जन चित्तमें निरन्तर विद्वेषको धारण करते हुए नीच वृत्तिसे जलती हुई दुःसह व स्थिर नरकरूप अग्निमें प्रविष्ट होकर वहाँ चिरकाल तक रहनेमें तो समर्थ होते हैं, किन्तु वे दूसरेकी सम्पत्तिके सहनेमें समर्थ नहीं होते हैं ॥९६॥

जो अज्ञानी मनुष्य हितकारक वचनको छोड़कर विपरीत सब कुछ स्वीकार करता है उस दुष्टचित्त मनुष्यके आगे विद्वान् मनुष्य वचनोंको नहीं बोलता है—उसके लिए उपदेश नहीं करता है ॥९७॥

इस प्रकार अमितगतिविरचित धर्मपरीक्षामें पाँचवाँ
परिच्छेद समाप्त हुआ ॥५॥

९५) अ विनाशस्य । ९६) इ चिरं for स्थिरं; ब वज्रवह्नि; क ड दुष्ट for द्विष्ट; क कुनिष्टाः, ड विनिष्टाः for कनिष्ठाः । ९७) अ हितमन्यः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्विष्टो निवेदितो विप्राश्चित्रांशुरिव[1] तापकः ।
इदानीं श्रूयतां मूढः पाषाण इव नष्टधीः ॥१

प्रथीयो[1] ऽस्ति कण्ठोष्ठं यक्षास्पदमिवापरम् ।
पुरं सुरालयाकीर्ण[3] निधाननिलयीकृतम् ॥२

अभूद् भूतमतिस्तत्र विप्रो विप्रगणार्चितः ।
विज्ञातवेदवेदाङ्गो ब्रह्मेव चतुराननः ॥३

पञ्चाशत्तस्य वर्षाणां कुमारब्रह्मचारिणः ।
जगाम धीरचित्तस्य वेदाभ्यसनकारिणः ॥४

बान्धवा विधिना यज्ञां यज्ञवह्निशिखोज्ज्वलाम् ।
कन्यां तं[1] ग्राहयामासुर्लक्ष्मीमिव मुरद्विषम्[3] ॥५

उपाध्यायपदारूढो लोकाध्यापनसक्तधीः ।
पूज्यमानो द्विजैः सर्वैर्यज्ञविद्याविशारदः ॥६

१) १. अग्निः ।
२) १. विख्यात । २. क धनदस्थानमिव । ३. धवलगृहसमूहम् ।
५) १. भूतमतिं नाम । २. क विवाहयामासुः । ३. विष्णुम्; क कृष्णम् ।

हे विप्रो ! इस प्रकारसे मैंने अग्निके समान सन्ताप देनेवाले द्विष्ट पुरुषका स्वरूप कहा है । अब पत्थरके समान नष्टबुद्धि मूढ पुरुषका स्वरूप कहता हूँ, उसे सुनिए ॥१॥

देवभवनोंके समान गृहोंसे व्याप्त एक प्रसिद्ध कण्ठोष्ठ नामका नगर है । अनेक निधियों-का स्थानभूत वह नगर दूसरा यक्षोंका निवासस्थान जैसा दिखता है ॥२॥

उसमें ब्राह्मणसमूहसे पूजित एक भूतमति नामका ब्राह्मण था । वह वेद-वेदांगोंका ज्ञाता होनेसे ब्रह्मा के समान चतुर्मुख था—चार वेदोंरूप चार मुखोंका धारक था ॥३॥

उस बालब्रह्मचारीके धीरतापूर्वक वेदाभ्यास करते हुए पचास वर्ष बीत गये थे ॥४॥

उसके बन्धुजनोंने उसे यज्ञकी अग्निज्वालाके समान निर्मल यज्ञा नामक कन्याको विधिपूर्वक इस प्रकारसे ग्रहण कराया जिस प्रकार कि विष्णुके लिए लक्ष्मीको ग्रहण कराया गया ॥५॥

उपाध्यायके पदपर प्रतिष्ठित वह भूतमति ब्राह्मण यज्ञविद्यामें निपुण होकर अपनी बुद्धिको लोगोंके पढ़ानेमें लगा रहा था । सब ब्राह्मण उसकी पूजा करते थे ॥६॥

१) क ड दुष्टो । ५) अ तां for तं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स तया सह भुञ्जानो भोगं भोगवतां मतः ।
व्यवस्थितः स्थिरप्रज्ञः प्रसिद्धो धरणीतले ॥७
तत्रैको बटुको[1] नाम्ना यज्ञो यज्ञ इवोज्ज्वलः ।
आगतो यौवनं बिभ्रत्स्त्रीनेत्रभ्रमराम्बुजम् ॥८
विनीतः पटुधीर्दृष्ट्वा वेदार्थग्रहणोचितः ।
संगृहीतः स[1] विप्रेण मूर्तो ऽनर्थ इव स्वयम् ॥९
शकटीव भराक्रान्ता यज्ञाजनि[1] विसंस्थुला[1] ।
भग्नाक्षप्रसरा सद्यस्तस्य दर्शनमात्रतः ॥१०
स्नेहशाखो[1] गतो वृद्धि रतिमन्मथयोरिव ।
सिक्तः सांगत्यतो येन तयोरिष्टफलप्रदः ॥११
ज्ञेया गोष्ठी दरिद्रस्य भृत्यस्य प्रतिकूलता[1] ।
वृद्धस्य तरुणी भार्या कुलक्षयविधायिनी ॥१२

८) १. क शिष्यः ।
९) १. स बटुकः ।
१०) १. क निश्चला ।
११) १. वृक्षः ।
१२) १. क पराङ्मुखता ।

भोगशाली जनोंसे सम्मानित वह उस यज्ञाके साथ भोगको भोगता हुआ स्थित था। उसकी प्रसिद्धि भूतलपर स्थिरप्रज्ञ (स्थितप्रज्ञ) स्वरूपसे हो गयी थी ॥७॥

वहाँ यज्ञके समान उज्ज्वल एक यज्ञ नामका ब्रह्मचारी (अथवा बालक) आया। वह स्त्रियोंके नेत्ररूप भ्रमरोंके लिए कमलके समान यौवनको धारण करता था ॥८॥

उसे भूतमति ब्राह्मणने नम्र, बुद्धिमान् और वेदार्थ ग्रहणके योग्य देखकर अपने पास स्वयं मूर्तिमान् अनर्थके ही समान रख लिया ॥९॥

जिस प्रकार बहुत बोझसे संयुक्त गाड़ी धुरीके टूट जानेसे शीघ्र ही अस्त-व्यस्त हो जाती है उसी प्रकार यज्ञा उस बटुकको देखते ही इन्द्रियों के वेगके भग्न होनेसे—कामासक्त हो जानेसे—विह्वल हो गयी ॥१०॥

रति और कामदेवके समान उन दोनोंके संगमरूप जलसे सींचा गया स्नेहरूप वृक्ष वृद्धिको प्राप्त होकर अभीष्ट फलको देनेवाला हो गया ॥११॥

दरिद्रकी गोष्ठी—पोषणके योग्य कुटुम्बकी अधिकता, सेवक की प्रतिकूलता (विपरीतता) और वृद्ध पुरुषकी युवती स्त्री; ये कुलका विनाश करनेवाली हैं ॥१२॥

७) इ स्थिरः प्राज्ञः । ११) ब संगत्यतां; क संगत्यतो; ब °रिष्टः फल° । १२) ब °क्षयविनाशिनी ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकलं कुरुते दोषं कामिनी परसंगिनी ।
वज्राशुशुक्षणिज्वाला कं तापं वितनोति नो ॥१३
यः करोति गृहे[1] नारीं स्वतन्त्रामनियन्त्रिताम्[2] ।
न विध्यापयते[3] सस्ये दीप्तामग्निशिखामसौ ॥१४
व्याधिवृद्धिरिवाभीक्ष्णं[1] गच्छन्ती परमोदयम् ।
उपेक्षिता[2] सती कान्ता प्राणानां तनुते क्षयम् ॥१५
यतो जोषयते[1] क्षिप्रं विश्वं योषा ततो मता ।
यतो रमयते पापे रमणी भणिता ततः ॥१६
यतो मारयते पृथ्वीं कुमारी गदिता ततः ।
विदधाति यतः क्रोधं भामिनी भण्यते ततः ॥१७

१३) १. अग्नि ।
१४) १. स्वाधीनाम् । २. अरक्षिताम्; क (अ) निर्गलाम् । ३. क न शमयते ।
१५) १. पुनः पुनः । २. अवगणिता ।
१६) १. क प्रतीयते ।

दूसरेसे संगत स्त्री समस्त दोषको करती है। ठीक है—वज्राग्निकी ज्वाला भला किसको सन्तप्त नहीं करती है ? अर्थात् वह सभीको अतिशय सन्ताप देती है ॥१३॥

जो मनुष्य घरमें स्त्री को अंकुशसे रहित स्वतन्त्र करता है—उसे इच्छानुसार प्रवर्तने देता है—वह धान्य (फसल) में भड़की हुई अग्निकी ज्वालाको नहीं बुझाता है। अभिप्राय यह कि जिस प्रकार फसलके भीतर लगी हुई अग्निको यदि बुझाया नहीं जाता है तो वह समस्त ही गेहूँ आदिकी फसलको नष्ट कर देती है, उसी प्रकार स्त्रीको स्वच्छन्द आचरण करते हुए देखकर जो पुरुष उसपर अंकुश नहीं लगाता है—उसे इच्छानुसार प्रवर्तने देता है—उसका उत्तम कुल आदि सब कुछ नष्ट हो जाता है ॥१४॥

जिस प्रकार निरन्तर अतिशय वृद्धिको प्राप्त होनेवाले रोगकी वृद्धिकी यदि उपेक्षा की जाती है तो वह अन्तमें प्राणोंके विघातको करता है उसी प्रकार निरन्तर स्वेच्छाचारितामें वृद्धि करनेवाली स्त्रीकी भी यदि उपेक्षा की जाती है तो वह भी अन्तमें प्राणोंका विघात करती है ॥१५॥

स्त्री चूँकि समस्त विश्वको शीघ्र ही नष्ट किया करती है, अतएव वह 'योषा' मानी गयी है। तथा वह चूँकि विश्वको पापमें रमाती है, अतएव वह 'रमणी' कही जाती है ॥१६॥

वह पृथिवी (कु) को मारनेके कारण 'कुमारी' तथा क्रोध करनेके कारण 'भामिनी' (भामते इति भामिनी-कोपना) कही जाती है ॥१७॥

१४) ब विध्यापयति सस्ये हि । १५) इ गच्छती । १६) अ योषते, ब यूषयति, इ जोषयति; ब क मता ततः; The arrangement of verses No. 16 to 18 in इ यतो जोषयति....भण्यते ततः ॥१६॥ यतश्छादयते....विलया ततः ॥१७॥ यतो रमयते....कुमारी भणिता ततः ॥१८॥ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विलीयते यतश्चित्तमेतस्यां[1] विलया ततः ।
यतश्छादयते दोषैस्ततः स्त्री कथ्यते बुधैः ॥१८
अबलीकुरुते लोकं येन तेनोच्यते ऽबला ।
प्रमाद्यन्ति यतो ऽमुष्यामासक्ताः प्रमदा ततः ॥१९
इत्यादिसकलं नाम नारीणां दुःखकारणम् ।
नानानर्थपटिष्ठानां[1] वेदनानामिव स्फुटम् ॥२०
मनोवृत्तिरिवावद्यं[1] सर्वकालमरक्षिता[2] ।
विदधाति यतो योषा रक्षणीया ततः सदा ॥२१
आपगानां[1] भुजङ्गीनां व्याघ्रीणां मृगचक्षुषाम्[2] ।
विश्वासं जातु गच्छन्ति न सन्तो हितकाङ्क्षिणः ॥२२
पुण्डरीकं महायज्ञं विधातुमयमेकदा ।
मथुरायां समाहूतो दत्त्वा मूल्यं[2] द्विजोत्तमैः ॥२३

१८) १. स्त्रियाम् ।
१९) १. क अस्याम् ।
२०) १. प्रवीणानाम्; क नानानर्थोत्पाटने प्रवीणानाम् ।
२१) १. पापम् । २. क सती ।
२२) १. नदीनाम् । २. स्त्रीणाम् ।
२३) १. क भूतमतिः । २. क धनम् ।

इसके विषयमें चूँकि पुरुषों का चित्त विलीन होता है, अतएव वह विद्वानोंके द्वारा 'विलया' तथा चूँकि वह दोषोंको आच्छादित करती है, अतएव स्त्री (स्तृणातीति स्त्री) कही जाती है ॥१८॥

वह लोगोंको निर्बल बनानेके कारण अबला कही जाती है तथा चूँकि उसके विषयमें आसक्त होकर लोग प्रमाद करते हैं अतएव वह प्रमदा कही जाती है ॥१९॥

अनेक अनर्थोंके करनेमें चतुर उन स्त्रियोंके समस्त नाम इस प्रकार दुःखके कारणभूत हैं जिस प्रकार कि अनेक अनर्थोंको करनेवाली वेदनाओंके सब नाम दुःखके कारणभूत हैं ॥२०॥

यदि स्त्रीकी रक्षा नहीं की जाती है—उसे नियन्त्रणमें नहीं रखा जाता है—तो वह मनोवृत्तिके समान निरन्तर पापको करती है । इसीलिए उसकी उक्त मनोवृत्तिके ही समान सदा रक्षा करना चाहिए—उसे मनोवृत्तिके समान निरन्तर अपने वशमें रखना चाहिए ॥२१॥

हितके इच्छुक सज्जन मनुष्य नदी, सर्पिणी, वाघिनी और स्त्री; इनका कभी भी विश्वास नहीं किया करते हैं ॥२२॥

एक समय उस भूतमति ब्राह्मणको पुण्डरीक महायज्ञ करनेके लिए कुछ श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने मूल्य देकर मथुरा नगरीमें आमन्त्रित किया ॥२३॥

२०) ड °नर्थप्रविष्टानां । २१) अ °मरक्षता; ब दोषा for योषा ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पालयन्ती गृहं यज्ञे शयीथा[1] वेश्मनो ऽन्तरे ।
शाययेर्बटुकं द्वारे निगद्येति गतो द्विजः ॥२४

गते भर्तरि सा पापा[1] चकमे[2] बटुकं विटम् ।
स्वैरिणीनां महाराज्यं शून्ये वेश्मनि[3] जायते ॥२५

दर्शनैः स्पर्शनैः कामस्तयोर्गुह्यप्रकाशनैः ।
ववृधे तरसा तीव्रः सर्पिःस्पर्शैरिवानलः ॥२६

सर्वाभिरपि नारीभिः सर्वस्य ह्रियते मनः ।
तरुणस्य[1] तरुण्या हि स्वैरिण्या स्वैरिणो न किम् ॥२७

बुभुजे तामविश्रामं स[1] पीनस्तनपीडितः ।
विविक्ते[3] युवतिं प्राप्य विरामं[4] कः प्रपद्यते[5] ॥२८

---

२४) १. क शयनं कुरु ।

२५) १. पापिनी । २. अकरोत् । ३. क शून्यमन्दिरे ।

२६) १. घृत ।

२७) १. क पुरुषस्य ।

२८) १. क बटुकः । २. क कठिनस्तन । ३. क एकान्ते । ४. क विश्रामम्; विलम्बनम् । ५. करोति ।

तब वह पत्नीसे 'हे यज्ञे ! तू गृहकी रक्षा करती हुई घरके भीतर सोना और इस बटुकको दरवाजे पर सुलाना' यह कहकर मथुरा चला गया ॥२४॥

पतिके चले जानेपर उस पापिष्ठाने उस बटुकको जार बना लिया । ठीक है—सूने घरमें दुराचारिणी स्त्रियोंका पूरा राज्य हो जाता है ॥२५॥

उस समय उन दोनोंके मध्यमें एक दूसरेके देखने, स्पर्श करने और गुप्त इन्द्रियोंको प्रकट करनेसे कामवासना वेगसे इस प्रकार वृद्धिंगत हुई जिस प्रकार कि घीके स्पर्श से अग्नि वृद्धिंगत होती है ॥२६॥

सभी स्त्रियाँ स्वभावतः सब पुरुषोंके मनको आकर्षित किया करती हैं । फिर क्या दुराचारिणी युवती स्त्री दुराचारी युवक पुरुषके मनको आकर्षित नहीं करेगी ? वह तो करेगी ही ॥२७॥

वह बटुक यज्ञाके कठोर स्तनोंसे पीड़ित होकर उसे निरन्तर ही भोगने लगा । ठीक है—एकान्त स्थानमें युवती स्त्रीको पाकर भला कौन-सा पुरुष विश्रान्तिको प्राप्त होता है ? कोई भी नहीं—वह तो निरन्तर ही उसको भोगता है ॥२८॥

---

२५) क ड इ चक्रमे । २६) इ कामो भूयो गुह्य°; क स्पर्शादिवानलः । २८) ड इ विरागं कः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[1]आलिङ्गितस्तया[2] गाढं स विभ्रमनिधानया ।
पार्वत्यालिङ्गितं शम्भुं न [3]तृणायाप्यमन्यत ॥२९

न को ऽपि विद्यते दूतो न कामः संगकारकः ।
नारीनरौ[1] स्वयं सद्यो मिलितौ नेत्रविभ्रमैः ॥३०

निःशङ्का मदनालीढा स्वैरिणी नवयौवना ।
या तिष्ठति[1] नरं दृष्ट्वा किमाश्चर्यमतः परम् ॥३१

विलीयते नरः क्षिप्रं स्पृश्यमानो नतभ्रुवा[1] ।
शिखया पावकस्येव घृतकुम्भो निसर्गतः[2] ॥३२

संपद्यमानभोगो ऽपि स्वस्त्रीदत्तरतामृतः ।
एकान्ते ऽन्यस्त्रियं प्राप्य प्रायः क्षुभ्यति मानवः[1] ॥३३

किं पुनर्बटुको मत्तो ब्रह्मचर्यनिपीडितः ।
न क्षुभ्यति सतारुण्यां प्राप्यैकान्ते परस्त्रियम् ॥३४

---

२९) १. सन् । २. क यज्ञदत्तया । ३. तृणसदृशम् ।
३०) १. स्त्रीपुरुषयोर्यदि ।
३१) १. क्षणमेकम् ।
३२) १. स्त्रिया । २. क स्वभावात् ।
३३) १. यः तपस्वी ।

विलासकी स्थानभूत वह यज्ञा जब उस बटुकका गाढ़ आलिंगन करती थी तब वह पार्वतीके द्वारा आलिंगित महादेवको तृण जैसा भी नहीं मानता था—वह उस समय अपनेको पार्वतीसे आलिंगित महादेवकी अपेक्षा भी अधिक सौभाग्यशाली समझता था ॥२९॥

स्त्री और पुरुषके संयोगको करानेवाला न कोई दूत है और न काम भी है। किन्तु उक्त स्त्री-पुरुष परस्पर दृष्टिके विलाससे—आँखोंके मिलनेसे—ही स्वयं शीघ्र संयोगको प्राप्त होते हैं ॥३०॥

भयसे रहित, कामसे पीड़ित और नवीन यौवनसे संयुक्त कुलटा स्त्री यदि पुरुषको देखकर यों ही स्थित रहती है—उससे सम्भोग नहीं करती है—तो इससे दूसरा आश्चर्य और कौन हो सकता है ? ॥३१॥

नम्र भृकुटियोंको धारण करनेवाली स्त्रीके द्वारा स्पर्श किया गया मनुष्य शीघ्र ही स्वभावसे इस प्रकार द्रवीभूत हो जाता है जिस प्रकार कि अग्निकी ज्वालासे स्पर्श किया गया घीका घड़ा स्वभावसे शीघ्र ही द्रवीभूत हो जाता है—पिघल जाता है ॥३२॥

मनुष्य भोगोंसे सम्पन्न एवं अपनी स्त्रीके द्वारा दिये गये सुरतसुखसे सुखी होकर भी एकान्त स्थानमें दूसरेकी प्रियतमाको पा करके प्रायः क्षोभको प्राप्त हो जाता है ॥३३॥

---

२९) ड तृणायाथ मन्यतः । ३०) ब नेत्रविभ्रमौ । ३१) ब यत्तिष्ठति । ३२) अ विशेषपावकस्येव ।
३३) अ °न्यप्रियां; ब एकान्ते हि स्त्रियं । ३४) अ ब इ सतारुण्यः; क स तारुण्यं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं तयोर्दृढप्रेमपाशयन्त्रितचेतसोः[1] ।
रताब्धिमग्नयोस्तत्र गतं मासचतुष्टयम् ॥३५
अवादीदेकदा यज्ञा यज्ञं प्रेमभरालसा ।
त्वमद्य दृश्यसे म्लानः किं प्रभो मम कथ्यताम् ॥३६
सो ऽवोचद्बहवः कान्ते प्रयाता[1] मम वासराः ।
विष्णोरिव श्रिया सौख्यं भुञ्जानस्य त्वया समम् ॥३७
इदानीं तन्वि वर्तन्ते [1]भट्टागमनवासराः ।
किं करोमि क्व गच्छामि त्वां विहाय मनःप्रियाम् ॥३८
[1]विपत्तिर्महती स्थाने याने पादौ न गच्छतः[2] ।
इतस्तटमितो व्याघ्रः किं करोमि द्वयाश्रयः ॥३९
तमवादीत्ततो यज्ञा स्वस्थीभव शुचं त्यज ।
मा कार्षीरन्यथा चेतो मदीयं कुरु भाषितम् ॥४०

३५) १. क निश्चलप्रेमनिबद्धमानसोः [सयोः] ।
३७) १. क गताः ।
३८) १. भर्तृ ।
३९) १. आपदा । २. मम ।

फिर भला जो बटुक कामके उन्मादसे सहित, ब्रह्मचर्यसे पीड़ित—स्त्री सुखसे वंचित—और युवावस्थाको प्राप्त था वह एकान्तमें दूसरेकी स्त्री (यज्ञा) को पा करके क्या क्षोभको नहीं प्राप्त होता ? उसका क्षोभको प्राप्त होना अनिवार्य था ॥३४॥

इस प्रकार जिनका मन दृढ़ प्रेमपाशमें जकड़ चुका था ऐसे उन दोनों (यज्ञा और बटुक) के विषयसुखरूप समुद्रमें मग्न होते हुए वहाँ चार मास बीत चुके थे ॥३५॥

एक समय उस बटुक यज्ञके प्रेमभारसे आलस्यको प्राप्त हुई यज्ञा उससे बोली कि, हे स्वामिन् ! आज तुम खिन्न क्यों दिखते हो, यह मुझसे कहो ॥३६॥

यह सुनकर वह बोला कि हे प्रिये ! लक्ष्मीके साथ सुखका उपभोग करते हुए विष्णुके समान तुम्हारे साथ सुखको भोगते हुए मेरे बहुत दिन बीत चुके हैं ॥३७॥

हे कृशोदरी ! अब इस समय भट्ट (भूतमति) के आनेके दिन हैं । इसलिए मनको आह्लादित करनेवाली तुमको छोड़कर मैं क्या करूँ और कहाँ जाऊँ ? ॥३८॥

यदि मैं इसी स्थानमें रहता हूँ तब तो यहाँ अब आपत्ति बहुत है और अन्यत्र जानेमें पाँव नहीं चलते हैं—तुम्हारे बिना अन्यत्र जानेका जी नहीं चाहता है । इधर किनारा है और उधर व्याघ्र है, इन दोनोंके मध्यमें स्थित मैं अब क्या करूँ ? ॥३९॥

इसपर यज्ञा बोली कि, तुम शोकको छोड़कर स्वस्थ होओ और अन्यथा विचार न करो । बल्कि, मैं जो कहती हूँ उसको करो ॥४०॥

३६) ब ग्लानः किं । ३८) क ड ते विवर्तन्ते । ३९) अ ब इतस्तटमतो ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गृहीत्वा पुष्कलं द्रव्यं व्रजावो ऽन्यत्र सज्जन ।
क्रीडावः स्वेच्छया हृद्यं भुञ्जानौ सुरतामृतम् ॥४१

कुर्वहे सफलं नृत्वं दुरवापं[1] मनोरमम् ।
निर्विशावो[2] रसं सारं तारुण्यस्यास्य गच्छतः ॥४२

विमुच्य व्याकुलीभावं त्वमानय शवद्वयम्[1] ।
करोमि निर्गमोपायमलक्ष्यमखिलैर्जनैः ॥४३

प्रपेदे[1] स[2] वचस्तस्या[3] निःशेषं हृष्टमानसः ।
जायन्ते नेदृशे कार्ये दुःप्रबोधा हि कामिनः ॥४४

आनिनाय त्रियामायां स गत्वा मृतकद्वयम् ।
अभ्यर्थितो नरः स्त्रीभिः कुरुते किं न साहसम् ॥४५

एकं सा मृतकं द्वारे गृहस्याभ्यन्तरे परम् ।
निक्षिप्य द्रव्यमादाय ज्वालयामास मन्दिरम् ॥४६

---

४२) १. क दुःप्राप्यम् । २. गृही [ह्ली] वः; भुञ्जानहे ।
४३) १. क मृतकद्वयम् ।
४४) १. अङ्गीकृतवान् । २. क यज्ञदत्तः । ३. क यज्ञदत्तायाः ।
४५) १. रात्रौ ।

हे सज्जन ! हम दोनों बहुतसे धनको लेकर यहाँसे दूसरे स्थानपर चलें और वहाँ मनोहर विषयभोगरूप अमृतको भोगते हुए इच्छानुसार क्रीड़ा करें ॥४१॥

यह जो यौवन जा रहा है उसके श्रेष्ठ आनन्दका उपभोग करते हुए हम दोनों इस दुर्लभ व मनोहर मनुष्य जन्मको सफल करें ॥४२॥

तुम चिन्ताको छोड़कर दो शवों (मुर्दा शरीरों) को ले आओ। फिर मैं यहाँसे निकलनेका वह उपाय करती हूँ जिससे समस्त जन नहीं जान सकेंगे ॥४३॥

इसपर बटुकने हर्षितचित्त होकर उस यज्ञाके समस्त कथनको स्वीकार कर लिया। ठीक है—कामीजन ऐसे कार्यमें दूसरोंकी शिक्षाकी अपेक्षा नहीं करते हैं—वे ऐसे कार्यके विषयमें दुःप्रबोध नहीं हुआ करते हैं—ऐसे कार्यको वे बहुत सरलतासे समझ जाते हैं ॥४४॥

तत्पश्चात् वह रात्रिमें जाकर दो मृत शरीरोंको ले आया। ठीक है—स्त्रियोंके प्रार्थना करनेपर मनुष्य कौन से साहसको नहीं करता है ? वह उनकी प्रार्थनापर भयानकसे भयानक कार्यके करनेमें उद्यत हो जाता है ॥४५॥

तब यज्ञाने उनमें-से एक मृत शरीरको द्वारपर और दूसरेको घरके भीतर रखकर सब धनको ले लिया और उस घरमें आग लगा दी ॥४६॥

---

४१) अ ब सज्जनः ; क सज्जनैः । ४२) ब निर्विशामो ; क तारुण्यस्यावगच्छतः । ४३) ब विमुंच । ४४) ब तुष्टमानसः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्गत्य वसतेरस्या[1] गतौ तावुत्तरापथम्[3] ।
मृगौ विघातकारिण्या वागुरायाः[4] इव द्रुतम् ॥४७
शशाम दहनो[1] दग्ध्वा मन्दिरं तच्छनैः शनैः ।
शुशुचुः सकला लोकाः पश्यन्तो भस्म केवलम् ॥४८
सतीनामग्रणीर्दग्धा ब्राह्मणी गुणशालिनी ।
बटुकेन कथं सार्धं पश्यताहो कृशानुना ॥४९
बाह्याभ्यन्तरयोर्लोका विलोक्यास्थिकदम्बकम् ।
[1]विषण्णीभूतचेतस्का जग्मुर्गेहं निजं निजम् ॥५०
प्रपञ्चो विद्यते को ऽपि स लोकत्रितये ऽपि नो ।
कामेन शिक्ष्यमाणाभिर्भामाभिर्यो न बुध्यते ॥५१
लोकेन प्रेषितं लेखं दृष्ट्वागत्य द्विजाग्रणीः ।
विलोक्य मन्दिरं दग्धं विललाप विमूढधीः ॥५२

४७) १. क गृहात् । २. क यज्ञायज्ञदत्तौ । ३. क उत्तरदिशायाम् । ४. पाशायाः ।
४८) १. अग्निः ।
५०) १. विषाद ।

तत्पश्चात् वे दोनों उस नगरसे निकलकर उत्तरकी ओर इस प्रकारसे चल दिये जिस प्रकार कि हिरण व्याधकी प्राणघातक वागुरा (मृगोंको फँसानेवाली रस्सी) से छूटकर शीघ्र चल देते हैं ॥४७॥

उधर अग्नि उस घरको धीरे-धीरे जलाकर शान्त हो गयी। लोगोंने वहाँ केवल भस्म-को देखा। इस दुर्घटनाको देखकर सब शोक करने लगे ॥४८॥

वे सोचने लगे कि जो यज्ञा ब्राह्मणी सतियोंमें श्रेष्ठ और गुणोंसे विभूषित थी, आश्चर्य है कि बटुकके साथ उसको अग्निने देखते-देखते कैसे जला डाला ॥४९॥

वे लोग घरके बाह्य और अभ्यन्तर भागमें हड्डियोंके समूह को देखकर मनमें बहुत खिन्न हुए। अन्तमें वे सब अपने-अपने घरको चले गये ॥५०॥

तीनों लोकोंमें ऐसा कोई प्रपंच (धूर्तता) नहीं है जिसे कामके द्वारा शिक्षित की जानेवाली स्त्रियाँ न जानती हों। अभिप्राय यह कि स्त्रियाँ कामके वशीभूत होकर अनेक प्रकारके षड्यन्त्रोंको स्वयं रचा करती हैं ॥५१॥

इधर नगरवासी जनोंने ब्राह्मणके पास जो उसके घरके जलनेका समाचार भेजा था उसे देखकर वह ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ मूर्ख भूतमति वहाँ आया और अपने जले हुए घरको देखकर विलाप करने लगा ॥५२॥

४७) ब निर्गत्यावसरे तस्या गतौ; इ °वुत्तरां दिशम् । ४८) अ पश्यतो । ५१) अ सकलो त्रितये, ब स कालत्रितये; अ ब क शिष्यमाणाभिः; अ योषिताभिर्यो न । ५२) ब दृष्ट्वागच्छन् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विदधानो[1] ममादेशं गुर्वाराधनपण्डितः ।
कथं महामते दग्धो निर्दयेन कृशानुना ॥५३

ब्रह्मचारी शुचिर्दक्षो विनीतः शास्त्रपारगः ।
दृश्यते त्वादृशो यज्ञ कुलीनो बटुकः कुतः ॥५४

वर्तमाना ममाज्ञायां गृहकृत्यपरायणा ।
पतिव्रता कथं यज्ञे त्वं दग्धा कोमलाग्निना ॥५५

गुणशीलकलाधारा भर्तृभक्ता बृहत्त्रपा ।
त्वादृशी प्रेयसी कान्ते न कदापि भविष्यति ॥५६

यत्त्वं मदीयवाक्यस्था[1] विपन्नासि[2] कृशोदरि ।
कथं चन्द्रानने शुद्धिः पापस्यास्य[3] भविष्यति ॥५७

पादाभ्यां तन्वि राजीवे जङ्घाभ्यां मदनेषुधी[1] ।
ऊरुभ्यां कदलीस्तम्भौ रथाङ्गं[2] जघनश्रिया ॥५८

नाभिलक्ष्म्या जलावर्तं[1] मुदरेण पवित्रियम्[2] ।
कुचाभ्यां कानकौ कुम्भौ कण्ठेन जलजश्रियम्[3] ॥५९

५३) १. क कुर्वाणः ।

५७) १. वाक्येन गृहे स्थिता सती । २. मृता । ३. मम ।

५८) १. क शरधी । २. क चक्रवाकम् ।

५९) १. नीरस्यावर्तम् । २. वज्र । ३. शंख; क कमलशोभाम् ।

वह सोचने लगा कि उस अग्निने मेरी आज्ञाका पालन करनेवाले और गुरुकी उपासनामें चतुर उस अतिशय बुद्धिमान् बटुकको निर्दयतापूर्वक कैसे जला डाला ? ॥५३॥

जो यज्ञ बटुक ब्रह्मचारी, पवित्र, निपुण, विनयशील तथा शास्त्रमें पारंगत था वैसा वह बटुक अब कहाँसे दिख सकता है ? नहीं दिख सकता है ॥५४॥

हे यज्ञे ! मेरी आज्ञामें रहनेवाली और गृहकार्यमें तत्पर तुझ जैसी पतिव्रता कोमल स्त्रीको अग्निने कैसे जला डाला ? ॥५५॥

हे कान्ते ! गुण, शील एवं कलाओंकी आधारभूत, पतिकी भक्तिमें निरत, और वृद्धिंगत लज्जासे सहित (लज्जालु) तुझ जैसी प्रिया कभी भी नहीं हो सकेगी ॥५६॥

हे कृश उदरसे सहित व चन्द्रके समान मुखवाली प्रिये ! तू जो मेरे कहनेसे घरमें रहकर विपत्तिको प्राप्त हुई है इस मेरे पापकी शुद्धि कैसे होगी ? ॥५७॥

हे तन्वि ! तू अपने दोनों चरणोंसे कमलोंको, जंघाओंसे कामदेवके भाथा (बाणोंके रखनेका पात्र) को, जाँघोंसे केलेके खम्भोंको, जघनकी शोभासे रथके पहिये को, नाभिकी

५३) अ महामतिर्दग्धो । ५४) अ ड इ तादृशो; अ क ड इ यज्ञः । ५७) अ कृशोदरे । ५८) ब ड मदनेषुधीः, इ °षुधिम् । ५९) इ पविच्छविम्; अ ब क कनकौ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वक्त्रेण चन्द्रमोबिम्बं चक्षुर्भ्यां मृगचक्षुषी ।
ललाटेनाष्टमीचन्द्रं केशैश्चमरबालधिम् ॥६०

जल्पेन कोकिलालापं क्षमया त्वां वसुन्धराम् ।
जयन्तीं स्मरतः[1] कान्ते कुतस्त्या मम निर्वृतिः[2] ॥६१ कुलकम् ।

दर्शनं स्पर्शनं दृष्ट्वा हसनं नर्मभाषणम् ।
सर्वं दूरीकृतं कान्ते कृतान्तेन समं त्वया ॥६२

कण्ठौष्ठे नगरे रम्ये कण्ठौष्ठाद्यङ्गसुन्दरी ।
न लब्धा त्वं मया भोक्तुं देवानामिव सुन्दरी ॥६३

मम त्वया विहीनस्य का मृगाक्षि सुखासिका[1] ।
निर्वृतिश्चक्रवाकस्य चक्रवाकीमृते[3] कुतः ॥६४

इत्थमेकेन शोकार्तः सो ऽवाचि ब्रह्मचारिणा ।
किं रोदिषि वृथा मूढ व्यतिक्रान्ते[1] प्रयोजने[2] ॥६५

६१) १. क कामात् । २. सुख; क संतोष ।
६२) १. मृदु ।
६४) १. सुखेन स्थिता [तिः] । २. सुख । ३. विना ।
६५) १. क व्यतीते । २. इष्टे ।

छटासे जलके भ्रमणको, पेटसे वज्रकी कान्तिको, दोनों स्तनोंसे सुवर्ण कलशोंको, कण्ठसे शंखकी शोभाको, मुखसे चन्द्रबिम्बको, नयनोंसे हरिणके नेत्रोंको, मस्तकसे अष्टमीके चन्द्रमाको, बालोंसे चमरमृगकी पूँछको, वचनसे कोयलकी वाणीको, तथा क्षमासे पृथिवीको जीतती थी। हे प्रिये ! इस प्रकारके तेरे रूपका स्मरण करते हुए मुझे शान्ति कहाँसे प्राप्त हो सकती है ? ॥५८-६१॥

हे यज्ञे ! तेरा दर्शन, स्पर्शन, देख करके हँसना, मृदु भाषण; यह सब यमराजने दूर कर दिया है ॥६२॥

इस रमणीय कण्ठोष्ठ नगरमें आकर मैं देवोंकी सुन्दरी (अप्सरा) के समान कण्ठ और होठों आदि अवयवोंसे सुन्दर तुझे उपभोगके लिए नहीं प्राप्त कर सका ॥६३॥

हे मृगके समान सुन्दर नेत्रोंवाली ! जिस प्रकार चक्रवाकीके बिना चक्रवाक कभी सुखसे स्थित नहीं हो सकता है उसी प्रकार मैं भी तेरे बिना किस प्रकार सुखसे स्थित रह सकता हूँ ? नहीं रह सकता ॥६४॥

इस प्रकार शोकसे पीड़ित उस ब्राह्मण विद्वान्से एक ब्रह्मचारी बोला कि, हे मूर्ख ! प्रयोजनके बीत जानेपर अब व्यर्थ क्यों रोता है ? ॥६५॥

६०) अ चन्द्रमाबिम्बं; ड °चक्षुषा । ६१) इ च for त्वाम्; इ कुतः स्यान्मम । ६२) ब ड दिष्ट्या for दृष्ट्वा, अ नर्मरोषणम्, ब ड इ मर्मभाषणम् । ६३) क देवानामपि । ६४) ड इ सुखाशिका; अ चक्रवाकीगते ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संयुज्यन्ते वियुज्यन्ते कर्मणा जीवराशयः ।
प्रेरिताः पवमानेन[1] पर्णपुञ्जा इव स्फुटम् ॥६६

संयोगो दुर्लभो भूयो वियुक्तानां[1] शरीरिणाम् ।
संबध्यन्ते न[3] विश्लिष्टाः कथंचित्परमाणवः ॥६७

रसासृङ्मांसमेदोस्थिमज्जाशुक्रादिपुञ्जके ।
किं कान्तं कामिनीकाये संछन्ने[1] सूक्ष्मया त्वचा ॥६८

बहिरन्तरयोरस्ति यदि दैवाद्विपर्ययः ।
आस्तामालिङ्गनं केन वीक्ष्येतापि वपुस्तदा ॥६९

रुधिरप्रस्रवद्वारं दुर्गन्धं मूढ दुर्वचम् ।
वर्चोगृहोपमं निन्द्यं स्पृश्यते जघनं कथम् ॥७०

६६) १. क पवमानः प्रभञ्जनेत्यमरः ।
६७) १. क वियोगप्राप्तानाम् । २. भिद्यन्ते । ३. किं न ।
६८) १. क आच्छादिते ।
६९) १. क दूरे तिष्ठतु ।
७०) १. गूथ ।

जिस प्रकार वायुसे प्रेरित होकर पत्तोंके समूह कभी संयोगको और कभी वियोगको प्राप्त होते हैं उसी प्रकार कर्मके वशीभूत होकर जीवोंके समूह भी संयोग और वियोगको प्राप्त होते हैं ॥६६॥

वियोगको प्राप्त हुए प्राणियोंका फिरसे संयोग होना दुर्लभ है । ठीक भी है—पृथक्ता को प्राप्त हुए परमाणु फिरसे किसी प्रकार भी सम्बन्धको प्राप्त नहीं होते हैं ॥६७॥

रस, रुधिर, मांस, मेदा, हड्डी, मज्जा और वीर्यके समूहभूत तथा सूक्ष्म चमड़ेसे आच्छादित स्त्रीके शरीरमें भला रमणीय वस्तु क्या है ? ॥६८॥

यदि दैवयोगसे स्त्रीके शरीरके बाहरी और भीतरी भागोंमें विपरीतता हो जाये—कदाचित् उस शरीरका भीतरी भाग बाहर आ जाये—तो उसका आलिंगन तो दूर रहा, उसे देख भी कौन सकता है ? अर्थात् उसकी ओर कोई देखना भी नहीं चाहता है ॥६९॥

हे मूर्ख ! जो स्त्रीका जघन रुधिरके बहनेका द्वार है, दुर्गन्धसे सहित है, वचनसे कहनेमें दुखप्रद है अर्थात् जिसका नाम लेना भी लज्जाजनक है, तथा जो मलके गृह (संडास) के समान होता हुआ निन्द्य है; उसका स्पर्श कैसे किया जाता है ? अर्थात् उसका स्पर्श करना उचित नहीं है ॥७०॥

६७) क संसिध्यन्ते, ड संभिद्यन्ते for संबध्यन्ते । ६८) अ °पुंढुके; ब किं कान्ते ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लालानिष्ठीवनश्लेष्मदन्तकीटादिसंकुलम् ।
शशाङ्केन[1] कथं वक्त्रं[2] विदग्धैरुपमीयते[3][4] ॥७१

कथं सुवर्णकुम्भाभ्यां मांसग्रन्थी गडूपमौ[1] ।
तादृशौ निशितप्रज्ञैर्निगद्येते पयोधरौ ॥७२

स्त्रीपुंसयोर्मतः संगः सर्वाशुचिनिधानयोः ।
विचित्ररन्ध्रयोर्दक्षैरमेध्यघटयोरिव ॥७३

निपात्य कामिनीनद्या रागकल्लोलसंपदा ।
निक्षिप्यन्ते भवाम्भोधौ नायंनायं[1] नरद्रुमाः ॥७४

विमोह्य पुरुषान्नीचान्निक्षिप्य नरकालये ।
न याति या समं[1] रामा सेव्यते सा कथं बुधैः ॥७५

हुताशो[1] इव काष्ठं ये[2] प्लोषन्ते[3] हृदयं खलाः ।
जन्यमानाः सदा भोगास्तैः समा रिपवः कुतः[4] ॥७६

७१) १. क चन्द्रेण; सह । २. क मुखम् । ३. विद्वद्भिः; क पण्डितैः । ४. क उपमा कथं क्रियते ।
७२) १. व्रणशिखरोपमौ ।
७४) १. क नीत्वा नीत्वा ।
७५) १. सह ।
७६) १. अग्निः । २. क भोगाः । ३. क दह्यन्ते । ४. क वर्तन्ते ।

लार, थूक, कफ और दाँतोंके कीड़ोंसे व्याप्त स्त्रीके मुखके लिए चतुर कवि चन्द्रकी उपमा कैसे दिया करते हैं ? ॥७१॥

मांसकी गाँठोंके समान जो स्त्रीके दोनों स्तन मिट्टी आदिके लौंधोंके समान (अथवा फोड़ोंके समान) हैं उन्हें तीक्ष्ण बुद्धिवाले कवि सुवर्णके घड़ोंके समान कैसे बतलाते हैं ? ॥७२॥

सम्पूर्ण अपवित्रताके स्थानभूत स्त्री और पुरुषके छेदों (जननेन्द्रियों) के संयोगको चतुर पुरुष अपवित्र (मलसे परिपूर्ण) दो घड़ोंके संयोगके समान मानते हैं ॥७३॥

रागरूप लहरोंसे सम्पन्न स्त्रीरूपी नदी पुरुषरूप वृक्षोंको उखाड़कर बार-बार ले जाती है और संसाररूप समुद्रमें फेंक देती है ॥७४॥

जो स्त्री नीच पुरुषोंको अनुरक्त करके नरकरूप घर (नारकबिल) में पटक देती है और स्वयं साथमें नहीं जाती है उसका सेवन विद्वान् मनुष्य कैसे किया करते हैं ? अर्थात् विवेकी जनोंको उसका सेवन करना उचित नहीं है ॥७५॥

जिस प्रकार अग्नि लकड़ीको जलाया करती है उसी प्रकार उत्पन्न होनेवाले दुष्ट भोग निरन्तर हृदयको जलाया करते हैं—सन्तप्त किया करते हैं । उनके समान शत्रु कहाँसे हो सकते हैं ? अर्थात् वे विषयभोग शत्रुकी अपेक्षा भी प्राणीका अधिक अहित करनेवाले हैं ॥७६॥

७२) अ गुडूपमौ, क ड इ गडोपमौ; अ सदृशौ न शितप्रज्ञै°, क निहतप्राज्ञै°, ड इ निहितप्राज्ञै°; ड निगद्यन्ते ।
७५) ब यन्ति for याति । ७६) ब हुताशा इव ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रामाभिर्मोहितो जीवो न जानाति हिताहितम् ।
हताखिलविवेकाभिर्वारुणीभिरिव स्फुटम् ॥७७
कान्तेयं तनुभूरेष सवित्रीयमयं पिता ।
एषा बुद्धिविमूढानां भवेत् कर्मनियन्त्रिता[1] ॥७८
देहो विघटते यस्मिन्नाजन्मपरिपालितः ।
निर्वाहः[1] कीदृशस्तस्मिन् कान्तापुत्रधनादिषु ॥७९
ततो भूतमतिर्मूढः क्रुद्धस्तं न्यगदीदिति ।
उपदेशो बुधैर्व्यर्थः प्रदत्तो मूढचेतसाम् ॥८०
सकलमार्गविचक्षणमानसा हरविरिञ्चिमुरारिपुरंदराः[1] ।
विदधते दयितां हृदये कथं यदि भवन्ति विनिन्द्यतमास्तदा ॥८१
स्फुटमशोकपुरःसरपादपाः[1] परिहरन्ति न या[2] हतचेतनाः ।
सकलसौख्यनिधानपटीयसीः[3] कथममी पुरुषा वद ताः स्त्रियः ॥८२

७७) १. क दारुभिः [मदिराभिः] ।
७८) १. कर्मनिष्पादिता; क कर्मबद्धाः ।
७९) १. स्थिरत्वम् ।
८१) १. क रुद्र-ब्रह्मा-कृष्ण-इन्द्राः ।
८२) १. अशोकादिवृक्षाः । २. स्त्रियः । ३. दक्षाः ।

जीव जिस प्रकार समस्त विवेकबुद्धिको नष्ट करनेवाली मदिरासे मोहित होकर हित और अहितको नहीं समझता है उसी प्रकार वह उस मदिराके ही समान समस्त विवेकको नष्ट करनेवाली स्त्रियोंसे मोहित होकर हित और अहितको नहीं समझता है, यह स्पष्ट है ॥७७॥

यह स्त्री है, यह पुत्र है, यह माता है, और यह पिता है; इस प्रकारकी बुद्धि कर्मके वश मूर्खोंके हुआ करती है ॥७८॥

जिस संसारमें जन्मसे लेकर पुष्ट किया गया अपना शरीर नष्ट हो जाता है उसमें भला स्त्री, पुत्र और धन आदिके विषयमें निर्वाह कैसा ? अर्थात् जब प्राणीके साथ सदा रहनेवाला यह शरीर भी नष्ट हो जाता है तब भला प्रत्यक्षमें भिन्न दिखनेवाले स्त्री, पुत्र और धन आदि कैसे स्थिर रह सकते हैं ? ॥७९॥

ब्रह्मचारीके इस उपदेशको सुनकर क्रोधको प्राप्त हुआ वह मूर्ख भूतमति इस प्रकार बोला । ठीक है—अविवेकी जनोंको दिया गया उपदेश व्यर्थ हुआ करता है ॥८०॥

यदि स्त्रियाँ इस प्रकारसे अतिशय निन्द्य होतीं तो समस्त मार्गों (प्रवृत्तियों) में विचारशील मनवाले महादेव, ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्र उन स्त्रियोंको हृदयमें कैसे धारण करते हैं ॥८१॥

जिन स्त्रियोंको जड़ अशोक आदि वृक्ष भी स्पष्टतया नहीं छोड़ते हैं, समस्त सुखके करनेमें अतिशय चतुर उन स्त्रियोंको भला ये (विचारशील) पुरुष कैसे छोड़ सकते हैं, बतलाओ ॥८२॥

७९) ब प्रतिपालितः । ८०) अ जायते for बुधैः । ८१) इ हृदये दयितां । ८२) क ड हतमानसाः; अ ब विधान for निधान; अ ड वदतः, ब क वदत ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ददति पुत्रफलानि हरन्ति याः[1] क्लेशमशेषमनिन्दितविग्रहाः[2]।
इह समस्तहृषीकसुखप्रदं किमपि नास्ति विहाय वधूरिमाः ॥८३

भवति मूढमना यदि सेवया मृगदृशां पुरुषः सकलस्तदा।
युवतिसंगविषक्तनरो ऽत्र भो जगति कश्चन नास्ति विवेचकः ॥८४

वदतु[1] को ऽपि मनःप्रियमात्मनो जगति भिन्नरुचौ न निवार्यते।
मम पुनर्मतमेतदसंशयं[3] युवतितो न परं सुखकारणम् ॥८५

इति निगद्य विमूढमना द्विजः स्वयमलाबुयुगे[1] विनिवेश्य[2] सः।
[3]प्रियतमाबटुकास्थिकदम्बकं सुरनदीं चलितः परिवेगतः ॥८६

क्वचन तस्य पुरे बटुको ऽधमः स मिलितो भयवेपितविग्रहः[1]।
इति जगाद निपत्य[2] पदाब्जयोर्मम सहस्व[3] विभो दुरनुष्ठितम्[4] ॥८७

८३) १. क स्त्रियः। २. क्लेशम्; क परिश्रमम्।

८५) १. यदि वदति तदा वदतु। २. भिन्नपरिणामे। ३ निःसन्देहम्।

८६) १. क लोके तुंबडीयुग्मे। २. निक्षेप्य। ३. क यज्ञदत्ता।

८७) १. कम्पितशरीर। २. क नत्वा। ३. क क्षमस्व। ४. क दुश्चेष्टितम्।

उत्तम शरीरको धारण करनेवाली जो स्त्रियाँ पुत्ररूप फलोंको देती हैं और समस्त कष्टको नष्ट करती हैं उन स्त्रियोंको छोड़कर यहाँ समस्त इन्द्रियोंको सुख देनेवाली कोई भी दूसरी वस्तु नहीं है ॥८३॥

यदि स्त्रियोंके सेवनसे समस्त पुरुष विवेकहीन होते हैं तो फिर संसारमें उन स्त्रियोंके संगमें आसक्त पुरुषोंमें श्रेष्ठ कोई भी मनुष्य विचारशील नहीं हो सकता था ॥८४॥

संसार भिन्न रुचिवाला है, उसमें यदि कोई अपने मनको प्रिय अन्य वस्तु कहे तो उसे मैं नहीं रोकता हूँ। परन्तु मेरा यह निश्चित मत है कि युवतीको छोड़कर दूसरा कोई सुखका कारण नहीं है ॥८५॥

इस प्रकार कहकर उस विचारहीन ब्राह्मणने स्वयं दो तूम्बडियोंमें अपनी प्रियतमा (यज्ञा) एवं उस बटुककी हड्डियोंके समूहको रखा और शीघ्रतासे गंगा नदीकी ओर चल दिया ॥८६॥

इस प्रकारसे जाते हुए उसे किसी नगरमें वह निकृष्ट बटुक मिल गया। वह भयसे काँपते हुए उसके पाँवोंमें गिर गया और बोला कि हे प्रभो! मेरे दुराचरणको क्षमा कीजिए ॥८७॥

८३) ब फल for सुख। ८४) अ नरोत्तमो जगति। ८६) अ ड °मलांबु; अ क प्रतिवेगतः। ८७) ब वेपथु for वेपित; इ निपत्य जगाद।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्वमसि को बटुकेति[1] सौ भाषितो द्विजमुवाच विनीतमनाः पुनः ।
तव विभो बटुको ऽस्मि स यज्ञकश्चरणपङ्कजसेवनजीवितः ॥८८

इति निशम्य जगाद स मूढधीः क्व बटुकः स पटुर्मम भस्मितः ।
त्वमपरं व्रज वञ्चय वञ्चकं तव न यो वचनं शठ बुध्यते ॥८९

इति निगद्य गतस्य पुरान्तरे प्रियतमा[1] मिलिता सहसा खला ।
पदपयोरुहरोपितमस्तका भयविकम्पितधीरगदीदिति ॥९०

तव धनं सकलं व्यवतिष्ठते गुणनिधान सहस्व दुरीहितम् ।
निजदुरीहितवेपितचेतसे शुभमतिर्न कदाचन कुप्यति ॥९१

इति वचो विनिशम्य स तां जगौ त्वमसि काख्यदसौ[1] तव यज्ञिका ।
कथमलाबुनिवेशितविग्रहा[2] प्रियतमास्ति बहिर्मम यज्ञिका ॥९२

८८) १. इति द्विजेन । २. बटुकः; क भूतमतिः ।

९०) १. यज्ञका ।

९२) १. अहम् । २. क तुम्बिकास्थितशरीरा ।

यह सुनकर वह ब्राह्मण बोला कि हे बटुक ! तुम कौन हो । उसके इस प्रकार पूछनेपर वह नम्रतापूर्वक ब्राह्मणसे बोला कि हे प्रभो ! आपके चरण-कमलोंकी उपासनापर जीवित रहनेवाला मैं वही यज्ञ बटुक हूँ जो आपके घरमें रहता था ॥८८॥

इस बातको सुनकर वह दुर्बुद्धि ब्राह्मण बोला कि वह मेरा चतुर बटुक जलकर भस्म हो चुका है, वह अब कहाँसे आ सकता है ? जा, किसी दूसरेको धोखा देना । हे मूर्ख ! तेरे धोखा देनेवाले कथनको कौन नहीं जानता है ? ॥८९॥

इस प्रकार कहकर वह आगे चल दिया । तब आगे जाते हुए उसे किसी दूसरे नगरमें अकस्मात् वह दुष्ट यज्ञा प्रियतमा भी मिल गयी । वह भयसे काँपती हुई उसके चरणकमलोंमें मस्तकको रखकर इस प्रकार बोली ॥९०॥

हे गुणोंके भण्डार ! तुम्हारा सब धन व्यवस्थित है, मेरी दुष्प्रवृत्तिको क्षमा कीजिए । कारण यह कि जिसका मन अपने दुराचरणसे काँप रहा है उसके ऊपर उत्तम बुद्धिका धारक मनुष्य कभी भी क्रोधित नहीं होता है ॥९१॥

उसके इस कथनको सुनकर ब्राह्मण उससे बोला कि तुम कौन हो ? इसके उत्तरमें उसने कहा कि हे ब्राह्मण ! वह मैं तुम्हारी यज्ञा हूँ । इसपर ब्राह्मण बोला कि उसका शरीर तो इस तूंबड़ीके भीतर रखा है, फिर भला वह मेरी प्रियतमा यज्ञा बाहर कैसे आ सकती है ? ॥९२॥

८८) ब विहीनमनाः ; अ विभो ऽस्मि गृहे ऽपि स यज्ञकश्चरण ; अ सेवनजीविकः, क सेवकजीवितः ।
८९) अ को for यो । ९१) अ व्यवतिष्ठति, इ प्रिय तिष्ठति । ९२) अ का द्विज सा तव, इ का वद सा तव ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इह ददासि पुरे न ममासितुं[1] यदि तदाहमुपैमि[2] पुरान्तरम् ।
इति निगद्य स रुष्टमना[3] गतो हतसमस्तविचारमतिर्द्विजः ॥९३

विनिश्चयो यस्य निरीक्षिते स्वयं
विमूढचित्तस्य न वस्तुनि स्फुटम् ।
विबोध्यते केन स निर्विवेचकः
कृतान्तमत्यस्य[1] विमूढमर्दकम् ॥९४

अवगमविकलो[1] ऽमितगतिवचनं
धरति न हृदये भवभयमथनम् ।
इति हृदि सुधियो विदधति[2] विशदं
शुभमतिविसरं स्थिरशिवसुखदम्[3] ॥९५

इति धर्मपरीक्षायाममितगतिकृतायां
षष्ठः परिच्छेदः ॥६

९३) १. क भोजनं कर्तुम् । २. क गच्छामि । ३. क कोपमनाः ।
९४) १. विहाय; क त्यक्त्वा ।
९५) १. ज्ञानरहितः । २. करोति । ३. वचनम् ।

यदि तुम मुझे इस नगरमें नहीं रहने देती हो तो मैं दूसरे नगरमें चला जाता हूँ । इस प्रकार कहकर वह समस्त विवेकबुद्धिसे हीन ब्राह्मण मनमें क्रोधित होता हुआ वहाँसे चला गया ॥९३॥

इस प्रकार जिस मूढ़ मनुष्यको वस्तुके स्वयं देख लेनेपर भी स्पष्टतया उसका निश्चय नहीं होता है उस विचारहीन मनुष्यके लिए मूढ़ोंके मर्दन करनेवाले यमराजको छोड़कर दूसरा कौन समझा सकता है ? ॥९४॥

इस प्रकार विवेकज्ञानसे रहित मनुष्य संसारके भयको नष्ट करनेवाले अपरिमित ज्ञानी (सर्वज्ञ अथवा अमितगति आचार्य) के वचनको हृदयमें धारण नहीं करता है । परन्तु जो उत्तम बुद्धिके धारक (विवेकी) हैं वे निर्मल बुद्धिको विस्तृत करके अविनश्वर मोक्षसुखको प्रदान करनेवाले उस निर्मल वचनको हृदयमें धारण किया करते हैं ॥९५॥

इस प्रकार अमितगति विरचित धर्मपरीक्षामें
छठा परिच्छेद समाप्त हुआ ॥६॥

९३) क °माशितुं । ९४) ब विनिश्चिते; ब विबोधते, अ इ विबुध्यते; अ इ कृतान्तमन्यस्य । ९५) अ ब इ निदधति ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[७]

एवं वैः[1] कथितो मूढो विवेकविकलो द्विजाः ।
स्वाभिप्रायग्रहालीढो व्युद्ग्राही[2] कथ्यते ऽधुना ॥१

अथासौ नन्दुरद्वार्यां पार्थिवो दुर्धरो ऽभवत् ।
जात्यन्धस्तनुजस्तस्य जात्यन्धो ऽजनि नामतः[1] ॥२

हारकङ्कणकेयूरकुण्डलादिविभूषणम् ।
याचकेभ्यः शरीरस्थं स प्रादत्ते[3] दिने दिने ॥३

तस्यालोक्य जनातीतं[1] मन्त्री त्यागंमभाषत ।
कुमारेण प्रभो सर्वः कोशो दत्त्वा विनाशितः ॥४

ततो ऽवादीन्नृपो नास्य दीयते यदि भूषणम् ।
न जेमति तदा साधो[1] सर्वथा किं करोम्यहम् ॥५

---

१) १. क युष्मान् । २. ग्रसितः ।
२) १. नाम्ना ।
३) १. [अ] दधात् ।
४) १. क लोकाधिकम् । २ क दानम् ।
५) १. हे ।

हे ब्राह्मणो ! इस प्रकार मैंने आप लोगोंसे विवेकहीन मूढका वृत्तान्त कहा है । अब अपने अभिप्रायके ग्रहणमें दुराग्रह रखनेवाले व्युद्ग्राही पुरुषका स्वरूप कहा जाता है ॥१॥

नन्दुरद्वारी नगरीमें वह एक दुर्धर नामका राजा था, जिसके कि जन्मसे अन्धा एक जात्यन्ध नामका पुत्र उत्पन्न हुआ था ॥२॥

वह पुत्र प्रतिदिन अपने शरीरपर स्थित हार, कंकण, केयूर और कुण्डल आदि आभूषणोंको याचकोंके लिए दे दिया करता था ॥३॥

उसके इस अपूर्व दानको देखकर मन्त्री राजासे बोला कि हे स्वामिन् ! कुमारने दान देकर सब खजानेको नष्ट कर दिया है ॥४॥

यह सुनकर राजा बोला कि हे सज्जन ! यदि इसको भूषण न दिया जाये तो वह किसी प्रकार भी भोजन नहीं करता है, इसके लिए मैं क्या करूँ ? ॥५॥

---

१) अ द्विजः; ब स्वाभिप्रायी, स्वाभिप्रायो । अ adds after 1st verse : युष्माकमिति मूढो ऽयं संक्षेपेण निवेदितः । अधुनाकर्ण्यतां विप्रा व्युद्ग्राहीति निवेद्यते ॥२॥ २) अ नन्दुराद्वार्यां; अ जात्यन्धस्तनयो यस्य, ब जात्यन्धोऽङ्गजो यस्य । ३) अ प्रदत्ते, इ प्रादाच्च । ४) अ विभो ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नृपं मन्त्री ततो ऽवादीदुपायं विदधाम्यहम् ।
अभाषत ततो राजा विधेहि न निवार्यसे ॥६

प्रदायाभरणं लौहं लोहदण्डं समर्प्य तम् ।
समर्थिजनघातार्थं कुमारमभणीदिति ॥७

तव राज्यक्रमायातं भूषणं बुधपूजितम् ।
मादाः कस्यापि तातेदं दत्ते[1] राज्यं विनश्यति ॥८

ब्रूयाल्लौहमिदं यो यस्तं तं[1] मूर्धनि ताडय ।
कुमार लोहदण्डेन मा कार्षीः करुणां क्वचित् ॥९

प्रतिपन्नं[1] कुमारेण समस्तं मन्त्रिभाषितम्[2] ।
के नात्र प्रतिपद्यन्ते कुशलैः कथितं वचः ॥१०

ततो लोहमयं दण्डं गृहीत्वा स व्यवस्थितः ।
रोमाञ्चितसमस्ताङ्गस्तोषाकुलितमानसः ॥११

---

७) १. क याचकजनहननाय ।

८) १. भूषणे ।

९) १. पुरुषम् ।

१०) १. अङ्गीकृतम् । २. वचः ।

इसपर मन्त्रीने राजासे कहा कि इसका उपाय मैं करता हूँ। तब राजाने कहा कि ठीक है, करो उसका उपाय, मैं नहीं रोकता हूँ ॥६॥

तब मन्त्रीने कुमारको लोहमय आभूषण और साथमें जनोंका घात करनेमें समर्थ एक लोहनिर्मित दण्डको देते हुए उससे कहा कि विद्वानोंसे पूजित यह भूषण तुम्हारे राज्य-क्रमसे—कुल परम्परासे—चला आ रहा है। हे तात! इसे किसीके लिए भी नहीं देना। कारण इसका यह है कि इसके दे देनेपर यह राज्य नष्ट हो जायेगा। हे कुमार, जो-जो मनुष्य इसे लोहमय कहें उस-उसके सिरपर इस दण्डकी ठोकर मारना, इसके लिए कहीं भी दया नहीं करना ॥७-९॥

मन्त्रीके इस समस्त कथनको कुमारने स्वीकार कर लिया। ठीक है—चतुर पुरुषोंके द्वारा कहे गये वचनको यहाँ कौन नहीं स्वीकार करते हैं? अर्थात् चतुर पुरुषोंके कथनको सब ही स्वीकार करते हैं ॥१०॥

उस लोहमय दण्डको लेकर उसके मनमें बहुत सन्तोष हुआ। तब वह रोमांचित शरीरसे संयुक्त होता हुआ उस दण्डके साथ स्थित हुआ ॥११॥

---

६) अ त्वं for न; ब निवार्यते । ७) अ ब समर्प्य सः, ड समर्पितः, इ समर्पितम्; अ समर्थं जनथा नाथ कुमार°, ब समर्थ जन°, इ तमर्थिजन । ९) ब °ल्लोहमयं; क तं त्वं मू° । ११) अ °स्ताङ्गतोषा° ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यो ऽवदद्दूषणं लौहं मस्तके तं जघान सः[1]।
[2]व्युद्ग्राहितमतिर्नीचः सुन्दरं कुरुते कुतः ॥१२
सुन्दरं मन्यते प्राप्तं यः स्वेष्टस्यं वचस्तदा ।
परस्यासुन्दरं सर्वं केनासौ बोध्यते[2] ऽधमः ॥१३
यो जात्यन्धसमो मूढः परवाक्याविचारकः।
स व्युद्ग्राही मतः प्राज्ञैः स्वकीयाग्रहसक्तधीः ॥१४
शक्यते मन्दरो[1] भेत्तुं जातु पाणिप्रहारतः ।
प्रतिबोधयितुं शक्यो व्युद्ग्राही न च वाक्यतः ॥१५
अज्ञानान्धः शुभं हित्वा गृह्णीते वस्त्वसुन्दरम् ।
जात्यन्ध इव सौवर्णं दीनो भूषणमायसम्[1] ॥१६
प्रपद्यते सदा मुग्धो यः सुन्दरमसुन्दरम् ।
उच्यते पुरतस्तस्यं न प्राज्ञेन सुभाषितम्[2] ॥१७

१२) १. क जात्यन्धः । २. क हठग्राही ।
१३) १. स्वसंबन्धिनः । २. विज्ञाप्यते ।
१५) १. मेरु ।
१६) १. लोहमयम् ।
१७) १. मुग्धस्य । २. क सुवचनम् ।

उसके समक्ष जो भी उस आभूषणको लोहेका कहता वह उसके मस्तकपर उस लोहदण्डका प्रहार करता । ठीक है—जिस नीच मनुष्यकी बुद्धिमें भ्रम उत्पन्न करा दिया गया है—जो बहका दिया गया है—वह अच्छा कार्य कहाँसे कर सकता है ? नहीं कर सकता है ॥१२॥

जो निकृष्ट मनुष्य प्राप्त हुए अपने इष्ट जनके कथनको तो उत्तम मानता है तथा दूसरेके सब कथनको बुरा समझता है उसे भला कौन समझा सकता है ? ऐसे दुराग्रही मनुष्यको कोई भी नहीं समझा सकता है ॥१३॥

जो मूर्ख उस जात्यन्ध कुमारके समान दूसरेके वचनपर विचार नहीं करता है और अपने दुराग्रहमें ही बुद्धिको आसक्त करता है उसे पण्डित जन व्युद्ग्राही मानते हैं ॥१४॥

कदाचित् हाथकी ठोकरसे मेरु पर्वतको भेदा जा सकता है, परन्तु वचनों द्वारा कभी व्युद्ग्राही मनुष्यको प्रतिबोधित नहीं किया जा सकता है ॥१५॥

जिस प्रकार उस दीन जात्यन्ध कुमारने सुवर्णके भूषणको छोड़कर लोहेके भूषणको लिया उसी प्रकार अज्ञानसे अन्धा मनुष्य उत्तम वस्तुको छोड़कर निरन्तर हीन वस्तुको ग्रहण किया करता है ॥१६॥

जो मूर्ख मनुष्य सुन्दर वस्तुको निकृष्ट मानता है उसके आगे बुद्धिमान् पुरुष सुन्दर भाषण नहीं करता है ॥१७॥

१२) अ ब ड इ लोहं । १३) ब बोध्यते ततः । १४) अ °शक्तिधीः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वञ्च्यते सकलो लोको लोकैः कामार्थलोलुपैः ।
यतस्ततः सदा सद्भिर्विवेच्यं[1] शुद्धया धिया ॥१८

व्युद्ग्राही कथितो विप्राः कथ्यते पित्तदूषितः ।
इदानीं श्रूयतां कृत्वा समाधानमखण्डितम् ॥१९

अजनिष्ट नरः कश्चिद् विह्वलीभूतविग्रहः ।
पित्तज्वरेण तीव्रेण वह्निनेव करालितः[1] ॥२०

तस्य शर्करया मिश्रं पुष्टितुष्टिप्रदायकम् ।
अदायि क्वथितं[1] क्षीरं पीयूषमिव पावनम् ॥२१

सो ऽमन्यताधमस्तिक्तमेतन्निम्बरसोपमम्[1] ।
भास्वरं भास्वतस्तेजः कौशिको मन्यते तमः[2] ॥२२

इत्थं नरो भवेत् कश्चिद्युक्तायुक्ताविवेचकः[1] ।
मिथ्याज्ञानमहापित्तज्वरव्याकुलिताशयः[2] ॥२३

१८) १. विचारणीयम् ।
२०) १. पीडितः ।
२१) १. कढितम् ।
२२) १. कटुकम् । २. सूर्यस्य ।
२३) १. क अविचारकः । २. चित्तम् ।

जो लोग काम और अर्थके साधनमें उद्युक्त रहते हैं वे चूँकि सब ही अन्य मनुष्योंको धोखा दिया करते हैं अतएव सत्पुरुषोंको सदा निर्मल बुद्धिसे इसका विचार करना चाहिए ॥१८॥

हे ब्राह्मणो ! इस प्रकार मैंने व्युद्ग्राही पुरुषका स्वरूप कहा है। अब इस समय पित्तदूषित पुरुषके स्वरूपको कहता हूँ, उसे आप लोग स्थिरतासे सावधान होकर सुनें ॥१९॥

कोई एक पुरुष था, जिसका शरीर अग्निके समान तीव्र पित्तज्वरसे व्याकुल व पीड़ित हो रहा था ॥२०॥

उसके लिए अमृतके समान पवित्र, शक्करसे मिश्रित एवं सन्तोष व पुष्टिको देनेवाला औंटाया हुआ दूध दिया गया ॥२१॥

इस दूधको उस नीचने नीमके रसके समान कड़वा माना। सो ठीक ही है—उल्लू सूर्यके चमकते हुए प्रकाशको अन्धकार स्वरूप ही समझता है ॥२२॥

इसी प्रकार जिस किसी मनुष्यका हृदय मिथ्याज्ञानरूप तीव्र पित्तज्वरसे व्याकुल होता है वह भी योग्य और अयोग्यका विचार नहीं कर सकता है ॥२३॥

१८) अ सुधिया for शुद्धया । २१) अ ड तुष्टिपुष्टि°; ब आदाय । २२) अ °धमस्त्यक्त° । २३) अ °युक्तविवेचकः, ब युक्त्यायुक्त्यवि°, इ °युक्तविचारकः; इ °कुलितात्मना ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तस्य प्रदर्शितं तत्त्वं प्रशान्तिजननक्षमम्[1] ।
जन्ममृत्युजराहारि [2]दुरापममृतोपमम् ॥२४
कालकूटोपमं मूढो मन्यते भ्रान्तिकारकम् ।
जन्ममृत्युजराकारि सुलभं हतचेतनः ॥२५
सो ऽज्ञानव्याकुलस्वान्तो भण्यते पित्तदूषितः ।
प्रशस्तमीक्षते सर्वमप्रशस्तं सदापि यः ॥२६
अन्याय्यं[1] मन्यते न्याय्यमित्थं यो ज्ञानवर्जितः ।
न किंचनोपदेष्टव्यं[2] तस्य तत्त्वविचारिभिः ॥२७
विपरीताशयो ऽवाचि भवतां पित्तदूषितः ।
अधुना भण्यते चूतः[1] सावधानैर्निशम्यताम् ॥२८
अङ्गदेशे ऽभवच्चम्पा नगरी विबुधार्चिता ।
दिवीव[1] स्वप्सरोरम्या हृद्यधामामरावती[2] ॥२९

२४) १. क उपशमोत्पादकम् । २. क दुःप्राप्यम् ।
२७) १. क अनीतम् । २. हिताहितम् ।
२८) १. आम्रच्छेदी ।
२९) १. स्वर्गे [इ] व । २. मनोहरा ।

उसके लिए अमृतके समान उत्कृष्ट शान्तिके उत्पन्न करनेमें समर्थ और जन्म, मरण व जराको नष्ट करनेवाला जो दुर्लभ वस्तुका यथार्थ स्वरूप दिखलाया जाता है उसे वह मूर्ख दुर्बुद्धि कालकूट विषके समान अशान्तिका कारण तथा जन्म, मरण एवं जराको करनेवाला सुलभ मानता है ॥२४-२५॥

जो अज्ञानसे व्याकुल चित्तवाला मनुष्य निरन्तर समस्त प्रशंसनीय वचन आदिको निन्द्य समझा करता है उसे पित्तदूषित कहा जाता है ॥२६॥

इस प्रकार जो अज्ञानी मनुष्य न्यायोचित बातको अन्यायस्वरूप मानता है उसके लिए तत्त्वज्ञ पुरुष कुछ भी उपदेश नहीं दिया करते हैं ॥२७॥

मैंने उपर्युक्त प्रकारसे आप लोगोंके लिए विपरीत अभिप्रायवाले पित्तदूषित पुरुषका स्वरूप कहा है । अब इस समय आम्रपुरुषके स्वरूपको कहता हूँ, उसे सावधान होकर सुनिए ॥२८॥

अंगदेशमें विद्वानोंसे पूजित एक चम्पानगरी थी । जिस प्रकार स्वर्गमें देवोंसे पूजित, सुन्दर अप्सराओंसे रमणीय, एवं मनोहर भवनोंसे परिपूर्ण अमरावती पुरी सुशोभित है उसी प्रकार उक्त देशके भीतर स्थित वह चम्पानगरी भी अप्सराओंके समान सुन्दर स्त्रियोंसे रमणीय और मनोहर प्रासादोंसे वेष्टित होकर शोभायमान होती थी ॥२९॥

२४) अ प्रशान्त° । २५) ब क ड इ मेने for मूढो; क ड इ तदासौ for मन्यते ; इ °चेतनम् । २६) अ पितृर्हषितः । २८) अ reads 31-32 after this verse । २९) ड हृद्यमानामरा° ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विनम्रमौलिभिर्भूपै राजाभून्नृपशेखरः ।
तत्र सेव्यो ऽमरावत्यां[1] मघवानिव[2] नाकिभिः[3] ॥३०

सर्वरोगजराच्छेदि सेव्यमानं शरीरिणाम् ।
दुरवापं परैर्हृद्यं रत्नत्रयमिवार्चितम् ॥३१

रूपगन्धरसस्पर्शैः सुन्दरैः सुखदायिभिः ।
आनन्दितजनस्वान्तं दिव्यस्त्रीयौवनोपमम् ॥३२

एकमाम्रफलं तस्य प्रेषितं प्रियकारिणा ।
राज्ञा वङ्गाधिनाथेन सौरभ्याकृष्टषट्पदम्[2] ॥३३॥ त्रिभिर्विशेषकम् ॥

जहर्ष धरणीनाथस्तस्य दर्शनमात्रतः ।
न कस्य जायते हर्षो रमणीये निरीक्षिते ॥३४

एकेनानेन लोकस्य कश्चिदाम्रफलेन मे ।
सर्वरोगहुताशेन संविभागो न जायते ॥३५

यथा भवन्ति भूरीणि[1] कारयामि तथा नृपः ।
ध्यात्वेति वनपालस्य समर्प्य न्यगदीदिति ॥३६

३०) १. चम्पायाम् । २. क इन्द्रः । ३. क सुरैः ।

३३) १. परममित्रभावेन । २. भ्रमरम् ।

३६) १. फलानि ।

जिस प्रकार अमरावतीमें देवोंसे आराधनीय इन्द्र रहता है उसी प्रकार उस चम्पा-नगरीमें नमस्कार करते समय मुकुटोंको झुकानेवाले अनेक राजाओंसे सेवनीय नृपशेखर नामका राजा था ॥३०॥

उस राजाके पास उसके हितैषी वंगदेशके राजाने सुगन्धिसे खेंचे गये भ्रमरोंसे व्याप्त एक आम्रफलको भेजा । जिस प्रकार जीवोंके द्वारा सेव्यमान दुर्लभ पूज्य रत्नत्रय उनके सब रोगों और जराको नष्ट किया करता है उसी प्रकार दूसरोंके लिए दुर्लभ, मनोहर और पूजाको प्राप्त वह आम्रफल भी प्राणियोंके द्वारा सेव्यमान होकर उनके सब प्रकारके रोगों एवं जराको दूर करनेवाला था; तथा जिस प्रकार दिव्य स्त्रीका यौवन सुन्दर व सुखप्रद रूप, गन्ध, रस और स्पर्शके द्वारा प्राणियोंके मनको प्रमुदित किया करता है उसी प्रकार वह आम्रफल भी सुन्दर व सुखप्रद अपने रूप, गन्ध, रस और स्पर्शके द्वारा मनुष्योंके अन्तः-करणको आनन्दित करता था ॥३१-३३॥

उसके देखने मात्रसे ही राजाको बहुत हर्ष हुआ । ठीक है—रमणीय वस्तुके देखनेपर किसे हर्ष नहीं हुआ करता है ? सभीको हर्ष हुआ करता है ॥३४॥

समस्त रोगोंके लिए अग्निस्वरूप इस एक आम्रफलसे मेरे प्रजाजनको कोई विभाग नहीं किया जा सकता है, अतएव जिस प्रकारसे ये संख्यामें बहुत होते हैं वैसा कोई उपाय

३२) इ सुखकारिभिः । ३४) ब स जहर्ष । ३६) ब समर्थो for समर्प्य ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यथा भवति भद्रायं चूतो भूरिफलप्रदः ।
तथा कुरुष्व नीत्वा त्वं रोपयस्व वनान्तरे ॥३७
नत्वोक्त्वैवं करोमीति वृक्षवृद्धिविशारदः ।
स[1] व्यवीवृधदारोप्य वनमध्ये विधानतः ॥३८
सो ऽजायत महांश्चूतो भूरिभिः खचितः फलैः ।
सत्त्वाह्लादकरः सद्यः सच्छायः सज्जनोपमः ॥३९
पक्षिणा नीयमानस्य सर्पस्य पतिता वसा[1] ।
एकस्याथ तदीयस्य फलस्योपरि दैवतः ॥४०
तस्याः समस्तनिन्द्यायाः[1] संगेन तदपच्यत[2] ।
नेत्रानन्दकरं हृद्यं जराया इव[3] यौवनम्[4] ॥४१

३८) १. वनपालः ।

४०) १. गरल; क त्वक् ।

४१) १. क त्वचः । २. क आम्रफलम् । ३. क यथा । ४. क पच्यते ।

कराता हूँ; ऐसा सोचकर राजाने उसे वनपालको दे दिया और उससे कहा कि हे भद्र ! जिस प्रकारसे यह आम्रफल बहुत फलोंको देनेवाला होता है वैसा कार्य करो—इसे ले जाकर तुम अपने किसी वनमें लगा दो ॥३५–३७॥

यह सुनकर वृक्षोंके बढ़ानेमें निपुण उस वनपालने राजाको नमस्कार करके उसे ले लिया और यह कहकर कि ऐसा ही करता हूँ, उसने उसे विधिपूर्वक वनके भीतर लगा दिया और बढ़ाने लगा ॥३८॥

इस प्रकारसे उस आम्र वृक्षने सज्जनके समान शीघ्र ही महानताका रूप धारण कर लिया—जिस प्रकार सज्जन बहुत-से फूलोंसे—पूजा आदिसे प्राप्त होनेवाले स्वर्गादिके उत्पादक पुण्यसे—युक्त होता है उसी प्रकार वह वृक्ष भी बहुत-से आम्रफलोंसे व्याप्त हो गया था, जिस प्रकार सज्जन मनुष्य प्राणियोंको आनन्दित किया करता है उसी प्रकार वह वृक्ष भी प्राणियोंको आनन्दित करता था, तथा जिस प्रकार सज्जन समीचीन छाया (कान्ति) से सुशोभित होता है उसी प्रकार वह विशाल वृक्ष भी समीचीन छायासे सुशोभित था ॥३९॥

उस समय एक पक्षी सर्पको ले जा रहा था। भाग्यवश उसकी चर्बी उक्त आम्रवृक्षके एक फलके ऊपर गिर गयी ॥४०॥

सब प्रकारसे निन्दनीय उस चर्बीके संयोगसे वह नेत्रोंको आनन्द देनेवाला मनोहर फल इस प्रकारसे पक गया जिस प्रकारसे जराके संयोगसे यौवन पक जाता है ॥४१॥

३७) ब भद्रोयं । ३९) ब भूरिभी रचितः; ड इ स त्वाह्लाद° । ४१) ब जरया ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपतत् तत्फलं क्षिप्रं विषतापेन तापितम् ।
[1]अन्यायेनातिरौद्रेण महाकुलमिवार्चितम् ॥४२
आनीय वनपालेन क्षितिपालस्य दर्शितम् ।
[1]तत्पक्वं तुष्टचित्तेन सर्वाक्षहरणक्षमम्[2] ॥४३
तन्माकन्दफलं[1] दुष्टं विषाक्तं[2] विकलात्मना ।
अदायि युवराजस्य[3] राज्ञा दृष्ट्वा मनोरमम् ॥४४
प्रसाद इति भाषित्वा तदादाय नृपात्मजः ।
चखादासुहरं[1] घोरं कालकूटमिव द्रुतम् ॥४५
स तत्स्वादनमात्रेण बभूव प्राणवर्जितः ।
जीवितं हरते कस्य दुष्टसेवा न कल्पिता[1] ॥४६
विपन्नं[1] वीक्ष्य राजन्यं राजा चूतमखण्डयत् ।
उद्यानमण्डनीभूतं कोपानलवितापितः[2] ॥४७

४२) १. क यथा अन्यायेन महाकुलं पतितम् ।
४३) १. आम्रफलम् । २. क सर्वेन्द्रियसुखकरम् ।
४४) १. आम्रफलम् । २. आलिप्तम् । ३. क पुत्रस्य ।
४५) १. क प्राणहरम् ।
४६) १. कृता ।
४७) १. क मृतम् । २. क सन् ।

विषके तापसे सन्तापको प्राप्त होकर वह फल शीघ्र ही इस प्रकारसे पतित हो गया—गिर गया—जिस प्रकार कि अतिशय भयानक अन्यायसे प्रतिष्ठित महान् कुल पतित हो जाता है—निन्द्य बन जाता है ॥४२॥

सब इन्द्रियोंको आकर्षित करनेवाले उस पके हुए फलको मनमें सन्तुष्ट बनपालने लाकर राजाको दिखलाया ॥४३॥

राजाने विकल होते हुए (शीघ्रतासे) विषसे व्याप्त उस दूषित मनोहर आमके फलको देखकर युवराजके लिए दे दिया ॥४४॥

तब राजपुत्रने 'यह आपका बड़ा अनुग्रह है' कहते हुए भयानक कालकूट विषके समान प्राणघातक उस फलको लेकर शीघ्र ही खा लिया ॥४५॥

उसके खाते ही वह राजपुत्र प्राणोंसे रहित हो गया—मर गया। ठीक है—की गयी दुष्टकी सेवा (दूषित वस्तुका उपभोग) भला किसके प्राणोंका अपहरण नहीं करती है ? वह सब ही के प्राणोंका अपहरण किया करती है ॥४६॥

तब राजाने इस प्रकारसे मरणको प्राप्त हुए राजपुत्रको देखकर क्रोधरूप अग्निसे सन्तप्त होते हुए उद्यानकी शोभास्वरूप उस आम्रवृक्षको कटवा डाला ॥४७॥

४३) अ ब क इ तत्यक्तं । ४४) ब विकलविकलात्मना; इ आदायि····राजा । ४५) इ प्रसादमिति ।
४७) अ °मण्डनं चूतं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कासशोषजराकुष्टच्छर्दिशूलक्षयादिभिः ।
रोगैर्जीवितनिर्विण्णा[1] दुःसाध्यैः पीडिता जनाः ॥४८
निशम्य विषमाक्रन्दं खण्डितं क्षितिपालिना ।
आदायाखादिषुः सर्वे प्राणमोक्षणकाङ्क्षिणः ॥४९
तदास्वादनमात्रेण सर्वव्याधिविवर्जिताः ।
अभूवन्निखिलाः सद्यो मकरध्वजमूर्तयः ॥५०
आकर्ण्य कल्पतां[1] राजा तानाह्वाय सविस्मयः ।
प्रत्यक्षीकृत्य दुश्छेदं विषादं तरसागमत् ॥५१
विचित्रपत्रसंकीर्णः क्षितिमण्डलमण्डनः ।
सर्वाशवासकरश्चूतो यश्चक्रीव महोदयः ॥५२
दूरीकृतविचारेण कोपान्धीकृतचेतसा ।
निर्मूलकाषमुत्तुङ्गः स मया कषितः[1] कथम् ॥५३

४८) १. क खेदखिन्नाः ।
५१) १. नीरोगताम् ।
५२) १. वाहन ।
५३) १. क स्फेटकः ।

उस समय जो लोग खाँसी, शोष (यक्ष्मा), कोढ़, छर्दि, शूल और क्षय आदि दुःसह रोगोंसे पीड़ित होकर जीवनसे विरक्त हो चुके थे उन लोगोंने जब यह सुना कि राजाने विषमय आम्रके वृक्षको कटवा डाला है तब उन सबने मरनेकी इच्छासे उसके फलोंको लेकर खा लिया ॥४८-४९॥

उनके खाते ही वे सब शीघ्र उपर्युक्त समस्त रोगोंसे रहित होकर कामदेवके समान सुन्दर शरीरवाले हो गये ॥५०॥

जब राजाने उक्त वृक्षकी रोगनाशकता (या कल्पवृक्षरूपता) को सुना तो उसने उक्त रोगियोंको बुलाकर आश्चर्यपूर्वक प्रत्यक्षमें देखा कि उनके वे दुःसाध्य रोग सचमुच ही नष्ट हो गये हैं । इससे उसे वृक्षके कटवा डालनेपर बहुत पश्चात्ताप हुआ ॥५१॥

तब राजा सोचने लगा कि वह वृक्ष चक्रवर्तीके समान महान् अभ्युदयसे सम्पन्न था—जिस प्रकार चक्रवर्ती अनेक प्रकारके पत्रों (हाथी, घोड़ा एवं रथ आदि वाहनों) से सहित होता है उसी प्रकार वह वृक्ष भी अनुपम पत्रों (पत्तों) से सहित था, यदि चक्रवर्ती पृथिवीमण्डलसे मण्डित होता है—उसपर एकछत्र राज्य करता है—तो वह वृक्ष भी पृथिवीमण्डल-मण्डित था—पृथिवीमण्डलको सुशोभित करता था, तथा जिस प्रकार चक्रवर्ती मनुष्योंकी आशाओंको पूर्ण करता है उसी प्रकार वह वृक्ष भी उनकी आशाओंको पूर्ण करनेवाला था । इस प्रकार जो वृक्ष पूर्णतया चक्रवर्तीकी समानताको प्राप्त था उस उन्नत वृक्षको

४९) अ काङ्क्षिभिः । ५०) क ड इ अभवन् । ५१) ब क इ कल्पतां, ड कल्पिता; इ तानाहूय; इ प्रत्यक्षीकृतदुश्छेद्यं; क इ परमागमत् । ५२) अ °मण्डितः for °मण्डनः । ५३) अ कथितः, ब ड इ कर्षितः for कषितः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अविचार्य[1] फलं दत्तं हा किं दुर्मेधसा[2] मया ।
यदि दत्तं कुतश्छिन्नश्चूतो रोगनिषूदकः ॥५४
इत्थं वज्रानलेनेव दुर्निवारेण संततम् ।
अदह्यत चिरं राजा पश्चात्तापेन मानसे ॥५५
पूर्वापरेण कार्याणि विदधात्यपरीक्ष्य यः ।
पश्चात्तापमसौ तीव्रं चूतघातीव गच्छति ॥५६
अविचार्य जनः कृत्यं[1] यः करोति दुराशयः ।
क्षिप्रं पलायते तस्य मनीषितमशेषतः ॥५७
निर्विचारस्य जीवस्य कोपव्याहतचेतसः ।
हस्तीभवन्ति[1] दुःखानि सर्वाणि जननद्वये ॥५८
निर्विवेकस्य विज्ञाय दोषमित्थमवारणम् ।
विवेको हृदि कर्तव्यो लोकद्वयसुखप्रदः ॥५९
क्षेत्रकालबलद्रव्ययुक्तायुक्तपुरोगमाः[1] ।
विचार्याः सर्वदा भावा विदुषा हितकाङ्क्षिणा ॥६०

५४) १. कुमारस्य फलं किं दत्तम् । २. क दुर्बुद्धिना ।
५७) १. वस्तु ।
५८) १. हस्ते भवन्ति ।
६०) १. प्रमुखाः ।

क्रोधसे अन्धे होकर विवेक-बुद्धिको नष्ट करते हुए मैंने कैसे जड़-मूलसे नष्ट कर दिया । तथा मैंने दुर्बुद्धिवश कुछ भी विचार न करके उसके उस विषैले फलको राजकुमारको क्यों दिया, और यदि अविवेकसे दे भी दिया था तो फिर उस रोगनाशक आम्रवृक्षको कटवा क्यों दिया ? ॥५२-५४॥

इस प्रकार वह राजा मनमें दुर्निवार वज्राग्निके समान उसके पश्चात्तापसे बहुत कालतक सन्तप्त रहा ॥५५॥

जो मनुष्य पूर्वापर विचार न करके कार्योंको करता है वह उस आम्रवृक्षके घातक राजाके समान महान् पश्चात्तापको प्राप्त होता है ॥५६॥

जो दुर्बुद्धि मनुष्य बिना विचारे कामको करता है उसका अभीष्ट शीघ्र ही पूर्णरूपसे नष्ट हो जाता है ॥५७॥

जिस अविवेकी जीवका चित्त क्रोधसे हरा जाता है उसके दोनों ही लोकोंमें सब दुख हस्तगत होते हैं ॥५८॥

इस प्रकार अविवेकी मनुष्यके दुर्निवार दोषको जानकर हृदयमें दोनों लोकोंमें सुखप्रद विवेकको धारण करना चाहिए ॥५९॥

जो विद्वान् अपने हितका इच्छुक है उसे निरन्तर द्रव्य, क्षेत्र, काल, बल और योग्य-अयोग्य आदि बातोंका विचार अवश्य करना चाहिए ॥६०॥

५४) क °निषूदनः । ५५) अ क ड इ °नलेनैव । ५६) ब °त्यपरीक्षया । ५८) अ °व्याहृतचेतसा, ड इ °व्यापृत°; अ °द्वयोः । ५९) अ विज्ञातम् । ६०) अ विचार्य ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्याणां पशूनां च परमेतद्विभेदकम् ।
प्रथमा यद्विचारज्ञा निर्विचाराः पुनः परे ॥६१
असूचि[1] चूतघातीत्थं बहिर्भूतविचारिणः ।
सांप्रतं कथ्यते क्षीरं श्रूयतामवधानतः ॥६२
छोहारविषये ख्याते सागराचारवेदकः[1] ।
वणिक् सागरदत्तो ऽभूज्जलयात्रा[2]परायणः ॥६३
उत्तीर्यं सागरं नक्रमकरग्राहसंकुलम् ।
एकदा पोतमारुह्य चौलद्वीपमसौ गतः ॥६४
वाणी जिनेश्वरस्येव सुखदानपटीयसी ।
गच्छता सुरभिर्नीता तेनैका[1] क्षीरदायिनी ॥६५
गत्वा द्वीपपतिर्दृष्टो वणिजा तेन तोमरः ।
प्राभृतं पुरतः कृत्वा व्यवहारपटीयसा ॥६६
अन्येद्युः पायसीं[1] नीत्वा शुभस्वादां सुधामिव ।
तोमरो वीक्षितस्तेन कायकान्तिवितारणीम् ॥६७

६२) १. कथितः ।
६३) १. समुद्रशास्त्रस्य वेदकः । २. जलगमने ।
६५) १. गौः ।
६७) १. क क्षीरम् ।

मनुष्य और पशुओंमें केवल यही भेद है कि मनुष्य विचारशील होते हैं और पशु उस विचारसे रहित होते हैं ॥६१॥

इस प्रकारसे मैंने विचारहीन आम्रघाती पुरुषकी सूचना की है । अब इस समय क्षीर-पुरुषके स्वरूपको कहता हूँ, उसे सावधानतासे सुनिए ॥६२॥

छोहार देशमें समुद्र सम्बन्धी वृत्तान्तका जानकार (अथवा सामुद्रिक शास्त्रका वेत्ता) एक प्रसिद्ध सागरदत्त नामका वैश्य था । वह जलयात्रामें तत्पर हुआ ॥६३॥

एक समय वह जहाजपर चढ़कर नक्र, मगर और ग्राह आदि जल-जन्तुओंसे व्याप्त समुद्रको पार करके चौल द्वीपमें पहुँचा ॥६४॥

जाते समय वह अपने साथ जिनवाणीके समान सुखप्रद एक दूध देनेवाली कामधेनु (गाय) को ले गया ॥६५॥

वहाँ जाकर व्यवहारमें चतुर उस सागरदत्त वैश्यने भेंटको आगे रखते हुए उक्त द्वीपके स्वामी तोमर राजाका दर्शन किया ॥६६॥

दूसरे दिन उक्त वैश्यने अमृतके समान स्वादिष्ट और शरीरमें कान्तिको देनेवाली खीरको ले जाकर उस तोमर राजासे भेंट की ॥६७॥

६१) अ परैः । ६२) अ ब °विचारणः । ५३) अ ब चोहारविषये; अ ख्यातः । ६४) अ ब चोचद्वीप° ।
६५) क इ °पटीयसा । ६७) अ वीक्ष्यतस्तेन; इ वितारिणीम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत्य[1] सुन्दरं दध्ना शाल्योदनमनुत्तमम् ।
दत्त्वा तेनेक्षितो ऽन्येद्युः पीयूषमिव दुर्लभम् ॥६८

अलब्धपूर्वकं भुक्त्वा मिष्टमाहारमुज्ज्वलम् ।
प्रहृष्टचेतसावाचि तोमरेण स वाणिजः ॥६९

वणिक्पते त्वया दिव्यं क्वेदृशं लभ्यते ऽशनम् ।
तेनावाचि ममेदृक्षं कुलदेव्या प्रदीयते ॥७०

भणितो म्लेच्छनाथेन तेनासौ वाणिजस्ततः ।
स्वकीया दीयतां भद्र ममेयं कुलदेवता ॥७१

वणिजोक्तं तदात्मीयां ददामि कुलदेवताम् ।
ददासि काङ्क्षितं द्रव्यं यदि द्वीपपते मम ॥७२

द्वीपेशेन ततो ऽवाचि मा कार्षीर्भद्र संशयम् ।
गृहाण वाञ्छितं द्रव्यं[1] देहि मे कुलदेवताम् ॥७३

मनीषितं ततो द्रव्यं गृहीत्वा वाणिजो गतः ।
समर्प्य नैचिकीं तस्य पोतेनोत्तीर्य सागरम् ॥७४

६८) १. क एकत्रीकृत्य ।

७३) १. द्रव्यम् ।

तत्पश्चात् किसी दूसरे समयमें उसने अमृतके समान दुर्लभ सुन्दर शाली धानके उत्कृष्ट भातको दहीसे संस्कृत करके उस राजाको दिया और उसका दर्शन किया ॥६८॥

तोमर राजाको इस प्रकारका उज्ज्वल मीठा भोजन पहले कभी नहीं मिला था, इसलिये उसे खाकर उसके मनमें बहुत हर्ष हुआ। तब उसने सागरदत्तसे पूछा कि हे वैश्यराज! तुम्हें इस प्रकारका दिव्य भोजन कहाँसे प्राप्त होता है। इसके उत्तरमें सागरदत्तने कहा कि मुझे ऐसा भोजन कुलदेवी देती है ॥६९-७०॥

यह सुनकर उस म्लेच्छराज (तोमर) ने सागरदत्त वैश्यसे कहा कि हे भद्र! तुम अपनी इस कुलदेवीको मुझे दे दो ॥७१॥

इसपर सागरदत्त बोला कि हे इस द्वीपके स्वामिन्! यदि तुम मुझे मनचाहा द्रव्य देते हो तो मैं तुम्हें अपनी उस कुलदेवीको दे सकता हूँ, ॥७२॥

वैश्यके इस प्रकार उत्तर देनेपर उक्त द्वीपके स्वामीने कहा कि हे भद्र! तुम जरा भी सन्देह न करो। तुम अपनी इच्छानुसार धन ले लो और उस कुलदेवताको मुझे दे दो ॥७३॥

तदनुसार सागरदत्त वैश्यने तोमरसे इच्छानुसार द्रव्य लेकर उस गायको उसे सौंप दिया। तत्पश्चात् वह जहाजसे समुद्रको पार करके वहाँसे चला गया ॥७४॥

६८) अ संसृत्य....तेनेक्षतो । ६९) ब मृष्टमाहार° । ७१) ब इ वणिजः । ७२) अ तवात्मीयं । ७३) अ वित्तं for द्रव्यं । ७४) ब वित्तं for द्रव्यं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तोमरेणोदितान्येद्युः पुरः पात्रं निधाय गौः ।
देहि तं दिव्यमाहारं वाणिजस्य ददासि यम् ॥७५
तेनेति भाषिता धेनुर्मूकीभूय व्यवस्थिता ।
कामुकेनाविदग्धेन[1] विदग्धेव विलासिनी ॥७६
अवदन्ती[1] पुनः प्रोक्ता यच्छ मे कुलदेवते ।
प्रसादेनाशनं दिव्यं भक्तस्य कुरु भाषितम् ॥७७
मूकीं दृष्ट्वामुनावादि प्रातर्दद्या ममाशनम् ।
स्मरन्तो श्रेष्ठिनो देवि त्वं तिष्ठाद्य निराकुला ॥७८
द्वितीये वासरे ऽवाचि निधायाग्रे विशालिकाम्[1] ।
स्वस्थीभूता ममेदानीं देहि भोज्यं मनीषितम् ॥७९
दृष्ट्वा वाचंयमीभूतां क्रुद्धचित्तस्तदापि ताम् ।
द्वीपतो धाटयामास[2] प्रेष्यकर्मकरानसौ[3] ॥८०
वीक्षध्वमस्यं मूढत्वं यो[1] नेदमपि बुध्यते ।
याचिता न पयो दत्ते गौः कस्यापि कदाचन ॥८१

७६) १. अज्ञानेन ।
७७) १. धेनुः ।
७९) १. स्थालीम् ।
८०) १. तोमरो निश्चलचित्तो ऽभूत् । २. क निःकासयामास । ३. क भृत्यान् ।
८१) १. तोमरस्य । २. तोमरः ।

दूसरे दिन तोमरने गायके आगे बरतनको रखकर उससे कहा कि जो भोजन तू उस वैश्यको दिया करती है उस दिव्य भोजनको मुझे दे ॥७५॥

उसके इस प्रकार कहनेपर वह गाय चुपचाप इस प्रकारसे अवस्थित रही जिस प्रकार कि मूर्ख कामीके कहनेपर चतुर स्त्री (या वेश्या) अवस्थित रहती है ॥७६॥

इस प्रकार गायको कुछ न कहते हुए देखकर राजाने फिरसे उससे कहा कि हे कुलदेवते ! प्रसन्न होकर मुझे दिव्य भोजन दे और भक्तके कहनेको कर ॥७७॥

उसको फिर भी मौन स्थित देखकर वह उससे बोला कि हे देवी ! तू आज सेठका स्मरण करती हुई निराकुलतासे स्थित रह और सवेरे मुझे भोजन दे ॥७८॥

दूसरे दिन वह उसके आगे विशाल थालीको रखकर बोला कि तू अब स्वस्थ हो गयी है, अतएव मुझे इस समय इच्छित भोजन दे ॥७९॥

उस समय भी जब वह मौनसे ही स्थित रही तब उसके इस मौनको देखकर तोमरके मनमें बहुत क्रोध हुआ। इससे उसने सेवकोंको आज्ञा देकर उसे द्वीपसे बाहर निकलवा दिया ॥८०॥

इस तोमरकी मूर्खताको देखो कि जो यह भी नहीं जानता है कि माँगनेपर गाय कभी किसीको भी दूध नहीं दिया करती है ॥८१॥

७५) अ तोमरेणोद्यता; क ड इ यत् for यम् । ७८) इ °र्दधात् । ७९) ब विशालिकम् । ८०) अ °चित्त-मदापि; इ द्वीपतोद्घाटयामास । ८१) क ड इ वीक्ष्यध्व° ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पयो ददानो[1] [2]सुरभिर्निरस्ता[3] म्लेच्छेन मूढेन मुधा प्रशस्ता।
अज्ञानहस्ते पतितं महार्घं पलायते रत्नमपार्थमेवं ॥८२

ददाति धेनुर्ध्यवतिष्ठमानं[1] दुग्धं विधानेन विना न शुद्धम्।
चामीकरं ग्रावणि[2] विद्यमानं न व्यक्तिमायाति हि कर्महीनम् ॥८३

इदं कथं सिध्यति कार्यजातं[1] हानिं कथं याति कथं च वृद्धिम्।
इत्थं न यो ध्यायति[2] सर्वकालं स दुःखमभ्येति[3] भवद्वये ऽपि ॥८४

यो न विचारं रचयति सारं माननिविष्टो मनसि निकृष्टः।
म्लेच्छसमानो व्यपगतमानः स क्षेतकार्यो[1] बुधपरिहार्यः ॥८५

म्लेच्छनरेन्द्रो विपदमसह्यां गां नयति स्म व्यपगतबुद्धिः।
दोषमशेषं व्रजति समस्तो मूर्खमुपेतः स्फुटमनिवार्यम् ॥८६

८२) १. देयमाना। २. क गौः। ३. निःकासिता; क तिरस्कृता। ४. निरर्थकम्।

८३) १. विद्यमानम्। २. क पाषाणे।

८४) १. समूहम्। २. न विचारयति। ३. प्राप्नोति।

८५) १. नष्ट।

उस मूर्ख म्लेच्छने दूध देनेवाली उत्तम गायको व्यर्थ ही निकलवा दिया। ठीक है—अज्ञानी जनके हाथमें आया हुआ महान् प्रयोजनको सिद्ध करनेवाला रत्न व्यर्थ ही जाता है ॥ ८२ ॥

गाय अपने पासमें स्थित निर्मल दूधको प्रक्रिया (नियम) के बिना नहीं दिया करती है। ठीक है—पत्थरमें अवस्थित सोना क्रियाके बिना प्रकट अवस्थाको प्राप्त नहीं हुआ करता है ॥८३॥

यह कार्यसमूह किस प्रकारसे सिद्ध हो सकता है तथा इसके सिद्ध करनेमें किस प्रकारसे हानि और किस प्रकारसे वृद्धि हो सकती है, इस प्रकारका जो विचार नहीं करता है वह दोनों ही लोकोंमें निरन्तर दुखको प्राप्त होता है ॥८४॥

जो अधम मनुष्य अभिमानमें चूर होकर मनमें श्रेष्ठ विचार नहीं करता है वह उस म्लेच्छके समान गर्वसे रहित होता हुआ अपने कार्यको नष्ट करता है। ऐसे मनुष्यका विद्वान् परित्याग किया करते हैं ॥८५॥

उस बुद्धिहीन (मूर्ख) म्लेच्छ राजाने गायको असह्य पीड़ा पहुँचायी। ठीक है—जो जन मूर्खकी संगति करते हैं वे सब प्रकटमें उन समस्त दोषोंको प्राप्त होते हैं जिनका किसी भी प्रकारसे निवारण नहीं किया जा सकता है ॥८६॥

८२) अ ब सुधा for मुधा; अ ब महार्थं। ८४) ब क ड इ कथं विवृद्धिम्।

८६) ब °मसह्यामानयति....मूर्खमपेतः....°मविचार्यम्, इ °वार्यः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मौर्ख्यसमानं भवति तमो नो ज्ञानसमानं भवति न तेजः ।
जन्मसमानो भवति न शत्रुर्मोक्षसमानो भवति न बन्धुः ॥८७
उष्णमरीचौ तिमिरनिवासः शीतलभावो विषममरीचौ[1] ।
स्यादथ तापः शिशिरमरीचौ जातु विचारो भवति न मूर्खे ॥८८
श्वापदैपूर्णं वरमवगाह्यं कक्षंमुपास्यो वरमहिराजः ।
वज्रहुताशो वरमनुगम्यो जातु न मूर्खः क्षणमपि सेव्यः ॥८९
अन्धस्य नृत्यं बधिरस्य गीतं काकस्य शौचं मृतकस्य भोज्यम् ।
नपुंसकस्याथ वृथा कलत्रं मूर्खस्य दत्तं सुखकारि रत्नम् ॥९०
इयं कथं दास्यति मे पयो गौरिदं न यः पृच्छति मुग्धबुद्धिः ।
दत्त्वा धनं धेनुमुपाददानो म्लेच्छेन तेनास्ति समो न मूर्खः ॥९१
गृह्णाति यो भाण्डमबुध्यमानः पृच्छांमकृत्वा द्रविणं वितीर्यं ।
मलिम्लुचेंानां विपिने सशङ्कं ददात्यमूल्यं ग्रहणाय रत्नम् ॥९२

८८) १. अग्नौ ।
८९) १. क वनचरजीव । २. वनम् ।
९२) १. परीक्षाम् । २. चौराणाम्; क पक्षे भिल्लानाम् ।

मूर्खताके समान दूसरा कोई अन्धकार नहीं है, ज्ञानके समान दूसरा कोई प्रकाश नहीं है, जन्मके समान दूसरा कोई शत्रु नहीं है, तथा मोक्षके समान अन्य कोई बन्धु नहीं है ॥८७॥

सूर्यकी उष्ण किरणमें कदाचित् अन्धकारका निवास हो जाये, अग्निमें कदाचित् शीतलता हो जाये, तथा चन्द्रमाकी शीतल किरणमें कदाचित् सन्ताप उत्पन्न हो जाये; परन्तु मूर्ख मनुष्यमें कभी भले-बुरेका विचार नहीं हो सकता है ॥८८॥

व्याघ्र आदि हिंसक पशुओंसे परिपूर्ण वनमें रहना उत्तम है, सर्पराजकी सेवा करना श्रेष्ठ है, तथा वज्राग्निका समागम भी योग्य है; परन्तु मूर्ख मनुष्यकी क्षण-भर भी सेवा करना योग्य नहीं है ॥८९॥

जिस प्रकार अन्धेके आगे नाचना व्यर्थ होता है बहिरेके आगे गाना व्यर्थ होता है, कौवेको शुद्ध करना व्यर्थ होता है, मृतक (मुर्दा) को भोजन कराना व्यर्थ होता है, तथा नपुंसकके लिए स्त्रीका पाना व्यर्थ होता है; उसी प्रकार मूर्खके लिए दिया गया सुखकर रत्न भी व्यर्थ होता है ॥९०॥

जिस मूर्ख म्लेच्छने उत्तम धन देकर उस गायको तो ले लिया, परन्तु यह नहीं पूछा कि यह गाय मुझे दूध कैसे देगी; उसके समान और दूसरा कोई मूर्ख नहीं है ॥९१॥

जो मूर्ख धनको देकर बिना कुछ पूछे ही वैश्यके धनको लेता है वह वनके भीतर अभीष्ट वस्तुके लेनेके लिए चोरोंको अमूल्य रत्न देता है, ऐसा मैं समझता हूँ ॥९२॥

८७) अ ब मूर्खसमानं; अ मूर्खसमानं भवति न तेजो जन्मसमानो न भवति शत्रुः । मोक्षसमानो न भवति बन्धुः पुण्यसमानं न भवति मित्रम् ; ब क न भवति शत्रु....न भवति बन्धुः । ८८) अ न भवति मूर्खे । ९०) ब नृत्तं । ९१) ब पश्यति for पृच्छति; इ मूढबुद्धिः; अ ब सारं for धेनुम् ; अ समानमूर्खः । ९२) ब भावमबुध्य; अ विपत्ते; क ड इ ददाति मूल्यं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानं निराकृत्य समं विनीतैरज्ञायमानं परिपृच्छ्य सद्भिः ।
सर्वं विधेयं[1] विधिनावधार्यं[2] ग्रहीतुकामैरुभयत्र सौख्यम् ॥९३

रागतो द्वेषतो मोहतः कामतः कोपतो मानतो लोभतो जाड्यतः ।
कुर्वते ये विचारं न दुर्मेधसः पातयन्ते निजे मस्तके ते[1] ऽशनिम्[2] ॥९४

दुर्भेद्यदर्पाद्रिशिरोधिरूढः परं न यः पृच्छति दुर्विदग्धः ।
द्वीपाधिपस्येव पयः पवित्रं रत्नं करप्राप्तमुपैति नाशम् ॥९५

विहितविनयाः पृष्ट्वा सम्यग्विचार्य विभाव्य ये
मनसि सकलं युक्तायुक्तं सदापि वितन्वते[1] ।
प्रथितयशसो लब्ध्वा सौख्यं मनुष्यनिलिम्पयो[2]-
रमितगतयस्ते निर्वाणं श्रयन्ति निरापदः ॥९६

इति धर्मपरीक्षायाममितगतिकृतायां सप्तमः परिच्छेदः ॥७॥

९३) १. कार्यम् । २. करणीयम् ।

९४) १. ते पुरुषा निजमस्तके वज्रं पातयन्ति ये दुर्मेधसः मूर्खाः विचारं न कुर्वते । २. क वज्रम् ।

९६) १. कार्यं कुर्वन्ति । २. °देवयोः ।

इसलिए जो सज्जन दोनों ही लोकोंमें सुखको चाहते हैं उन्हें मानको छोड़कर विनम्रतापूर्वक जिन कामोंका ज्ञान नहीं है उनके विषयमें पहले अनुभवी जनोंसे पूछना चाहिए और तब कहीं उन सब कामोंको नियमपूर्वक करना चाहिए ॥९३॥

जो दुर्बुद्धि जन राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध, मान, लोभ और अज्ञानताके कारण विचार नहीं करते हैं वे अपने मस्तकपर वज्रको पटकते हैं ॥९४॥

जो मूर्ख दुर्भेद्य अभिमानरूप पर्वतके शिखरपर चढ़कर दूसरेसे नहीं पूछता है वह चोच (या चोल) द्वीपके अधिपति उस तोमर राजाके हाथमें प्राप्त हुए पवित्र दूधके समान अपने हाथमें आये हुए निर्मल रत्नको दूर करता है ॥९५॥

जो प्राणी विनयपूर्वक दूसरेसे पूछकर उसके सम्बन्धमें भली भाँति विचार करते हुए मनमें योग्य-अयोग्यका पूर्वमें निश्चय करते हैं और तत्पश्चात् निरन्तर समस्त कार्यको किया करते हैं वे अपनी कीर्तिको विस्तृत करके प्रथमतः मनुष्य और देवगतिके सुखको प्राप्त करते हैं और फिर अन्तमें केवलज्ञानसे विभूषित होकर समस्त आपदाओंसे मुक्त होते हुए मोक्ष-पदको प्राप्त होते हैं ॥९६॥

इस प्रकार आचार्य अमितगति द्वारा विरचित धर्मपरीक्षामें
सातवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ॥७॥

९३) अ ब सदा for समं; अ विधिना विधिर्यो, ब क ड विधिना विधेयं । ९४) अ हि for न; इ घातयन्ते । ९५) अ दुर्भेद, ब दुर्भेदमर्थाद्रिमदाधिरूढः; अ ब तस्य for नाशम्; ड Om. this verse । ९६) अ निलम्पयो°; अ विरचितायां for कृतायां ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[८]

अथेदं कथितं क्षीरं प्राप्तं म्लेच्छेन नाशितम् ।
अवाप्याज्ञानिना ध्वस्तः सांप्रतं कथ्यते ऽगुरुः ॥१
मगधे विषये राजा ख्यातो गजरथो ऽजनि ।
अरातिमत्तमातङ्गकुम्भभेदनकेसरी ॥२
क्रीडया विपुलक्रीडो निर्गतो बहिरेकदा ।
दवीयः[1] स गतो हित्वा सैन्यं मन्त्रिद्वितीयकः ॥३
दृष्ट्वैकमग्रतो भृत्यं भूपो ऽभाषत मन्त्रिणम् ।
को ऽयं वा कस्य भृत्यो ऽयं पुत्रो ऽयं कस्य कथ्यताम् ॥४
मन्त्री ततो ऽवदद्देव ख्यातो ऽयं हालिकाख्यया ।
हरेर्महत्तरस्यात्र तनूजस्तव सेवकः ॥५
देवकीयक्रमाम्भोजसेवनं कुर्वतः सदा ।
द्वादशैतस्य वर्तन्ते वर्षाणि क्लेशकारिणः ॥६

३) १. दूरे ।
६) १. तव क्रमाम्भोज ।

तोमर म्लेच्छने प्राप्त हुए दूधको किस प्रकारसे नष्ट किया, इसकी कथा कही जा चुकी है । अब अज्ञानीने अगुरु चन्दनको पा करके उसे किस प्रकारसे नष्ट किया है, इसकी कथा कही जाती है ॥१॥

मगध देशके भीतर एक प्रसिद्ध गजरथ नामका राजा राज्य करता था । वह शत्रुरूप मदोन्मत्त हाथियोंके कुम्भस्थलको खण्डित करनेके लिए सिंहके समान था ॥२॥

क्रीड़ामें अतिशय अनुराग रखनेवाला वह राजा एक दिन उस क्रीड़ाके निमित्तसे नगरके बाहर निकला और सेनाको छोड़कर दूर निकल गया । उस समय उसके साथ दूसरा मन्त्री था ॥३॥

राजाने वहाँ आगे एक सेवकको देखकर मन्त्रीसे पूछा कि यह मनुष्य कौन है तथा वह किसका सेवक और किसका पुत्र है; यह मुझे कहिए ॥४॥

इसके उत्तरमें मन्त्री बोला कि राजन् ! 'हालिक' इस नामसे प्रसिद्ध यह आपके प्रधान हरिका पुत्र व आपका सेवक है । कष्ट सहकर आपके चरण-कमलोंकी सेवा करते हुए इसके बारह वर्ष पूर्ण हो रहे हैं ॥५-६॥

१) ड °प्य ज्ञानिना । २) ब मगधविषये, क ड मगधवि°; अ जगरथो, ब भीमरथो; क ड इ कुम्भच्छेदन । ४) अ भाषति....ना for वा; ब कथ्यते । ५) ब °देव प्रसिद्धो हालि°....°स्यापि । ६) अ क ड सतः for सदा ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मन्त्री भूपतिनाभाणि विरूपं भवता कृतम् ।
भद्रेदं गदितं यन्न ममास्य क्लेशकारणम् ॥७
पदातिं क्लिष्टमक्लिष्टं भो सेवकमसेवकम् ।
समस्तं मन्त्रिणा ज्ञात्वा कथनीयं महीपतेः ॥८
स्वाध्यायः साधुवर्गेण गृहकृत्यं कुलस्त्रिया ।
प्रभुकृत्यममात्येन चिन्तनीयमहर्निशम् ॥९
ततो भूपतिनावाचि हालिकस्तुष्टचेतसा ।
शङ्खराढाभिधं भद्र मटम्बं स्वीकुरूत्तमम् ॥१०
युक्तं भद्र गृहाणेदं ग्रामैः पञ्चशतप्रमैः ।
ददानैर्वाञ्छितं वस्तु कल्पवृक्षैरिवापरैः ॥११
हालिकेन ततो ऽवाचि निशम्य नृपतेर्वचः ।
किं करिष्याम्यहं ग्रामैरेकाकी देव भूरिभिः ॥१२
ग्रहीतुं तस्य[1] युज्यन्ते दीयमानाः सहस्रशः ।
ग्रामाः पदातयो यस्य विद्यन्ते प्रतिपालकाः ॥१३
स ततो गदितो राज्ञा भद्र ग्रामैर्मनोरमैः ।
विद्यमानैः स्वयं भृत्या भविष्यन्ति प्रपालकाः ॥१४

१३) १. हे राजन्, तस्य पुरुषस्य ।

इस उत्तरको सुनकर राजाने मन्त्रीसे कहा कि हे सत्पुरुष ! आपने इसके उस क्लेशके कारणको जो मुझसे नहीं कहा है, यह विरुद्ध कार्य किया है—अच्छा नहीं किया। भो मन्त्रिन् ! कौन सैनिक क्लेश सह रहा है और नहीं सह रहा है तथा कौन सेवाकार्यको कर रहा है और कौन उसे नहीं कर रहा है, इस सबकी जानकारी प्राप्त करके मन्त्रीको राजासे कहना चाहिए। साधुसमूहको निरन्तर स्वाध्यायका, कुलीन स्त्रीको गृहस्वामी (पति) के कार्यका तथा मन्त्रीको सदा राजाके कार्यका चिन्तन करना चाहिए ॥७-९॥

तत्पश्चात् राजाने मनमें हर्षित होकर उस हालिकसे कहा कि हे भद्र ! मैं तुम्हें शंखराढ नामके मटम्ब (५०० ग्रामोंमें प्रधान—ति. प. ४-१३९९) को देता हूँ, तुम उस उत्तम मटम्बको स्वीकार करो। हे भद्र ! दूसरे कल्पवृक्षोंके ही समान मानो अभीष्ट वस्तुको प्रदान करनेवाले पाँच सौ ग्रामोंसे संयुक्त इस मटम्बको तुम ग्रहण करो ॥१०-११॥ राजाके इस वचनको सुनकर हालिक बोला कि हे देव ! मैं अकेला ही हूँ, अतएव इन बहुत-से ग्रामोंके द्वारा मैं क्या करूँगा ? इस प्रकारसे दिये जानेवाले हजारों ग्रामोंका ग्रहण तो उसके लिए योग्य हो सकता है जिसकी रक्षा करनेवाले पादचारी सैनिक विद्यमान हैं ॥१२-१३॥

यह सुनकर राजाने उससे कहा कि हे भद्र ! उन मनोहर ग्रामोंके आश्रयसे सब ग्रामोंकी रक्षा करनेवाले सेवक स्वयं हो जायेंगे। इसका कारण यह है कि ग्रामोंके आश्रयसे धन उत्पन्न

८) ड श्लिष्टम°; अ °माक्लिष्टं; ब वा for भो। १०) क ड इ संकराटाभिधं; ब नाम for भद्र; इ मठं त्वं स्वी°। ११) क ड गृहाणेमं; ड °शतक्रमैः। १२) ड इ निशम्य वचनं नृपः। १४) अ क स्वयं भृत्या भविष्यन्ति, सर्वग्रामप्रपालकाः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रामेभ्यो जायते द्रव्यं द्रव्यतो भृत्यसंपदः[1] ।
भृत्यैर्निषेव्यते राजा द्रव्यतो नोत्तमं परम् ॥१५
कुलीनः पण्डितो मान्यः शूरो न्यायविशारदः ।
जायते द्रव्यतो मर्त्यो विदग्धो धार्मिकः प्रियः ॥१६
योगिनो वाग्मिनो[1] दक्षा वृद्धाः शास्त्रविशारदाः ।
सर्वे द्रव्याधिकं भक्त्या सेवन्ते चाटुकारिणः ॥१७
विशीर्णाङ्घ्रिकरघ्राणं कुष्ठिनं द्रविणेश्वरम् ।
आलिङ्ग्य शेरते रामा नवयौवनभूषिताः ॥१८
सर्वे कर्मकरास्तस्य सर्वे तस्य प्रियंकराः ।
सर्वे वशंवदास्तस्य द्रव्यं यस्यास्ति मन्दिरे ॥१९
बालिशं शंसति[1] प्राज्ञः शूरो भीरुं निषेवते ।
पापिनं धार्मिकः स्तौति संपदा सदनीकृतम् ॥२०
चक्रिणः केशवा रामाः सर्वे ग्रामप्रसादतः ।
परासाधारणश्रीका गौरवं प्रतिपेदिरे[1] ॥२१

१५) १. गजादयः ।
१७) १. क पण्डिताः ।
२०) १. सदसि ।
२१) १. प्राप्नुवन्ति ।

होता है, धनके निमित्तसे सेवकरूप सम्पत्ति होती है, और सेवकोंके द्वारा राजा होकर सेवित होता है। ठीक है, धनसे उत्कृष्ट और दूसरा कुछ भी नहीं है—लोकमें सर्वोत्कृष्ट धन ही है ॥१४-१५॥

मनुष्य धनके आश्रयसे कुलीन, विद्वान्, आदरका पात्र, पराक्रमी, न्यायनिपुण, चतुर, धर्मात्मा और सबका स्नेहभाजन होता है ॥१६॥

योगी, वचनपटु, चतुर, वृद्ध और शास्त्रके रहस्यके ज्ञाता; ये सब ही जन खुशामद करते हुए धनिककी भक्तिपूर्वक सेवा किया करते हैं ॥१७॥

लक्ष्मीवान् पुरुषके पाँव, हाथ और नासिका यदि सड़-गल भी रही हों तो भी नवीन यौवनसे सुशोभित स्त्रियाँ उसका आलिंगन करके सोती हैं ॥१८॥

जिसके घरमें सम्पत्ति रहती है उसके सब ही जन आज्ञाकारी, सब ही उसके हितकर और सब ही उसकी अधीनताके कहनेवाले—उसके वशीभूत—होते हैं ॥१९॥

जिसको सम्पत्तिने अपना घर बना लिया है—जो सम्पत्तिका स्वामी है—वह यदि मूर्ख भी हो तो उसकी विद्वान् प्रशंसा करता है, वह यदि कायर हो तो भी उसकी शूर-वीर सेवा किया करता है, वह पापी भी हो तो भी धर्मात्मा उसकी स्तुति करता है ॥२०॥

चक्रवर्ती, नारायण (अर्धचक्री) और बलभद्र ये सब ग्रामोंके प्रसादसे—ग्राम-नगरादिकोंके स्वामी होनेसे—ही अनुपम लक्ष्मीके स्वामी होकर महिमाको प्राप्त हुए हैं ॥२१॥

१५) अ भृत्यैर्निवेदितो । १७) अ भव्या for शास्त्र; ब द्रव्याधिपम् । २०) क शंसदि । ब संपदाम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ततो ऽजल्पीदसौ देव दीयतां मे प्रसादतः ।
क्षेत्रमेकं सदाकृष्यं वृक्षकूपविवर्जितम् ॥२२
ततो [1]ऽध्यासीन्नृपो नायमात्मनो बुध्यते हितम् ।
विद्यते धिषणा[2] शुद्धा[3] हालिकानां कुतो ऽथवा ॥२३
उक्तो मन्त्री ततो राज्ञा जीवतादेष दीयताम् ।
क्षेत्रमागुरवं भद्र काष्ठं विक्रीय बर्पुटः[1] ॥२४
अदर्शयत्ततो मन्त्री क्षेत्रं तस्यागुरुद्रुमैः ।
इष्टवस्तुप्रदैः कीर्णं कल्पपादपसंनिभैः ॥२५
ततो ऽध्यासीदसावेवमहो राजैष तृष्णिकः ।
अदत्त कीदृशं क्षेत्रं व्याकीर्णं विविधैर्द्रुमैः ॥२६
पौलस्त्यमञ्जनच्छायं[1] विस्तीर्णं निरुपद्रवम् ।
छिन्नं भिन्नं मया क्षेत्रं याचितं दत्तमन्यथा ॥२७

२३) १. चिन्तितवान् । २. बुद्धया । ३. निर्मला विवेकपरायणाः ।
२४) १. वराक बापडो ।
२७) १. कोमलम् ; क स्निग्धम् । २. कृष्णम् ।

राजाके उपर्युक्त वचनोंको सुनकर हालिक बोला कि हे देव ! आप कृपा कर मुझे एक ऐसा खेत दे दीजिए जो सदा जोता व बोया जा सकता हो तथा वृक्षों एवं झाड़ियोंसे रहित हो ॥२२॥

इसपर राजाने विचार किया कि यह अपने हितको नहीं समझता है। अथवा ठीक भी है, हल चलानेवाले पामरोंके भला निर्मल बुद्धि कहाँसे हो सकती है ? नहीं हो सकती है ॥२३॥

तत्पश्चात् राजाने मन्त्रीसे कहा कि हे भद्र ! इसे अगुरु चन्दनका खेत दे दीजिए, जिससे यह बेचारा लकड़ीको बेचकर आजीविका कर सकेगा ॥२४॥

तदनुसार मन्त्रीने उसे कल्पवृक्षोंके समान अभीष्ट वस्तुओंको प्रदान करनेवाले अगुरु वृक्षोंसे व्याप्त खेतको दिखलाया ॥२५॥

उसे देखकर हालिकने इस प्रकार विचार किया कि इस लोभी राजाने सन्तुष्ट होकर अनेक प्रकारके वृक्षोंसे व्याप्त कैसे खेतको दिया है—मुझे अनेक वृक्षोंसे व्याप्त ऐसा खेत नहीं चाहिए था, मैंने तो वृक्ष-वेलियोंसे रहित खेतको माँगा था ॥२६॥

मैंने ऐसे खेतको माँगा था जो सदा जोता जा सकता हो (या मृदु हो), अंजनके समान कृष्ण वर्णवाला हो, विस्तृत हो, चूहों आदिके उपद्रवसे रहित हो तथा छिन्न-भिन्न हो। परन्तु राजाने इसके विपरीत ही खेत दिया है ॥२७॥

२२) अ अजल्पदसौ; इ सदाकृष्टं । २४) अ जीवितादेष; क ड इ °मागुरुकं; ब भद्रं । २५) अ° तमदर्शत्ततो ।
२६) अ °महाराज्यैषतुष्टिकः, क ड राजैक° ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गृह्णामीदमपि क्षेत्रं करिष्यामि स्वयं शुभम् ।
यदीदमपि नो दत्ते राजा किं क्रियते तदा ॥२८

ततः प्रसाद इत्युक्त्वा गेहमागत्य हालिकः ।
कुठारं शातमादाय[1] कुधीः क्षेत्रमशिश्रियत्[2] ॥२९

व्याकृष्टभृङ्गसौरभ्यव्यामोदितदिगन्तराः ।
उन्नताः सरलाः सेव्याः सज्जना इव शर्मदाः ॥३०

दुरापा द्रव्यदाश्छित्त्वा दग्धास्तेनागुरुद्रुमाः ।
निर्विवेका न कुर्वन्ति प्रशस्तं क्वापि सैरिकाः[1] ॥३१

कृषिकर्मोचितं सद्यः शुद्धं हस्ततलोपमम् ।
अकारि हालिकेनेदमन्यायेनेव मन्दिरम् ॥३२

तोषतो[1] दर्शितं तेन[2] राज्ञः क्षेत्रं विशोधितम् ।
अज्ञानेनापि[3] तुष्यन्ति नीचा दर्पपरायणाः ॥३३

२९) १. तीक्ष्णम् । २. आश्रितवान्; क अच्छेदयत् ।

३१) १. मूर्खाः ; क स्वेच्छाचारिणः ।

३३) १. क हर्षतः । २. क हालिकेन । ३. कुकर्मणा ।

अब मैं इसी खेतको लेकर उसे स्वयं उत्तम बनाऊँगा । यदि राजा इसको भी न देता तो मैं क्या कर सकता था ॥२८॥

इस प्रकार विचार करके उसने राजाका आभार मानते हुए उस खेतको ले लिया । तत्पश्चात् वह मूर्ख हालिक घर आया और तीक्ष्ण कुठारको लेकर उस खेतपर जा पहुँचा ॥२९॥

इस प्रकार उसने उक्त खेतमें भौंरोंको आकृष्ट करनेवाली सुगन्धसे दिङ्मण्डलको सुगन्धित करनेवाले, ऊँचे, सीधे, सत्पुरुषोंके समान सेवनीय, सुखप्रद, दुर्लभ व धनको देनेवाले जो अगुरुके वृक्ष थे उनको काटकर जला डाला । ठीक है, विवेक-बुद्धिसे रहित किसान कहींपर भी उत्तम कार्य नहीं कर सकते हैं ॥३०-३१॥

जिस प्रकार न्याय-नीतिसे रहित कोई मनुष्य सुन्दर भवनको कृषिके योग्य बना देता है—उसे धराशायी कर देता है उसी प्रकार उस मूर्ख हलवाहकने उस खेतको निर्मल हथेलीके समान शीघ्र ही खेतीके योग्य बना दिया ॥३२॥

तत्पश्चात् उन अगुरुके वृक्षोंको काटकर विशुद्ध किये गये उस खेतको उसने हर्षपूर्वक राजाको दिखलाया । ठीक है, अभिमानी नीच मनुष्य अज्ञानतासे भी सन्तुष्ट हुआ करते हैं ॥३३॥

२९) अ °मशिश्रयत्; क असिश्रियत् । ३३) ब नीचदर्प° ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हालिको भणितो राज्ञा किं किमुप्तं त्वयेदृशे ।
तेनोक्तं कोद्रवा देव सम्यक्कृष्टा महाफलाः ॥३४
विलोक्य दुर्मतिं तस्य भूभुजा भणितो हली ।
दग्धानामत्र वृक्षाणां किं रे किंचन विद्यते ॥३५
हस्तमात्रं ततस्तेन खण्डमानीय दर्शितम् ।
दग्धशेषतरोरेकं राज्ञा दृष्ट्वा स भाषितः ॥३६
विक्रीणीष्वेदमट्टे[1] त्वं नीत्वा भद्र लघु[2] व्रज ।
तेनोक्तं देव किं मूल्यं काष्ठस्यास्य भविष्यति ॥३७
हसित्वा भूभुजाभाषि हालिको बुद्धिदुर्विधः ।
तदेव भद्र गृह्णीयाद्यत्ते दास्यति वाणिजः ॥३८
हट्टे तेन ततो नीतं काष्ठखण्डं विलोक्य तम् ।
दीनारपञ्चकं मूल्यं तस्य प्रादत्त वाणिजः ॥३९
हालिको ऽसौ ततो दध्यौ[1] विषादानलतापितः ।
अज्ञात्वा कुर्वतः कार्यं तापः कस्य न जायते ॥४०

३७) १. हट्टे । २. क शीघ्रम् ।
४०) १. चिन्तितवान् ।

खेतकी उस दुरवस्थाको देखकर राजाने उस हलवाहकसे पूछा कि तुमने इस प्रकारके खेतमें क्या बोया है । इसपर उसने उत्तर दिया कि हे राजन् । इसको भली-भाँति जोतकर मैंने उसमें महान् फलको देनेवाले कोदों बोये हैं ॥३४॥

तब उसकी दुर्बुद्धिको देखकर राजाने हलवाहकसे कहा कि हे कृषक ! यहाँ जलाये गये उन वृक्षोंका क्या कुछ अवशेष है ॥३५॥

इसपर उसने जलनेसे बचे हुए अगुरु वृक्षके एक हाथ प्रमाण टुकड़ेको लाकर राजाको दिखलाया । उसे देखकर राजाने उससे कहा कि हे भद्र ! तुम इसे लेकर शीघ्र जाओ और बाजारमें बेच डालो । यह सुनकर कृषकने कहा कि हे देव ! इस लकड़ीका क्या मूल्य होगा ॥३६-३७॥

इसके उत्तरमें राजाने हँसकर उस बुद्धिहीनसे कहा कि दूकानदार इसका जो भी मूल्य तुम्हें देगा उसे ले लेना ॥३८॥

तदनुसार वह उस लकड़ीके टुकड़ेको बाजारमें ले गया । उसे देखकर दूकानदारने उसे उसका मूल्य पाँच दीनार दिया ॥३९॥

तत्पश्चात् वह हलवाहक विषादरूप अग्निसे सन्तप्त होकर इस प्रकार विचार करने लगा । ठीक है, जो बिना जाने-पूछे कार्यको करता है उसे सन्ताप होता ही है ॥४०॥

३४) ब किमत्रोप्तम् । ३६) अ शेषं, ब दग्धाशेष° । ३७) क °मद्य for °मट्टे । ३८) अ °दुर्वचाः for दुर्विधः । ३९) ब तत् for तम् । ४०) अ तापम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदीयखण्डेनैकेन विक्रये[1] ।
समस्तानां तदा मूल्यं वृक्षाणां केन गण्यते ॥४१
निधानसदृशं क्षेत्रं वितीर्णं[1] मम भूभुजा ।
अज्ञानिना बत व्यर्थं हारितं पापिना मया ॥४२
अकरिष्यमहं रक्षां द्रुमाणां यदि यत्नतः ।
अभविष्यत्तदा द्रव्यमाजन्मसुखसाधनम् ॥४३
इत्थं स हालिको दूनः[1] पश्चात्तापाग्निना चिरम् ।
दुःसहेनानिवार्येण विरहीव[2] मनोभुवा[3] ॥४४
महारम्भेण यः प्राप्य द्रव्यं नाशयते ऽधमः ।
हलीव लभते तापं दुर्निवारमसौ सदा ॥४५
सारासाराणि यो वेत्ति न वस्तूनि निरस्तधीः ।
निरस्यति करप्राप्तं रत्नमेषो ऽन्यदुर्लभम् ॥४६
स हैमेन हलेनोर्वीमर्कमूलाय कर्षति ।
हेयादेयानि वस्तूनि यो नालोचयते कुधीः ॥४७

४१) १. सति ।
४२) १. क दत्तम् ।
४४) १. तापितः । २. वियोगी । ३. कन्दर्पेण ।

उसने विचार किया कि उन वृक्षोंके एक ही टुकड़ेको बेचनेसे यदि इतना धन प्राप्त होता है तो उन सब ही वृक्षोंके मूल्यको कौन आँक सकता है—उनसे अपरिमित धनराशि प्राप्त की जा सकती थी। राजाने मुझे निधिके समान उस विस्तृत खेतको दिया था। किन्तु खेद है कि मुझ-जैसे अज्ञानी व पापीने उसे यों ही नष्ट कर दिया। यदि मैंने प्रयत्नपूर्वक उन वृक्षोंकी रक्षा की होती तो मुझे उनसे जीवनपर्यन्त सुखको सिद्ध करनेवाला धन प्राप्त होता ॥४१-४३॥

इस प्रकारसे वह हलवाहक दीर्घकाल तक पश्चात्तापरूप अग्निसे सन्तप्त रहा जैसे कि अनिवार्य व दुःसह कामसे विरही मनुष्य सन्तप्त रहा करता है ॥४४॥

जो निकृष्ट मनुष्य बहुत आरम्भके द्वारा धनको प्राप्त करके नष्ट कर देता है वह उस पामरके समान निरन्तर दुर्निवार पश्चात्तापको प्राप्त होता है ॥४५॥

जो नष्टबुद्धि सार व असारभूत वस्तुओंको नहीं जानता है वह दूसरोंको दुर्लभ ऐसे हाथमें प्राप्त हुए रत्नको नष्ट करता है, यह समझना चाहिए ॥४६॥

जो हेय और उपादेय वस्तुओंका विचार नहीं करता है वह मूर्ख मानो सुवर्णमय हलसे आकके मूल (अथवा तूल = रुई) के लिए भूमिको जोतता है ॥४७॥

४१) अ ब इ यदीदं लभ्यते । ४६) क ड इ रत्नमेषा सुदुर्ल° । ४७) क ड °मर्कतूलाय; अ क इ हेयाहेयानि ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लाङ्गलीवास्ति यद्यत्र सारासाराविवेचकः ।
बिभेमि पृच्छ्यमानो ऽपि तदा वक्तुमहं द्विजाः ॥४८
दुरापागुरुविच्छेदी भाषितो[1] निर्विचारकः ।
युष्माकं चन्दनत्यागी श्रूयतां भाष्यते ऽधुना ॥४९
मध्यदेशे सुखाधारे महनीये कुरूपमे[1] ।
राजा शान्तमना नाम्ना मथुरायामजायत ॥५०
एकदा दुर्निवारेण ग्रीष्मार्केणेव सिन्धुरः[1] ।
पित्तज्वरेण धात्रीशो विह्वलो ऽजनि पीडितः ॥५१
तीव्रेण तेन तापेन [1]तप्तश्चलचलायितः ।
शयने कोमले ऽर्केण स्वल्पे मत्स्य इवाम्भसि ॥५२
तस्योपचर्यमाणो ऽपि भैषज्यैर्वीर्यधारिभिः[1] ।
तापो ऽवर्धत दुश्छेदः काष्ठैरिव विभावसुः[2] ॥५३

४९) १. एवंविधा निर्विचारका आवां [वयं] न, त्वं कथय ।
५०) १. भोगभूमिसदृशे ।
५१) १. हस्ती ।
५२) १. सन् ।
५३) १. प्रबलैः । २. अग्निः ।

हे विप्रो ! यदि यहाँ उस हलवाहकके समान सार व असारका विचार न करनेवाला कोई है तो मैं पूछे जानेपर भी कहनेके लिए डरता हूँ ॥४८॥

इस प्रकार मैंने आप लोगोंसे दुर्लभ अगुरु वृक्षोंको काटकर जलानेवाले उस अविवेकी हलवाहककी कथा कही है। अब इस समय चन्दनत्यागीके वृत्तको कहता हूँ, उसे सुनिए ॥४९॥

कुरु (उत्तम भोगभूमि) के समान सुखके आधारभूत व पूजनीय मध्यदेशके भीतर मथुरा नगरीमें एक शान्तमना नामका राजा था ॥५०॥

एक समय जिस प्रकार दुर्निवार ग्रीष्म ऋतु सम्बन्धी सूर्यके तापसे पीड़ित होकर हाथी व्याकुल होता है उसी प्रकार वह राजा पित्तज्वरसे पीड़ित होकर व्याकुल हुआ ॥५१॥

जिस प्रकार अतिशय थोड़े पानीमें स्थित मत्स्य सूर्यके द्वारा सन्तप्त होकर तड़पता है उसी प्रकार वह उस तीव्र ज्वरसे सन्तप्त होकर कोमल शय्याके ऊपर तड़प रहा था ॥५२॥

उसके इस पित्तज्वरकी यद्यपि शक्तिशाली ओषधियोंके द्वारा चिकित्सा की जा रही थी, फिर भी वह दुर्विनाश ज्वर उत्तरोत्तर इस प्रकार बढ़ रहा था जिस प्रकार कि लकड़ियोंके द्वारा अग्नि बढ़ती है ॥५३॥

४८) क इ °विचारकः । ४९) अ निर्विचारिणः ब निर्विचारणः । ५०) इ गुरूपमे । ५२) अ ब °चलायते; अ ब कोमलार्केण; व क सो ऽल्पे for स्वल्पे । ५३) भेषजै° ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[1]चिकित्सामष्टधा वैद्या विदन्तो ऽप्यभवन् क्षमाः ।
तापस्य साधने नास्य दुर्जनस्येव सज्जनाः ॥५४
तं वर्धमानमालोक्य दाहं देहे महीपतेः ।
मन्त्रिणा घोषणाकारि मथुरायामशेषतः[1] ॥५५
दाहं नाशयते राज्ञो यः कश्चन शरीरतः ।
ग्रामाणां दीयते तस्य शतमेकं सगौरवम् ॥५६
कण्ठाभरणमुत्कृष्टं मेखला खलु दुर्लभा ।
दीयते वस्त्रयुग्मं च राज्ञा परिहितं निजम् ॥५७
दार्वर्थं[1] चन्दनस्यैको वाणिजो निर्गतो बहिः ।
ददर्श दैवयोगेन रजकस्य करस्थितम् ॥५८
गोशीर्षचन्दनस्येदं तेन ज्ञात्वालिसंगतम् ।
भणितो ऽसौ त्वया भद्र क्व लब्धं निम्बकाष्ठकम् ॥५९
तेनावादि मया प्राप्तं वहमानं नदीजले ।
वणिजोक्तमिदं देहि गृहीत्वा काष्ठसंचयम् ॥६०

५४) १. रोगिस्वरूपं विदन्तः ।
५५) १. समन्ततः सर्वतः ।
५८) १. क काष्ठार्थम् ।

आठ प्रकारकी चिकित्साके जाननेवाले वैद्य भी उसके उस ज्वरके सिद्ध करनेमें—उसके दूर करनेमें—इस प्रकार समर्थ नहीं हुए जिस प्रकार कि सज्जन मनुष्य दुर्जनके सिद्ध करनेमें—उसे वश करनेमें—समर्थ नहीं होते हैं ॥५४॥

राजाके शरीरमें बढ़ते हुए उस दाहको देखकर मन्त्रीने मधुरा (मथुरा) में सब ओर यह घोषणा करा दी कि जो कोई राजाके शरीरसे उस दाहको नष्ट कर देगा उसे धन्यवाद-पूर्वक सौ ग्राम दिये जायेंगे। इसके साथ ही उसे उत्तम हार, दुर्लभ कटिसूत्र और राजाके द्वारा पहने हुए दो वस्त्र भी दिये जायेंगे ॥५५-५७॥

तब एक वैश्य चन्दनकी लकड़ी लेनेके लिए नगरके बाहर गया। भाग्यवश उसे एक चन्दनकी लकड़ी वहाँ धोबीके हाथमें दिखाई दी ॥५८॥

उसने भौंरोंसे व्याप्त उस लकड़ीको गोशीर्ष चन्दनकी जानकर धोबीसे पूछा कि हे भद्र ! तूने यह नीमकी लकड़ी कहाँसे प्राप्त की है ॥५९॥

इसके उत्तरमें धोबीने कहा कि यह मुझे नदीके जलमें बहती हुई प्राप्त हुई है। इसपर वैश्यने कहा कि तू इसके बदलेमें दूसरी लकड़ियोंके समूहको लेकर उसे मुझे दे दे ॥६०॥

५४) ब विदन्तो नाभवन् । ५५) इ तापं देहे । ५७) ब मेखलाः खलदुर्लभाः । ५८) इ °स्यैको वणिजो । ५९) अ °लिगं ततः, ब क ड °संगतः । ६०) ड वाणिजोक्त° ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधो गृहाण को दोषस्ते[1] नोक्त्वेति विचेतसा ।
आदाय दारुसंदोहं वितीर्णं वाणिजाय तत् ॥६१
वणिजागत्य वेगेन घर्षित्वा बुद्धिशालिना ।
विलिप्तो भूपतेर्देहश्चन्दनेनामुनाभितः ॥६२
तस्य स्पर्शेन निःशेषस्तापो राज्ञः पलायितः ।
इष्टस्येव कलत्रस्य दुरुच्छेदो वियोगिनः ॥६३
पूजितो वाणिजो राज्ञा दत्त्वा भाषितमञ्जसा ।
उपकारो गरिष्ठानां कल्पवृक्षायते कृतः ॥६४
काष्ठप्रसादतः पूजां वाणिजस्य निशम्य ताम् ।
स[1] शिरस्ताडमाक्रन्दीद्रजकः शोकतापितः ॥६५
आगत्य ज्ञायमानेन विमोह्य वणिजा ततः ।
हा कथं वञ्चितो ऽनेन यमेनेव दुरात्मना ॥६६
निम्बमुक्त्वा गृहीतं मे[1] गोशीर्षं चन्दनं कथम् ।
यमो ऽपि वञ्च्यते नूनं वाणिजैः सत्यमोचिभिः ॥६७

६१) १. रजकेन ।
६५) १. रजकः ।
६७) १. मम ।

यह सुनकर 'हे सज्जन ! तुम इसे ले लो, इसमें क्या हानि है' यह कहते हुए उस विवेकशून्य धोबीने बदलेमें अन्य लकड़ियोंके समुदायको लेकर वह लकड़ी वैश्यको दे दी ॥६१॥

तत्पश्चात् उस बुद्धिमान् वैश्यने शीघ्र आकर उस लकड़ीको घिसा और उस चन्दनसे राजाके शरीरको सब ओरसे लिप्त कर दिया ॥६२॥

उसके स्पर्शसे राजाका वह समस्त ज्वर इस प्रकार नष्ट हो गया जिस प्रकार कि अभीष्ट कान्ताके स्पर्शसे वियोगी जनोंका दुर्विनाश कामज्वर नष्ट हो जाता है ॥६३॥

तब राजाने घोषणाके अनुसार वैश्यको ग्रामादिको देकर वस्तुतः उसकी पूजा की। ठीक ही है, श्रेष्ठ पुरुषोंके द्वारा किया गया उपक्रम कल्पवृक्षके समान फलप्रद हुआ करता है ॥६४॥

इस प्रकार उस लकड़ीके प्रभावसे वैश्यकी उक्त पूजाको सुनकर धोबी शोकसे अतिशय सन्तप्त हुआ, तब वह अपना सिर पीटकर विलाप करने लगा ॥६५॥

वह आकर बोला कि यही वह परिचित वैश्य है। खेद है कि इसने मुझे मूर्ख बनाकर दुरात्मा यमके समान कैसे ठग लिया, इसने नीम कहकर मेरे गोशीर्ष चन्दनको कैसे ले लिया। निश्चयसे ये असत्यभाषी वैश्य यमराजको भी ठग सकते हैं ॥६६-६७॥

६१) ब तेनोक्तेन; अ आहार्य दारु°; ब इ वणिजाय; अ यत्, ड तम् । ६४) अ ब वरिष्ठानां । ६६) अ विमुह्य, इ विनोद्य; क ड बत for ततः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इत्थं शोकेन घोरेण रजको दह्यते ऽनिशम् ।
अज्ञाने वर्तमानानां जायते न सुखासिका[1] ॥६८

एकस्य निम्बकाष्ठस्य काष्ठानां निवहं कथम् ।
ददाति वाणिजो नेदं परिवर्तो[1] व्यबुध्यत ॥६९

दुश्छेद्यं सूर्यरश्मीनामगम्यं चन्द्ररोचिषाम् ।
दुर्वारमिदमज्ञानं तमसो ऽपि परं[1] तमः ॥७०

चित्तेन वीक्षते तत्त्वं ध्वान्तमूढो न चक्षुषा ।
अज्ञानमोहितस्वान्तो न चित्तेन न चक्षुषा ॥७१

परिवर्तसमो[1] विप्रा विद्यते यदि कश्चन ।
बिभेम्यहं तदा तत्त्वं पृच्छचमानो ऽपि भाषितुम् ॥७२

---

६८) १. सुखस्थितिः ।

६९) १. क रजकः ।

७०) १. उत्कृष्टम् ।

७२) १. क रजकसदृशो ।

इस प्रकार वह धोबी महान् शोकसे रात-दिन सन्तप्त रहा । ठीक है, अज्ञानमें वर्तमान—बिना विचारे कार्य करनेवाले—मनुष्योंके सुखकी स्थिति कैसे हो सकती है ? नहीं हो सकती है ॥६८॥

वह वैश्य एक नीमकी लकड़ीके लिए लकड़ियोंके समूहको कैसे देता है, इस परिवर्तनको धोबी नहीं जान सका ॥६९॥

यह अज्ञानरूप अन्धकार न तो सूर्यकी किरणों द्वारा भेदा जा सकता है और न चन्द्रकी किरणों द्वारा भी नष्ट किया जा सकता है । इसीलिए इस दुर्निवार अज्ञानको उस लोकप्रसिद्ध अन्धकारसे भी उत्कृष्ट अन्धकार समझना चाहिए ॥७०॥

इसका कारण यह है कि अन्धकारसे विमूढ़ मनुष्य यद्यपि आँखसे वस्तुस्वरूपको नहीं देखता है, फिर भी वह अन्तःकरणसे तो वस्तुस्वरूपको देखता ही है । परन्तु जिसका मन अज्ञानतासे मुग्ध है वह उस वस्तुस्वरूपको न अन्तःकरणसे देखता है और न आँखसे भी देखता है ॥७१॥

अतएव हे विप्रो ! बहुत-सी लकड़ियोंसे उस चन्दनकी लकड़ीका परिवर्तन करनेवाले उस धोबीके समान यदि कोई ब्राह्मण आपके मध्यमें विद्यमान है तो मैं पूछे जानेपर भी कुछ कहनेके लिए डरता हूँ ॥७२॥

---

६८) ब ऽदह्यतानिशम् ; इ सुखाशिका । ६९) क विबुध्यते । ७०) अ °रश्मीनां न गम्यं । ७२) अ विप्रो ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इत्थं सुचन्दनत्यागी भाषितो ज्ञानदुर्विधः ।
सर्वनिन्दास्पदं मूर्खः सांप्रतं प्रतिपाद्यते [1] ॥७३
चत्वारो ऽथ महामूर्खा गच्छन्तः क्वापि लीलया ।
मुमुक्षुमेकमद्राक्षुर्जिनेश्वरमिवानघम् ॥७४
वीरनाथो ऽप्यनिस्त्रिंशः [1] सूनृतो द्वैयवाद्यपि ।
चित्तहार्यो ऽपि निःस्तेयो निष्कामो [3] ऽपि महाबलः ॥७५
धृतग्रन्थो [1] ऽपि निर्ग्रन्थः समलाङ्गो ऽपि निर्मलः ।
गुप्तिमानपि निर्बन्धो विरूपो ऽपि जनप्रियः ॥७६
महाव्रतनिविष्टो ऽपि यो ऽन्धकारातिमर्दकः ।
समस्तद्वन्द्वमुक्तो ऽपि समितीनां प्रवर्तकः ॥७७

७३) १. क कथ्यते ।
७५) १. न निर्दयः दयावान् ; क शस्त्ररहितः । २. क व्यवहारनिश्चयवादी । ३. न वाञ्छा ।
७६) १. धृतशास्त्र ।

इस प्रकार मैंने विवेकज्ञानसे शून्य होकर चन्दनका परित्याग करनेवाले उस धोबीकी कथा कही है । अब इस समय अज्ञानादि सब ही दोषोंके आश्रयभूत मूर्खकी कथा कही जाती है ॥७३॥

कहीं पर चार महामूर्ख क्रीड़ासे जा रहे थे । उन्होंने मार्गमें जिनेश्वरके समान निर्दोष किसी एक मोक्षार्थी साधुको देखा ॥७४॥

वह साधु शूर-वीरोंका स्वामी होकर भी निर्दय नहीं था, यह विरोध है (कारण कि शूर-वीर कभी शत्रुके ऊपर दया नहीं किया करते हैं) । उसका परिहार—वह कर्मविजेता होकर भी प्राणिरक्षामें तत्पर था । वह द्वैतवादी होकर भी सच्चा था, यह विरोध है । परिहार—वह अस्ति-नास्ति, एक-अनेक, नित्य-अनित्य और भेद-अभेद आदि परस्पर विरुद्ध दो धर्मोंका नयोंके आश्रयसे कथन करता हुआ भी यथार्थवक्ता था । वह दूसरोंके चित्तका अपहरण करता हुआ भी चौर कर्मसे रहित था—वह व्रत-संयमादिके द्वारा भव्यजनोंके चित्तको आकर्षित करता हुआ चौर्य कर्म आदि पापोंका सर्वथा त्यागी था, कामदेवसे रहित होकर भी अतिशय बलवान् था—सब प्रकारकी विषयवासनासे रहित होकर आत्मिक बलसे परिपूर्ण था, ग्रन्थ (परिग्रह) को धारण करता हुआ भी उस परिग्रहसे रहित था—अनेक ग्रन्थोंका ज्ञाता होता हुआ भी दिगम्बर था, मलपूर्ण शरीरको धारण करता हुआ भी मलसे रहित था—स्नानका परित्याग कर देनेसे मलिन शरीरको धारण करता हुआ भी सब प्रकारके दोषोंसे रहित था, गुप्ति (कारागार या बन्धन) से संयुक्त होता हुआ भी बन्धनसे रहित (स्वतन्त्र) था— मनोगुप्ति आदि तीन गुप्तियोंका धारक होकर भी क्लिष्ट कर्मबन्धसे रहित था, कुरूप होकर भी जनोंको प्रिय था—विविध स्वरूपका धारक होकर भी तप-संयमादिके कारण जनोंके अनुरागका विषय था, महाव्रत (प्राणिरक्षाव्रत) में स्थित होकर भी अन्धे

७३) ब मयेत्थं चन्दन°....सर्वविद्यास्पदं मूर्खं; ब क इ संप्रति । ७४) ब क ड इ अपि for अथ; अ गच्छन्ति ।
७५) ब °पि निस्त्रिंशः....हार्यपि; अ निस्तेजो, क निस्नेहो । ७६) अ निर्बद्धो । ७७) क इ °कारादिमर्दकः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रक्षको ऽप्यङ्गिवर्गस्य धर्ममार्गणकोविदः ।
सत्यारोपितचित्तो ऽपि वृषवृद्धिविधायकः ॥७८
अम्भोधिरिव गम्भीरः सुवर्णाद्रिरिव स्थिरः ।
विवस्वानिव[1] तेजस्वी कान्तिमानिव चन्द्रमाः ॥७९
इभारातिरिवाभीतः कल्पशाखीव कामदः ।
चरण्युरिव[2] निःसंगो देवमार्ग इवामलः ॥८०
निःपीडिताशेषशरीरराशिभिः क्षणेन पापैः क्षतदृष्टिवृत्तिभिः[2] ।
निषेवमाणा जनता विमुच्यते विभास्वरं यं[3] शिशिरैरिवानलम् ॥८१
पुरन्दरब्रह्ममुरारिशंकरा विनिर्जिता येन[1] निहत्य मार्गणैः ।
प्रपेदिरे दुःखशतानि सर्वदा जघान तं यो[2] मदनं सुदुर्जयम् ॥८२

७९) १. सूर्यः

८०) १. क सिंह इव । २. वायुः ।

८१) १. नष्ट । २. सम्यग्व्रततरहितैः । ३. शीतैरिव = जनैर्निषेव्यमाणः ।

८२) १. कामेन । २. यः मुनिः ।

शत्रुओंका संहारक था—अहिंसादि महाव्रतोंका परिपालक होकर भी अज्ञानरूप अन्धकारका निर्मूल विनाश करनेवाला था, समस्त झगड़ोंसे रहित होता हुआ भी युद्धोंका प्रवर्तक था—सब प्रकारके विकल्पोंसे रहित होता हुआ भी ईर्या-भाषादि पाँच समितियोंका परिपालन करनेवाला था, प्राणिसमूहका रक्षक होकर भी धनुषसे बाणोंके छोड़नेमें कुशल था—प्राणिसमूहके विषयमें दयालु होकर भी धर्मके खोजनेमें चतुर था, तथा सत्यमें आरोपित-चित्त होकर (चित्तको स्थित न करके) भी धर्मवृद्धिका करनेवाला था—सत्यभाषणमें आरोपितचित्त होकर (चित्तको दृढ़तासे अवस्थित करके) धर्मकी वृद्धि करनेवाला था ॥७५-७८॥

उक्त साधु समुद्रके समान गम्भीर, सुमेरुके समान अटल, सूर्यके समान तेजस्वी, चन्द्रमाके समान कान्तिमान्, सिंहके समान निर्भय, कल्पवृक्षके समान अभीष्टको देनेवाला, वायुके समान निष्परिग्रह, और आकाशके समान निर्मल था । ७९-८०॥

जिस प्रकार देदीप्यमान अग्निका सेवन करनेवाले प्राणी शीतकी बाधासे मुक्त हो जाते हैं उसी प्रकार उस-जैसे तेजस्वी साधुकी आराधना करनेवाले भव्य जन सम्यग्दर्शन व संयमको नष्ट करके समस्त प्राणिसमूहको पीड़ित करनेवाले पापोंसे क्षणभरमें मुक्त हो जाते हैं ॥८१॥

जिस कामदेवके द्वारा बाणोंसे आहत करके वशमें किये गये इन्द्र, ब्रह्मा, विष्णु और महादेव निरन्तर सैकड़ों दुःखोंको प्राप्त हुए हैं उस अतिशय प्रबल कामदेवको उस मुनिने नष्ट कर दिया था ॥८२॥

७८) अ °प्यङ्गवर्गस्य....विषवृद्धि° । ८०) ब वेदमार्ग । ८१) अ °शरीरि°....क्षितदृष्टि°; इ निषेव्यमाणं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्मरं जितस्वर्गिगणं जिगाय यः[1] कथं न सो ऽस्मान् तरसा[2] विजेष्यते ।
इतीव भीता बलिनः क्रुधादयः[3] सिषेविरे[4] यं[5] न महापराक्रमम् ॥८३
तपांसि भेजे[1] न तमांसि यः सदा कथा बभाषे विकथा न निन्दिताः ।
जघान दोषान्न गुणाननेकशो मुमोच निद्रां न जिनेन्द्रभारतीम् ॥८४
चकार यो विश्वजनीनशासनः[1] समस्तलोकप्रतिबोधमञ्जसा ।
विबुद्धनिःशेषचराचरस्थितिर्जिनेन्द्रवद्देवनरेन्द्रवन्दितः ॥८५
निवारिताक्षप्रसरो ऽपि तत्त्वतः पदार्थजातं[1] निखिलं विलोकते ॥
प्रपालितस्थावरजङ्गमो ऽपि यश्चकार बाढं विषयप्रमर्दनम् ॥८६
गुणावनद्धौ[1] पदपङ्कजप्लवावपारसंसारपयोधितारकौ ।
ववन्दिरे तस्य मुनीश्वरस्य ते[3] वसुंधरापृष्ठनिविष्टमस्तकाः ॥८७

८३) १. यः मुनिः । २. ज्ञात्वा (?) । ३. दोषाः । ४. नाश्रितवन्तः । ५. मुनिम् ।
८४) १. सेवे न ।
८५) १. विश्वजनेभ्यो हितं विश्वजनीनम् । विश्वजनीनं शासनम् आज्ञा यस्यासौ ।
८६) १. वस्तुसमूहम् ।
८७) १. गुणैर्निबन्धो[द्धौ] ; क युक्तौ । २. यानपात्रम् ; क चरणकमलप्रवहणौ । ३. क ते चत्वारो मूर्खाः ।

जिस मुनिने देवसमूहको जीतनेवाले कामदेवको जीत लिया है वह हम सबको शीघ्र ही जीत लेगा, ऐसा विचार करके ही मानो बलवान् क्रोधादि शत्रुओंने अतिशय भयभीत होकर उस महापराक्रमी मुनिकी सेवा नहीं की । तात्पर्य यह कि उक्त मुनिने कामके साथ ही क्रोधादि कषायोंको भी जीत लिया था ॥८३॥

वह मुनि तपोंका आराधन करता था, परन्तु अज्ञान अन्धकारका आराधना कभी नहीं करता था; वह धर्मकथाओंका वर्णन तो करता था, किन्तु स्त्रीकथा आदिरूप अप्रशस्त विकथाओंका वर्णन नहीं करता था; वह अनेकों दोषोंको तो नष्ट करता था, किन्तु गुणोंको नष्ट नहीं करता था, तथा उसने निद्राको तो छोड़ दिया था, किन्तु जिनवाणीको नहीं छोड़ा था ॥८४॥

जिनेन्द्रके समान इन्द्रों व चक्रवर्तीसे वन्दित उस मुनिने समस्त चराचर लोककी स्थितिको जानकर सब ही प्राणियोंको प्रतिबोधित कर विश्वका हित करनेवाले आगम (उपदेश) को किया था ॥८५॥

वह मुनीन्द्र इन्द्रियोंके व्यापारको रोक करके भी समस्त पदार्थसमूहको प्रत्यक्ष देखता था—अतीन्द्रिय प्रत्यक्षके द्वारा समस्त पदार्थोंको स्पष्टतासे जानता था, तथा स्थावर व त्रस प्राणियोंका संरक्षण करके भी विषय-भोगोंका अतिशय खण्डन करता था—इन्द्रिय विषयोंको वह सर्वथा नष्ट कर चुका था ॥८६॥

उपर्युक्त चारों मूर्खोंने उस मुनीन्द्रके उन दोनों चरण-कमलरूप नौका की पृथिवी पृष्ठपर मस्तक रखकर वन्दना की जो कि गुणोंसे सम्बद्ध होकर प्राणियोंको संसाररूप समुद्रसे पार उतारनेवाले थे ॥८७॥

८३) ब जिगेष्यते for विजेष्यते; अ अतीव भीता । ८४) ब कदा for सदा; अ गुणाननेनसः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्ररूढपापाद्रिविभेदनाशिनीं स धर्मवृद्धिं वितताऱ संयतैः ।
सकृच्चतुर्णामपि दुःखहारिणीं सुखाय तेषामनवद्यचेष्टितः ॥८८

उपेत्य ते योजनमेकमर्गलं विसंवदन्ति स्म परस्परं जडाः ।
मनीषिताशेषफलप्रदायिनी कुतो हि संवित्तिरपास्तचेतसाम् ॥८९

अवोचदेको मम मे परः परो ममाशिषं साधुरदत्त मे ऽपरः ।
प्रजल्पतामित्थमभूदनिर्गलश्चिराय तेषां हृतचेतसां कलिः ॥९०

अजल्पदेकः किमपार्थकं जडा विधीयते राटिरसौ मुनीश्वरः ।
प्रपृच्छ्यतामेत्य विनिश्चयप्रदस्तमांसि तिष्ठन्ति न भास्करे सति ॥९१

इदं वचस्तस्य निशम्य ते ऽखिला मुनीन्द्रमासाद्य बभाषिरे जडाः ।
अदास्तदा यां मुनिपुंगवाशिषं प्रसादतः सा वद कस्य जायताम् ॥९२

८८) १. क दत्तवान् । २. क मुनिः । ३. एकवारम् । ४. आचरणम् ।

८९) १. क गत्वा । २. अधिकम् ; क झकटकं चक्रुः । ३. क सम्यग्ज्ञान ; प्रज्ञा । ४. क मूर्खाणाम् ।

९०) १. चिरकालम् । २. क क्लेशः ।

९१) १. पथिकः । २. वृथा । ३. कलिः । ४. गत्वा ।

तब वृद्धिंगत पापरूप पर्वतको खण्डित करनेके लिए वज्रके समान होकर निर्दोष आचरण करनेवाले उस मुनीन्द्रने एक साथ उन चारोंके दुखको नष्ट करके सुख देनेवाली धर्मवृद्धि (आशीर्वादस्वरूप) दी ॥८८॥

पश्चात् वे चारों मूर्ख उक्त मुनिराजके पाससे एक योजन अधिक जाकर उस आशीर्वादस्वरूप धर्मवृद्धिके विषयमें परस्पर विवाद करने लगे। ठीक है, विवेक बुद्धिसे रहित प्राणियोंके भला इच्छित समस्त फलोंको प्रदान करनेवाला समीचीन ज्ञान कहाँसे हो सकता है ? नहीं हो सकता है ॥८९॥

उनमें-से एक बोला कि साधुने आशीर्वाद मुझे दिया है, दूसरा बोला कि मुझे दिया है, तीसरा बोला कि नहीं मुझे साधुने आशीर्वाद दिया है, तथा चौथा बोला कि उसने मुझे आशीर्वाद दिया है। इस प्रकारसे विवाद करते हुए उन चारों मूर्खोंके मध्यमें बहुत समय तक निरंकुश झगड़ा चलता रहा ॥९०॥

अन्तमें किसी एकने कहा कि अरे मूर्खो ! व्यर्थ क्यों झगड़ा करते हो, उसके विषयमें निश्चय करा देनेवाले उसी मुनिसे जाकर पूछ लो। कारण यह कि सूर्यके होनेपर कभी अन्धकार नहीं रहता है ॥९१॥

उसके इस वचनको सुनकर वे सब मूर्ख मुनीन्द्रके पास जाकर बोले कि हे मुनिश्रेष्ठ ! जिस आशीर्वादको तुमने दिया है, कृपा करके यह कहिए कि वह किसके लिये है ॥९२॥

---

८८) ब ड सद्धर्म । ८९) इ मनीषिणाशेष; क इ संवृत्ति° । ९०) अ ब परस्परो; अ इ °दनिर्गलं ; अ हितचेतसां किल । ९१) क ड इ पपृच्छता° ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ततो ऽमुनावाचि भवत्सु यो जडो विनिन्दितो मूर्खतमो ऽस्ति तस्य सा[2] ।
ततः स्म सर्वे ऽहमहं वदन्त्यमी पराभवः[3] क्वापि न सह्यते जनैः ॥९३

निशम्य तेषां[1] कदनं[2] दुरुत्तरं[3] जगाद साधुः समुपेत्य[4] पत्तनम् ।
विवेचयध्वं[5] बुधलोकवाक्यतो जडा जडत्वं कलिमत्र कार्षु मा[6] ॥९४

श्रुत्वा साधोरमितगतयो वाचमेनां जडास्ते
जग्मुः सर्वे झटिति[1] नगरं राटिमत्यस्य[2] तुष्टाः ।
तिर्यञ्चो ऽप्यामुदितहृदयाः कुर्वते साधुवाक्यं
संज्ञावन्तो भुवनमहितं मानवाः किं न कुर्युः ॥९५

इति धर्मपरीक्षायाममितगतिकृतायामष्टमः परिच्छेदः ॥८॥

---

९३) १. मुनिना । २. धर्मवृद्धिः । ३. तिरस्कारः ।

९४) १. क तेषां मूर्खाणाम् । २. क परस्परयुद्धम् । ३. क दुर्निवारम् । ४. गत्वा । ५. निर्णयं कुरुध्वम् । ६. क मा कुरुत ।

९५) १. क शीघ्रम् । २. मुक्त्वा; क त्यक्त्वा ।

इसपर मुनिराज बोले कि आप लोगोंमें जो पूर्ण रूपसे अतिशय मूर्ख है उसके लिए वह आशीर्वाद दिया गया है । यह सुनकर वे सब बोले कि मैं सबसे अधिक मूर्ख हूँ, मैं सबसे अधिक मूर्ख हूँ । ठीक है—प्राणी कहींपर भी तिरस्कारको नहीं सह सकते हैं ॥९३॥ उनके इस दुष्ट उत्तररूप वचनको सुनकर मुनि बोले कि हे मूर्खो ! तुम लोग नगरमें जाकर पण्डित जनोंके वचनों द्वारा अपनी मूर्खताका निर्णय करा लो, यहाँ झगड़ा न करो ॥९४॥

साधुके इस वचनको सुनकर वे सब मूर्ख सन्तोषपूर्वक कलहका परित्याग करके अपरिमित गमन करते हुए शीघ्रतासे नगरकी ओर चल दिये । ठीक है, पशु भी जब हृदय में हर्षित होकर साधुके वचनको पालन करते हैं—उसके कथनानुसार कार्य किया करते हैं—तब क्या बुद्धिमान् मनुष्य विश्वसे पूजित उस मुनिवाक्यका पालन नहीं करेंगे ? अवश्य करेंगे ॥९५॥

इस प्रकार अमितगतिविरचित धर्मपरीक्षामें आठवाँ
परिच्छेद समाप्त हुआ ॥८॥

---

९३) ब दह्यते for सह्यते । ९४) अ वचनं दुरस्तरं । ९५) अ झगिति; अ मुदितहृदितः, ड °प्यमुदित°, इ °पि मुदित° ; इ प्रज्ञावन्तो; अ भवन ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[९]

अथ ते पत्तनं गत्वा पौराणां पुरतो ऽवदन् ।
पौरा युष्माभिरस्माकं व्यवहारो विचार्यताम् ॥१
पौरैरुक्ता जडा भद्रा व्यवहारो ऽस्ति कीदृशः ।
एते ततो वदन्ति स्म को ऽस्माकं मूर्खगोचरः ॥२
अवादिषुस्ततः पौरा वार्ता स्वा स्वा निगद्यताम् ।
एको मूर्खस्ततो ऽवादीत् तावन्मे श्रूयतामियम् ॥३
द्वे भार्ये पिठरोदर्ये लम्बस्तन्यौ ममोर्जिते ।
वितीर्णे विधिना साक्षाद्वेताल्याविव भीषणे ॥४
प्राणेभ्यो ऽपि प्रिये ते मे संपन्ने रतिदायिके ।
सर्वाः सर्वस्य जायन्ते स्वभावेन स्त्रियः प्रियाः ॥५
बिभेम्यहं तरां ताभ्यां राक्षसीभ्यामिवानिशम् ।
स नास्ति जगति प्रायः शङ्कते यो न योषितः ॥६

तत्पश्चात् वे चारों मूर्ख नगरमें पहुँचकर पुरवासी जनोंके समक्ष बोले कि हे नागरिको! आप हम लोगोंके व्यवहारके विषयमें विचार करें ॥१॥

इसपर नगरवासियोंने उन मूर्खोंसे पूछा कि हे भद्र पुरुषो ! जिस व्यवहारके विषयमें तुम विचार करना चाहते हो वह व्यवहार किस प्रकारका है। इसके उत्तरमें उन लोगोंने कहा कि वह व्यवहार हम लोगोंकी मूर्खताविषयक है—हम लोगोंमें सबसे अधिक मूर्ख कौन है, इसका विचार आपको करना है ॥२॥

यह सुनकर नगरनिवासी बोले कि इसके लिए तुम लोग अपना-अपना वृत्तान्त कहो। तदनुसार एक मूर्ख बोला कि पहले मेरे वृत्तान्तको सुनिए ॥३॥

मेरे लिए विधाताने थालीके समान विस्तीर्ण उदरवाली और लम्बे स्तनोंवाली दो स्त्रियाँ दी थीं जो साक्षात् वेतालीके समान भयानक थीं ॥४॥

अभीष्ट सुखको प्रदान करनेवाली वे दोनों मुझे प्राणोंसे भी अतिशय प्यारी थीं। ठीक भी है, समस्त जनके लिए सब ही स्त्रियाँ—चाहे वे सुन्दर हों या कुरूप, अनुरागिणी हों या कलहकारिणी—स्वभावसे ही प्यारी हुआ करती हैं ॥५॥

मैं उन दोनों स्त्रियोंसे निरन्तर राक्षसियोंके समान डरा करता था। ठीक है, लोकमें प्रायः ऐसा कोई पुरुष नहीं है, जो स्त्रीसे भयभीत न रहता हो—उससे भयभीत प्रायः सब ही रहा करते हैं ॥६॥

१) अ परतो। ३) क अवादिष्ट, ड अवादिष्टस्ततः, इ अवादिष्टास्तदा; क ड इ पौरैर्वार्तां स्वां स्वां; अ श्रूयतामिदम्। ५) अ प्रियतमे; अ क ड इ रतिदायके। ६) ब चकितोऽहं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रीडतो मे समं ताभ्यां कालो गच्छति सौख्यतः ।
एकदा शयितो रात्रौ भव्ये ऽहं शैयनोदरे ॥७
एते पार्श्वद्वये सुप्ते द्वे बाहुद्वितयं प्रिये ।
अवष्टभ्य[1] ममागत्य वेगतो गुणभाजने ॥८
विलासाय[1] ममादायि भालस्योपरि दीपकः ।
कामिनो हि न पश्यन्ति भवन्तीं विपदं सदा ॥९
प्रज्वलन्त्यदूर्ध्ववक्त्रस्य मूषकेण दुरात्मना ।
पातिता नीयमाना मे नेत्रस्योपरि वर्तिका ॥१०
विचिन्तयितुमारब्धं मयेदं व्याकुलात्मना ।
जागरित्वा ततः सद्यो दह्यमाने विलोचने ॥११
यदि विध्यापयाम्यग्निं हस्तमाकृष्य दक्षिणम् ।
तदा कुप्यति मे कान्ता दक्षिणाथ परं[1] परा[2] ॥१२
ततो भार्याभयग्रस्तः स्थितस्तावदहं स्थिरः ।
स्फुटित्वा नयनं यावद् वामं काणं ममाभवत् ॥१३

७) १. शय्या ।
८) १. धृत्वा ।
९) १. क्रीडनाय ।
१२) १. वामहस्तम्; क केवलम् । २. वामा भार्या कुप्यति; क परा स्त्री ।

उनके साथ रमण करते हुए मेरा समय सुखसे बीत रहा था। एक दिन मैं रातमें सुन्दर शय्याके मध्यमें सो रहा था। उस समय गुणोंकी आश्रयभूत ये दोनों प्रियतमाएँ वेगसे आयीं और मेरे दोनों हाथोंका आलम्बन लेकर—एक-एक हाथको अपने शिरके नीचे रखकर दोनों ओर सो गयीं ॥७-८॥

सोनेके पूर्व मैंने विलासके लिए अपने मस्तकके ऊपर एक दीपक ले रखा था। सो ठीक भी है—कामी जन आगे होनेवाली विपत्तिको कभी नहीं देखा करते हैं ॥९॥

इसी समय एक दुष्ट चूहेने उस दीपककी बत्तीको ले जाते हुए उसे ऊपर मुँह करके सोते हुए मेरी आँखके ऊपर गिरा दी ॥१०॥

तत्पश्चात् आँखके जलनेपर शीघ्र जागृत होकर व्याकुल होते हुए मैंने यह विचार करना प्रारम्भ किया कि यदि मैं अपने दाहिने हाथको खींचकर उससे आगको बुझाता हूँ तो मेरे दाहिने पार्श्वभागमें सोयी हुई स्त्री क्रुद्ध होगी और यदि दूसरे (बायें) हाथको खींचकर उससे आगको बुझाता हूँ तो दूसरी स्त्री क्रुद्ध होगी ॥११-१२॥

यह विचार करते हुए मैं स्त्रियोंके भयसे ग्रस्त होकर तबतक वैसा ही स्थिर होकर पड़ा रहा जबतक कि मेरा बायाँ नेत्र फूट करके काना नहीं हो गया ॥१३॥

८) अ °द्वितये । ९) इ मयादायि; ब क ड इ दीपकम् । १०) ब क इ पतिता; अ वृत्तिका, ब दीपिका for वर्तिका । ११) अ विचिन्तयन्तमा°; ब इ दह्यमानो ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्वलित्वा स्फुटिते[1] नेत्रे शशाम ज्वलनः[2] स्वयम् ।
नाकारि कश्चनोपायो मया भीतेन शान्तये ॥१४

मया हि सदृशो मूर्खो विद्यते यदि कथ्यताम् ।
यः[1] स्त्रीत्रस्तो निजं नेत्रं दह्यमानमुपेक्षते ॥१५

स्फुटितं विषमं[1] नेत्रं स्त्रीभीतस्य यतस्ततः ।
ततःप्रभृति संपन्नं[2] नाम मे विषमेक्षणः ॥१६

तन्नेह विद्यते दुःखं दुःसहं जननद्वये ।
प्राप्यते पुरुषैर्यन्न योषाच्छन्दानुवर्तिभिः ॥१७

मूकीभूयावतिष्ठन्ते प्लुष्यमाणे[1] स्वलोचने ।
ये महेलावशा दीनास्ते परं किं न कुर्वते ॥१८

विषमेक्षणतुल्यो यो यदि मध्ये ऽस्ति कश्चन ।
तदा बिभेम्यहं विप्रा भाष्यमाणो ऽपि भाषितुम् ॥१९

१४) १. सति । २. दीपकः ।
१५) १. अहं यः ।
१६) १. वामनेत्रम् । २. जातम् ।
१८) १. दह्यमाने सति ।

इस प्रकारसे जलकर नेत्रके फूट जानेपर वह आग स्वयं शान्त हो गयी। परन्तु भयभीत होनेके कारण मैंने उसकी शान्तिके लिए कोई उपाय नहीं किया ॥१४॥

जो स्त्रियोंसे भयभीत होकर जलते हुए अपने शरीरकी उपेक्षा कर सकता है ऐसा मेरे समान यदि कोई मूर्ख लोकमें हो तो उसे आप लोग बतला दें ॥१५॥

स्त्रियोंसे भयभीत होनेके कारण जबसे मेरा वह बायाँ नेत्र फूटा है तबसे मेरा नाम विषमेक्षण प्रसिद्ध हो गया है ॥१६॥

लोकमें वह कोई दुःख नहीं है जिसे कि स्त्रियोंकी इच्छानुसार प्रवृत्ति करनेवाले—उनके वशीभूत हुए—पुरुष दोनों लोकोंमें न प्राप्त करते हों। तात्पर्य यह कि मनुष्य स्त्रीके वशमें रहकर इस लोक और परलोक दोनोंमें ही दुःसह दुखको सहता है ॥१७॥

जो बेचारे स्त्रीके वशीभूत होकर अपने नेत्रके जलनेपर भी चुपचाप (खामोश) अवस्थित रहते हैं वे अन्य क्या नहीं कर सकते हैं ? अर्थात् वे सभी कुछ योग्यायोग्य कर सकते हैं ॥१८॥

मनोवेग कहता है कि हे ब्राह्मणो, यदि आप लोगोंके मध्यमें उस विषमेक्षणके समान कोई है तो मैं पूछे जानेपर भी कहनेके लिए डरता हूँ ॥१९॥

१५) ड इ स्त्रीसक्तो । १६) इ विषमेक्षणम् । १८) ड इ °माणे सुलोचने । १९) ड वो for यो; ब क त्रस्याम्यहं; क ड इ भाषमाणो; ड विभाषितुं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकत्रावसिते[1] मूर्खे निगद्येति स्वमूर्खताम् ।
द्वितीयेनेति प्रारब्धा[2] शंसितुं[3] ध्वस्तबुद्धिना ॥२०
एकीकृत्य समस्तानि विरूपाणि प्रजासृजा ।
भार्ये कृते ममाभूतां द्वे शङ्के ऽर्कफलाधरे[1] ॥२१
कपर्दकद्विजे[1] कृष्णे दीर्घजङ्घाङ्घ्रिनासिके ।
सदृशे कंसकाराणां देव्याः शुष्ककरोरुके[2] ॥२२
रासभीं शूकरीं काकीं भक्षणाशौचचापलैः ।
ये जित्वा रेजतुर्निन्द्ये कदन्नोद्वासितान्तिके[1] ॥२३
वहन्ती परमां प्रीतिं प्रेयसी चरणं मम ।
एका क्षालयते वामं द्वितीया दक्षिणं पुनः ॥२४
ऋक्षो खरीति संज्ञाभ्यां ताभ्यां सार्धमनेहसि[1] ।
प्रयाति रममाणस्य लीलया सुखभोगिनः ॥२५
एकदर्क्षो निचिक्षेप[1] प्रक्षाल्य प्रीतिमानसा ।
पादस्योपरि मे पादं प्राणेभ्यो ऽपि गरीयसी[2] ॥२६

२०) १. स्थिते सति । २. मूर्खता । ३. कथितुम् ।
२१) १. ओष्ठे ।
२२) १. कोडासदृशदन्ते । २. क नख ।
२३) १. कुत्सितमन्नं कदन्नं तेन उद्वासितः निराकृतो ऽन्तिमश्चाण्डालो याभ्यां ते ।
२५) १. दिवसानि; क काले ।
२६) १. मुमोच । २. अधिका मम ।

इस प्रकार अपनी मूर्खताविषयक वृत्तान्तको कहकर एक मूर्खके चुप हो जानेपर दूसरे मूर्खने अपनी मूर्खताविषयक वृत्तान्तको इस प्रकारसे कहना प्रारम्भ किया ॥२०॥

अकौवेके फलके समान अधरोष्ठवाली जो दो स्त्रियाँ मेरे थीं उन्हें ब्रह्मदेवने समस्त कुत्सित वस्तुओंको एकत्रित करके निर्मित किया था, ऐसी मुझे शंका है-ऐसा मैं समझता हूँ॥२१॥

कौड़ीके समान दाँतोंवाली, काली तथा लम्बी जंघाओं, पाँवों और नाकसे संयुक्त वे दोनों स्त्रियाँ कँसेरों—काँसेके बर्तन बनानेवालों—की देवीके समान सूखे हाथों व ऊरुओं (जाँघों) से सहित थीं ॥२२॥

कुत्सित अन्नके द्वारा चाण्डालको मात करनेवाली वे दोनों निन्दनीय स्त्रियाँ भोजन, अपवित्रता और चंचलतासे क्रमशः गधी, शूकरी और काकस्त्रीको जीतकर शोभायमान हो रही थीं ॥२३॥

उनमें अतिशय प्रीतिको धारण करती हुई एक प्रियतमा तो मेरे बाँयें पाँवको धोया करती थी और दूसरी दाहिने पाँवको धोया करती थी ॥२४॥

ऋक्षी और खरी इन नामोंसे प्रसिद्ध उन दोनों स्त्रियोंके साथ लीलापूर्वक रमण करके

२२) ब कपर्दकाट्टजे, ब क ड करोरुहे, इ तनूरुहे । २३) ब रेजतुर्विद्ये । २५) अ ऋषी for ऋक्षी; अ ब °भागिनः । २६) अ एकं ऋषी ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विलोक्य वेगतः खर्या क्रमस्योपरि मे क्रमः ।
भग्नो मुसलमादाय दत्तनिष्ठुरघातया ॥२७
ऋक्ष्या खरी ततो ऽभाणि बोडे[1] दुष्कृतकारिणि ।
किमद्य ते ऽर्गलं जातं यत्करोषीदृशीं क्रियाम् ॥२८
पतिव्रतायसे दुष्टे भोजं भोजमनारतम् ।
विटानां हि सहस्राणि खराणामिव रासभी ॥२९
ऋक्षी निगदिता खर्या विटवृन्दमनेकधा ।
जननीव[1] निषेव्य त्वं दोषं यच्छसि मे खले ॥३०
मुण्डयित्वा शिरो बोडे कृत्वा पञ्चजटीं शठे ।
शरावमालयार्चित्वा भ्रामयामि पुरान्तरे ॥३१
इत्थं तयोर्महाराटी प्रवृत्ता दुर्निवारणा ।
लोकानां प्रेक्षणीभूता राक्षस्योरिव रुष्टयोः ॥३२

२८) १. हे रंडे ।
२९) १. भुक्त्वा भुक्त्वा ।
३०) १. स्वमातेव ।

सुखका उपभोग करते हुए मेरा समय जा रहा था । इस बीच प्राणोंसे भी अतिशय प्यारी ऋक्षीने प्रसन्नचित्त होकर मेरे एक पाँवको धोया और दूसरे पाँवके ऊपर रख दिया ॥२५-२६॥

यह देखकर खरीने शीघ्र ही पाँवके ऊपर स्थित उस पाँवको निर्दयतापूर्वक मूसलके प्रहारसे आहत करते हुए तोड़ डाला ॥२७॥

इसपर ऋक्षीने खरीसे कहा कि दुराचरण करते हुए धर्मिष्ठा बननेवाली (या युवती) हे खरी ! आज तुझे क्या बाधा उपस्थित हुई है जो इस प्रकारका कार्य (अनर्थ) कर रही है ॥२८॥

हे दुष्टे ! जिस प्रकार गधी अनेक गधोंका उपभोग किया करती है उसी प्रकार तू हजारों जारोंको निरन्तर भोगकर भी पतिव्रता बन रही है ॥२९॥

यह सुनकर खरीने ऋक्षीसे कहा कि हे दुष्टे ! तू अपनी माँके समान अनेक प्रकारसे व्यभिचारियोंके समूहका स्वयं सेवन करके मुझे दोष देती है ॥३०॥

दुराचरण करके स्वयं निर्दोष बननेवाली हे धूर्त ऋक्षे ! मैं तेरे शिरका मुण्डन कराकर और पाँच जटावाली करके सकोरोंकी मालासे पूजा करती हुई तुझे नगरके भीतर घुमाऊँगी ॥३१॥

इस प्रकार क्रुद्ध हुई राक्षसियोंके समान उन दोनोंके बीच जो दुर्निवार महा कलह हुआ वह लोगोंके देखनेके लिए एक विशेष दृश्य बन गया था ॥३२॥

२८) अ ब बोटे; ब ऽधिकं for ऽर्गलम्; अ यां for यत् । ३०) अ ड इ ऋक्षीति गदिता । ३१) अ सारावं°; ड इ पुरान्तरम् । ३२) अ दुर्निवारिणी, ब प्रवृत्ताश्चर्यकारिणी; ब कष्टयोः, इ दुष्टयोः for रुष्टयोः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बोडे रक्षतु[1] ते पादं त्वदीया जननी स्वयम् ।
रुष्टयक्ष्यां निगद्येति पादो भग्नो द्वितीयकः ॥३३
ताभ्यां चकितचित्तो ऽहं मूकीभूय व्यवस्थितः ।
व्याघ्रीभ्यामिव रुष्टाभ्यां छागः कम्पितविग्रहः ॥३४
यतो भार्याविभीतेन[1] पादभङ्गो ऽप्युपेक्षितः[2] ।
कुण्टहंसगतिर्नाम मम जातं ततस्तदा ॥३५
मम पश्यत मूर्खत्वं तदा यो ऽहं व्यवस्थितः ।
स्थितो वाचंयमीभूय कान्ताभीतिकरालितः[1] ॥३६
दुःशीलानां विरूपाणां योषितामस्ति यादृशः ।
सौभाग्यरूपसौन्दर्यगर्वः[1] कुकुलजन्मनाम् ॥३७
सुशीलानां सुरूपाणां कुलीनानामनेनसाम्[1] ।
नेदृशो[2] जायते स्त्रीणां धार्मिकाणां कदाचन ॥३८

३३) १. राखो ।
३५) १. मया । २. मौनेन स्थितः ।
३६) १. पीडितः ।
३७) १. रमणीयता ।
३८) १. पापरहितानाम् । २. गर्वः ।

अन्तमें अतिशय क्रोधको प्राप्त होती हुई खरी बोली कि ले अब तेरे उस पाँवकी रक्षा तेरी माँ आकर कर ले, ऐसा कहते हुए उसने दूसरे पाँवको तोड़ डाला ॥३३॥

जिस प्रकार क्रुद्ध हुई दो व्याघ्रियोंके मध्यमें बकरा भयसे काँपता हुआ स्थित रहता है उसी प्रकार मैं भी क्रुद्ध हुई उन दोनों स्त्रियोंके इस दुर्व्यवहारसे मनमें आश्चर्यचकित होता हुआ चुपचाप स्थित रहा ॥३४॥

चूँकि मैंने स्त्रियोंसे भयभीत होकर अपने पाँवके संयोगकी भी उपेक्षा की थी, इसीलिए तबसे मेरा नाम कुण्ठहंसगति (हाथरहित-पंखहीन-हंस-जैसी अवस्थावाला, अथवा कुण्ठ-अकर्मण्य हंसके समान) प्रसिद्ध हो गया है ॥३५॥

उस मेरी मूर्खताको देखो जो मैं स्त्रियोंके भयसे पीड़ित होकर मौनका आलम्बन लेता हुआ स्थित रहा ॥३६॥

दुष्ट स्वभाववाली, कुरूप व निन्द्य कुलमें उत्पन्न हुई स्त्रियोंको अपने सौभाग्य, रूप और सुन्दरताका जैसा अभिमान होता है वैसा अभिमान उत्तम स्वभाववाली, सुन्दर, उच्च कुलमें उत्पन्न हुई व पापाचरणसे रहित धर्मात्मा स्त्रियोंको कभी नहीं होता ॥३७-३८॥

३३) अ रुष्टखर्या । ३४) ड इ द्वाभ्यां; चकित इ दुष्टाभ्यां । ३५) ब नार्या for भार्या° ३६) ब तस्य for तदा, ड तयोर्योहं; ब क स्थिरो for स्थितो । ३८) इ स्वरूपाणां; अ इ अनेहसाम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुलीना भक्तिका शान्ता धर्ममार्गविचक्षणा ।
एकैव विदुषा कार्या भार्या स्वस्य हितैषिणी ॥३९
कुलकीर्तिसुखभ्रंशं दुःसहां श्वभ्रवेदनाम् ।
अवष्टब्धो[1] नरः स्त्रीभिर्लभते नात्र संशयः ॥४०
वैरिव्याघ्रभुजङ्गेभ्यो निर्भयाः सन्ति भूरिशः ।
नैको ऽपि दृश्यते लोके यो न त्रस्यति योषितः ॥४१
कुण्टहंसगतेस्तुल्या ये नराः सन्ति दुर्धियः ।
न तेषां पुरतस्तत्त्वं भाषणीयं मनीषिणा ॥४२
निगद्येति निजां वार्तां द्वितीये विरते सति ।
तृतीयो बालिशो दिष्ट्या[1] भाषितुं तां[2] प्रचक्रमे ॥४३
स्वकीयमधुना पौरा मूर्खत्वं कथयामि वः ।
सावधानं मनः कृत्वा युष्माभिरवधार्यताम् ॥४४
एकदा श्वाशुरं गत्वा मयानीता मनःप्रिया ।
अजल्पन्ती निशि प्रोक्ता शयनीयमुपेयुषी[1] ॥४५

३९) १. स्वहितवाञ्छका ।
४०) १. क वशीकृतः ।
४३) १. हर्षेण । २. स्वमूर्खताम् ।
४५) १. उपविष्टा; क प्राप्ता ।

विद्वान् मनुष्यको ऐसी एक ही स्त्री स्वीकार करना चाहिए जो कुलीन हो, अपने विषयमें अनुराग रखती हो, शान्त स्वभाववाली हो, धर्म-मार्गके अन्वेषणमें चतुर हो, तथा अपना हित चाहनेवाली हो ॥३९॥

स्त्रियोंके द्वारा आक्रान्त—उनके वशीभूत हुआ प्राणी अपने कुलकी कीर्ति व सुखको नष्ट करके दुःसह नरकके दुखको प्राप्त करता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥४०॥

लोकमें शत्रु, व्याघ्र और सर्पसे भयभीत न होनेवाले बहुत-से मनुष्य हैं। परन्तु ऐसा वहाँ एक भी मनुष्य नहीं देखा जाता जो कि स्त्रीसे भयभीत न रहता हो ॥४१॥

जो दुर्बुद्धि मनुष्य हस्त (पंख) हीन हंसके समान अवस्थावाले हैं उनके सामने बुद्धिमान् मनुष्यको भाषण नहीं करना चाहिए ॥४२॥

इस प्रकार अपने वृत्तान्तको कहकर जब वह दूसरा मूर्ख चुप हो गया तब तीसरे मूर्खने अपनी बुद्धिके अनुसार उस मूर्खताके सम्बन्धमें कहना प्रारम्भ किया ॥४३॥

वह कहता है कि हे पुरवासियो ! अब मैं आप लोगोंसे अपनी मूर्खताके विषयमें कहता हूँ। आप अपने मनको एकाग्र करके उसका निश्चय करें ॥४४॥

एक बार मैं अपने ससुरके घर जाकर मनको प्रिय लगनेवाली स्त्रीको ले आया। वह रातमें शय्यापर आकर कुछ बोलती नहीं थी। तब मने उससे कहा कि हे कृश उदरवाली

४१) ब योषिताम् । ४२) अ °गतिस्तुल्या । ४३) अ दृष्ट्या, क दृष्ट्वा, इ निन्द्यां for दिष्ट्या ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यो जल्पत्यावयोः पूर्वं हार्यन्ते तेन निश्चितम् ।
कृशोदरि दशापूपाः सर्पिर्गुडविलोडिताः ॥४६
ततो वल्लभया प्रोक्तमेवमस्तु विसंशयम् ।
कुलीनाभिर्वचो भर्तुर्न क्वापि प्रतिकूल्यते[1] ॥४७
आवयोः स्थितयोरेवं प्रतिज्ञारूढयोः सतोः ।
प्रविश्य सकलं द्रव्यं चौरेणाहारि मन्दिरम् ॥४८
न तेन[2] किंचन त्यक्तं गृह्णता द्रविणं गृहे ।
छिद्रे हि जारचौराणां जायते प्रभविष्णुता ॥४९
प्रियायाः कृष्टुमारब्धे स्तेनेन[1] परिधानके ।
जल्पितं[2] रे दुराचार त्वं किमद्याप्युपेक्षसे[3] ॥५०
आकृष्टे मे ऽन्तरीये ऽपि त्वं जीवसि कथं शठ ।
जीवितव्यं कुलीनानां भार्यापरिभवावधि ॥५१

४७) १. उल्लङ्घ्यते; क न निषिद्धि[ध्य]ते ।
४९) १. चौरेण । २. शक्तिः ।
५०) १. चौरेण । २. तया भार्यया । ३. क अवलोक्यते ।

प्रिये ! हम दोनोंमें-से जो कोई पहले भाषण करेगा वह निश्चयतः घी और गुड़से परिपूर्ण दस पूवोंको हारेगा । उसे सुस्वादु दस पूवे देने पड़ेंगे ॥४५-४६॥

इसपर उसकी प्रिय पत्नीने कहा कि ठीक है, निःसन्देह ऐसा ही हो । सो यह उचित ही है, क्योंकि कुलीन स्त्रियाँ कभी पतिके वचनके विरुद्ध प्रवृत्ति नहीं किया करती हैं ॥४७॥

इस प्रकार हम दोनों प्रतिज्ञाबद्ध होकर मौनसे स्थित थे । उधर चोरने घरमें प्रविष्ट होकर समस्त धनका अपहरण कर लिया ॥४८॥

उसने धनका अपहरण करते हुए घरके भीतर कुछ भी शेष नहीं छोड़ा था । ठीक है—छिद्र (योग्य अवसर अथवा दोष—मौन)के होनेपर व्यभिचारियों और चोरोंकी प्रभुता व्याप्त हो जाती है । अभिप्राय यह कि जिस प्रकार कुछ दोष पाकर व्यभिचारी जनोंका साहस बढ़ जाता है उसी प्रकार उस दोषको (अथवा भित्ति आदिमें छेदको भी) पाकर चोरोंका भी साहस बढ़ जाता है ॥४९॥

अन्तमें जब चोरने मेरी प्रिय पत्नीकी साड़ीको भी खींचना प्रारम्भ कर दिया तब वह बोली कि अरे दुष्ट ! तू क्या अब भी उपेक्षा कर रहा है ? हे मूर्ख ! इस चोरके द्वारा मेरे अधोवस्त्रके खींचे जानेपर भी—मुझे नंगा करनेपर भी—तू किस प्रकार जीवित रह रहा है ? इससे तो तेरा मर जाना ही अच्छा था । कारण यह कि कुलीन पुरुष तबतक ही जीवित रहते हैं जबतक कि उनके समक्ष उनकी स्त्रीका तिरस्कार नहीं किया जाता है—उसकी लज्जा नहीं लूटी जाती है ॥५०-५१॥

४६) अ क इ जल्पतावयोः; अ ड विलोलिताः । ४७) अ को ऽपि । ४८) ब अनयोः, इ मन्दिरे । ४९) इ किंचनात्यक्तम् । ५०) अ स्तेनेधःपरि°; ब च for रे । ५१) अ °भवाविधिः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तदीयं वचनं श्रुत्वा विहस्य भणितं मया।
हारितं हारितं कान्ते प्रथमं भाषितं त्वया ॥५२
गुडेन सर्पिषा[1] मिश्राः प्रतिज्ञाताः स्वयं त्वया।
पङ्कजाक्षि दशापूपा दीयतां मम सांप्रतम् ॥५३
इदं पश्यत मूर्खत्वं मदीयं येन हारितम्।
सर्वं पूर्वार्जितं द्रव्यं दुरापं धर्मशर्मदम् ॥५४
तदा बोडमिति ख्यातं मम नाम जनैः कृतम्।
विडम्बनां न कामेति प्राणी मिथ्याभिमानतः ॥५५
कर्तव्यावज्ञया[1] जीवो जीवितव्यं विमुञ्चति।
नाभिमानं पुनर्जातु क्रियमाणो ऽपि खण्डशः ॥५६
समस्तद्रव्यविच्छेदसहनं नाद्भुतं सताम्।
मिथ्याभिमानिना सर्वाः सह्यन्ते श्वभ्रवेदनाः ॥५७
बोडेन सदृशा मूर्खा ये भवन्ति नराधमाः।
न तेषामधिकारो ऽस्ति सारासारविचारणे ॥५८

५३) १. घृतेन।
५६) १. कृत्याकृत्यअज्ञानता।

उसके इस वचनको सुनकर मैंने हँसकर कहा कि हे प्रिये! तू हार गयी, हार गयी; क्योंकि, पहले तू ही बोली है ॥५२॥

हे कमल-जैसे नेत्रोंवाली! तूने घी और गुड़से मिश्रित दस पूवोंके देनेकी जो स्वयं प्रतिज्ञा की थी उन्हें अब मेरे लिए दे ॥५३॥

वह तीसरा मूर्ख कहता है कि हे पुरवासियो! मेरी इस मूर्खताको देखो कि जिसके कारण मैंने पूर्वमें कमाये हुए उस सब ही धनको लूट लेने दिया जो दुर्लभ होकर धर्म और सुखको देनेवाला था ॥५४॥

उस समय लोगोंने मेरा नाम 'बोड' (मूर्ख) प्रसिद्ध कर दिया। ठीक है, प्राणी मिथ्या अभिमानके कारण कौन-से तिरस्कार या उपहासको नहीं प्राप्त होता है—सभी प्रकारके तिरस्कार और उपहासको वह प्राप्त होता है ॥५५॥

प्राणी तिरस्कारके कारण प्राणोंका परित्याग कर देता है, परन्तु वह खण्ड-खण्ड किये जानेपर भी अभिमानको नहीं छोड़ता है ॥५६॥

मिथ्या अभिमानी मनुष्य यदि सब धनके विनाशको सह लेता है तो इससे सत्पुरुषों-को कोई आश्चर्य नहीं होता है। कारण कि वह तो उस मिथ्या अभिमानके वशीभूत होकर नरकके दुखको भी शीघ्रतासे सहता है ॥५७॥

मनोवेग कहता है कि हे विप्रो! जो निकृष्ट मनुष्य बोडके सदृश मूर्ख होते हैं वे योग्यायोग्यका विचार करनेके अधिकारी नहीं होते हैं ॥५८॥

५३) ब त्वयापूपाः। ५५) अ बोट, ब वोट्ट, क वोड, ड वोद। ५६) ब कर्तृणावज्ञया अ विमुंचते;। ५७) ड इ °भिमानतः; अ इ सद्यः for सर्वाः। ५८) अ बोटेन, ब बोट्टेन, ड बोदेन।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूर्खत्वं [1]प्रतिपाद्येति तृतीये ऽवसिते सति ।
प्रारेभे बालिशस्तुर्यो भाषितुं लोकभाषितः[2] ॥५९
गतो ऽहमेकदानेतुं श्वाशुरं निजवल्लभाम् ।
मनोषितसुखाधारं स्वर्गवासमिवापरम् ॥६०
विचित्रवर्णसंकीर्णं स्निग्धं प्रह्लादनक्षमम् ।
श्वश्र्वा मे भोजनं दत्तं जिनवाक्यमिवोज्ज्वलम् ॥६१
न लज्जां वहमानेन मयाभोजि प्रियंकरम् ।
विकलेन दुरुच्छेदां मारीमिव दुरुत्तराम् ॥६२
ग्रामेयकवधूर्दृष्ट्वा न मयाकारि भोजनम् ।
द्वितीये ऽपि दिने तत्र व्यथा इव सविग्रहाः ॥६३
तृतीये वासरे जातः प्रबलो जठरानलः ।
सर्वाङ्गीणमहादाहक्षयकालानलोपमः[1] ॥६४

५९) १. क प्रतिपादयित्वा । २. लोकवचनतः ।
६४) १. प्रलयकालोपमः ।

इस प्रकार अपनी मूर्खताका प्रतिपादन करके उस तृतीय मूर्खके चुप हो जानेपर जब लोगोंने चौथे मूर्खसे अपनी मूर्खताविषयक वृत्तान्तके कहनेको कहा तब उसने भी अपनी मूर्खताके विषयमें इस प्रकारसे कहना प्रारम्भ किया ॥५९॥

एक बार मैं अपनी पत्नीको लेनेके लिए ससुरके घर गया था । अभीष्ट सुखका स्थानभूत वह घर मुझे दूसरे स्वर्गके समान प्रतीत हो रहा था ॥६०॥

वहाँ मुझे मेरी सासने जो भोजन दिया था वह उज्ज्वल जिनागमके समान था—जिस प्रकार जिनागम अनेक वर्णों (अकारादि अक्षरों) से व्याप्त है उसी प्रकार वह भोजन भी अनेक वर्णों (हरित-पीतादि रंगों) से व्याप्त था, जैसे जिनागम स्नेहसे परिपूर्ण—अनुरागका विषय—होता है वैसे ही वह भोजन भी स्नेहसे—घृतादि चिक्कण पदार्थोंसे परिपूर्ण था, तथा जिस प्रकार प्राणियोंके मनको आह्लादित (प्रमुदित) करनेमें वह आगम समर्थ है उसी प्रकार वह भोजन भी उनके मनको आह्लादित करनेमें समर्थ था ॥६१॥

परन्तु दुर्विनाश व दुर्लंघ्य मारी (रोगविशेष—प्लेग) के समान लज्जाको धारण करते हुए मैंने विकलतावश उस प्रिय करनेवाले (हितकर) भोजनको नहीं किया ॥६२॥

मैंने वहाँ ग्रामीण स्त्रियोंको मूर्तिमती पीड़ाओंके समान देखकर दूसरे दिन भी भोजन नहीं किया ॥६३॥

इससे तीसरे दिन समस्त शरीरको प्रज्वलित करनेवाली व प्रलयकालीन अग्निके समान भयानक औदर्य अग्नि—भूखकी अतिशय बाधा—उद्दीप्त हो उठी ॥६४॥

५९) इ विरते for ऽवसिते । ६०) अ स्वासुरं, ब श्वासुरं, क सासुरं । ६१) अ निजवाक्य° । ६२) ब om. this verse । ६४) अ प्रवरो for प्रबलो ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शयनाधस्तनो भागो मयालोकि शनस्ततः ।
बुभुक्षापीडितः कस्य सन्मुखं न विलोकते ॥६५
विशालं भाजनं तत्र शालीयैस्तन्दुलैर्भृतम् ।
विलोकितं मया व्योम शुद्धै[1] श्चन्द्रकरैरिव ॥६६
मयालोक्य गृहद्वारं तन्दुलैः पूरितं मुखम् ।
उदरानलतप्तस्य मर्यादा हि कुतस्तनी ॥६७
तस्मिन्नेव क्षणे तत्र प्रविष्टा मम वल्लभा ।
त्रपमानमनास्तस्याः फुल्लगल्लाननः[1] स्थितः ॥६८
उत्फुल्लगल्लमालोक्य मां स्तब्धीकृतलोचनम् ।
सा मातुः सूचयामास शङ्कमाना[1] महाव्यथाम् ॥६९
श्वश्रूरागत्य मां दृष्ट्वा संदिग्धा[1] जीविते ऽजनि ।
प्रेमा[2] पश्यत्यकाण्डे[3] ऽपि प्रियस्यै[4] विपदं पराम् ॥७०

६६) १. पटलवर्जितैः ।
६८) १. मया ।
६९) १. ज्ञात्वा ।
७०) १. संदेह । २. सुताया नाम । ३. अप्रस्तावे । ४. बदुप्रियस्य ।

तब मैंने धीरेसे शय्याके नीचेका भाग देखा । ठीक है, भूखसे पीड़ित प्राणी किसके सम्मुख नहीं देखता है ? वह उस भूखकी पीड़ाको नष्ट करनेके लिए जहाँ-तहाँ और जिस-किसीके भी सम्मुख देखा करता है ॥६५॥

वहाँ मैंने आकाशके मध्यमें फैली हुई चन्द्रकिरणोंके समान उज्ज्वल शालि धानके चावलोंसे भरा हुआ एक बड़ा बर्तन देखा ॥६६॥

उसे देखकर मैंने घरके द्वारकी ओर देखा और उधर जब कोई आता-जाता न दिखा तब मैंने अपने मुँहको उन चावलोंसे भर लिया । सो ठीक भी है—जो पेटकी अग्निसे—भूखसे—सन्तप्त होता है उसका न्यायमार्गमें अवस्थान कहाँसे सम्भव है ? अर्थात् वह उस भूखकी बाधाको नष्ट करनेके लिए उचित या अनुचित किसी भी उपायका आश्रय लेता ही है ॥६७॥

इसी समय वहाँ मेरी प्रिय पत्नीने प्रवेश किया । उसे देख मनमें लज्जा उत्पन्न होनेके कारण मैं मुँहके भीतर चावल रहनेसे गालोंको फुलाये हुए वैसे ही स्थित रह गया ॥६८॥

उसने मुझे इस प्रकारसे फूले हुए गालों व स्थिर नेत्रोंसे संयुक्त देखकर महती पीड़ाकी आशंकासे इसकी सूचना अपनी माँको कर दी ॥६९॥

सासने आकर जब मुझे इस अवस्थामें देखा तो उसे मेरे जीवित रहनेमें शंका हुई—उसने मुझे मरणासन्न ही समझा । सो ठीक भी है, क्योंकि, प्रेम असमयमें भी अपने प्रियकी उत्कृष्ट विपत्तिको देखा करता है—अतिशय अनुरागके कारण प्राणीको अपने इष्ट जनके विषय में कारण पाकर अनिष्टकी आशंका स्वभावतः हुआ करती है ॥७०॥

६६) ब व्यालोक्य, क विलोक्य; अ व्योम्नि । ६८) अ °ननस्थितिः । ७०) अ ब प्रेम, इ प्रेम्णा; अ विपदाम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यथा यथा मम श्वश्रूर्गल्लौ पीडयते शुचा[1]।
तथा तथा स्थितः कृत्वा स्तब्धो विह्वलविग्रहः ॥७१
रुदन्तीं मे प्रियां श्रुत्वा सर्वा ग्रामीणयोषितः।
मिलित्वावादिषुर्व्याधीन् योजयन्त्यः सहस्रशः ॥७२
एका जगाद मातृणां[1] सपर्या[2] न कृता यतः।
ततो ऽजनिष्ट दोषो ऽयं परमस्ति न कारणम् ॥७३
अभणीदपरा[1] दोषो देवतानामयं स्फुटम्[2]।
आकस्मिकीदृशी पीडा जायते ऽपरथा कथम् ॥७४
न्यगदीदपरा वामे निवेश्य वदनं करे।
चालयन्त्यपरं[1] मातर्जायन्ते कर्णसूचिकाः[2] ॥७५
काचन श्लैष्मिकं दोषमपरा पित्तसंभवम्।
वातीयमपरावादीदपरा[1] सांनिपातिकम् ॥७६
इत्थं तासु वदन्तीषु रामासु व्याकुलात्मसु।
आगतः शाबरो[1] वैद्यो भाषमाणः स्ववैद्यताम् ॥७७

७१) १. शोकेन।
७३) १. सप्तमातृणाम्। २. पूजा।
७४) १. क स्त्री। २. पूजा न कृता।
७५) १. करम्। २. पीडा।
७६) १. क स्त्री।
७७) १. ना [न] यज्ञो वैद्यः; क नायतौ।

सास शोकसे पीड़ित होकर जैसे-जैसे मेरे गालोंको पीड़ित करती—उन्हें दबाती थी—वैसे-वैसे मैं व्याकुलशरीर होकर उन्हें निश्चल करके अवस्थित रह रहा था ॥७१॥

उस समय मेरी प्रियाको रोती हुई सुनकर गाँवकी स्त्रियाँ मिल करके आयीं व हजारों रोगोंकी योजना करती हुई यों बोलीं ॥७२॥

उनमें-से एक बोली कि चूँकि दुर्गा-पार्वती आदि माताओंकी पूजा नहीं की गयी है, इसीलिए यह दोष उत्पन्न हुआ है; इसका और दूसरा कोई कारण नहीं है ॥७३॥

दूसरी बोली कि यह दोष देवताओंका है, यह स्पष्ट है। इसके बिना इस प्रकारकी पीड़ा कैसे हो सकती है? नहीं हो सकती ॥७४॥

तीसरी स्त्रीने बायें हाथपर मेरे मुखको रखकर दूसरे हाथको चलाते हुए कहा कि हे माता! यह तो कर्णसूचिका व्याधि है ॥७५॥

इसी प्रकारसे किसीने उसे कफजनित, किसीने पित्तजनित, किसीने वातजनित और किसीने संनिपातजनित दोष बतलाया ॥७६॥

वे सब स्त्रियाँ व्याकुल होकर इस प्रकार बोल ही रही थीं कि उसी समय एक शाबर

७५) ब वारयन्त्यै°। ७७) ब सादरश्चैव for शाबरो वैद्यो, इ सावरो for शाबरो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आहूय त्वरया कृत्वा दोषोत्पत्तिनिवेदनम्[1] ।
तस्याहं दर्शितः श्वश्र्वा वैद्यस्यातुरचित्तया[2] ॥७८

शङ्खवद्मस्येव[1] मे दृष्ट्वा कपोलौ ग्रावनिष्ठुरौ[2] ।
स्पृष्ट्वा हस्तेन सो[3] ऽध्यासीदिङ्गितज्ञताकारपण्डितः ॥७९

अर्चर्वितं मुखे क्षिप्तं किंचनास्य भविष्यति ।
बुभुक्षार्तस्य शङ्के ऽहं चेष्टान्यस्य न हीदृशी[1] ॥८०

खट्वाधःस्थं भाजनं तण्डुलानां दृष्ट्वा वैद्यो भाषते स्मेति दक्षः ।
मातर्व्याधिस्तण्डुलीयो दुरन्तः प्राणच्छेदी कृच्छ्रसाध्यो ऽस्य जातः ॥

भूरि द्रव्यं काङ्क्षितं मे यदि त्वं दत्से रोगं हन्मि सूनोस्तदाहम् ।
श्वश्र्वा प्रोक्तं वैद्य दास्ये कुरु त्वं नीरोगत्वं जीवितादेष बालः ॥८२

शस्त्रेणातः पाटयित्वा कपोलौ शालीयानां तण्डुलानां समानाः ।
नानाकारा दर्शितास्तेन कीटास्तासां स्त्रीणां कुर्वतीनां विषादम् ॥८३

७८) १. वैद्यम् । २. पीडित ।
७९) १. शङ्खवादित [दक] पुरुषस्येव । २. क पाषाणस्य । ३. वैद्यः । ४. हृदि चिन्तयामास ।
८०) १. भवति ।

वैद्य अपने वैद्यस्वरूपको—आयुर्वेद-विषयक प्रवीणताको—प्रकट करता हुआ वहाँ आ पहुँचा ॥७७॥

तब व्याकुलचित्त होकर मेरी सासने उस वैद्यको तुरन्त बुलाया और मेरे मुखविषयक दोष (रोग) की उत्पत्तिके सम्बन्धमें निवेदन करते हुए मुझे उसके लिए दिखलाया ॥७८॥

वह शरीरकी चेष्टाको जानता था। इसीलिए उसने शंख (अथवा शंखको बजानेवाले पुरुष) के समान फूले हुए व पत्थरके समान कठोर मेरे गालोंका हाथसे स्पर्श करके विचार किया कि भूखसे पीड़ित होनेके कारण इसके मुँहके भीतर कोई वस्तु बिना चबायी हुई रखी गयी है, ऐसी मुझे शंका होती है; क्योंकि, इस प्रकारकी चेष्टा दूसरे किसीकी नहीं होती है ॥७९-८०॥

तत्पश्चात् उस चतुर वैद्यने खाटके नीचे स्थित चावलोंके बर्तनको देखकर कहा कि हे माता ! इसको तन्दुलीय व्याधि—चावलोंके रखनेसे उत्पन्न हुआ विकार—हुआ है। यह रोग प्राणघातक, दुर्विनाश और कष्टसाध्य है। यदि तुम मुझे मेरी इच्छानुसार बहुत-सा धन देती हो तो मैं तुम्हारे पुत्रके इस रोगको नष्ट कर देता हूँ। इसपर सासने कहा कि हे वैद्य ! मैं तुम्हें तुम्हारी इच्छानुसार बहुत-सा धन दूँगी। तुम इसके रोगको दूर कर दो, जिससे यह बालक जीता रहे ॥८१-८२॥

तब उसने शस्त्रसे मेरे गालोंको चीरकर शोक करनेवाली उन स्त्रियोंको शालिधानके चावलकणोंके समान अनेक आकारवाले कीड़ोंको दिखलाया ॥८३॥

७८) अ दोषोत्पत्तिर्निवेद्यताम् । ७९) अ शंखस्येव च मे, ड शंखधास्येव । ८२) ब ड इ चोक्तं for प्रोक्तम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नष्टः क्षिप्रं वस्त्रयुग्मं गृहीत्वा वैद्यस्तुष्टः पूजितो भामिनीभिः ।
सोढ्वा पीडां दुर्निवारां स्थितो ऽहं मूकीभूय व्यर्थमानाग्नितप्तः ॥८४

हासं हासं सर्वलोकैस्तदानीं ख्याता गल्लस्फोटिकाख्या[1] कृता मे ।
किं वा हास्यं याति दुःखं न निन्द्यं क्षिप्रं प्राणी दुष्टचेष्टानिविष्टः ॥८५

यादृङ्मौख्यं तस्य मे यः स्थितो ऽहं मूको गल्लस्फोटने ऽप्यप्रसह्ये ।
[1]ब्रूतेदृक्षं[2] स्वार्थविध्वंसि[3] पौराः यद्यन्यत्र क्वापि दृष्टं भवद्भिः ॥८६

लज्जा मानः पौरुषं शौचमर्थः कामो धर्मः संयमो ऽकिंचनत्वम् ।
ज्ञात्वा काले[1] सर्वमाधीयमानं[2] दत्ते पुंसां काङ्क्षितां मङ्क्षु[3] सिद्धिम् ॥८७

हेयादेयज्ञानहीनो विहीनो मूर्खो काले यो ऽभिमानं विधत्ते ।
हास्यं दुःखं सर्वलोकापवादं लब्ध्वा घोरं श्वभ्रवासं स याति ॥८८

८५) १. नाम ।

८६) १. कथयत । २. मौर्ख्यम् । ३. क्रियमाणं सत् ।

८७) १. प्रस्तावे । २. पूजमानम् । ३. शीघ्रम् ।

तत्पश्चात् स्त्रियोंके द्वारा पूजा गया वह वैद्य दो वस्त्रोंको ग्रहण करके सन्तुष्ट होता हुआ वहाँसे शीघ्र ही भाग गया । इस प्रकारसे मैं निरर्थक अभिमानरूप अग्निसे सन्तप्त होकर उस दुःसह पीड़ाको सहता हुआ चुपचाप स्थित रहा ॥८४॥

उस समय सब लोगोंने पुनः-पुनः हँसकर मेरा नाम गल्लस्फोटिक प्रसिद्ध कर दिया । ठीक है, जो प्राणी दूषित प्रवृत्तिमें निरत होता है वह क्या शीघ्र ही परिहासके साथ निन्दनीय दुखको नहीं प्राप्त होता है ? अवश्य प्राप्त होता है ॥८५॥

हे नगरवासियो ! जो मैं गालोंके चीरते समय उत्पन्न हुई असह्य पीड़ाको सहता हुआ भी चुपचाप स्थित रहा उस मुझ-जैसी स्वार्थको नष्ट करनेवाली इस प्रकारकी मूर्खता यदि आप लोगोंके द्वारा अन्यत्र कहींपर भी देखी गयी हो तो उसे बतलाइए ॥८६॥

लज्जा, मान, पुरुषार्थ, शुद्धि, धन, काम, धर्म, संयम, अपरिग्रहता, इन सबको जान करके यदि इनका आश्रय योग्य समयमें किया जाये तो वह प्राणियोंके लिए शीघ्र ही अभीष्ट सिद्धिको प्रदान करता है ॥८७॥

जो मूर्ख हेय और उपादेयके विवेकसे रहित होकर समयके बीत जानेपर—अयोग्य समयमें अभिमान करता है वह परिहास, दुख और सब लोगोंके द्वारा की जानेवाली निन्दाको प्राप्त होकर भयानक नरकवासको प्राप्त होता है—नरकमें जाकर वहाँ असह्य दुखको भोगता है ॥८८॥

८६) अ °स्फोटने प्राप्य सह्ये । ८८) इ हेयाहेय°; क ऽपि दीनो for विहीनो; अ इ विप्रा for काले ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षिप्रं गत्वा तस्य साधोः समीपं भद्रा मौर्ख्यं शोधयध्वं स्वकीयम् ।
पौरैरुक्ता वाचमेवं विसृष्टाः सन्तो ऽसाध्ये कुर्वते न प्रयत्नम् ॥८९
सारासाराचारसंचारहारी[1] विप्रा मूर्खो भाषितो यश्चतुर्धा ।
युष्मन्मध्ये को ऽपि यद्यस्ति तादृक् तत्त्वं वक्तुं भो तदाहं बिभेमि ॥९०
वेश्या लज्जामीश्वरस्त्यागमुग्रं भृत्यो गर्वं भोगतां ब्रह्मचारी ।
भण्डः शौचं शीलनाशं पुरन्ध्रो कुर्वन्नाशं याति लोभं नरेन्द्रः ॥९१
न कीर्तिर्न कान्तिर्न लक्ष्मीर्न पूजा न धर्मो न कामो न वित्तं न सौख्यम् ।
विवेकेन हीनस्य पुंसः कदाचित् यतः सर्वदातो[1] विवेको विधेयः ॥९२
विना यो ऽभिमानं विधत्ते विधेयं[1] जनैर्निन्दनीयस्य तस्यापबुद्धेः[2] ।
विनश्यन्ति सर्वाणि कार्याणि पुंसः समं जीवितव्येन लोकद्वये ऽपि ॥९३

८९) १. ते मूर्खा मुक्ताः ।
९०) १. विवेचनरहितः ।
९२) १. भो विप्राः ।
९३) १. कार्यम् । २. नष्टबुद्धेः ।

इस प्रकार उपर्युक्त चारों मूर्खोंकी मूर्खताके इस वृत्तको सुनकर नगरवासियोंने उनसे कहा कि हे भद्र पुरुषो ! तुम लोग शीघ्र ही उस साधुके समीपमें जाकर अपनी मूर्खताको शुद्ध कर लो, इस प्रकार कहकर उन सबने उनको विदा कर दिया । ठीक है, जो कार्य सिद्ध ही नहीं हो सकता है उसके विषयमें सत्पुरुष कभी प्रयत्न नहीं किया करते हैं ॥८९॥

मनोवेग कहता है कि हे विप्रो ! जो मूर्ख योग्य-अयोग्य आचरण और गमनका अपहरण करता है—उसका विचार नहीं किया करता है—उसके चार भेदोंका मैंने निरूपण किया है । ऐसा कोई भी मूर्ख यदि आप लोगोंके बीचमें है तो मैं उस प्रकारके तत्त्वको—यथार्थ वस्तु स्वरूपको—कहनेके लिए डरता हूँ ॥९०॥

लज्जा करनेसे वेश्या, अत्यधिक दान करनेसे धनवान्, अभिमानके करनेसे सेवक, भोग भोगनेसे ब्रह्मचारी, पवित्र आचरणसे भाँड, शीलको नष्ट करनेसे पतिव्रता पुत्रवती स्त्री और लोभके करनेसे राजा नाशको प्राप्त होता है—ये सब ही उक्त व्यवहारसे अपने-अपने प्रयोजनको सिद्ध नहीं कर सकते हैं ॥९१॥

विवेकहीन मनुष्यको न कीर्ति, न कान्ति, न लक्ष्मी, न प्रतिष्ठा, न धर्म, न काम, न धन और न सुख कुछ भी नहीं प्राप्त होता । इसीलिए इनकी अभिलाषा करनेवाले मनुष्योंको सदा विवेकको करना चाहिए ॥९२॥

जो कर्तव्य कार्यके बिना ही अभिमान करता है उस दुर्बुद्धि मनुष्यकी जनोंके द्वारा निन्दा की जाती है व उसके दोनों ही लोकोंमें जीवितके साथ सब कार्य भी विनष्ट होते हैं ॥९३॥

८९) अ मूर्खं for मौर्ख्यं; अ पौरैरुक्त्वा । ९०) ब चतुर्थः for चतुर्धा । ९१) अ ईश्वरत्यागं°; अ भोगिनां, क भोगितां । ९३) अ यो विधेयं विधत्ते ऽभिमानम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कालानुरूपाणि विचार्य वर्यः सर्वाणि कार्याणि करोति यो ऽत्र ।
बुधार्चितः सारमसौ समस्तं मनीषितं प्राप्य विमुक्तिमेति ॥९४
इहाहिते हितमुपयाति शाश्वतं हिते कृते यदहितमग्रतो जनः ।
हितैषिणो मनसि विवेच्य तद्धिया हितं पुरो ऽमितगतयो वितन्वते ॥९५

इति धर्मपरीक्षायाममितगतिकृतायां नवमः परिच्छेदः ॥ ९ ॥

जो विवेकी सत्पुरुष यहाँ विचार करके समयके अनुकूल ही सब कार्योंको करता है वह विद्वानों द्वारा पूजित होकर सारभूत सब ही अभीष्टको प्राप्त करके अन्तमें मुक्तिको भी प्राप्त कर लेता है ॥९४॥

मनुष्य यहाँ अहित करनेपर आगे निरन्तर हितको प्राप्त होता है व हित करनेपर अहितको प्राप्त होता है। परन्तु अपरिमित ज्ञानके धारक—विवेकी—हितैषी जन बुद्धिसे विचार करके आगे मनमें हितको ही विस्तृत करते हैं ॥९५॥

इस प्रकार आचार्य अमितगतिविरचित धर्मपरीक्षामें नौवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ॥९॥

---

९४) ब बुधार्चितम् । ९५) ब जनम्; अ विसिव्य ते धिया, ब विविच्य तद्विजा हि तं, क विचिन्त्य for विवेच्य, ड विविच्य ते द्धिया ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[१०]

रागान्धलोचनो रक्तो[1] द्विष्टो[2] द्वेषकरः खलः ।
विज्ञानविकलो मूढो व्युद्ग्राही स मतः खलु ॥१
पैत्तिको विपरीतात्मा चूतच्छेदो ऽपरीक्षकः ।
सुरभित्यागी चाज्ञानी सशोको ऽगुरुविक्रयी ॥२
विक्रीतचन्दनो लोभी बालिशो निर्विवेचकः ।
दशैते यदि युष्मासु[1] भाषमाणेश्चके[3] तदा ॥३
अवादिषुस्ततो विप्रा[1] भद्रास्माभिर्विचारकैः ।
द्विजिह्वः शास्यते[2] सद्यः सौपर्णैरिव[3] पन्नगः ॥४

१) १. यः । २. दुष्टः ।
३) १. क ब्राह्मणेषु मध्ये । २. ईदृश्योः [शः] को ऽपि अस्ति । ३. अहं बिभेमि ।
४) १. हे । २. अस्माभिः शिक्षापनं दीयते । ३. गरुडैः ।

जिसके नेत्र रागसे अन्धे हो रहे हैं ऐसा रक्त पुरुष, द्वेष करनेवाला दुष्ट द्विष्ट पुरुष, विवेकके रहित मूढ़ पुरुष, व्युद्ग्राही माना गया दुष्ट पुरुष, विपरीत स्वभाववाला पैत्तिक (पित्तदूषित), योग्य-अयोग्यका विचार न करके आमके वृक्षको कटवानेवाला (आम्रघाती), अज्ञानतासे उत्तम गायका परित्याग करनेवाला (क्षीरमूढ़), अगुरुको जलाकर पीछे पश्चात्ताप करनेवाला, लोभके वश नीमकी लकड़ी लेकर उत्तम चन्दनको वेचनेवाला और विवेकबुद्धिसे रहित मूर्ख; इस प्रकार मैंने जिन दस प्रकारके मूर्खोंका यहाँ वर्णन किया है वे यदि आप लोगोंके मध्यमें हैं तो मैं कुछ बोलते हुए डरता हूँ ॥१-३॥

मनोवेगके इस कथनको सुनकर वे ब्राह्मण बोले कि हे भद्र पुरुष ! हम सब विचारक—विवेकी—हैं । जिस प्रकार गरुड़विद्याके ज्ञाता (मान्त्रिक, अथवा गरुड़ पक्षी) दो जिह्वावाले सर्पको शीघ्र दण्डित किया करते हैं, उसी प्रकार हम दुष्ट जनको शीघ्र दण्डित किया करते हैं ॥४॥

१) ब द्वेषपरायणः ; इ खलु for खलः ; ब स्वमतग्रहः, क समतग्रहः ; २) अ अज्ञानसुरभित्यागी, ब अज्ञानः सुरभित्यागी । ३) अ ब निर्विवेचनः । ४) इ पन्नगैः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभाषिष्ट ततः खेटः शङ्का चेतसि मे द्विजाः ।
अद्यापि विद्यते सूक्ष्मा स्ववाक्याग्रहशङ्किनः[1] ॥५
नासनं[1] पेशलं[2] यस्य नोन्नता शिरयन्त्रिका[3] ।
न नवं पुस्तकं श्रेष्ठो न भव्यो[4] योगपट्टकः ॥६
न पादुकायुगं रम्यं न वेषो लोकरञ्जकः ।
न तस्य जल्पतो लोकैः प्रमाणीक्रियते वचः ॥७
नादरं कुरुते को ऽपि निर्वेषस्य जगत्त्रये ।
आडम्बराणि पूज्यन्ते सर्वत्र न गुणा जनैः ॥८
विप्रास्ततो वदन्ति स्म मा भैषीः प्रस्तुतं[1] वद ।
चर्विते चर्वणं कर्तुं युज्यते न महात्मनाम् ॥९
मनोवेगस्ततो ऽवादीद्यद्येवं द्विजपुंगवाः ।
पूर्वापरविचारं मे कृत्वा स्वीक्रियतां वचः ॥१०

५) १. मम वाक्यम् अनस्वीकारतः ।
६) १. क सिंहासनम् । २. कोमलं; क मनोहरम् । ३. टोपी । ४. मनोज्ञः ।
९) १. क यत्प्रारब्धम् ।

तत्पश्चात् मनोवेग बोला कि हे ब्राह्मणो ! अपने वचनके ग्रहणमें शंका रखनेवाले मुझे मनमें अभी भी थोड़ा-सा भय बना हुआ है। कारण यह है कि जिसके पास कोमल आसन (अथवा उत्तम भोजन), उन्नत शिरयन्त्रिका—पगड़ी अथवा चोटी, नवीन व श्रेष्ठ पुस्तक, सुन्दर योगपट्टक—ध्यानके योग्य वस्त्रविशेष, रमणीय खड़ाउओंका जोड़ा और लोगोंको अनुरंजित करनेवाला वेष नहीं है; उसके कथनको लोग प्रमाणभूत नहीं मानते हैं ॥५-७॥

इसके अतिरिक्त वेषसे रहित मनुष्यका आदर तीनों लोकोंमें कोई भी नहीं करता। मनुष्य सर्वत्र आटोप (टीम-टाम, बाहरी दिखावा) की ही पूजा किया करते हैं, गुणोंकी पूजा वे नहीं किया करते ॥८॥

इसपर वे विद्वान् ब्राह्मण बोले कि तुम भयभीत न होकर प्रस्तुत बातको—भारत व रामायण आदिमें उपलब्ध होनेवाला रत्नालंकारों से विभूषित तृण-काष्ठके विक्रेताओंके वृत्तको—कहो। कारण यह कि कोई भी महापुरुष चबाये हुए अन्नादिको पुनः-पुनः चबाना—एक ही बातको बार-बार कहना—योग्य नहीं मानता है ॥९॥

उनके इस प्रकार कहनेपर मनोवेग बोला कि यदि ऐसा है तो हे श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! मेरे कथनको पूर्वापर विचारके साथ स्वीकार कीजिए ॥१०॥

५) ब °वाक्यग्रह° । ६) अ नाशनं; ब क ड शरयन्त्रिकाः ; अ ब ड नवः पुस्तकः । ८) ब निर्विपस्य । ९) अ महात्मना ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इहास्ति पुण्डरीकाक्षो[1] देवो भुवनविश्रुतः[2]।
सृष्टिस्थिति[3]विनाशानां जगतः कारणं परम्[4] ॥११
यस्य प्रसादतो लोका लभन्ते पदमव्ययम्।
व्योमेव व्यापको नित्यो निर्मलो यो[1] ऽक्षयः सदा ॥१२
धनुःशङ्खगदाचक्रभूषिता यस्य पाणयः।
त्रिलोकसदनाधारस्तम्भाः शत्रुदवानलाः[1] ॥१३
दानवा येन हन्यन्ते लोकोपद्रवकारिणः।
दुष्टा दिवाकरेणेव तरसा[1] तिमिरोत्कराः ॥१४
लोकानन्दकरी पूज्या श्रीः स्थिता यस्य विग्रहे।
तापविच्छेदिका हृद्या ज्योत्स्नेव हिमरोचिषः[1] ॥१५
कौस्तुभो भासते यस्य शरीरे विशदप्रभः।
लक्ष्म्येव स्थापितो दीपो मन्दिरे सुन्दरे निजे ॥१६
किं द्विजा भवतां तत्र[1] प्रतीतिर्विद्यते न वा।
सर्वदेवाधिके देवे वैकुण्ठे परमात्मनि ॥१७

११) १. नारायणः ; क विष्णुः। २. विख्यातः। ३. पालक। ४. भवति।
१२) १. विष्णुदेवः।
१३) १. हस्तविशेषः।
१४) १. क शीघ्रम्।
१५) १. क चन्द्रस्य।
१७) १. देवे।

यह कहकर मनोवेग बोला कि यहाँ (लोकमें) प्रसिद्ध वह विष्णु परमेश्वर अवस्थित है जो जगत्की रचना, उसके पालन व विनाशका उत्कृष्ट कारण है; जिसके प्रसादसे लोग अविनश्वर पद (मुक्तिधाम) प्राप्त करते हैं; जो आकाशके समान व्यापक, नित्य, निर्मल एवं सदा अविनश्वर है; धनुष, शंख, गदा और चक्रसे सुशोभित जिसके बाहु तीनों लोकरूप घरके आधारभूत स्तम्भोंके समान होकर दावानलके समान शत्रुओंको भस्म करनेवाले हैं; जिस प्रकार सूर्य अन्धकारसमूहको शीघ्र नष्ट कर देता है उसी प्रकार जो लोकमें उपद्रव करनेवाले दुष्ट जनोंको शीघ्रतासे नष्ट कर देता है, जिस प्रकार चन्द्रके शरीरमें सन्तापको नष्ट करनेवाली मनोहर चाँदनी अवस्थित है उसी प्रकार जिसके शरीरमें लोगोंको आनन्दित करनेवाली पूज्य लक्ष्मी अवस्थित है, तथा जिसके शरीरमें अवस्थित निर्मल कान्तिवाला कौस्तुभमणि ऐसा प्रतिभासित होता है जैसे मानो वह लक्ष्मीके द्वारा अपने सुन्दर भवनमें स्थापित किया गया दीपक ही हो ॥११-१६॥

हे विप्रो ! इस प्रकारके असाधारण स्वरूपको धारण करके जो सब देवोंमें श्रेष्ठ देव है उस विष्णु परमात्माके विषयमें आप लोगोंका विश्वास है या नहीं ? ॥१७॥

११) अ पुण्डरीकाख्यो। १६) ब क वासितो for भासते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बभाषिरे ततो विप्रा भद्रास्त्येवंविधो हरिः ।
चराचरजगद्व्यापी को ऽत्र विप्रतिपद्यते[1] ॥१८

दुःखपावकपर्जन्यो[1] जन्माम्भोधितरण्डकः ।
यैर्नाङ्गीक्रियते विष्णुः पशवस्ते नृविग्रहाः ॥१९

भट्टा यदीदृशो विष्णुस्तदा किं नन्दगोकुले ।
त्रायमाणः स्थितो धेनूर्गोपालीकृतविग्रहः ॥२०

शिखिपिच्छधरो बद्धजूटः कुटजमालया[1] ।
गोपालैः सह कुर्वाणो[2] रासक्रीडां पदे पदे ॥२१

दुर्योधनस्य सामीप्यं किं गतो दूतकर्मणा ।
प्रेषितः पाण्डुपुत्रेण[1] पदातिरिव वेगतः ॥२२

हस्त्यश्वरथपादातिसंकुले समराजिरे[1] ।
किं रथं प्रेरयामास भूत्वा पार्थस्य सारथिः ॥२३

१८) १. कः संदेहं करोति; क को निषिद्यते ।
१९) १. मेघः; क दुःखाग्निशमनमेघः ।
२१) १. कडुपुष्पमाला । २. किं स्थितः ।
२२) १. अर्जुनेन ।
२३) १. संग्रामे ।

इसके उत्तरमें वे सब ब्राह्मण बोले कि हे भद्र ! चराचर लोकमें व्याप्त इस प्रकारका विष्णु परमात्मा है ही, इसमें कौन विवाद करता है ? अर्थात् हम सब उस विष्णु परमात्मापर विश्वास रखते हैं ॥१८॥

जो लोग दुःखरूप अग्निको शान्त करनेके लिए मेघके समान व संसाररूप समुद्रसे पार उतारनेके लिए नौकाके समान उस विष्णु परमात्माको स्वीकार नहीं करते हैं उन्हें मनुष्यके शरीरको धारण करनेवाले पशु ही समझना चाहिए ॥१९॥

इसपर मनोवेग बोला कि हे वेदज्ञ विप्रो ! यदि विष्णु इस प्रकारका है तो फिर वह नन्दगोकुल—नन्दग्राममें ग्वालेका शरीर धारण करके गायोंको चराता हुआ क्यों स्थित रहा तथा वहीं मोरके पिच्छोंको धारण कर व कुटज पुष्पोंकी मालासे जूड़ा (केशकलाप) बाँधकर स्थान-स्थानपर ग्वालोंके साथ रासक्रीड़ा क्यों करता रहा ॥२०-२१॥

वह पाण्डुके पुत्र अर्जुनके द्वारा दूतकार्यके लिए भेजे जानेपर पादचारी सैनिकके समान शीघ्रतासे दुर्योधनके समीपमें क्यों गया ? ॥२२॥

वह हाथी, घोड़ा, रथ और पादचारी सैनिकोंसे व्याप्त रणभूमिमें अर्जुनका सारथि बनकर रथको क्यों चलाता रहा ? ॥२३॥

१९) ब °तरण्डकम् । २१) इ बद्धो दृढः कुटज° । २२) ब सुयोधनस्य; इ गतो किं; अ ड पादातिरिव ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किं बलिर्याचितः पृथ्वीं कृत्वा वामनरूपताम् ।
उच्चार्य वचनं दीनं दरिद्रेणेव दुर्वचः ॥२४
वहन्[1]नो ऽखिलं लोकं किं सीताविरह[3]ाग्निना
कामीव सर्वतस्तप्तः सर्वज्ञो व्यापकः स्थिरः ॥२५
एवमादीनि कर्माणि किं युज्यन्ते महात्मनः[1] ।
योगिगम्यस्य देवस्य वन्द्यस्य जगतां गुरोः ॥२६
यदीदृशानि कृत्यानि विरागः कुरुते हरिः ।
तदा नौ[1] निःस्वसुतयोः[2] को दोषो दारुविक्रये ॥२७
अथ तस्येदृशी क्रीडा[1] मुरारेः परमेष्ठिनः ।
तदा सत्त्वानुरूपेण[2] सा[3]स्माकं केन वार्यते ॥२८
खेटस्येति वचः श्रुत्वा जजल्पुर्द्विजपुङ्गवाः ।
अस्माकमीदृशो देवो दीयते किं तवोत्तरम् ॥२९
इदानीं मानसे भ्रान्तिरस्माकमपि जायते ।
करोतीदृशकार्याणि परमेष्ठी कथं हरिः ॥३०

२५) १. उदरे । २. वियोग ।
२६) १. विष्णोः ।
२७) १. आवयोः । २. दरिद्री [द्र] पुत्रयोः ।
२८) १. विद्यते । २. शक्त्यनुसारेण । ३. क्रीडा ।

उसने बौनेके रूपको धारण करके दरिद्रके समान दीनतासे परिपूर्ण दूषित वचनोंको कहते हुए बलि राजासे पृथिवीकी याचना क्यों की थी ? ॥२४॥

तथा वह सर्वज्ञ—विश्वका ज्ञाता-द्रष्टा, व्यापक और स्थिर होकर समस्त लोकको धारण करता हुआ कामी पुरुषके समान सीताके वियोगसे सर्वतः क्यों सन्तप्त हुआ ? ॥२५॥

इस प्रकारसे जो देव योगीजनोंके द्वारा जाना जाता है, वन्दनीय है व तीनों लोकोंका स्वामी है उस महात्माको क्या इस प्रकारके कार्य करना योग्य है ? ॥२६॥

यदि वह विष्णु वीतराग होकर इस प्रकारके कार्योंको करता है तो निर्धनके पुत्र होनेसे हम दोनोंको लकड़ियोंके बेचने में क्या दोष है ? ॥२७॥

यदि कहा जाये कि यह तो उस विष्णु परमेश्वरकी क्रीड़ा है तो फिर बलके अनुसार हम लोगोंके भी उस क्रीड़ाको कौन रोक सकता है ? नहीं रोक सकता है ॥२८॥

मनोवेग विद्याधरके इस कथनको सुनकर वे श्रेष्ठ ब्राह्मण बोले कि हमारा देव इसी प्रकारका है, इसका हम तुम्हें क्या उत्तर दे सकते हैं ? ॥२९॥

इस समय हम लोगोंके मनमें भी यह सन्देह होता है कि वह विष्णु परमेष्ठी (देव) होकर इस प्रकारके कार्योंको कैसे करता है ? ॥३०॥

२४) अ याचते....रूपितां; ब दुर्वचम् । २७) ब क ड इ नो निःस्वपुत्राणां । ३०) ब क वर्तते for जायते; अ करोतीन्द्रिय°, क ड करोतीदृशि ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रबोधितास्त्वया भद्र विमूढमनसो वयम् ।
दीपकेन विना रूपं सचक्षुरपि नेक्षते ॥३१
यदीदृक्[1] कुरुते विष्णुः प्रेरितः परमेष्ठिना ।
तदेषैं[2] प्रेरितः पित्रा विधत्ते तृणविक्रयम् ॥३२
देवे कुर्वति नान्यायं शिष्याणां प्रतिषेधनम् ।
वित्तापहारके भूपे तस्करः केन वार्यते ॥३३
ईदृक्कर्मकरे विष्णौ परस्यास्ति न दूषणम् ।
श्वश्रूर्दुश्चारिणी यत्र न स्नुषा तत्र दुष्यति ॥३४
सरागत्वात्तदंशानां[1] रागो ऽस्ति परमेष्ठिनः ।
रागत्वे[2] ऽवयवानां हि नीरागो ऽवयवी[3] कथम् ॥३५
उदरान्तःस्थिते लोके सीतापह्रियते कथम् ।
नाकाशान्तर्गतं वस्तु बहिर्भवितुमर्हति ॥३६

३२) १. कर्म ईदृशम् । २. प्रत्यक्षीभूतः ।
३५) १. परमेष्ठिनः । २. सति । ३. पुरुषः ।

हे भद्र ! अभी तक हमारा मन अतिशय मूढ़ हो रहा था । इस समय तुमने हम-जैसे मूढ़बुद्धि जनोंको प्रबुद्ध कर दिया है । ठीक है—नेत्रोंसे संयुक्त होकर भी प्राणी दीपकके बिना—प्रकाशके अभावमें—रूपको नहीं देख पाता है ॥३१॥

यदि वह विष्णु परमेष्ठीकी—ब्रह्मदेवकी—प्रेरणासे इस प्रकारके कार्यको करता है तो फिर यह (मनोवेग) पिताकी प्रेरणा पाकर घास व लकड़ियोंके वेचनेके कामको करता है ॥३२॥

देवके स्वयं अन्याय करने पर शिष्य जनोंको उस अन्यायसे नहीं रोका जा सकता है । जैसे राजा ही यदि दूसरोंके धनका अपहरण करता हो—स्वयं चोर हो—तो फिर चोरको चोरी करनेसे दूसरा कौन रोक सकता है ? कोई नहीं रोक सकता है ॥३३॥

विष्णुके स्वयं ही ऐसे अयोग्य कार्योंमें संलग्न होनेपर अन्य किसीको दोष नहीं दिया जा सकता है । ठीक भी है—जहाँ सास स्वयं दुराचरण करती है वहाँ पुत्रवधूको दोष नहीं दिया जा सकता है ॥३४॥

इसके अतिरिक्त उस विष्णुके अंशभूत अन्य जनोंके रागयुक्त होनेसे परमेष्ठीके भी राग होना ही चाहिए । कारण यह कि अवयवोंके—अंशोंके—राग होनेपर अवयवी—अंशवान् (ईश्वर)—उस रागसे रहित कैसे हो सकता है ? उसका भी सराग होना अनिवार्य है ॥३५॥

जब समस्त लोक ही विष्णुके उदरमें स्थित है तब भला सीताका अपहरण कैसे किया जा सकता है ? उसका अपहरण सम्भव नहीं है । कारण यह कि किसी सुरक्षित स्थानके भीतर अवस्थित वस्तुका बाहर निकलना सम्भव नहीं है ॥३६॥

३२) अ विक्रये । ३३) अ नाज्ञायं, क चान्यायं; अ प्रतिबोधनम् । ३४) अ °कर्मपरे; ब किं स्नुषा; अ दुष्यते । ३५) ब हि न रागो । ३६) अ नावासान्तर्गतं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यापको यद्यसौ देवस्तदेष्टविरहः[1] कथम् ।
यदि नित्यो वियोगेन तदासौ[2] पीडितः कथम् ॥३७
आदेशं तनुते ऽन्यस्य स कथं भुवनप्रभुः ।
भृत्यानां कुर्वते कर्म न कदाचन पार्थिवः ॥३८
कथं पृच्छति[1] सर्वज्ञो याचते कथमीश्वरः ।
प्रबुद्धः[2] स कथं शेते विरागः कामुकः कथम् ॥३९
स मत्स्यः कच्छपः कस्मात् सूकरो नरकेसरी ।
वामनो ऽभूत्त्रिधा रामः परप्राणीव दुःखितः ॥४०
मुच्यमानं नवस्रोत्रैरमेध्यानि समन्ततः ।
छिद्रितं विविधैश्छिद्रैरिवामेध्यमयं घटम् ॥४१
कल्मषैरपरामृष्टः[1] स्वतन्त्रः[2] कर्मनिर्मितम् ।
गृह्णाति स कथं कायं समस्तामेध्यमन्दिरम् ॥४२

३७) १. इष्टवियोगः । २. रामदेवः ।
३९) १. अन्यस्य शी [सी] ता क [क्व] गता । २. अनिद्रः ।
४१) १. छिद्रैः द्वारैः ।
४२) १. अस्पृष्टः देवः । २. स्वाधीनः ।

फिर जब वह ईश्वर—राम—सर्वत्र व्यापक है तब उसके इष्टका—सीताका—वियोग भी कैसे हो सकता है—उसके सर्वत्र विद्यमान रहते हुए किसीका वियोग सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त जब वह नित्य है—सदा एक ही स्वरूपमें रहता है—तब वह इष्ट वियोगसे पीड़ित भी कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता है। अन्यथा उसकी नित्यता की हानि अनिवार्य होगी ॥३७॥

वह समस्त लोकका स्वामी होकर अन्यके आदेशानुसार कैसे कार्य करता है ? वैसा करना उसे उचित नहीं है। यथा—जो राजा है वह कभी सेवकोंके कार्यको नहीं किया करता है ॥३८॥

वह सर्वज्ञ होकर भी रामके रूपमें अन्य जनसे सीताकी वार्ताको कैसे पूछता है, सर्वसमर्थ होकर भी बलि राजासे याचना कैसे करता है, प्रबुद्ध-जागृत—होकर भी कैसे सोता है, तथा रागसे रहित होकर भी विषय-भोगका अभिलाषी कैसे होता है ? ॥३९॥

वह अन्य प्राणीके समान मत्स्य, कछवा, शूकर, नृसिंह, वामन (ब्राह्मण बटु) और तीन प्रकारसे राम होकर दुखित क्यों हुआ है ? ॥४०॥

जो कर्मसे रचा गया शरीर अनेक प्रकारके छेदोंसे छिद्रित मलके घड़ेके समान नौ मलद्वारोंसे—२ नेत्र, २ कान, २ नासिकाछिद्र, मुख, जननेन्द्रिय और गुदाके द्वारा—सब ओरसे अपवित्र मलको छोड़ा करता है तथा जो सभी अपवित्र (घृणित) वस्तुओंका घर है, ऐसे उस निन्द्य शरीरको वह ईश्वर पापोंसे रहित व स्वतन्त्र होकर भी कैसे ग्रहण करता है ? ॥४१-४२॥

३७) ब तदिष्टाविरहः । ३८) अ कुरुते, ब क ड कुर्वते for तनुते । ४०) अ वामनो ऽसौ त्रिधा; क परः प्राणी; ब दूषितः । ४२) क चर्म for कर्म; ब कथं देहं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विधाय[1] दानवास्तेन हन्यन्ते प्रभुणा कथम् ।
न को ऽपि दृश्यते लोके पुत्राणामपकारकः[2] ॥४३

कथं च भक्षयेत्तृप्तः सो ऽमरो म्रियते कथम् ।
निराकृतभयक्रोधः शस्त्रं स्वीकुरुते कथम् ॥४४

वसारुधिरमांसास्थिमज्जाशुक्रादिदूषिते ।
वर्चोगृहसमे गर्भे कथं तिष्ठति सर्ववित् ॥४५

भद्र चिन्तयतामित्थं पूर्वापरविचारिणाम्[1] ।
त्वदीयवचने भक्तिः संपन्नास्माकमूर्जिता[2] ॥४६

आत्मनो ऽपि न यः शक्तः संदेहव्यपनोदने[1] ।
उत्तरं स कथं दत्ते परेषां हेतुवादिनाम् ॥४७

खलूक्त्वा त्वं ततो गच्छ जयलाभविभूषणः ।
मार्गयामो वयं देवं निरस्ताखिलदूषणम् ॥४८

४३) १. निर्माप्य । २. हतकः ।

४५) १. क त्वक् ।

४६) १. अस्माकम् । २. युज्यते ।

४७) १. स्फेटने ।

असाधारण प्रभावसे संयुक्त वह ईश्वर दानवोंको बना करके तत्पश्चात् स्वयं उनको नष्ट कैसे करता है ? कारण यह कि लोकमें ऐसा कोई भी नहीं देखा जाता है जो अपने पुत्रों-का स्वयं अपकार—अहित—करता हो ॥४३॥

वह सदा तृप्तिको प्राप्त होकर भोजन कैसे करता है, अमर (मृत्युसे रहित) होकर मरता कैसे है, तथा भय व क्रोधसे रहित होकर शस्त्रको कैसे स्वीकार करता है ? अर्थात् यह सब परस्पर विरुद्ध है ॥४४॥

वह सर्वज्ञ होकर चर्बी, रुधिर, मांस, हड्डियों, मज्जा और वीर्य आदिसे दूषित ऐसे पुरीषालय (संडास) के समान घृणास्पद गर्भके भीतर कैसे स्थित रहता है ? ॥४५॥

इस प्रकार विचार करते हुए वे ब्राह्मण विद्वान् मनोवेगसे बोले कि हे भद्र ! हम लोग पूर्वापर विचार करनेवाले हैं, इसीलिए हम सबकी तुम्हारे कथनपर अतिशय भक्ति (श्रद्धा) हुई है ॥४६॥

जो व्यक्ति अपने ही सन्देहके दूर करनेमें समर्थ नहीं है वह युक्तिका आश्रय लेनेवाले अन्य जनोंको कैसे उत्तर दे सकता है ? नहीं दे सकता है ॥४७॥

यह कह करके उन्होंने मनोवेगसे कहा कि हे भद्र ! अब तुम जयलाभसे विभूषित होकर यहाँसे जाओ । हम लोग समस्त दोषोंसे रहित यथार्थ देवकी खोज करते हैं ॥४८॥

४४) अ ब भक्षयते तृप्तः । ४७) ब आत्मनापि । ४८) अ क ड इ खलूक्तं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जन्ममृत्युजरारोगक्रोधलोभभयान्तकः ।
पूर्वापरविरुद्धो नो देवो मृग्यः शिवार्थिभिः ॥४९
इत्युक्तः खेचरो विप्रैर्निर्जगाम ततः सुधीः ।
जिनेन्द्रवचनाम्भोभिर्निर्मलीकृतमानसः ॥५०
उपेत्योपवनं मित्रमवादीदिति खेचरः ।
देवो ऽथं लोकसामान्यैस्त्वयाश्रावि[1] विचारतः ॥५१
इदानीं श्रूयतां मित्र कथयाम्यपरं तव ।
प्रक्रमं[1] संशयध्वान्तविच्छेदनदिवाकरम् ॥५२
षट्कालो[1] मित्र वर्तन्ते भारते ऽत्र यथाक्रमम् ।
स्वस्वभावेन संपन्नाः[2] सर्वदा ऋतवो यथा ॥५३
शलाकापुरुषास्तत्र[1] चतुर्थे समये ऽभवन् ।
त्रिषष्टिपरिमा मान्याः शशाङ्कोज्ज्वलकीर्तयः ॥५४

---

५१) १. लोकसदृश । २. अश्रूयत ।
५२) १. क कथानकम् ।
५३) १. सुषमसुषमकाल १, सुषमकाल २, सुखमदुःखमकाल ३, दुःखमसुखमकाल ४, दुःखमकाल ५, अतिदुःखमकाल ६, तेहना अनेकभेदः । २. संयुक्ताः ।
५४) १. क तस्मिन् चतुर्थकाले ।

जो विवेकी जन अपने कल्याणको चाहते हैं उन्हें जन्म, मरण, जरा, रोग, क्रोध, लोभ और भयके नाशक तथा पूर्वापरविरोधसे रहित वचनसे संयुक्त (अविरुद्धभाषी) देव को खोजना चाहिए ॥४९॥

ब्राह्मणोंके इस प्रकार कहनेपर वह विद्वान् विद्याधर (मनोवेग) जिनेन्द्र भगवान्के वचनरूप जलसे अतिशय निर्मल किये गये मनसे संयुक्त होता हुआ वहाँसे चल दिया ॥५०॥

पश्चात् वह विद्याधर उपवनके समीप आकर मित्र पवनवेगसे इस प्रकार बोला— हे मित्र ! यह जो देव अन्य साधारण लोगोंके समान है उसका विचार किया गया है और उसे तूने सुना है । अब मैं अन्य प्रसंगको कहता हूँ, उसे सुन । वह तेरे संशयरूप अन्धकारके नष्ट करनेमें सूर्यका काम करेगा ॥५१-५२॥

हे मित्र ! अपने-अपने स्वभावसे संयुक्त जिस प्रकार छह ऋतुओंकी क्रमशः यहाँ प्रवृत्ति होती है उसी प्रकार इस भारतवर्षमें अपने-अपने स्वभावसे संयुक्त इन छह कालोंकी क्रमशः प्रवृत्ति होती है—सुषमसुषमा, सुषमा, सुषमदुःषमा, दुःषमसुषमा, दुःषमा और अति-दुःषमा ॥५३॥

उनमेंसे चतुर्थ कालमें श्रेष्ठ, सम्माननीय और चन्द्रके समान निर्मल कीर्तिके विस्तृत करनेवाले तिरेसठ (६३) शलाकापुरुष हुआ करते हैं ॥५४॥

---

४९) ब °जराक्रोधलोभमोहभया° ; अ क ड इ °विरोधेन । ५१) क विचारितः । ५३) ब क ड इ स्वस्व-स्वभावसंपन्नाः; ब सर्वदामृतवो । ५४) क ड इ शलाकाः ; अ त्रिषष्टिः ; अ ड इ परमा ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चक्रिणो द्वादशार्हन्तश्चतुर्विंशतिरीरिताः[1] ।
प्रत्येकं नवसंख्याना रामकेशवशत्रवः ॥५५
ते सर्वे ऽपि व्यतिक्रान्ताः[1] क्षोणीमण्डलमण्डनाः ।
ग्रस्यते यो न कालेन स भावो नास्ति विष्टपे[2] ॥५६
विष्णूनां यो ऽन्तिमो विष्णुर्वसुदेवाङ्गजो ऽभवत् ।
स द्विजैर्गदितो भक्तैः परमेष्ठी निरञ्जनः ॥५७
व्यापिनं निष्कलं[1] ध्येयं जरामरणसूदनम्[2] ।
अच्छेद्यमव्ययं देवं विष्णुं ध्यायन्न सीदति[3] ॥५८
मीनः कूर्मः पृथुप्रोथो नारसिंहो ऽथ वामनः ।
रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्की दश स्मृताः ॥५९
यमुक्त्वा निष्कलं प्राहुर्दशावतंगतं[1] पुनः ।
भाष्यते स बुधैर्नाप्तः पूर्वापरविरोधतः ॥६०

५५) १. कथिताः ।

५६) १. गताः । २. क संसारे ।

५८) १. क शरीररहितम् । २. क नाशनम् । ३. क न कष्टं प्राप्नोति ।

६०) १. अवतारगतम् ।

वे शलाकापुरुष ये कहे गये हैं—बारह (१२) चक्रवर्ती, चौबीस (२४) तीर्थंकर जिन तथा बलदेव, नारायण और प्रतिनारायण इनमेंसे प्रत्येक नौ-नौ (९×३=२७) ॥५५॥

पृथिवीमण्डलको भूषित करनेवाले वे सब ही मृत्युको प्राप्त हो चुके हैं। लोकमें ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो कि कालके द्वारा कवलित न किया जाता हो—सभयानुसार सभी का विनाश अनिवार्य है ॥५६॥

विष्णुओंमें वसुदेवका पुत्रस्वरूप जो अन्तिम विष्णु हुआ है उसे भक्त ब्राह्मणोंने निर्मल परमेष्ठी कहा है ॥५७॥

उनका कहना है कि जो व्यापी, शरीरसे रहित, जरा व मरणके विनाशक, अखण्डनीय और अविनश्वर उस विष्णु देवको अपने ध्यानका विषय बनाकर चिन्तन करता है वह क्लेशको प्राप्त नहीं होता है ॥५८॥

मत्स्य, कछुवा, शूकर, नृसिंह, वामन, राम (परशुराम), रामचन्द्र, कृष्ण, बुद्ध और कल्की, ये दस विष्णु माने गये हैं—वह इन दस अवतारोंको ग्रहण किया करता है ॥५९॥

जिस ईश्वरको पूर्वमें निष्कल—शरीररहित—कहा गया है उसे ही फिर दस अवतारों को प्राप्त—क्रमसे उक्त दस शरीरोंको धारण करनेवाला—कहा जाता है। यह कथन पूर्वापरविरुद्ध है। इसीलिए तत्त्वज्ञ जन उसे आप्त (देव) नहीं मानते हैं ॥६०॥

५५) ड इ °संख्यानं । ५७) ब इ विष्णूनामन्तिमो । ५९) ब इ पृथुः पोत्री, क ड पृथुः प्रोक्तो; ब रामश्च for कृष्णश्च । ६०) अ यो मुक्तो निष्कलं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रक्रमं बलिबन्धस्य कथयामि तवाधुना ।
तं यो ऽन्यथा जनैर्नीतः प्रसिद्धिं मुग्धबुद्धिभिः ॥६१
बद्धो विष्णुकुमारेण योगिना लब्धिभागिना ।
मित्र द्विजो बलिर्दुष्टः संयतोपद्रवोद्यतः ॥६२
विष्णुना वामनीभूय बलिर्बद्धः क्रमैस्त्रिभिः[1] ।
इत्येवमन्यथा लोकैर्गृहीतो मूढमोहितैः ॥६३
नित्यो निरञ्जनः सूक्ष्मो मृत्यूत्पत्तिविवर्जितः ।
अवतारमसौ प्राप्तो दशधा निष्कलः कथम् ॥६४
पूर्वापरविरोधाढ्यं पुराणं लौकिकं तव ।
वदाम्यन्यदपीत्युक्त्वा खेटविग्रहमत्यजत् ॥६५
वक्रकेशमहाभारः पुलिन्दः[1] कज्जलच्छविः ।
विद्याप्रभावतः स्थूलपादपाणिरभूदसौ ॥६६

६३) १. क चरणैः ।
६५) १. वेषम् ।
६६) १. भिल्लः ।

अब मैं उस बलिके बन्धनके प्रसंगको तुमसे कहता हूँ जिसे मूढबुद्धि जनोंने विपरीत रूपसे प्रसिद्ध किया है ॥६१॥

विक्रिया ऋद्धिसे संयुक्त विष्णुकुमार मुनिने अकम्पनाचार्य आदि सात सौ मुनियोंके ऊपर उपद्रव करनेके कारण दुष्ट बलि नामक ब्राह्मण मन्त्रीको बाँधा था ॥६२॥

इसे मूर्ख अज्ञानी जनोंने विपरीत रूपसे इस प्रकार ग्रहण किया है कि विष्णुने वामन होकर—वेदपाठी ब्राह्मण वटुके रूपमें बौने शरीरको धारण करके—तीन पाँवोंके द्वारा बलि राजाको बाँधा था ॥६३॥

जो विष्णु परमेष्ठी नित्य, निर्लेप, सूक्ष्म तथा मरण व जन्मसे रहित होकर अशरीर है वह दस प्रकारसे अवतारको कैसे प्राप्त होता है—उसका मत्स्य आदिके रूपमें दस अवतारोंको ग्रहण करना कैसे युक्तिसंगत कहा जा सकता है ? ॥६४॥

हे मित्र ! अब मैं अन्य विषयकी चर्चा करते हुए तुम्हें यह बतलाता हूँ कि लोकप्रसिद्ध पुराण पूर्वापरविरोधरूप अनेक दोषोंसे परिपूर्ण है । यह कहकर मनोवेगने विद्याधरके शरीरको—वैसी वेषभूषाको—छोड़ दिया और विद्याके प्रभावसे कुटिल बालोंके बोझसे सहित, काजलके समान वर्णवाला (काला) तथा स्थूल पाँव और हाथोंसे संयुक्त होकर भीलके रूपको ग्रहण कर लिया ॥६५-६६॥

६२) अ ड मन्त्रद्विजो, क मत्रिद्विजो । ६३) ब इत्येव मन्यते । ६४) ब मृत्योत्पत्ति° । ६६) अ कलीन्द्रः, ब पुलीन्द्रः ; अ इ स्थूलपाणिपाद, ब स्थूलश्चापपाणिर° ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ततः पवनवेगो ऽपि मार्जारः कपिलेक्षणः।
मार्जारविद्यया कृष्णो विलुप्तश्रवणो[1] ऽजनि ॥६७

प्रविश्य पत्तनं कुम्भे बिडालं विनिवेश्य सः।
तूर्यमाताडच घण्टाश्च निविष्टो हेमविष्टरे ॥६८

तूर्यस्वने श्रुते विप्राः प्राहुरागत्य वेगतः।
किं रे वादमकृत्वा त्वं स्वर्णपीठमधिष्ठितः ॥६९

ततो ऽवोचदसौ विप्रा वादनामापि वेद्मि नो।
करोम्यहं कथं वादं पशुरूपो वनेचरः ॥७०

यद्येवं त्वं कथं रूढो मूर्ख काञ्चनविष्टरे।
निहत्य तरसा तूर्यं भट्टवादिनिवेदकम् ॥७१

सो ऽवादीदहमारूढः कौतुकेनात्र विष्टरे।
न पुनर्वादिदर्पेण तूर्यमास्फाल्य माहनाः[1] ॥७२

६७) १. छिन्नकर्णः।

७२) १. हे विप्राः; क हे ब्राह्मणाः।

तत्पश्चात् पवनवेगने भी मार्जार विद्याके प्रभावसे ऐसे बिलावके रूपको ग्रहण कर लिया जो वर्णसे काला, भूरे अथवा ताम्रवर्ण नेत्रोंसे सहित और कटे हुए कानोंसे संयुक्त था ॥६७॥

तत्पश्चात् मनोवेग बिलावको घड़ेके भीतर रखकर नगरमें गया और भेरी एवं घण्टाको बजाकर सुवर्णमय वादसिंहासनके ऊपर जा बैठा ॥६८॥

उस भेरीके शब्दको सुनकर ब्राह्मण शीघ्रतासे आये और बोले कि अरे मूर्ख ! तू वाद न करके इस सुवर्णमय सिंहासनके ऊपर क्यों बैठ गया ? ॥६९॥

इसपर मनोवेग बोला कि हे ब्राह्मणो ! मैं तो 'वाद' इस शब्दको भी नहीं जानता हूँ, फिर भला मैं पशुतुल्य वनमें विचरनेवाला भील वादको कैसे कर सकता हूँ ॥७०॥

यह सुनकर ब्राह्मण बोले कि जब ऐसा है तब तू मूर्ख होकर भी शीघ्रतासे भेरीको बजाकर इस सुवर्णमय सिंहासनके ऊपर क्यों चढ़ गया। यह भेरी श्रेष्ठ वादीके आगमकी सूचना देनेवाली है ॥७१॥

ब्राह्मणोंके इस प्रकार पूछनेपर वह बोला कि हे विप्रो ! मैं भेरीको बजाकर इस सिंहासनके ऊपर केवल कुतूहलके वश बैठ गया हूँ, न कि वादी होनेके अभिमानवश ॥७२॥

६८) अ घण्टापि, ब घण्टां च, ड इ घण्टांश्च। ६९) ब क तूर्यस्वनश्रुतेर्विप्रा। ७१) अ क मूर्खः; ब ड भद्रवादि°। ७२) इ °मास्फाल्यमाहतम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नार्हत्वं[1] यदि मूर्खस्य हेमपीठाधिरोहणे ।
उत्तिष्ठामि तदा विप्रा इत्युक्त्वावततार सः ॥७३
विप्रैरुक्तं किमायातस्त्वमत्रेति ततो ऽवदत् ।
मार्जारविक्रयं कर्तुमायातो ऽहं वनेचरः ॥७४
ओतोः[1] किमस्य माहात्म्यं किं मूल्यं विद्यते वद ।
इत्यसौ ब्राह्मणैरुक्तो निजगाद वनेचरः ॥७५
अस्य गन्धेन नश्यन्ति देशे द्वादशयोजने ।
आखवो[1] निखिलाः सद्यो गरुडस्येव पन्नगाः ॥७६
मूल्यं पलानि पञ्चाशद् हेमस्यास्य[1] महौजसः[2] ।
तदायं गृह्यतां विप्रा यदि वो ऽस्ति प्रयोजनम् ॥७७
मिलित्वा ब्राह्मणाः सर्वे वदन्ति स्म परस्परम् ।
बिडालो गृह्यतामेष मूषकक्षपणक्षमः ॥७८

७३) १. न योग्यत्वम् ।
७५) १. मार्जारस्य; क बिडालस्य ।
७६) १. मूषकाः ।
७७) १. सुवर्णस्य । २. तेजस्विनः ।

हे विप्रो ! यदि मूर्खकी योग्यता सुवर्णमय सिंहासनके ऊपर बैठनेकी नहीं है तो मैं इसके ऊपरसे उठ जाता हूँ, यह कहता हुआ वह उस सिंहासनके ऊपरसे नीचे उतर गया ॥७३॥

तत्पश्चात् उन ब्राह्मणोंने उससे पूछा कि तुम यहाँ क्यों आये हो । इसके उत्तरमें वह बोला कि मैं वनमें विचरण करनेवाला भील हूँ और इस बिल्लीको बेचनेके लिए यहाँ आया हूँ ॥७४॥

इसपर ब्राह्मणोंने पूछा कि इस बिलावमें क्या विशेषता है और उसका मूल्य क्या है, यह हमें बतलाओ । उत्तरमें मनोवेग बोला कि इसके गन्धसे बारह योजन मात्र दूरवर्ती देशके सब चूहे इस प्रकारसे शीघ्र भाग जाते हैं जिस प्रकार कि गरुड़के गन्धसे सर्प शीघ्र भाग जाते हैं ॥७५-७६॥

इस अतिशय तेजस्वी बिलावका मूल्य सुवर्णके पचास पल (लगभग ४ तोला) है । यदि आप लोगोंका इससे प्रयोजन सिद्ध होता है तो इसे ले लीजिए ॥७७॥

इसपर वे सब ब्राह्मण मिलकर आपसमें बोले कि यह बिलाव चूहोंके नष्ट करनेमें समर्थ है, अतः इसे ले लेना चाहिए ॥७८॥

७४) अ ब °रुक्तः; इ °मागतो ऽहं । ७५) अ इ ऊतोः ; भ निजगाद नभश्चरः । ७६) ड योजनैः । ७७) ड हेममस्य महौ°, इ हेम्नश्चास्य ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकत्र वासरे द्रव्यं मूषकैर्यद्विनाश्यते ।
सहस्रांशो ऽपि नो तस्य मूल्यमेतस्यै[1] दीयते ॥७९

मीलयित्वा ततो मूल्यं क्षिप्रमग्राहि सै[1] द्विजैः ।
दुरापे वस्तुनि प्राज्ञैर्न कार्या कालयापना[2] ॥८०

नभश्चरस्ततो ऽवादीत् परीक्ष्य गृह्यतामयम् ।
दुरुत्तरान्यथा विप्रा भविष्यति क्षतिर्ध्रुवम्[1] ॥८१

निरीक्ष्य ते विकर्णकं[1] ततो बिडालमूचिरे ।
अनश्यदस्य कर्णको निगद्यतामयं कथम् ॥८२

खगेन्द्रनन्दनो ऽगदत्ततः पथि श्रमातुराः ।
स्थिताः सुरालये वयं विचित्रमूषके निशि ॥८३

समेत्य[1] तत्र[2] मूषकैरभक्ष्यतास्य कर्णकः ।
क्षुधातुरस्य तस्थुषः[3] सुषुप्तस्य[4] विचेतसः ॥८४

७९) १. बिडालस्य ।
८०) १. ओतुः । २. कालक्षेपणा ।
८१) १. क नाशः ।
८२) १. कर्णरहितम् ।
८४) १. आगत्य । २. सुरालये । ३. स्थितवतः । ४. सुप्तस्य ।

चूहे एक ही दिनमें जितने द्रव्यको नष्ट किया करते हैं उसके हजारवें भाग मात्र भी यह इसका मूल्य नहीं दिया जा रहा है ॥७९॥

तत्पश्चात् उन ब्राह्मणोंने मिलकर उतना मूल्य एकत्र किया और उसे देकर शीघ्र ही उस बिलावको ले लिया । ठीक भी है—विद्वान् मनुष्योंको दुर्लभ वस्तुके ग्रहण करनेमें काल-यापन नहीं करना चाहिए—अधिक समय न बिताकर उसे शीघ्र ही प्राप्त कर लेना चाहिए ॥८०॥

उस समय मनोवेग विद्याधर बोला कि हे विप्रो ! इस बिलावकी भली भाँति परीक्षा करके उसे ग्रहण कीजिए, क्योंकि, इसके बिना निश्चयसे बहुत बड़ी हानि हो सकती है ॥८१॥

तत्पश्चात् वे ब्राह्मण उस बिलावको एक कानसे हीन देखकर बोले कि इसका यह एक कान कैसे नष्ट हो गया है, यह हमें बतलाओ ॥८२॥

यह सुनकर विद्याधरकुमार बोला कि हम मार्गमें परिश्रमसे व्याकुल होकर रातमें एक देवालयमें ठहर गये थे । वहाँ विचित्र चूहे थे । वहाँ स्थित होकर जब यह बिलाव भूखसे पीड़ित होता हुआ गहरी नींदमें सो गया था तब उन चूहोंने आकर इसके कानको खा लिया है ॥८३-८४॥

७९) अ सहस्रांशश्चा । ८१) ब दुरन्तरान्यथा द्विजा; अ क्षिति° । ८२) इ तं for ते ; अ विकर्णं तं; अ कर्णको, इ कर्णकौ । ८३) क पथश्रमा°, इ परिश्रमा° । ८४) ड °रभज्यतास्य ; ड इ कर्णकौ; अ तस्थुषः ; अ सुषुप्सुसो, ब सुषुप्सतो, क ड सुषुप्ससो ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बभाषिरे ततो द्विजा नितान्तहाससंकुलाः ।
विरुध्यते शठ स्फुटं परस्परं वचस्तव ॥८५

यदीयगन्धमात्रतो द्विषट्कयोजनान्तरे ।
व्रजन्ति तस्य मूषकैर्विकृत्यते[1] कथं श्रुतिः[2] ॥८६

ततो जगाद खेचरो जिनाङ्घ्रिपद्मषट्पदः ।
किमेकदोषमात्रतो गता गुणाः परे[1] ऽस्य भोः ॥८७

द्विजैरवाचि दोषतो गतो ऽमुतो गुणो ऽखिलः ।
न कञ्जिकैकबिन्दुना सुधा पलायते हि किम् ॥८८

खगो ऽगदत्ततो गुणा न यान्ति दोषतो ऽमुतः ।
विवस्वतो[1] व्रजन्ति किं करास्तमोविमर्दिताः[2] ॥८९

वयं दरिद्रनन्दना वनेचराः पशूपमाः ।
भवद्भिरत्र न क्षमाः प्रजल्पितुं समं बुधैः ॥९०

---

८६) १. भज्यते । २. कर्णकः ।

८७) १. अन्ये ।

८९) १. सूर्यस्य । २. राहुविमर्दात् ।

यह सुनकर वे ब्राह्मण अतिशय हँसी उड़ाते हुए बोले कि रे मूर्ख ! तेरा यह कथन स्पष्टतया परस्पर विरुद्ध है—जिसके गन्ध मात्रसे ही बारह योजनके भीतर स्थित चूहे भाग जाते हैं उसके कानको वे चूहे कैसे काट सकते हैं ? ॥८५-८६॥

इसपर जिनेन्द्रदेवके चरण कमलोंका भ्रमर—जिनेन्द्रका अतिशय भक्त—वह मनोवेग बोला कि हे ब्राह्मणो ! क्या केवल एक दोष से इसके अन्य सब गुण नष्ट हो गये ? ॥८७॥

इसके उत्तरमें वे ब्राह्मण बोले कि हाँ, इस एक ही दोषसे उसके अन्य सब गुण नष्ट हो जानेवाले ही हैं । देखो, कंजिककी एक ही बूँदसे क्या दूध नष्ट नहीं हो जाता है ? अवश्य नष्ट हो जाता है ॥८८॥

इसपर विद्याधर बोला कि इस दोषसे उसके गुण नहीं जा सकते हैं । क्या कभी राहुसे पीड़ित होकर सूर्यके किरण जाते हुए देखे गये हैं ? नहीं देखे गये हैं ॥८९॥

हम निर्धनके पुत्र होकर पशुके समान वनमें विचरनेवाले हैं । इसीलिए हम आप-जैसे विद्वानोंके साथ सम्भाषण करनेके लिए समर्थ नहीं हैं ॥९०॥

---

८६) ब तदीय ; अ विकल्पते, ब विकर्त्यते, इ विकृन्तते । ८८) अ क ड इ ततो for ऽमुतो; अ पयः for सुधा । ९०) अ वनेचरा अपश्चिमाः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्विजा जजल्पुरत्र[1] नो तवास्ति दूषणं स्फुटम् ।
बिडालदोषवारणं कुरुष्व सो ऽगदीत्ततः ॥९१
करोम्यहं[1] द्विजाः परं[2] भवद्भिरीश्वरैः समम् ।
बिभेति जल्पतो मनः पुरस्य नायकैर्मम ॥९२
यदि भवति[1] मनुष्यः कूपमण्डूकतुल्यः
कृतकबधिरकल्पः क्लिष्टभृत्योपमानः ।
अवितथमपि तत्त्वं जल्पतो मे महिष्ठ[3]
भवति मनसि शङ्का भीतिमारोपयन्ती ॥९३
श्रुतं न सत्यं प्रतिपद्यते[1] यो ब्रूते लघीयो ऽपि निजं गरीयः ।
अनीक्षमाणो परवस्तुमानं तं[2] कूपमण्डूकसमं वदन्ति ॥९४
विशुद्धपक्षी जलधेरुपेतो[1] कदाचनापृच्छचत[2] दर्दुरेण ।
कियानसौ[3] भद्र स सागरस्ते[4] जगाद हंसो नितरां गरिष्ठः ॥९५
प्रसार्य बाहू पुनरेवमूचे भद्राम्बुराशिः किमियानसौ स्यात् ।
अवाचि हंसेन तरां[1] महिष्ठैः स प्राह कूपादपि किं मदीयात् ॥९६

९१) १. विडाले । ९२) १. वारणम् । २. पण ।
९३) १. तर्हि । २. सत्यम् । ३. भो गरिष्ठा द्विजाः; क हे विप्राः ।
९४) १. न मन्यते । २. पुरुषम् ।
९५) १. आगतः । २. कस्मादागतः, सागरात् इति कथिते । ३. राजहंसः । ४. तव ।
९६) १. क अतिशयेन । २. गुरुतरः; क गरिष्ठः ।

इस प्रकार मनोवेगके कहनेपर ब्राह्मण बोले कि इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है, यह स्पष्ट है । तुम बिलावके इस दोषका निवारण करो । यह सुनकर मनोवेग बोला कि ठीक है, मैं उसके इस दोषका निवारण करता हूँ, परन्तु हे विप्रो ! इस नगरके नेतास्वरूप आप-जैसे महापुरुषोंके साथ सम्भाषण करते हुए मेरा मन भयभीत होता है ॥९१-९२॥

यदि मनुष्य कूपमण्डूकके सदृश, कृत्रिम बधिर (बहिरा) के समान अथवा क्लिष्ट सेवकके समान हो तो हे महापुरुषो ! यथार्थ भी वस्तुस्वरूप को कहते हुए मेरे मनमें भयको उत्पन्न करनेवाली शंका उदित होती है ॥९३॥ जो मनुष्य सुने हुए वृत्तको सत्य नहीं मानता है, अपनी अतिशय छोटी वस्तुको भी जो अत्यधिक बड़ी बतलाता है, तथा जो दूसरेके वस्तु-प्रमाणको नहीं देखता है—उसपर विश्वास नहीं करता है; वह मनुष्य कूपमण्डूकके समान कहा जाता है ॥९४॥

उदाहरणस्वरूप एक विशुद्ध पक्षी—राजहंस—किसी समय समुद्रके पास गया । उससे मेंढकने पूछा कि भो भद्र ! वह तुम्हारा समुद्र कितना बड़ा है । इसपर हंसने कहा कि वह तो अतिशय विशाल है ॥९५॥

यह सुनकर मेंढक अपने दोनों हाथोंको फैलाकर बोला कि हे भद्र ! क्या वह समुद्र इतना बड़ा है । इसपर हंसने कहा कि वह तो इससे बहुत बड़ा है । यह सुनकर मेंढक पुनः बोला कि क्या वह मेरे इस कुएँसे भी बड़ा है ॥९६॥

९१) क सो ऽवदत्ततः । ९२) ब पुरश्च; अ नायकैः समम् । ९३) अ ब क इ बधिरतुल्यः । ९४) ब तत्कूप ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इत्थं न यः सत्यमपि प्रदिष्टं गृह्णाति मण्डूकसमो निकृष्टः ।
न तस्य तत्त्वं पटुभिर्निवेद्यं कुर्वन्ति कार्यं विफलं न सन्तः ॥९७
स्वजनशकुनशब्दैर्वार्यमाणो ऽपि कार्यं
विरचयति कुधीर्यस्तोननाकर्ण्य[२] लुब्धः[३] ।
पटुपटहनिनादैश्छादयित्वान्यशब्दं
कृतकबधिरनामा भण्यते ऽसौ निकृष्टः[४] ॥९८
अदायकं दुष्टमतिं सतृष्णं विबुध्यमानो ऽपि जहाति भूपम् ।
न यश्चिरक्लेशमवेक्षमाणः स क्लिष्टभृत्यो ऽकथि गर्हणीय[१]: ॥९९
एभिस्तुल्या विगतमतयो ये नराः सन्ति दीनाः
कार्याकार्यप्रकटनपरं वाक्यमुद्धूयमानाः[१] ।
नित्यां लक्ष्मीं बुधजननुतामीक्ष्यमाणैरदोषैं—
स्तत्त्वं तेषाममितगतिभिर्भाषणीयं न सद्भिः[२] ॥१००
इति धर्मपरीक्षाया ममितगतिकृतायां दशमः परिच्छेदः ॥१०॥

९७) १. वृथा ।
९८) १. स्वजनादीन्; क शब्दान् । २. अवगण्य । ३. लोभी । ४. क नीचः ।
९९) १. निन्दनीयः । १००) १. स्फेटमानाः । २. क श्रेष्ठबुद्धिमहितैः ।

इस प्रकार जो दूसरेके द्वारा उपदिष्ट सत्यको भी ग्रहण नहीं करता है वह निकृष्ट मनुष्य मेंढक समान कहा जाता है। चतुर जनोंको उस मेंढक समान मनुष्यके लिए वस्तु-स्वरूपका कथन नहीं करना चाहिए। कारण यह कि सत्पुरुष कभी निरर्थक कार्यको नहीं किया करते हैं ॥९७॥

जो दुर्बुद्धि मनुष्य आत्महितैषी जनोंके शब्दों द्वारा और अशुभसूचक शब्दोंके द्वारा रोके जानेपर भी उन्हें नहीं सुनता है और लोभवश उन शब्दोंको भेरी आदिके शब्दोंसे आच्छादित करके—उन्हें अभिहत करके—कार्यको करता है वह निकृष्ट मनुष्य कृतकबधिर कहलाता है ॥९८॥

जो सेवक राजाको न देनेवाला, दुष्टबुद्धि और लोभी जानता हुआ भी उसे नहीं छोड़ता है व दीर्घ काल तक क्लेशको सहता रहता है, वह निन्दनीय सेवक 'क्लिष्ट भृत्य' नामसे कहा गया है ॥९९॥

जो निकृष्ट जन इन तीन मनुष्योंके समान बुद्धिहीन होकर योग्य-अयोग्य कार्यको प्रकट करनेवाले वाक्यकी अवहेलना किया करते हैं उनके आगे विद्वान् जनोंसे स्तुत व निर्दोष ऐसी अविनश्वर लक्ष्मी—मुक्ति-कान्ता—की अभिलाषा करनेवाले अपरिमित ज्ञानी सत्पुरुषोंको तत्त्वका उपदेश नहीं करना चाहिए ॥१००॥

इस प्रकार अमितगतिविरचित धर्मपरीक्षामें दशम
परिच्छेद समाप्त हुआ ॥१०॥

९७) ब विफलं समस्तः । ९९) अ ब °मपेक्षमाणः । १००) क लक्ष्मीं विबुधनमितां, ब ड °जननतां ; अ °मिष्यमाणैरदोषं, ब मिष्यमाणैरदोषां ; अ हि for न । ब इति दशमः परिच्छेदः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथ प्राहुरिमं[1] विप्रा वयं मूर्खाः किमीदृशाः ।
न विद्मो येन युक्त्यापि घटमानं वचः स्फुटम् ॥१
ततो ऽभणीत् खगाधीशनन्दनो बुधनन्दनः ।
यद्येवं श्रूयतां विप्राः स्फुटयामि[1] मनोगतम् ॥२
तापसस्तपसामासीदथ मण्डपकौशिकः ।
निवासः कृतदोषाणां महसामिव भास्करः ॥३
विशुद्धविग्रहैरेष नक्षत्रैरिव चन्द्रमाः ।
निविष्टो[1] भोजनं भोक्तुं तापसैरेकदा सह ॥४
संस्पर्शभीतचेतस्काश्चण्डालमिव गर्हितम् ।
एनं[1] निषण्णमालोक्य सर्वे ते तरसोत्थिताः ॥५

१) १. क मनोवेगं प्रति ।
२) १. क प्रगटयामि ।
४) १. उपविष्टः ।
५) १. मण्डपकौशिकम् । २. उपविष्टम् ।

मनोवेगके उपर्युक्त भाषणको सुनकर ब्राह्मण उससे बोले कि क्या हम लोग ऐसे मूर्ख हैं जो युक्तिसे संगत वचनको भी स्पष्टतया न समझ सकें ॥१॥

यह सुनकर विद्याधरराजका वह विद्वान् पुत्र बोला कि हे विप्रो ! यदि ऐसा है—जब आप विचारपूर्वक युक्तिसंगत वचनके ग्राहक हैं—तब फिर मैं अपने मनोगत भावको स्पष्ट करता हूँ, उसे सुनिए ॥२॥

तपोंको तपनेवाला एक मण्डपकौशिक नामका तपस्वी था। जिस प्रकार सूर्य तेजपुंजका निवासस्थान है उसी प्रकार वह किये गये दोषोंका निवासस्थान था ॥३॥

एक समय वह भोजनका उपभोग करनेके लिए पवित्र शरीरवाले तपस्वियोंके साथ इस प्रकारसे स्थित था जिस प्रकार कि विशुद्ध शरीरवाले नक्षत्रोंके साथ चन्द्रमा स्थित होता है ॥४॥

वे सब तपस्वी घृणित चाण्डालके समान इसे बैठा हुआ देखकर मनमें उसके स्पर्शसे भयभीत होते हुए वहाँसे शीघ्र उठ बैठे ॥५॥

२) ब ततो वेगात्; ब स्पष्टयामि, क स्पृष्टयामि for स्फुटयामि । ५) क एकं, ड इ एवं for एनम्; इ विषण्णं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तेनैव[1] तापसाः पृष्टाः सहभुञ्जानमुत्थिताः ।
सारमेयमिवालोक्य किं मां यूयं निगद्यताम् ॥६
अभाषि तापसैरेष[1] तापसानां बहिर्भवः[2] ।
कुमारब्रह्मचारी त्वमदृष्टतनयाननः ॥७
अपुत्रस्य गतिर्नास्ति स्वर्गो न च तपो यतः ।
ततः पुत्रमुखं दृष्ट्वा श्रेयसे क्रियते तपः ॥८
तेन गत्वा ततः कन्यां याचिताः स्वजना निजाः ।
वयो ऽतीततया नादुस्तस्मै[1] तां ते[2] कथंचन ॥९
भूयो ऽपि तापसाः पृष्टा वेगेनागत्य तेन ते ।
स्थविरस्य[1] न मे कन्यां को ऽपि दत्ते करोमि किम् ॥१०
तैरुक्तं विधवां रामां संगृह्य त्वं गृही भव ।
नोभयोर्विद्यते दोष इत्युक्तं तापसागमे ॥११

६) १. मण्डपकौशिकेन ।
७) १. क मण्डपकौशिकं प्रति । २. भूतः ।
९) १. मण्डपकौशिकाय । २. ते स्वजनाः ।
१०) १. क वृद्धस्य ।

तब उसने उन तपस्वियोंसे पूछा कि तुम लोग साथमें भोजन करते हुए मुझे कुत्तेके समान देखकर क्यों उठ बैठे हो, यह बतलाओ ॥६॥

इसपर तपस्वियोंने उससे कहा कि तुमने बालब्रह्मचारी होनेसे पुत्रका मुख नहीं देखा है, अतएव तुम तपस्वियोंसे बहिर्भूत हो । इसका कारण यह है कि पुत्रहीन पुरुषकी न गति है, न उसे स्वर्ग प्राप्त हो सकता है, और न उसके तपकी भी सम्भावना है । इसीलिए पुत्रके मुखको देखकर तत्पश्चात् आत्मकल्याणके लिए तपको किया जाता है ॥७-८॥

तपस्वियोंके इन वचनोंको सुनकर उस मण्डपकौशिकने जाकर अपने आत्मीय जनोंसे कन्याकी याचना की । परन्तु विवाह योग्य अवस्थाके बीत जानेसे उसे उन्होंने किसी भी प्रकारसे कन्या नहीं दी ॥९॥

तब उसने शीघ्र आकर उन साधुओंसे पुनः पूछा कि वृद्ध हो जानेसे मुझे कोई भी अपनी कन्या नहीं देना चाहता, अब मैं क्या करूँ ? ॥१०॥

यह सुनकर उन तपस्वियोंने कहा कि हे तापस ! तुम किसी विधवा स्त्रीको ग्रहण करके—उसके साथ विवाह करके—गृहस्थ हो जाओ । ऐसा करनेसे दोनोंको कोई दोष नहीं लगता, ऐसा आगममें कहा गया है ॥११॥

६) अ ते तेन । ८) ब क ड इ न तपसो यतः । ९) इ कदाचन । ११) ब क ड इ क्वापि for रामां; इ सुखी for गृही; अ दोषमि°; इ इत्युक्तस्ता° ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[1]पत्यौ प्रव्रजिते क्लीबे प्रणष्टे पतिते मृते ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ॥१२

तेनातो विधवाग्राहि तापसादेशवर्तिना ।
स्वयं हि विषये लोलो गुर्वादेशेन किं जनः ॥१३

तस्य[1] तां सेवमानस्य कन्याजनि मनोरमा ।
नीति[2] सर्वजनाभ्यर्थ्या संपत्तिरिव रूपिणी ॥१४

हरनारायणब्रह्मेशक्रादीनां दिवौकसाम् ।
या दुर्वारमवर्धिष्ट वर्धयन्ती मनोभवम् ॥१५

तप्तचामीकरच्छाया छाया नामाजनिष्ट या ।
कलागुणैर्बुधाभीष्टैः सकलैर्निलयीकृता ॥१६

१२) १. मात्रा पुत्र्या भगिन्या वा पुत्रार्थं प्रार्थितो नरः । यः पुमान् न रतौ भुङ्क्ते स भवेत् ब्रह्महा पुनः (?) ।

१४) १. मण्डपकौशिकस्य । २. न्यायम् ।

१५) १. ब्रह्मा ।

यथा—पतिके संन्यासी हो जानेपर, नपुंसक प्रमाणित होनेपर, भाग जानेपर, भ्रष्ट हो जानेपर और मर जानेपर; इन पाँच आपत्तियोंमें स्त्रियोंके लिए आगममें दूसरे पतिका विधान है—उक्त पाँच अवस्थाओंमें किसी भी अवस्थाके प्राप्त होनेपर स्त्रीको अपना दूसरा विवाह करनेका अधिकार प्राप्त है ॥१२॥

तपस्वियोंके इस प्रकार कहनेपर उसने उनकी आज्ञानुसार विधवाको ही ग्रहण कर लिया । ठीक ही है, मनुष्य विषयोपभोगके लिए स्वयं लालायित रहता है, फिर गुरुका वैसा आदेश प्राप्त हो जानेपर तो कहना ही क्या है—तब तो वह उस विषयसेवनमें निमग्न होगा ही ॥१३॥

इस प्रकार सब जनोंसे प्रार्थनीय नीतिके समान उस विधवाका सेवन करते हुए उसके एक मनोहर कन्या उत्पन्न हुई जो मूर्तिमती सम्पत्तिके समान थी ॥१४॥

वह कन्या महादेव, विष्णु, ब्रह्मा और इन्द्र आदि देवताओंके कामदेवको वृद्धिंगत करती हुई क्रमशः वृद्धिको प्राप्त हुई ॥१५॥

वह तपे हुए सुवर्णके समान कान्तिवाली थी । उसका नाम छाया था । वह विद्वानोंको अभीष्ट सब ही कला-गुणोंका आधार थी ॥१६॥

१२) अ प्रतिष्टे । १३) अ तेनैव for तेनातो; ड इ विधिनाग्राहि; अ लोभो for लोलो; इ किं पुनः । १४) इ नीतिः····°भ्यर्थ्या । १५) ब मनोभुवम् । १६) क ड कलागुणगणैरिष्टैः; ब °कृताः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विजित्य सकला रामाः स्थिता या कान्तिसंपदा ।
यस्याः समजनि च्छाया स्वकीयादर्शसंभवा ॥१७

अमुष्य[1] बन्धुरा कन्या साजनिष्टाष्टवार्षिकी ।
परोपकारिणी लक्ष्मीः कृपणस्येव मन्दिरे ॥१८

अवादीदेकदा कान्तामसौ मण्डपकौशिकः ।
तीर्थयात्रां प्रिये कुर्वः समस्ताघविशोधिनीम् ॥१९

देवस्य काञ्चनच्छायां छायां प्रत्यग्रयौवनाम्[1] ।
कस्य कान्ते करन्यासीकुर्वहे[2] शुभलक्षणाम् ॥२०

यस्यैवैषार्प्यते कन्या गृहीत्वा[1] सो ऽपि तिष्ठति ।
न को ऽपि विद्यते लोके रामारत्नपराङ्मुखः ॥२१

[1]द्विजिह्वसेवितो रुद्रो रामादत्तार्धविग्रहः ।
मन्मथानलतप्ताङ्गः सर्वदा विषमेक्षणः ॥२२

---

१८) १. मण्डपकौशिकस्य मन्दिरे ।
२०) १. नवयौवनाम् । २. कस्य देवस्य हस्ते थवणिकां (?) रक्षणाय ।
२१) १. कन्याम् ।
२२) १. हे नाथ, ईश्वरस्य दीयताम्, हे कान्ते ईश्वरस्य वृत्तं शृणु ।

वह अपनी कान्तिरूप लक्ष्मीसे सब ही स्त्रियोंको जीतकर स्थित थी। उसके समान यदि कोई थी तो वह दर्पणमें पड़नेवाली उसीकी छाया थी—अन्य कोई भी स्त्री उसके समान नहीं थी ॥१७॥

मण्डपकौशिककी वह कन्या क्रमसे वृद्धिको प्राप्त होकर आठ वर्षकी हो चुकी थी। वह उसके यहाँ इस प्रकारसे स्थित थी जैसे मानो कृपण (कंजूस)के घरमें परोपकारिणी लक्ष्मी ही स्थित हो ॥१८॥

एक समय वह मण्डपकौशिक अपनी स्त्रीसे बोला कि हे प्रिये ! चलो हम समस्त पापको शुद्ध करनेवाली तीर्थयात्रा करें ॥१९॥

परन्तु हे सुन्दरि ! सुवर्णके समान निर्मल कान्तिवाली व नवीन यौवनसे सुशोभित इस उत्तम लक्षणोंसे संयुक्त छायाको किस देवके हाथमें सौंपकर चलें ॥२०॥

कारण यह कि जिसके लिए यह कन्या सौंपी जायेगी वही उसको ग्रहण करके—अपनी बनाकर—स्थित हो सकता है, क्योंकि, लोकमें ऐसा कोई भी नहीं है जो स्त्रीरूप रत्नसे विमुख दिखता हो ॥२१॥

यदि महादेवके हाथोंमें इसे सौंपनेका विचार करें तो वह सर्पोंसे—चापलूस जनोंसे—सेवित और सदा विषयदृष्टि रखनेवाला—तीन नेत्रोंसे सहित—होकर शरीरमें कामरूप

---

१७) ब याः; अ °संपदाम्; क ड समाजनि । १८) ब °ष्टवर्षिणी । १९) अ ब कुर्मः; ब क विशोधनीं । २०) ब क °कुर्महे । २१) अ यस्य वैषा, क ड इ यस्य चैषा । २२) अ द्विजिह्वैः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देहस्थां पार्वतीं हित्वा जाह्नवीं यो निषेवते ।
स मुञ्चति कथं कन्यामासाद्योत्तमलक्षणाम् ॥२३

यस्य ज्वलति कामाग्निर्हृदये दुर्निवारणः ।
दिवानिशं महातापो जलधेरिव वाडवः ॥२४

कथं तस्यार्पयाम्येनां धूर्जटेः कामिनः सुताम् ।
रक्षणायार्प्यते दुग्धं मार्जारस्य बुधैर्नहि ॥२५

[1]सहस्रैर्याति गोपीनां तृप्तिं षोडशभिर्हरिः ।
न सदा सेव्यमानाभिर्नदीभिरिव नीरधिः ॥२६

गोपीर्निषेवते हित्वा यः पद्मां हृदये स्थिताम् ।
स प्राप्य सुन्दरां रामां कथं मुञ्चति माधवः ॥२७

ईदृशस्य कथं विष्णोरर्पयामि शरीरजाम् ।
चोरस्य हि करे रत्नं केन त्राणाय दीयते ॥२८

२५) १. रुद्रस्य ।

२६) १. तर्हि विष्णोः ।

अग्निसे सन्तप्त रहता है । इसीलिए उसने आधा शरीर स्त्रीको—पार्वतीको—दे दिया है । इसके अतिरिक्त वह अपने शरीरके अर्धभागमें स्थित उस पार्वतीको छोड़कर गंगाका सेवन करता है । इस प्रकारसे भला वह इस उत्तम लक्षणोंवाली कन्याको पा करके उसे कैसे छोड़ सकता है ? नहीं छोड़ सकेगा ॥२२-२३॥

जिस प्रकार समुद्रके मध्यमें अतिशय तापयुक्त वडवानल दिनरात जलता है उसी प्रकार जिस महादेवके हृदयमें निरन्तर कष्टसे निवारण की जानेवाली कामरूप अग्नि जला करती है उस कामी महादेवके लिए रक्षणार्थ यह पुत्री कैसे दी जा सकती है—उसके लिए संरक्षणकी दृष्टिसे पुत्रीको देना योग्य नहीं है । कारण कि चतुर जन रक्षाके विचारसे कभी बिल्लीको दूध नहीं दिया करते हैं ॥२४-२५॥

जिस प्रकार समुद्र हजारों नदियोंके भी सेवनसे कभी सन्तुष्ट नहीं होता उसी प्रकार जो विष्णु सोलह हजार गोपियोंके निरन्तर सेवनसे कभी सन्तोषको प्राप्त नहीं होता है तथा जो हृदयमें स्थित लक्ष्मीको छोड़कर गोपियोंका सेवन किया करता है वह विष्णु भी भला सुन्दर स्त्रीको प्राप्त करके उसे कैसे छोड़ सकेगा ? वह भी उसे नहीं छोड़ेगा । इसीलिए ऐसे कामी उस विष्णुके लिए भी मैं अपनी प्यारी पुत्रीको कैसे दे सकता हूँ ? उसे भी नहीं देना चाहता हूँ । कारण कि ऐसा कौन-सा बुद्धिमान् है जो चोरके हाथमें रक्षाके विचारसे रत्नको देता हो ? कोई भी नहीं देता है ॥२६-२८॥

२३) ब मुञ्चते । २७) क गोपीं; ब ड इ हित्वा पद्मां च; इ कन्यां for रामां । २८) ड इ तु for हि ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[1]नृत्यदर्शनमात्रेण सारं वृत्तं मुमोच यः ।
स ब्रह्मा कुरुते किं न सुन्दरां प्राप्य कामिनीम् ॥२९

एकदा विष्टरक्षोभे[1] जाते सति पुरंदरः ।
पप्रच्छ धिषणं[2] साधो केनाक्षोभि ममासनम् ॥३०

जगाद धिषणो देव ब्रह्मणः कुर्वतस्तपः ।
अर्धाष्टाब्दसहस्राणि[1] वर्तन्ते[2] राज्यकाङ्क्षया ॥३१

प्रभो तपःप्रभावेण तस्यायं महता तव ।
अजनिष्टासनक्षोभस्तपसा किं न साध्यते ॥३२

हरे[1] हर[2] तपस्तस्य त्वं प्रेर्य स्त्रियमुत्तमाम् ।
नोपायो वनितां हित्वा तपसां हरणे क्षमः ॥३३

ग्राहं ग्राहेमसौ[2] स्त्रीणां दिव्यानां तिलमात्रकम् ।
रूपं निर्वर्तयामास भव्यां रामां तिलोत्तमाम् ॥३४

२९) १. ततः ब्रह्मणे ।
३०) १. क सिंहासन चञ्चल जाते सति । २. बृहस्पतिम् ।
३१) १. क चत्वारि सहस्राणि । २. भवन्ति ।
३३) १. हे पुरन्दर; क हे इन्द्र । २. हरणं कुरु ।
३४) १. क गृहीत्वा । २. इन्द्रः ।

जिस ब्रह्मदेवने तिलोत्तमा अप्सराके नृत्यके देखने मात्रसे ही संयमको छोड़ दिया वह भी सुन्दर रमणीको पाकर क्या न करेगा ? वह भी उसके साथ विषयभोगकी इच्छा करेगा ही ॥२९॥

उक्त घटनाका वृत्त इस प्रकार है—एक समय इन्द्रके आसनके कम्पित होनेपर उसने अपने मन्त्री बृहस्पतिसे पूछा कि हे साधो ! मेरा यह आसन किसके द्वारा कम्पित किया गया है ॥३०॥

इसके उत्तरमें बृहस्पतिने कहा कि हे देव ! राज्यकी इच्छासे ब्रह्माको तप करते हुए चार हजार वर्ष होते हैं । हे प्रभो ! उसके अतिशय तपके प्रभावसे ही यह आपका आसन कम्पित हुआ है । सो ठीक भी है, क्योंकि, तपके प्रभावसे क्या नहीं सिद्ध किया जाता है ? अर्थात् उसके प्रभावसे कठिनसे भी कठिन कार्य सिद्ध हो जाया करता है ॥३१-३२॥

हे देवेन्द्र ! तुम किसी उत्तम स्त्रीको प्रेरित करके उसके इस तपको नष्ट कर दो, क्योंकि, तपके नष्ट करनेमें स्त्रीको छोड़कर और दूसरा कोई भी उपाय समर्थ नहीं है ॥३३॥

तदनुसार इन्द्रने दिव्य स्त्रियोंके तिल-तिल मात्र सौन्दर्यको लेकर तिलोत्तमा नामक सुन्दर स्त्रीकी रचना की ॥३४॥

२९) ब सारवृत्तं । ३१) ब अर्धष्टाष्टसहस्राणि; इ राजकाङ्क्षया । ३३) ब तपस्तत्त्वं प्रेर्यत स्त्रियं; ब क ड इ तपसो हरणे परः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गत्वा त्वं तपसा रिक्तं कुरुष्व कमलासनम् ।
इत्युक्त्वा प्रेषयामास वृत्रहा[1] तां तिलोत्तमाम् ॥३५
मनो मोहयितुं दक्षं जीर्णं मद्यमिवोर्जितम् ।
ब्रह्मणः पुरतश्चक्रे सा नृत्यं रससंकुलम्[1] ॥३६
शरीरावयवा गुह्या दर्शिता दक्षया तया ।
मेघा वर्धयितुं सद्यः[1] कुसुमायुधपादपम् ॥३७
पादयोर्जङ्घयोरूर्वोर्विस्तीर्णे जघनस्थले ।
नाभिबिम्बे स्तनद्वन्द्वे ग्रीवायां मुखपङ्कजे ॥३८
दृष्टिर्विश्रम्य विश्रम्य धावमाना समन्ततः ।
ब्रह्मणो विग्रहे तस्याश्चिरं चिक्रीड चञ्चला[1] ॥३९
बिभेद हृदयं तस्य[1] मन्दसंचारकारिणी ।
विलासविभ्रमाधारा सा विन्ध्यस्येव नर्मदा ॥४०

३५) १. इन्द्रः ।
३६) १. चित्तरञ्जकं नृत्तम् ।
३७) १. क कामदेव ।
३९) १. दृष्टिः ।
४०) १. क पर्वतस्य ।

तत्पश्चात् उस इन्द्रने 'तुम जाकर ब्रह्मदेवको तपसे रहित (भ्रष्ट) कर दो' यह कहकर उक्त तिलोत्तमाको ब्रह्माजीके पास भेज दिया ॥३५॥

उसने वहाँ जाकर ब्रह्मदेवके आगे पुरानी मदिराके समान मनके मोहित करनेमें समर्थ व रसोंसे परिपूर्ण उत्कट नृत्यको प्रारम्भ कर दिया ॥३६॥

उस चतुर अप्सराने नृत्य करते हुए कामरूप वृक्षको शीघ्र वृद्धिंगत करनेके लिए जलप्रद मेघोंके समान अपने गोपनीय अंगोंको—कामोद्दीपक स्तनादि अवयवोंको प्रदर्शित किया ॥३७॥

उस समय उसके दोनों पावों, जंघाओं, ऊरुओं, विस्तृत जघनस्थल, नाभिस्थान, स्तनयुगल और मुखरूप कमलपर क्रमसे विश्राम ले-लेकर—कुछ देर ठहर-ठहरकर सब ओर दौड़नेवाली ब्रह्माजीकी चंचल दृष्टि उक्त तिलोत्तमाके शरीरके ऊपर दीर्घ काल तक खेलती रही ॥३८-३९॥

इस प्रकार धीरे गमन करनेवाली व विलास एवं विभ्रमकी आधारभूत—अनेक प्रकारके हाव-भावको प्रदर्शित करनेवाली—उस तिलोत्तमाने, जिस प्रकार नर्मदा नदीने विन्ध्य जैसे दीर्घकाय पर्वतके मध्यभागको खण्डित कर दिया, उसी प्रकार ब्रह्माजीके हृदयको खण्डित कर दिया, उसने उनके मनको अपने वशमें कर लिया ॥४०॥

३५) ब तं for त्वं । ३६) ब नृत्तं । ४०) क इ मन्दं संचार°; अ °विभ्रमाकारा ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रक्तं विज्ञाय तं दृष्ट्या[1] दक्षिणापश्चिमोत्तराः ।
भ्रमयन्ती मनस्तस्य बभ्राम क्रमतो दिशः ॥४१

लज्जमानः स देवानां वलित्वा न निरैक्षत ।
लज्जाभिमानमायाभिः सुन्दरं क्रियते कुतः ॥४२

तपो वर्षसहस्रोत्थं दत्त्वा प्रत्येकमस्तधीः ।
एकैकस्यां स काष्ठायां दिदृक्षुस्तां[1] व्यधान्मुखम् ॥४३

भृशं सक्तदृशं दृष्ट्वा [1]सारुरोह नभस्तलम् ।
योषितो रक्तचित्तानां वञ्चनां कां न कुर्वते ॥४४

पञ्चवर्षशतोत्थस्य तपसो महसा स ताम् ।
दिदृक्षुरकरोद् व्योम्नि रासभीयमसौ शिरः ॥४५

न बभूव तपस्तस्य न नर्तनविलोकनम् ।
अभूदुभयविभ्रंशो ब्रह्मणो रागसंगिनः ॥४६

४१) १. अवलोकनेन ।

४३) १. विलोकनवाञ्छया ।

४४) १. तिलोत्तमा ।

फिर वह दृष्टिपातसे उन्हें अनुरक्त जानकर उनके मनको दक्षिण, पश्चिम और उत्तरकी ओर घुमाती हुई क्रमसे इन दिशाओंमें परिभ्रमण करने लगी ॥४१॥

उस समय ब्रह्माजीने देवोंकी ओरसे लज्जित होकर उन-उन दिशाओंकी ओर मुखको घुमाते हुए उसे नहीं देखा । ठीक है—लज्जा, अभिमान और मायाचारके कारण भला सुन्दर (उत्तम) कार्य कहाँसे किया जा सकता है ? नहीं किया जा सकता है ॥४२॥

तब उन-उन दिशाओंमें उसके देखनेकी इच्छासे उन ब्रह्माजीने बुद्धिहीन होकर एक-एक हजार वर्षके उत्पन्न तपके प्रभावको देते हुए एक-एक दिशामें एक-एक मुखकी रचना की ॥४३॥

इस प्रकार वह उनको अपनेमें अतिशय आसक्तदृष्टि—अत्यधिक अनुरक्त—देखकर आकाशमें ऊपर चली गई । ठीक ही है, स्त्रियाँ अपनेमें अनुरक्त हृदयवाले पुरुषोंकी कौन-सी वंचना नहीं किया करती हैं—वे उन्हें अनेक प्रकारसे ठगा ही करती हैं ॥४४॥

तब उन्होंने उसे आकाशमें देखनेकी इच्छासे पाँच सौ वर्षोंमें उत्पन्न तपके तेजसे गर्दभ जैसे शिरको किया ॥४५॥

इस प्रकारसे रागमें निमग्न हुए उन ब्रह्माजीका न तो तप स्थिर रह सका और न नृत्यका अवलोकन भी बन सका, प्रत्युत वे उन दोनोंसे ही भ्रष्ट हुए ॥४६॥

४१) ब क दृष्ट्वा f r दृष्टया; ब °पश्चिमोत्तराम्; इ दश for दिशः । ४२) अ निरीक्षिता, ड निरीक्षते । ४४) अ क ड इ भृशासक्तं°; इ नभःस्थलम् । ४६) क °संगितः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सा तं सर्वतपोरिक्तं कृत्वागात्सुरसुन्दरी ।
मोहयित्वाखिलं रामा वञ्चयन्ति हि रागिणम् ॥४७

इमामनीक्षमाणो ऽसौ विलक्षत्वमुपागतः ।
दर्शनागतदेवेभ्यः कुप्यति स्म निरस्तधीः ॥४८

खरवक्त्रेण देवानां प्रावर्तत स खादने ।
विलक्षः सकलो ऽन्येभ्यः स्वभावेनैव कुप्यति ॥४९

अवोचन्नमरा गत्वा शंभोरेतस्य चेष्टितम् ।
आत्मदुःखप्रतीकारे यतते सकलो जनः ॥५०

चकर्त मस्तकं तस्य शम्भुरागत्य पञ्चमम् ।
परापकारिणो मूर्धा छिद्यते को ऽत्र संशयः ॥५१

त्वदीयहस्ततो नेदं पतिष्यति शिरो मम ।
इति तं शप्तवानेष ब्रह्महत्यापरं रुषा ॥५२

४८) १. तिलोत्तमाम् । २. व्याकुलत्वं खेदखिन्नम् ।

४९) १. खेदखिन्नः ।

५०) १. ब्रह्मणः ।

५२) १. ईश्वरम् । २. सरा (श्रा) पितवान् । ३. ब्रह्मा ।

अन्तमें वह तिलोत्तमा अप्सरा इन्द्रकी इच्छानुसार उन ब्रह्माजीको सब तपोंसे भ्रष्ट करके चली गयी। ठीक है, स्त्रियाँ समस्त रागी जनको मोहित करके ठगा ही करती हैं ॥४७॥

तब उस तिलोत्तमाको न देखता हुआ वह हतबुद्धि ब्रह्मा लज्जाको प्राप्त हुआ। उस समय जो देव दर्शनके लिए आये थे उनके ऊपर उसे अतिशय क्रोध हुआ। इससे वह उस गर्दभमुखसे उन देवोंके खानेमें प्रवृत्त हुआ। ठीक है, लज्जा (अथवा खेद) को प्राप्त हुए सब ही जन स्वभावतः दूसरोंके ऊपर क्रोध किया करते हैं ॥४८-४९॥

तब उन देवोंने महादेवके पास जाकर उनसे ब्रह्माकी उक्त प्रवृत्तिके सम्बन्धमें निवेदन किया। ठीक है, अपने दुखको दूर करनेके लिए सब ही जन प्रयत्न किया करते हैं ॥५०॥

इससे महादेवने आकर ब्रह्माके उस पाँचवें मस्तकको काट डाला। ठीक है, जो दूसरोंका अपकार करता है उसका मस्तक छेदा ही जाता है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥५१॥

तब ब्रह्माने क्रोधके वश होकर ब्रह्महत्यामें संलग्न उन महादेवको यह शाप दे डाला कि—तुम्हारे हाथसे यह मेरा शिर गिरेगा नहीं ॥५२॥

४७) ब रागिणाम् । ४८) क ड दर्शनायातं । ४९) अ सकलस्तेभ्यः····कुप्यते ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुरुष्वानुग्रहं[1] साधो ब्रह्महत्या कृता मया ।
इत्येवं गदितो[2] ब्रह्मा तमूचे पार्वतीपतिम् ॥५३
असृजा[1] पुण्डरीकाक्षो[2] यदेदं पूरयिष्यति ।
हस्ततस्ते तदा शम्भो पतिष्यति शिरो मम ॥५४
प्रतिपद्य वचस्तस्य[1] कपालव्रतमग्रहीत् ।
प्रपञ्चो भुवनव्यापी देवानामपि दुस्त्यजः ॥५५
ब्रह्महत्यानिरासार्थं सो ऽगमद्धरिसंनिधिम् ।
पवित्रीकर्तुमात्मानं न हि कं श्रयते[2] जनः ॥५६
ब्रह्मा मृगगणाकीर्णमविक्षद् गहनं वनम् ।
तीव्रकामाग्निसंतप्तः क्व न याति विचेतनः ॥५७
विलोक्यर्तुमतीमृक्षीं[1] ब्रह्मा तत्र[2] निषेवते[3] ।
ब्रह्मचर्योपतप्तानां रासभ्यप्यप्सरायते ॥५८

५३) १. प्रसादं, कृपाम् । २ ईश्वरेण ।
५४) १. रुधिरेण । २. ब्रह्मा [विष्णुः] ।
५५) १. ब्रह्मणः ।
५६) १. स्फेटनाय । २. आश्रयते ।
५८) १. रीछणीम् । २. वने । ३. सेवयामास ।

इस प्रकारका शाप दे-देनेपर जब महादेवने उनसे यह प्रार्थना की कि हे साधो ! ब्रह्म-हत्या करनेवाले मेरे ऊपर आप अनुग्रह करें—मुझे किसी प्रकार इस शापसे मुक्त कीजिए—तब वे पार्वतीके पति—महादेव-से बोले कि जब विष्णु भगवान् इसे रुधिरसे पूर्ण करेंगे तब यह मेरा शिर तुम्हारे हाथसे नीचे गिर जायेगा ॥५३-५४॥

ब्रह्माके इस कथनको स्वीकार करके महादेवने कपाल व्रतको ग्रहण कर लिया। ठीक है—यह लोकको व्याप्त करनेवाला प्रपंच देवताओंके भी बड़ी कठिनाईसे छूटता है ॥५५॥

फिर वह इस ब्रह्महत्याके पापको नष्ट करनेके लिए विष्णुके पास गया। ठीक है—मनुष्य अपनेको पवित्र करनेके लिए किसका आश्रय नहीं लेता है—वह इसके लिए किसी न किसीका आश्रय लेता ही है ॥५६॥

तत्पश्चात् ब्रह्मा मृगसमूहसे—मृगादि वन्य पशुओंसे—व्याप्त दुर्गम वनके भीतर प्रविष्ट हुआ। ठीक है, तीव्र कामरूप अग्निसे सन्तप्त हुआ अविवेकी प्राणी किस-किस स्थानको नहीं जाता है—वह उसको शान्त करनेके लिए किसी भी योग्य-अयोग्य स्थानको प्राप्त होता है॥५७॥

वहाँ ब्रह्माने किसी रजस्वला रीछनीको देखकर उसका सेवन किया। ठीक भी है, क्योंकि, ब्रह्मचर्यसे पीड़ित—कामके वशीभूत हुए—प्राणियोंको गर्दभी भी अप्सरा जैसी दिखती है ॥५८॥

५३) ब कुरुष्व निग्रहं; ब ड कृता मम । ५४) अ यदीदं, ब यदिदं; अ ब पूरयिष्यते; ब पतितस्य शिरो मम । ५६) क इ संनिधौ; ब किं for कं । ५७) अ इ °अवैक्षद्; अ कं न; ड विचेतनम् । ५८) अ निषेव्यते, क ड निषेवत, इ निषेव्यत; अ रासभ्यप्सरसायते ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आसाद्य तरसा गर्भं सा पूर्णे समये ततः ।
असूत जाम्बवं पुत्रं प्रसिद्धं भुवनत्रये ॥५९
यः कामार्तमना[1] ब्रह्मा तिरश्चीमपि सेवते ।
स सुन्दरीं कथं कन्यामेनां मोक्ष्यति मूढधीः ॥६०
अहल्यां चित्तभूभल्लीं दृष्ट्वा गौतमवल्लभाम् ।
अहल्यकाकुलो जातो बिडौजाः[1] पारदारिकः ॥६१
गौतमेन क्रुधा शप्तः[1] स सहस्रभगो ऽभवत् ।
दुःखं न प्राप्यते केन मन्मथादेशवर्तिना ॥६२
मुने ऽनुगृह्यतामेषस्त्रिदशैरिति भाषिते ।
सहस्राक्षः कृतस्तेन भूयो ऽनुग्रहकारिणा ॥६३
इत्थं कामेन मोहेन मृत्युना यो न पीडितः ।
नासौ निर्दूषणो[1] लोकैर्देवः कोऽपि विलोक्यते ॥६४

६०) १. क कामदेव ।
६१) १. इन्द्रः ।
६२) १. स्रापितवान् ।
६३) १. प्रसीदताम्; क अनुग्रहं कुर्वताम् ।
६४) १. निर्दोषः ।

तब उस रीछनीने शीघ्र ही गर्भको धारण करके समयके पूर्ण होनेपर तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध जाम्बव पुत्रको उत्पन्न किया ॥५९॥

इस प्रकार जो ब्रह्मा मनमें कामसे पीड़ित होकर तिर्यंचनीका भी सेवन करता है वह मुग्धबुद्धि भला इस सुन्दर कन्याको कैसे छोड़ सकेगा ? नहीं छोड़ेगा ॥६०॥

परस्त्रीका अनुरागी इन्द्र कामकी भल्लीके समान गौतम ऋषिकी पत्नी अहिल्याको देखकर कामसे व्याकुल हुआ ॥६१॥

तब गौतम ऋषिने क्रोधके वश होकर उसे शाप दिया, जिससे वह हजार योनियोंवाला हो गया। ठीक है, कामकी आज्ञाके अनुसार प्रवृत्ति करनेवाला ऐसा कौन है जो दुखको प्राप्त न करता हो—कामीजन दुखको भोगते ही हैं ॥६२॥

तत्पश्चात् जब देवोंने गौतम ऋषिसे यह प्रार्थना की कि हे मुने ! इस इन्द्रके ऊपर अनुग्रह कीजिए—कृपाकर उसे इस शापसे मुक्त कर दीजिए—तब पुनः अनुग्रह करके उन्होंने उसे हजार योनियोंके स्थानमें हजार नेत्रोंवाला कर दिया ॥६३॥

इस प्रकार लोगोंके द्वारा वह कोई भी निर्दोष देव नहीं देखा जाता है जो कि काम, मोह और मरणसे पीड़ित न हो–ये सब उन कामादिके वशीभूत ही हैं ॥६४॥

५९) ब पूर्णसमये । ६०) अ क ड इ सुन्दरां । ६१) अ आहल्लीं, ब अहिल्लां; अ आहल्लीकाकुलो, ब आजल्पकाकुलो, क ड इ आकर्ण्य विकलो । ६३) ब °रिति भाषितः, क °रिति भाषिते, ड इ °रति भाषते; अ कृतस्नेहो भूयो । ६४) क ड इ विदूषणो लोके देवः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक एव यमो देवः सत्यशौचपरायणः ।
[1]विपक्षमर्दको धीरः समवर्तीह विद्यते ॥६५
स्थापयित्वास्य सांनिध्ये[1] कन्यां यात्रां[2] करोम्यहम् ।
ध्यात्वेति स्थापिता तेन[3] दुहिता यमसंनिधौ ॥६६
सस्त्रीकस्तीर्थयात्रार्थं[1] गतो मण्डपकौशिकः ।
भूत्वा निराकुलः प्राज्ञो धर्मकृत्ये प्रवर्तते ॥६७
मनोभुवतरुक्षोणी दृष्ट्वा सा[1] समवर्तिना ।
अकारि प्रेयसी स्वस्य नास्ति रामासु निःस्पृहः ॥६८
परापहारभीतेन[1] सा कृतोदरवर्तिनी ।
वल्लभां कामिनीं कामी क्व न स्थापयते कुधीः ॥६९
कृष्ट्वा कृष्ट्वा[1] तया सार्धं भुक्त्वा भोगमसौ घृणः ।
गिलित्वा कुरुते ऽन्तःस्थां[2] नाशशङ्कितमानसः ॥७०

६५) १. क शत्रु ।
६६) १. क यमसंनिधौ । २. तीर्थयात्राम् । ३. मण्डपकौशिकेन ।
६७) १. स्त्रिया सह ।
६८) १. क पृथ्वी ।
६९) १. हरण ।
७०) १. निष्कास्य । २. नाशेन ।

हाँ, यहाँ एक वह यम ही ऐसा देव है जो सत्य व शौचमें तत्पर, शत्रुका मर्दन करनेवाला—पक्षपातसे रहित—है ॥६५॥

इसीके समीपमें कन्या (छाया) को स्थापित करके–छोड़ करके–मैं तीर्थयात्रा करूँगा, ऐसा विचार करके उस मण्डपकौशिकने छाया कन्याको यमके समीपमें रख दिया ॥६६॥

तत्पश्चात् मण्डप कौशिक स्त्रीके साथ तीर्थयात्राको चल दिया। ठीक है, विद्वान् मनुष्य निश्चिन्त होकर ही धर्मकार्यमें प्रवृत्त हुआ करता है ॥६७॥

उधर कामरूप वृक्षको उत्पन्न करनेके लिए पृथिवी तुल्य उस छाया कन्याको देखकर यमराजने उसे अपनी प्रियतमा बना लिया। ठीक ही है, लोकमें ऐसा कोई नहीं है जो स्त्रियोंके विषयमें निःस्पृह हो–उनमें अनुरागसे रहित हो ॥६८॥ इतना ही नहीं, अपितु कोई उसका अपहरण न कर ले इस भयसे उसने उसे उदरमें अवस्थित कर लिया। सो ठीक भी है, मूर्ख कामी काममें रत रहनेवाली प्रियतमाको कहाँपर नहीं स्थापित करता है–वह कहीं भी उचित-अनुचित स्थानमें उसे रखा करता है ॥६९॥

वह मनमें विनष्ट होनेके भयसे उसे देखता व पेटसे बाहर खींचकर—निकालकर—उसके साथ भोग भोगता और तत्पश्चात् फिरसे निगलकर पेटके भीतर ही अवस्थित कर लेता था ॥७०॥

६५) ड इ समवर्तीति । ६८) क मनोभव । ७०) अ दृष्ट्वा कृष्ट्वा ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इत्थं तया समं तस्य भुञ्जानस्य रतामृतम् ।
कालः प्रावर्तता[1]त्मानं पश्यतस्त्रिदशाधिकम् ॥७१

खटिका पुस्तिका रामा परहस्तगता सती ।
नष्टा ज्ञेयाथवा पुंसा घृष्टा स्पृष्टोपलभ्यते ॥७२

पवनेनैकदावाचि पावको भद्र सर्वदा ।
एकः सुधाभुजां[1] मध्ये यमो जीवति[2] सौख्यतः ॥७३

तेनैका सा वधूर्लब्धा सुरतामृतवाहिनी ।
[1]यामालिङ्ग्य दृढं शेते सुखसागरमध्यगः ॥७४

न तया दीयमाने ऽसौ[1] सुखे तृप्यति पावने ।
नितम्बिन्या जले नित्यं गङ्गयेव पयोनिधिः ॥७५

कथं मे जायते संगस्तयामा मृगचक्षुषा ।
पावकेनेति पृष्टो ऽसौ निजगाद समीरणः ॥७६

७१) १. प्रवर्तमान ।

७३) १. देवानाम् । २. तिष्ठति ।

७४) १. वधूम् ।

७५) १. यमः ।

७६) १. क पवनः ।

इस प्रकारसे उस छायाके साथ सुरतरूप अमृतका-विषयोपभोगका-अनुभव करता हुआ वह यमराज अपनेको देव (इन्द्र) से भी उत्कृष्ट समझ रहा था। उस समय उसका काल सुखपूर्वक बीत रहा था ॥७१॥

खड़ी (खड़ू—लेखनी), पुस्तक और स्त्री ये दूसरेके हाथमें जाकर या तो नष्ट ही हो जाती हैं—वापस नहीं मिलती हैं—या फिर घिसी पिसी हुई प्राप्त होती हैं ॥७२॥

एक समय पवनदेवने अग्निदेवसे कहा कि हे भद्र ! देवोंके मध्यमें एक यम देवका जीवन अतिशय सुखपूर्वक बीत रहा है ॥७३॥

उसने सुरतरूप अमृतको बहानेवाली एक स्त्री प्राप्त की है, जिसका दृढ़तापूर्वक आलिंगन करता हुआ वह सुखरूप समुद्रके मध्यमें सोता है ॥७४॥

जिस प्रकार गंगाके द्वारा दिये गये पवित्र जलसे कभी समुद्र सन्तुष्ट नहीं होता है उसी प्रकार उस रमणीके द्वारा दिये जानेवाले पवित्र सुखमें वह यम भी सन्तुष्ट नहीं होता है ॥७५॥

हिरण-जैसे नेत्रोंवाली उस सुन्दरीके साथ मेरा संयोग कैसे हो सकता है, इस प्रकार अग्निदेवके द्वारा पूछे जानेपर वह पवनदेव बोला कि उक्त यम उस कृश शरीरवाली

७२) ब हस्ते गता····ज्ञेया यथा पुंसां । ७५) क दीव्यमाने; ब जने नित्यं । ७६) अ इ जायताम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रक्ष्यमाणामुना[1] तन्वी न द्रष्टुमपि लभ्यते ।
कुत एव पुनस्तस्याः संगमो ऽस्ति विभावसो[2] ॥७७

स्वकीयया श्रिया सर्वा जयन्ती सुरसुन्दरीः ।
रतिं निषेव्य सा तेन[1] जठरस्था विधीयते ॥७८

एकाकिनी स्थिता स्पष्टं याममेकं विलोचनैः ।
अघमर्षणकाले[1] सा केवलं दृश्यते सती ॥७९

अवाचि वह्निना वायो यामेनैकेन निश्चितम् ।
स्त्रीं गृह्णामि त्रिलोकस्थां का वार्तैकत्र योषिति ॥८०

एकाकिनीं यौवनभूषिताङ्गीं वधूं स्मराक्रान्तशरीरयष्टिम् ।
कुर्वन्ति वश्यां तरसा युवानो[1] न विद्यते किंचन चित्रमत्र ॥८१

निशात[1]कामेषुविभिन्नकायो[2]वह्निर्निगद्येति जगाम तत्र ।
यत्राघमर्षं विदधाति देशे यमो बहिस्तां परिमुच्य तन्वीम् ॥८२

७७) १. वायुना । २. हे अग्ने ।
७८) १. यमेन ।
७९) १. पापस्फेटनकाले ।
८१) १. पुरुषाः ।
८२) १. तीक्ष्ण । २. क अग्निः । ३. गंगामध्ये पाप ।

कामिनीकी रक्षा इस प्रकारसे कर रहा है कि उसे कोई देख भी नहीं पाता है । फिर भला हे अग्निदेव ! उसका संयोग कहाँसे हो सकता है—वह सम्भव नहीं है ॥७६-७७॥

वह कान्ता अपनी शोभासे सभी सुन्दर देवललनाओंको जीतनेवाली है । यह उसके साथ सुरत-सुखको भोगकर उसे पुनः पेटके भीतर रख लेता है ॥७८॥

वह साध्वी केवल अघमर्षण कालमें—स्नानादिके समयमें—एक पहर तक अकेली अवस्थित रहती है । उस समय उसे विशिष्ट नेत्रोंके द्वारा स्पष्टतासे देखा जा सकता है ॥७९॥

इस उत्तरको सुनकर अग्निने वायुसे कहा कि एक पहरमें तो निश्चयसे तीनों लोकोंकी स्त्रियोंको मैं ग्रहण कर सकता हूँ, फिर भला एक स्त्रीके विषयमें तो आस्था ही कौन-सी है—उसे तो इतने समयमें अनायास ही ग्रहण कर सकता हूँ ॥८०॥

सो ठीक भी है—अकेली (रक्षकसे रहित), यौवनसे सुशोभित शरीरावयवोंसे संयुक्त और कामदेवसे अधिष्ठित शरीर-लताको धारण करनेवाली स्त्रीको यदि तरुण जन शीघ्र ही वशमें कर लेते हैं तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है ॥८१॥

इस प्रकार जिसका शरीर तीक्ष्ण कामके बाणोंसे विध चुका था वह अग्निदेव ऐसा कहकर जिस स्थानपर वह यम उस सुन्दरीको बाहर छोड़कर—पेटसे पृथक् करके—पापनाशक स्नानादि क्रियाको किया करता था वहाँ जा पहुँचा ॥८२॥

७८) अ ब रतं निषेव्य । ७९) ब पृष्टं, क स्पृष्टं for स्पष्टं । ८०) क ड अवाच्यप्यग्निना; ब स्त्रीर्गृह्णामि···· °स्थाः । ८२) ड इ वायुं for वह्निः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगत्य कान्तां स[1] निधाय बाह्यां गङ्गां प्रविष्टो ऽघविशुद्धिकामः ।
विधाय रूपं कमनीयमग्निः संगं तयामा परिगृह्य चक्रे ॥८३

अयन्त्रिता[1] स्त्री मनसा विषण्णा[2] गृह्णाति दृष्ट्वा पुरुषं यमिष्टम् ।
अजेव साद्रं तरुपत्रजालं[3] कुप्यन्ति नार्यो हि नियन्त्रणायाम्[4] ॥८४

विधाय संगं ज्वलनेन सार्धं बभाण सा त्वं व्रज शीघ्रमेव ।
भर्तुर्मदीयस्य विरुद्धवृत्तेर्यमस्य नाथागतिकाल एषः[1] ॥८५

त्वया समेतां यदि वीक्षते मां तदा मदोयां स लुनाति[1] नासाम्[2] ।
निशुम्भति[3] त्वां च विवृद्धकोपो न को ऽपि दृष्ट्वा क्षमते हि जारम् ॥८६

आलिङ्ग्य पीनस्तनपीडिताङ्गीं जगाद वह्नि[1]र्दयिते यदि त्वाम् ।
विमुच्य गच्छामि वियोगहस्ती तदेष मां दुष्टमना हिनस्ति ॥८७

---

८३) १. अग्निः (?)।
८४) १. क अरक्षिता सती। २. खेदखिन्ना। ३. क गृह्णाति। ४. रक्षणायाम्।
८५) १. भवति।
८६) १. क छिनत्ति। २. क नासिकाम्। ३. मारयति।
८७) १. अग्निः।

उधर यम आया और प्रियाको पेटके बाहर रखकर विशुद्धिक इच्छासे गंगा नदीके भीतर प्रविष्ट हुआ। अग्निदेवने उस समय अपना सुन्दर रूप बनाया और उसे ग्रहण करके उसके साथ सम्भोग किया ॥८३॥

ठीक है—परतन्त्रतामें जकड़ी हुई स्त्री मनमें खेदका अनुभव करती हुई किसी अभीष्ट पुरुषको देखकर उसे इस प्रकार स्वीकार कर लेती है जिस प्रकार कि पराधीन बकरी वृक्षके हरे पत्रसमूहको देखकर उसे तत्परतासे स्वीकार करती है—उसे खाने लग जाती है। सो यह भी ठीक है, क्योंकि, पराधीनतामें स्त्रियाँ क्रोधको प्राप्त हुआ ही करती हैं ॥८४॥

उस अग्निके साथ सम्भोग करके छाया बोली कि हे नाथ! अब तुम यहाँसे शीघ्र ही चले जाओ, क्योंकि, मेरे पतिका व्यवहार—स्वभाव—विपरीत है। यह उसके आनेका समय है ॥८५॥

यदि वह तुम्हारे साथ मुझे देख लेगा तो मेरी नाक काट लेगा और तुम्हें भी कुपित होकर मार डालेगा। कारण यह कि कोई भी व्यक्ति अपनी पत्नीके जारको—उपपतिको—देखकर क्षमाशील नहीं रह सकता है ॥८६॥

यह सुनकर स्थूल स्तनोंसे पीड़ित शरीरवाली उस छायाका आलिंगन करके अग्नि बोला कि हे प्रिये! यदि तुमको छोड़कर मैं जाता हूँ तो यह दुष्ट मनवाला वियोगरूप हाथी मुझे मार डालेगा ॥८७॥

---

८३) क इ बाह्यम्। ८४) अ ब नियन्त्रिता; अ ब पटिष्ठम् for यमिष्टम्; ब सान्द्रं····नियन्त्रणाय। ८५) अ नाद्यागतिकाल। ८६) अ वीक्ष्यते; क भिनत्ति for लुनाति; क ड इ नैकोपि। ८७) अ पीडिताङ्गं; क पीडिताङ्गां; क तदैष।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वरं तवाग्रे दयिते हतो ऽहं यमेन रुष्टेन निशातबाणैः ।
दुरन्तकामज्वलनेन दग्धस्त्वया विना न ज्वलता सदापि ॥८८
वदन्तमित्थं रभसा गृहीत्वा साग्निं गिलित्वा विदधे ऽन्तरस्थम् ।
न रोचमाणस्य नरस्य नार्याः खल्वस्ति चित्तं हृदयप्रवेशे ॥८९
तदन्तरस्थं तमबुध्यमानः[1] कृत्वा कृतान्तो नियमं[2] समेत्य ।
चकार मध्ये जठरस्य कान्तां स्त्रीणां प्रपञ्चो विदुषामगम्यः ॥९०
सर्वत्र लोके ऽशनपाकहोमप्रदीपयागप्रमुखक्रियाणाम् ।
विना हुताशेन विलोक्य नाशं प्रपेदिरे व्याकुलतां नृदेवाः ॥९१
बिडौजसावाचि[1] ततः समीरो विमार्गय त्वं ज्वलनं चरण्यो[2] ।
सर्वत्रगामी त्रिदशेषु मध्ये त्वं वेत्सि सख्येन[3] निवासमस्य ॥९२
ऊचे चरेण्युः[1] परितस्त्रिलोके गवेषितो देव मया न दृष्टः ।
एकत्र देशे न गवेषितो ऽसौ देवेश तत्रापि गवेषयामि ॥९३

९०) १. क न ज्ञायमानः । २. स्नानादि ।
९२) १. क इन्द्रेण । २. हे वायो । ३. मित्रत्वेन ।
९३) १. क पवनः ।

हे प्रिये ! क्रुद्ध यमके द्वारा तीक्ष्ण बाणोंसे तेरे आगे मारा जाना अच्छा है, परन्तु तेरे बिना हृदयमें सदा जलती हुई कामरूप दुर्विनाश अग्निसे सन्तप्त रहना अच्छा नहीं है ॥८८॥

तब ऐसा बोलते हुए उस अग्निको छायाने शीघ्रतासे ग्रहण करके निगल लिया और अपने भीतर अवस्थित कर लिया। ठीक है, जो पुरुष स्त्रीको रुचिकर होता है उसे यदि उसके हृदयमें स्थान मिल जाता है तो यह कुछ आश्चर्यकी बात नहीं है ॥८९॥

तत्पश्चात् जब यम अपने नियमको पूरा करके वहाँ आया तब उसने छायाके उदरमें स्थित अग्निदेवको न जानते हुए उस छाया कान्ताको अपने उदरके भीतर कर लिया। ठीक है—स्त्रियोंकी धूर्तता विद्वानोंके द्वारा भी नहीं ज्ञात की जा सकती है ॥९०॥

उस समय अग्निके बिना लोकमें सर्वत्र भोजनपाक, हवन, दीप जलाना और यज्ञ करना आदि क्रियाओंके नाशको देखकर मनुष्य और देव सब ही व्याकुलताको प्राप्त हुए ॥९१॥

यह देखकर इन्द्र वायुसे बोला कि हे वायुदेव ! तुम अग्निकी खोज करो। कारण यह कि देवोंके मध्यमें तुम सर्वत्र संचार करनेवाले हो तथा मित्रभावसे तुम उसके निवास-स्थानको भी जानते हो ॥९२॥

इसपर वायुने कहा कि हे देव ! मैंने तीनों लोकोंमें उसे सर्वत्र खोज डाला है, परन्तु वह मुझे कहीं भी नहीं दिखा। केवल एक ही स्थानमें मैंने उसे नहीं खोजा है, सो हे देवेन्द्र ! अब वहाँपर भी खोज लेता हूँ ॥९३॥

८८) अ हतो ऽयं; इ दुष्टेन for रुष्टेन; अ दुग्धस्त्रिया । ८९) अ हृदये प्रवेशः । ९०) अ तदम्बरस्थं तव बुध्यमानः कृतान्ततोयं नियमं; ब कान्ता । ९२) क सख्युर्न निवासं । ९३) अ ब चरण्युः, इ वरेण्युः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उक्त्वेति वायुः परिकल्प्य[1] भोज्यं सुधाशिवर्गं सकलं निमन्त्र्य ।
एकैकमन्येषु वितीर्य पीठं यमस्य पीठत्रितयं स्म दत्ते ॥९४

स्वे स्वे स्थाने सपदि सकले नाकिलोके निविष्टे
दत्त्वान्येषाममितगतिना[1] भागमेकैकमेव ।
दत्तं भागत्रितयमशने वायुना प्रेतभर्तुः[2]
सिद्धिं कार्यं व्रजति भुवने न प्रपञ्चेन हीनम् ॥९५

इति धर्मपरीक्षायाममितगतिकृतायाम् एकादशः परिच्छेदः ॥११॥

९४) १. निष्पाद्य ।
९५) १. पवनेन । २. क यमस्य ।

इस प्रकार कहकर वायुने भोजनको तैयार करते हुए उसके लिए सब ही देवोंको आमन्त्रित किया । तदनुसार उनके आनेपर उसने अन्य सब देवोंको एक-एक आसन देकर यमके लिए तीन आसन दिये ॥९४॥

तब उन सब देवोंके शीघ्र ही अपने-अपने स्थानमें बैठ जानेपर उस अपरिमित गमन करनेवाले वायुने अन्य सब देवोंके लिए उक्त भोजनमें-से एक-एक भाग ही देकर यमराजके लिए तीन भाग दिये । सो ठीक भी है, क्योंकि, लोकमें धूर्तताके विना कार्यसिद्धिको प्राप्त नहीं होता है ॥९५॥

इस प्रकार अमितगतिविरचित धर्मपरीक्षामें ग्यारहवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ॥११॥

९४) इ स for स्म । ब एकादशमः परिच्छेदः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[१२]

स्वस्य भागत्रयं दृष्ट्वा जगादाथ यमो ऽनिलम् ।
चरण्यो[1] मम किं भागस्त्रिगुणो विहितस्त्वया ॥१
यदि मे ऽन्तर्गता कान्ता द्वितीया विद्यते तदा ।
भागयोर्द्वितयं[1] देयं निमित्तं त्रितये[2] वद ॥२
वदति स्म ततो वायुर्भद्रोद्गिल मनःप्रियाम् ।
निबुध्यसे स्वयं साधो भागत्रितयकारणम् ॥३
प्रेतभर्ता ततश्छायां दृष्ट्वोद्गीर्णां सदागतिः[1] ।
क्षिप्रं बभाण तां भद्रे त्वमुद्गिल हुताशनम् ॥४
तयोद्गीर्णे ततो वह्नौ भास्वरे विस्मिताः सुराः ।
अदृष्टपूर्वके दृष्टे विस्मयन्ते न के जनाः ॥५

---

१) १. क हे पवन ।

२) १. अन्नं घृत (?) । २. भागे ।

४) १. वायुः, क पवनः ।

अपने उन तीन भागोंको देखकर यमने वायुसे पूछा कि हे वायुदेव ! तुमने मुझे तिगुना भाग क्यों दिया है ॥१॥

यदि मेरे उदरके भीतर स्थित स्त्री दूसरी है तो दो भाग देना योग्य कहा जा सकता था । परन्तु तीन भागोंके देनेका कारण क्या है, यह मुझे बतलाओ ॥२॥

इसपर वायु बोला कि हे भद्र ! तुम मनको प्रिय लगनेवाली उस स्त्रीको उगल दो—उदरसे उसे बाहर निकाल दो—तब हे सज्जन ! इन तीन भागोंके देनेका कारण तुम्हें स्वयं ज्ञात हो जायेगा ॥३॥

इसपर यमने जब छायाको बाहर निकाला तब उसे बाहर देखकर उससे शीघ्र ही वायुने कहा कि हे भद्रे ! तुम उस अग्निको निकाल दो ॥४॥

तदनुसार जब छायाने उस प्रकाशमान अग्निको बाहर निकाला तब इस दृश्यको देखकर सब ही देव आश्चर्यको प्राप्त हुए । सो ठीक भी है, क्योंकि, जिस दृश्यको पहले कभी नहीं देखा है उसे देखकर किनको आश्चर्य नहीं होता—उसके देखनेपर सब ही जनको आश्चर्य हुआ करता है ॥५॥

---

१) क ड इ चरेण्यो । २) अ भार्या for कान्ता; इ देयं तृतीये वद कारणम् । ३) ब क विबुध्यसे ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योषा गिलति या वह्निं ज्वलन्तं मदनातुरा ।
दुष्करं दुर्गमं वस्तु न तस्या विद्यते ध्रुवम् ॥६
क्रुद्धो ऽनलं यमो दृष्ट्वा दण्डमादाय धावितः ।
जारे निरीक्षिते ऽध्यक्षे[1] कस्य संपद्यते क्षमा ॥७
दण्डपाणिं यमं दृष्ट्वा जातवेदाः[1] पलायितः ।
नीचानां जारचौराणां स्थिरता जायते कुतः ॥८
तरुपाषाणवर्गेषु प्रविश्य चकितः स्थितः ।
जाराश्चौरा न तिष्ठन्ति विस्पष्टा[1] हि कदाचन ॥९
यः प्रविष्टस्तदा वह्निस्तरुजालोपलेष्वयम् ।
स्पष्टत्वं याति नाद्यापि प्रयोगव्यतिरेकतः[1] ॥१०
पुराणमीदृशं दृष्टं जायते[1] भवतां न वा ।
खेटेनेत्युदिते विप्रैर्भद्रैवमिति भाषितम् ॥११

७) १. क समीपे ।
८) १. अग्निः ।
९) १. व्यक्ताः; क प्रकटाः ।
१०) १. प्रयोगं प्रतिकारम् उपचारं विना; क कारणं विना ।
११) १. भवति ।

जो स्त्री कामातुर होकर जलती हुई अग्निको निगल जाती है उसको निश्चयसे कोई भी कार्य दुष्कर—करनेके लिए अशक्य—व कोई भी वस्तु दुर्गम (दुर्लभ) नहीं है ॥६॥

तब वह यम अग्निको देखकर अतिशय क्रुद्ध होता हुआ दण्डको लेकर उसे मारनेके लिए दौड़ा । सो ठीक है—जारके प्रत्यक्ष देख[1] लेनेपर किसके क्षमा रहती है ? किसीके भी वह नहीं रहती—सब ही क्रोधको प्राप्त होकर उसके ऊपर टूट पड़ते हैं ॥७॥

यमको इस प्रकारसे दण्डके साथ आता हुआ देखकर अग्निदेव भाग गया । सो ठीक भी है—नीच जार और चोर जनोंके दृढ़ता कहाँसे हो सकती है ? नहीं हो सकती ॥८॥

इस प्रकार भागता हुआ वह भयभीत होकर वृक्षों और पत्थरोंके समूहके भीतर प्रविष्ट हुआ वहींपर स्थित हो गया । सो ठीक है, क्योंकि, जार और चोर कभी प्रकटरूपमें स्थित नहीं रहते हैं ॥९॥

जो यह अग्नि उस समय वृक्षसमूहों और पत्थरोंके भीतर प्रविष्ट होकर स्थित हुआ था वह आज भी प्रयोगके विना—परस्पर घर्षण आदिके बिना—प्रकट नहीं होता है ॥१०॥

हे ब्राह्मणो ! आप लोगोंके यहाँ ऐसा पुराण—पूर्वोक्त पौराणिक कथा—प्रचलित है कि नहीं, इस प्रकार उस मनोवेग विद्याधरके कहनेपर वे ब्राह्मण बोले कि हे भद्र ! वह उसी प्रकारका है ॥११॥

६) इ दुर्गमं दुष्करं । ७) ड इ धावति । ९) ब विस्पष्टाश्च । ११) अ विप्रा for दृष्टम्; इ भवतां जायते ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दवीयसो[1] ऽपि सर्वेषां जानानस्य शुभाशुभम् ।
विशिष्टानुग्रहं शश्वत् कुर्वतो दुष्टनिग्रहम् ॥१२
स्वान्तरस्थप्रियान्तःस्थे पावके समवर्तिनः ।
अज्ञाते ऽपि यथा विप्रा देवत्वं न पलायते ॥१३
छिन्ने ऽपि मूषकैः कर्णे मदीयस्य तथा स्फुटम् ।
बिडालस्य न नश्यन्ति गुणा गुणगरीयसः ॥१४
आशंसिषुस्ततो विप्राः शोभनं भाषितं त्वया ।
जानानेन गतन्यायैः[2] पक्षः सद्भिः समर्थ्यते[3] ॥१५
शतधा नो[1] विशीर्यन्ते पुराणानि विचारणे ।
वसनानीव जीर्णानि किं कुर्मो[2] भद्र दुःशके ॥१६
तेषामिति वचः श्रुत्वा प्राह खेचरनन्दनः ।
श्रूयतां ब्राह्मणा देवः संसारद्रुमपावकः ॥१७
लावण्योदधिवेलाभिर्मन्मथावासभूमिभिः ।
त्रिलोकोत्तमरामाभिर्गुणसौन्दर्यखानिभिः ॥१८

१२) १. देवो ऽपि ।
१५) १. अवादिषुः स्तुतिं चक्रुः । २. न्यायरहितः । ३. स्थाप्यते, मन्यते; क अङ्गीकुरुते ।
१६) १. क अस्माकम् । २. वयम् ।

तब वह मनोवेग बोला कि हे विप्रो ! अतिशय दूर रहकर भी सब प्राणियोंके शुभ व अशुभके ज्ञाता तथा निरन्तर सत्पुरुषोंके अनुग्रह और दुष्ट जनोंके निग्रहके करनेवाले उस यमके अपने उदरस्थ प्रिया (छाया) के अभ्यन्तर भागमें अवस्थित उस अग्निको न जाननेपर भी जिस प्रकार उसका देवपना नष्ट नहीं होता है उसी प्रकार चूहोंके द्वारा मेरे बिलावके कानके खा लेनेपर भी—स्पष्टतया उसके अन्य अतिशय महान् गुण नष्ट नहीं हो सकते हैं ॥१२-१४॥

मनोवेगके इस भाषणको सुनकर ब्राह्मण उसकी प्रशंसा करते हुए बोले कि तुमने बहुत ठीक कहा है। ठीक है—वस्तुस्थितिके जाननेवाले सत्पुरुष न्यायसे शून्य पक्षका समर्थन नहीं किया करते हैं ॥१५॥

हे भद्र ! हम क्या करें, विचार करनेपर हमारे पुराण जीर्ण वस्त्रोंके समान गल जाते हैं—वे अनेक दोषोंसे परिपूर्ण दिखते हैं और इसीलिए वे उस विचारको सहन नहीं कर सकते हैं ॥१६॥

उनके इस कथनको सुनकर विद्याधर-बालक—मनोवेग—बोला कि हे विप्रो ! मेरे इन वचनोंको सुनिए। देव संसाररूप वृक्षको जलानेके लिए अग्निके समान तेजस्वी होता है। सौन्दर्यरूप जलकी वेला (किनारा) के समान जो तीनों लोकोंकी उत्तम स्त्रियाँ कामदेवकी निवासभूमि और गुण एवं सुन्दरताकी खान हैं तथा जो अपने कटाक्ष-युक्त चितवनोंरूप

१२) अ देवीयसो ऽपि; इ कुर्वन्ति । १३) ब °न्तःस्थपावके । १४) ड इ तदा for तथा । १७) ड इ देवं ....पावकम् । १८) अ क ड इ लावण्योदक°; ब गुणैः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विध्यन्तीभिर्जनं सर्वं कटाक्षेक्षणमार्गणैः ।
न यस्य विध्यते चेतस्तं देवं[1] नमत त्रिधा ॥१९ । युग्मम् ।
विहाय पावनं योगं शंकरः शिवकारणम् ।
शरीरार्धंगतां चक्रे पार्वतीं येन[1] भाषितैः[2] ॥२०
विष्णुना कुर्वतादेशं यदीयं[1] सुखकाङ्क्षिणा ।
अकारि हृदये पद्मा[2] गोपीनखविदारिते[3] ॥२१
दृष्ट्वा दिव्यवधूनृत्यं ब्रह्माभूच्चतुराननः ।
वृत्तं तृणमिव त्यक्त्वा ताडितो येन[1] सायकैः[2] ॥२२
दुर्वारैर्मार्गणैस्तीक्ष्णैर्येनोहृत्य[1] पुरंदरः ।
सहस्रभगतां नीतः कृत्वा दुष्कीर्तिभाजनम् ॥२३
शासिताशेषदोषेण[1] सर्वेभ्यो ऽपि बलीयसा ।
यमेन बिभ्यतान्तःस्था[2] छायाकारि प्रिया यतः[3] ॥२४
मुखीभूतो ऽपि देवानां त्रिलोकोदरवर्तिनाम् ।
ग्रावानोकहवर्गेषु वह्निर्येन[1] प्रवेशितः ॥२५

---

१९) १. जगत्त्रये गर्जति यस्य डिण्डिमो न को ऽपि मल्लो रणरङ्गसागरे ।
विनिर्जितो येन महारिमन्मथः स रक्षतां वः परमेश्वरो जिनः ॥
२०) १. कामेन । २. चकितः ।
२१) १. क कामस्य । २. लक्ष्मीः । ३. कथंभूते हृदये ।
२२) १. कामेन । २. बाणैः ।
२३) १. क कामेन ।
२४) १. निराकृताशेषदोषेण । २. भीतेन । ३. कामात् ।
२५) १. क कामेन ।

बाणोंके द्वारा अन्य सब जनोंको बेधा करती हैं उनके द्वारा भी जिसका मन कभी नहीं भेदा जाता है वही देव हो सकता है। उसको मन, वचन व कायसे नमस्कार करना चाहिए ॥१७-१९॥

जिस कामदेवके कहनेपर—जिसके वशीभूत होकर—महेश्वरने कल्याणके कारणभूत पवित्र तपको छोड़कर पार्वतीको अपने आधे शरीरमें अवस्थित कर लिया, जिसका आज्ञाकारी होकर विष्णुने सुखकी अभिलाषासे गोपियोंके नखोंसे विदीर्ण किये गये अपने वक्षस्थलमें लक्ष्मीको स्थान दिया, जिसके द्वारा बाणोंसे विद्ध किया गया ब्रह्मा दिव्य स्त्री—तिलोत्तमा—के नृत्यको देखकर संयमको तृणके समान छोड़ता हुआ चार मुखवाला हुआ, जिसने दुर्निवार तीक्ष्ण बाणोंसे विद्ध करके इन्द्रको सौ योनियोंको प्राप्त कराते हुए अपकीर्तिका पात्र बनाया, जिससे भयभीत होकर समस्त दोषोंको शिक्षित करनेवाले व सबमें अधिक बलवान् यमने छाया नामकी कुमारीको प्रियतमा बनाकर अपने भीतर स्थापित

---

१९) इ भिद्यन्तीभिर्जनं; अ ब भिद्यते for विध्यते । २२) अ स्यात् for अभूत् । २३) ड इ दुष्कृत्य-भाजनम् । २४) अ ड इ ततः for यतः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स जितो मन्मथो येन[1] सर्वेषामपि दुर्जयः[2]।
तस्य प्रसादतः सिद्धिर्जायते परमेष्ठिनः ॥२६

विप्राणां पुरतः कृत्वा परमात्मविचारणम्।
उपेत्योपवनं मित्रमवादीत् खेचराङ्गजः ॥२७

श्रुतो मित्र त्वया देवविशेषः परसंमतः[1]।
विचारणासहस्त्याज्यो विचारचतुराशयैः ॥२८

सर्वत्राष्टगुणाः ख्याता देवानामणिमादयः[1]।
यस्तेषां विद्यते मध्ये लघिमा स परो गुणः ॥२९

पार्वतीस्पर्शतो ब्रह्मा विवाहे पार्वतीपतेः।
क्षिप्रं पुरोहितीभूय क्षुभितो मदनार्दितः[1] ॥३०

---

२६) १. कामेन [परमेष्ठिना]। २. दुस्त्यजः।

२८) १. लोकमान्यः।

२९) १. अणिमामहिमालघिमागरिमान्तर्धानकामरूपित्वम्।
प्राप्तिप्राकाम्यवशित्वेशित्वाप्रतिहतत्वमिति वैक्रियिकाः॥

३०) १. पीडितः।

किया, तथा जिस कामदेवने तीनों लोकोंके भीतर अवस्थित सब देवोंमें अतिशय सुखी ऐसे अग्निदेवको भी पत्थरों व वृक्षोंके समूहोंके भीतर प्रविष्ट कराया; इस प्रकार अन्य सबोंके लिए दुर्जय-अजेय-वह कामदेव जिसके द्वारा जीता जा चुका है—जो कभी उसके वशीभूत नहीं हुआ है—उस परमेष्ठीके प्रसादसे ही सिद्धि—अभीष्टकी प्राप्ति—हो सकती है ॥२०-२६॥

इस प्रकार ब्राह्मणोंके आगे परमात्मा-विषयक विचार करके वह विद्याधरका पुत्र मनोवेग उपवनमें आया और तब मित्र पवनवेगसे बोला कि हे मित्र! तुमने अन्य जनोंके द्वारा माने गये देवविशेषका स्वरूप सुन लिया है। ऐसा वह देव विचारको नहीं सह सकता है—युक्तिपूर्वक विचार करनेपर उसका वैसा स्वरूप नहीं बनता है। इसलिए बुद्धिमान् जनोंको वैसे देवका परित्याग करना चाहिए ॥२७-२८॥

सर्वत्र देवोंके अणिमा-महिमा आदि आठ गुण (ऋद्धियाँ) प्रसिद्ध हैं। उनके मध्यमें जो लघिमा—वायुकी अपेक्षा भी लघुतर शरीर बनानेका सामर्थ्य (परन्तु प्रकृतमें व्यंगरूपसे लघुता—हीनता—का अभिप्राय है)—नामका गुण है वही उत्कृष्ट गुण इन देवोंके विद्यमान है ॥२९॥

यथा—महादेवके विवाहके अवसरपर पुरोहित बनकर ब्रह्मा पार्वतीके स्पर्शसे शीघ्र ही कामसे पीड़ित होता हुआ क्षोभको प्राप्त हुआ ॥३०॥

---

२६) ब दुस्त्यजः for दुर्जयः। २७) अ ब खचरा°। २८) अ इ विचारेणा°। २९) ब ये तेषां....नापरे गुणाः; अ ड पुरो for परो। ३०) क्षेत्र for क्षिप्रं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नर्तनप्रक्रमे शंभुस्तापसीक्षोभणोद्यतः ।
विषेहे दुःसहां दीनो लिङ्गच्छेदनवेदनाम् ॥३१
अहल्ययामराधीशश्छायया यमपावकौ ।
कुन्त्या दिवाकरो नीतो लघिमानमखण्डितः ॥३२
इत्थं नैको ऽपि देवो ऽस्ति निर्दोषो लोकसंमतः[1] ।
परायत्तीकृतो[2] येन हत्वा मकरकेतुना ॥३३
इदानीं श्रूयतां साधो निर्दिष्टं जिनशासने ।
रासभीयशिरश्छेदप्रक्रमं[1] कथयामि ते[2] ॥३४
ज्येष्ठागर्भभवः शंभुस्तपः कृत्वा सुदुष्करम् ।
सात्यकेरङ्गजो जातो विद्यानां परमेश्वरः ॥३५
शतानि पञ्च विद्यानां महतीनां प्रपेदिरे ।
क्षुद्राणां सप्त तं घोरं[1] सिन्धूनामिव सागरम् ॥३६

३३) १. मान्यः । २. पराधीनीकृत ।
३४) १. क कथानकम् । २. तवाग्रे ।
३५) १. मुनेः ।
३६) १. शम्भुम् ।

नृत्यके प्रसंगमें तापसियोंके क्षोभित करनेमें उद्यत होकर बेचारे महादेवने लिंगछेदनकी दुःसह वेदनाको सहा ॥३१॥

इसी प्रकार अहल्याके द्वारा इन्द्र, छायाके द्वारा यम व अग्नि तथा कुन्तीके द्वारा सूर्य ये पूर्णतया लघुताको प्राप्त हुए हैं—उनके निमित्तसे उक्त इन्द्र आदिका अधःपतन हुआ है ॥३२॥

इस प्रकार अन्य जनोंके द्वारा माने गये देवोंमें ऐसा एक भी निर्दोष देव नहीं है जिसे कामदेवने नष्ट करके अपने वशमें न किया हो—उपर्युक्त देवोंमें सभी उस कामके वशीभूत रहे हैं ॥३३॥

हे सत्पुरुष ! अब मैं तुम्हें, जैसा कि जिनागममें निर्देश किया गया है, उस गर्दभ सम्बन्धी शिरके छेदनेके प्रसंगको कहता हूँ । उसे सुनो ॥३४॥

ज्येष्ठा आर्यिकाके गर्भसे उत्पन्न हुआ सात्यकि मुनिका पुत्र महादेव (ग्यारहवाँ रुद्र) अतिशय घोर तपको करके विद्याओंका स्वामी हुआ । उस समय उस धैर्यशाली महादेवको पाँच सौ महाविद्याएँ और सात सौ क्षुद्रविद्याएँ इस प्रकारसे प्राप्त हो गयीं जिस प्रकार कि छोटी-बड़ी सैकड़ों नदियाँ समुद्रको प्राप्त हो जाती हैं ॥३५-३६॥

३१) ब ननर्त प्रक्रमे । ३२) अ आहल्लया; ब अहिल्लया । ३४) अ ड °श्छेदः प्रक्रमं, क छेदे । ३५) क इ रुद्रः for शंभुः; अ सुदुश्चरम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स भग्नो दशमे पूर्वे विद्यावैभवदृष्टितः[1] ।
नारीभिर्भूरिभोगाभिर्वृत्ततः को न चाल्यते ॥३७

खेटकन्याः स दृष्ट्वाष्टौ विमुच्य चरणं क्षणात् ।
तदीयजनकैर्दत्ताः स्वीचकार स्मरातुरः ॥३८

अमुष्यासहमानास्ता रतिकर्म विपेदिरे[1] ।
नाशाय जायते कार्ये सर्वत्रापि व्यतिक्रमः[2] ॥३९

रतिकर्मक्षमा गौरी याचित्वा स्वीकृता ततः ।
उपाये यतते योग्ये कर्तुकामो हि काङ्क्षितम् ॥४०

एकदा स तया सार्धं रन्त्वा[1] स्वीकुर्वतः सतः ।
नष्टा त्रिशूलविद्याशु सतीव परभर्तृतः ॥४१

३७) १. माहात्म्यतः ।

३९) १. अम्रियन्त । २. अत्यासक्तिः ।

४१) १. रतिं कृत्वा कायशुद्धिं विना विद्यायाः त्रिशूलीविद्या स्वीकृता ।

वह दसवें विद्यानुवाद पूर्वके पढ़ते समय विद्याओंके प्रभावको देखकर मुनिव्रतसे भ्रष्ट हो गया । सो ठीक भी है, क्योंकि अतिशय भोगवाली स्त्रियोंके द्वारा भला कौन-सा पुरुष संयमसे भ्रष्ट नहीं किया जाता है—उनके वशीभूत होकर प्रायः अनेक महापुरुष भी उस संयमसे भ्रष्ट हो जाते हैं ॥३७॥

उसने आठ विद्याधर कन्याओंको देखकर संयमको क्षण-भरमें छोड़ दिया और उनके पिता जनोंके द्वारा दी गयीं उन कन्याओंको कामसे पीड़ित होते हुए स्वीकार कर लिया ॥३८॥

परन्तु उक्त कन्याएँ इसके साथ की गयी रतिक्रियाको न सह सकनेसे विपत्तिको प्राप्त हुईं—मर गयीं । ठीक है—, कार्यके विषयमें की गयी विपरीतता सर्वत्र ही विनाशका कारण होती है ॥३९॥

तब उसने अपने साथ रतिक्रिया करनेमें समर्थ गौरी (पार्वती) को माँगकर उसे स्वीकार कर लिया । ठीक है—अभीष्ट कार्यके करनेकी अभिलाषा रखनेवाला व्यक्ति योग्य उपायके विषयमें प्रयत्न किया ही करता है ॥४०॥

एक समय महादेवने उस गौरीके साथ सम्भोग करके जब त्रिशूलविद्याको स्वीकार किया तब वह उसके पाससे इस प्रकार शीघ्रतासे भाग गयी जिस प्रकार कि परपुरुषके पाससे पतिव्रता स्त्री भाग जाती है ॥४१॥

३७) क विद्याविभव । ३९) ब क °माना सा; इ रतिकर्म; इ कार्यं for कार्ये । क ड इ सर्वत्राति° । ४०) अ ब ड इ रतिकर्म । ४१) अ स्वीकुर्वता सता ; क °विद्यायाः; अ परिभर्तृतः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नाशे त्रिशूलविद्यायाः स[1] साधयितुमुद्यतः[2]।
ब्रह्माणीमपरां विद्यामभिमानपरायणः ॥४२

निधाय प्रतिमामग्रे[1] तदीयां कुरुते जपम्।
यावत्तावदसौ विद्या विक्रियां कर्तुमुद्यता ॥४३

वादनं नर्तनं गानं प्रारब्धं गगने तया।
यावन्निरीक्षते तावद्ददर्श वनितोत्तमाम् ॥४४

अधःकृत्य मुखं यावत् प्रतिमां स निरीक्षते।
तावत्तत्र नरं दिव्यं ददर्श चतुराननम् ॥४५

बालेयकशिरो[1] मूर्ध्नि वर्धमानमवेक्ष्य सः।
चकर्त तरसा तस्य शतपत्रमिवोर्जितम्[3] ॥४६

लगित्वा तत्[1]स्थिरीभूय न पपातास्य[2] पाणितः।
सुखसौभाग्यविध्वंसि हृदयादिव पातकम् ॥४७

व्यर्थीकृत्य गता विद्या तं[1] सा संहृत्य विक्रियाम्।
निरर्थके नरे नारी न क्वापि व्यवतिष्ठते ॥४८

४२) १. ईश्वरः। २. प्रारब्धः [प्रारब्धवान्]।

४३) १. गगने।

४६) १. गर्दभशिरः। २. दिव्यनरस्य। ३. क कमलम्।

४७) १. मस्तकम्। २. शंभोः।

४८) १. ईश्वरम्।

इस प्रकार उस त्रिशूलविद्याके नष्ट हो जानेपर वह अभिमानमें चूर होता हुआ दूसरी ब्रह्माणी (या ब्राह्मणी) विद्याको सिद्ध करनेके लिए उद्यत हुआ ॥४२॥

जबतक वह उसकी प्रतिमाको आगे रखकर जप करता है तबतक उक्त विद्या विक्रिया करनेमें उद्यत हो जाती है—वह उसे भ्रष्ट करनेके लिए अनेक प्रकारके विकारोंको करती है। यथा—उस समय उसने आकाशमें बजाना, नाचना एवं गाना प्रारम्भ किया। जब महेश्वरने ऊपर देखा तब उसे वहाँ एक उत्तम स्त्री दिखी। तत्पश्चात् जब उसने मुखको नीचा करके उस प्रतिमाको देखा तब उसे वहाँ एक चार मुखवाला दिव्य मनुष्य दिखाई दिया। उसने उक्त दिव्य मनुष्यके सिरपर वृद्धिंगत होते हुए गधेके सिरको देखकर उसे बढ़ते हुए कमलके समान शीघ्र ही काट डाला। परन्तु जिस प्रकार सुख एवं सौभाग्यको नष्ट करनेवाला पाप हृदयसे नहीं गिरता है—उससे पृथक् नहीं होता है—उसी प्रकार वह शिर उसके हाथसे गलकर गिरा नहीं, किन्तु वहींपर स्थिर रहा। इस प्रकारसे उक्त विद्याने उसे व्यर्थ करके--उसके जपको निरर्थक करके—अपनी विक्रियाको समेट लिया व वहाँसे चली गयी। ठीक है—स्त्री किसी भी निरर्थक मनुष्यके विषयमें व्यवस्थित नहीं रहा करती है ॥४३-४८॥

४२) ब ब्राह्मणीं परमां। ४३) क ड इ विधाय। ४६) ब यस्य for तस्य। ४७) ब पावकं for पातकम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्धमानं जिनं दृष्ट्वा श्मशाने प्रतिमास्थितम् ।
रात्रावुपद्रवं चक्रे स विद्यानरशङ्कितः ॥४९
प्रभाते स जिनं नत्वा पश्चात्तापकरालितः ।
पादावमर्शनं[1] चक्रे स्तावं स्तावं विषण्णधीः ॥५०
जिनाङ्घ्रिस्पर्शमात्रेण कपालं पाणितो[1] ऽपतत् ।
सद्यस्तस्य विनीतस्य मानसादिव कल्मषम् ॥५१
ईदृशः प्रक्रमः[1] साधो खरमस्तककर्तने ।
अन्यथा कल्पितो लोकैर्मिथ्यात्वतमसावृतैः ॥५२
दर्शयाम्यधुना मित्र तवाश्चर्यकरं परम् ।
निगद्येत्यृषेः रूपं स जग्राह खगदेहजः ॥५३
सार्धं पवनवेगेन गत्वा पश्चिमया दिशा ।
दक्षः पुष्पपुरं भूयः प्रविष्टो धर्मवासितः ॥५४

५०) १. पादस्पर्शनम्; क पादमर्दनम् ।

५१) १. क हस्ततः ।

५२) १. प्रक्रमः ।

उक्त महादेवने रात्रिके समय श्मशानमें प्रतिमायोगसे स्थित—समाधिस्थ—वर्धमान जिनेन्द्रको देखकर विद्यामय मनुष्यकी शंकासे उपद्रव किया ॥४९॥

तत्पश्चात् सवेरा हो जानेपर जब उसे यह ज्ञात हुआ कि ये तो वर्धमान जिनेन्द्र हैं तब उसने पश्चात्तापसे व्यथित होकर खिन्न होते हुए स्तुतिपूर्वक उनका चरणस्पर्श किया—वन्दना की ॥५०॥

उस समय जिन भगवान्के चरणस्पर्श मात्रसे ही नम्रीभूत हुए उसके हाथसे वह कपाल (गधेका-सा सिर) इस प्रकारसे शीघ्र गिर गया जिस प्रकार कि विनम्र प्राणीके अन्तःकरणसे पाप शीघ्र गिर जाता है—पृथक् हो जाता है ॥५१॥

हे मित्र ! उक्त गर्दभसिरके काटनेका वह प्रसंग वस्तुतः इस प्रकारका है, जिसकी कल्पना अन्य जनोंने मिथ्यात्वरूप अन्धकारसे आच्छादित होकर अन्य प्रकारसे—तिलोत्तमाके नृत्यदर्शनके आश्रयसे—की है ॥५२॥

हे मित्र ! अब मैं तुम्हें एक आश्चर्यजनक दूसरे प्रसंगको भी दिखलाता हूँ, ऐसा कहकर विद्याधरके पुत्र उस मनोवेगने साधुके वेषको ग्रहण किया ॥५३॥

तत्पश्चात् वह चतुर मनोवेग पवनवेगके साथ जाकर धर्मकी वासनावश पश्चिमकी ओरसे पुनः उस पाटलीपुत्र नगरके भीतर प्रविष्ट हुआ ॥५४॥

४९) ब श्मशानप्रतिमा । ५०) अ ब ज्ञात्वा for नत्वा । ५२) क अन्यथासक्तको लोकै° ।
५३) अ निगद्येति ऋषे ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रताड्य खेचरो भेरीमारूढः कनकासने ।
स वाद्यागमनाशङ्कां कुर्वाणो द्विजमानसे ॥५५
निर्गता माहनाः[1] सर्वे श्रुत्वा तं भेरिनिःस्वनम्[2] ।
पक्षपातपरा मेघप्रध्वानं शरभा इव[3] ॥५६
वादं करोषि किं साधो ब्राह्मणैरिति भाषिते ।
खेटपुत्रो ऽवदद्विप्रा वादनामापि वेद्मि नो ॥५७
द्विजाः प्राहुस्त्वया भेरी किं मूर्खेण सता हता ।
खेटेनोक्तं हता भेरी कौतुकेन मया द्विजाः ॥५८
आजन्मापूर्वमालोक्य निविष्टः काञ्चनासने ।
न पुनर्वादिदर्पेण मह्यं मा कोपिषुर्द्विजाः[1] ॥५९
विप्रैः पृष्टो गुरुर्भद्र कस्त्वदीयो निगद्यताम् ।
स प्राह मे गुरुर्नास्ति तपो ऽग्राहि मया स्वयम् ॥६०

५६) १. विप्राः । २. गर्जनम्; क मेघशब्द । ३, सिंहा इव, अष्टापदा इव ।
५९) १. क भो द्विजा भवन्तः ।

वहाँ वह विद्याधरकुमार भेरीको ताड़ित कर—बजाकर—ब्राह्मणोंके मनमें प्रवादीके आनेकी आशंकाको उत्पन्न करता हुआ सुवर्ण-सिंहासनके ऊपर बैठ गया ॥५५॥

तब उस भेरीके शब्दको सुनकर सब ब्राह्मण अपने पक्षके स्थापित करनेमें तत्पर होते हुए अपने-अपने घरसे इस प्रकार निकल पड़े जिस प्रकार कि मेघके शब्दको सुनकर अष्टापद (एक हिंसक पशुकी जाति) अपनी-अपनी गुफासे बाहर निकल पड़ते हैं ॥५६॥

हे सत्पुरुष ! तुम क्या वाद करनेको उद्यत हो, इस प्रकार उन ब्राह्मणोंके पूछनेपर मनोवेग बोला कि हे ब्राह्मणो ! हम तो वादका नाम भी नहीं जानते हैं ॥५७॥

इसपर ब्राह्मण बोले कि तो फिर तुमने मूर्ख होते हुए इस भेरीको क्यों ताड़ित किया है । यह सुनकर मनोवेगने उत्तर दिया कि हे ब्राह्मणो ! मैंने उस भेरीको कुतूहलसे ताड़ित किया है, वादकी इच्छासे नहीं ताड़ित किया ॥५८॥

हे विप्रो ! मैंने जीवनमें कभी ऐसा सुवर्णमय सिंहासन नहीं देखा था, इसीलिए इस अपूर्व सिंहासनको देखकर उसके ऊपर बैठ गया हूँ, मैं वादी होनेके अभिमानसे उसके ऊपर नहीं बैठा हूँ, अतएव आप लोग मेरे ऊपर क्रोध न करें ॥५९॥

यह सुनकर ब्राह्मणोंने उससे पूछा कि हे भद्र पुरुष ! तुम्हारा गुरु कौन है, यह हमें बतलाओ । इसपर मनोवेगने कहा कि मेरा गुरु कोई भी नहीं है, मैंने स्वयं ही तपको ग्रहण किया है ॥६०॥

५६) इ ब्राह्मणाः । ५७) अ कं for किम् । ५९) अ क निविष्टम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभाणिषुस्ततो विप्राः सुबुद्धे गुरुणा विना ।
कारणेन त्वयाग्राहि[1] तपः केन[2] स्वयं वद ॥६१

खगाङ्गभूरुवाचातः[1] कथयामि परं द्विजाः ।
बिभेमि श्रूयतां[2] स्पष्टं तथा हि निगदामि वः ॥६२

हरिनामाभवन्मन्त्री चम्पायां गुणवर्मणः[1] ।
एकाकिना[2] शिला दृष्टा तरन्ती तेन वारिणि[3] ॥६३

आश्चर्ये कथिते तत्र राज्ञासौ बन्धितो रुषा ।
पाषाणः प्लवते[1] तोये नेत्यश्रद्दधता[2] सता ॥६४

गृहीतो ब्राह्मणः क्वापि पिशाचेनैष निश्चितम् ।
कथं ब्रूते ऽन्यथेदृक्षमसंभाव्यं सचेतनः[1] ॥६५

असत्यं गदितं देव मयेदं मुग्धचेतसा ।
इत्येवं भणिते तेन राज्ञासौ मोचितः पुनः ॥६६

---

६१) १. क इति त्वं वद । २. क हेतुना ।
६२) १. पश्चात् तपःकारणम् । २. भयस्य स्वरूपम् ।
६३) १. राज्ञः । २. मन्त्रिणा; हरिनाम्ना । ३. जले ।
६४) १. क तरति । २. अनृतं कुर्वता सता ।
६५) १. मनःसंयुक्तः ।

उसके इस उत्तरको सुनकर वे ब्राह्मण बोले कि हे सुबुद्धे ! तुमने गुरुके बिना स्वयं किस कारणसे तपको ग्रहण किया है, यह हमें कहो ॥६१॥

इसपर विद्याधरका पुत्र वह मनोवेग बोला कि मैं अपने इस तपके ग्रहण करनेका कारण कहता तो हूँ, परन्तु कहते हुए भयभीत होता हूँ । भयभीत होनेका कारण क्या है, उसे मैं स्पष्टतासे कहता हूँ; सुनिए ॥६२॥

चम्पा नगरीमें गुणवर्मा राजाके एक हरि नामका मन्त्री था । उसने अकेलेमें पानीके ऊपर तैरती हुई एक शिलाको देखा ॥६३॥

उसे देखकर उसने इस आश्चर्यजनक घटनाको राजासे कहा । इसपर राजाने 'पत्थर कभी जलके ऊपर नहीं तैर सकता है' ऐसा कहते हुए उसपर विश्वास नहीं किया और क्रोधित होकर मन्त्रीको बन्धनमें डाल दिया । उसने सोचा कि यह ब्राह्मण (मन्त्री) निश्चित ही किसी पिशाचसे पीड़ित है, क्योंकि, इसके बिना कोई भी विचारशील मनुष्य इस प्रकारकी असम्भव बातको नहीं कह सकता है ॥६४-६५॥

तत्पश्चात् मन्त्रीने जब राजासे यह कहा कि हे देव ! मैंने मूर्खतावश असत्य कह दिया था तब उसने मन्त्रीको बन्धन-मुक्त कर दिया ॥६६॥

---

६२) इ °भूस्ततोऽवादीत् । ६३) अ ड इ गुरुवर्मणः; क गुरुधर्मणः । ६५) इ पिशाचेनैव । ६६) अ सत्यं निगदितं देव; इ भणितस्तेन ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विचित्रवाद्यसंकीर्णं संगीतं मन्त्रिणा ततः ।
वानराः शिक्षिता रम्यं वशीकृत्य मनीषितम् ॥६७

ततस्तद्दर्शितं राज्ञस्तेनोद्यानविवर्तिनः ।
एकाकिनः सतो भव्यं चित्तव्यामोहकारणम् ॥६८

यावद्दर्श्यते राजा भट्टानामिदमादृतः ।
संहृत्य वानरा गीतं तावन्नष्टा दिशो दश ॥६९

मन्त्रिणा गदिते तत्र भूतेनाग्राहि पार्थिवः ।
भट्टो निश्चितमित्युक्त्वा बन्धयामास तं दृढम् ॥७०

तदेव भाषते भूयो यदा बद्धो ऽपि पार्थिवः ।
हसित्वा तुष्टचित्तेन मन्त्रिणा मोचितस्तदा ॥७१

यथा वानरसंगीतं त्वयादर्शि वने विभो ।
तरन्ती सलिले दृष्टा सा शिलापि मया तथा ॥७२

---

६८) १. मन्त्रिणा ।

७०) १. सुभटा । २. राजानम् ।

७१) १. यत् मन्त्रिणोक्तं मया असत्यं कथितम् ।

फिर मन्त्रीने अपने अभीष्टके अनुसार राजासे बदला लेनेकी इच्छासे—कुछ बन्दरोंको वशमें करके उन्हें अनेक प्रकारके बाजोंसे व्याप्त सुन्दर संगीत सिखाया ॥६७॥

तत्पश्चात् उसने मनको मुग्ध करनेवाले उस सुन्दर संगीतको उद्यानमें स्थित अकेले राजाको दिखलाया ॥६८॥

उक्त संगीतको देखकर राजा जैसे ही उसे आदरके साथ अपने सामन्त जनोंको दिखलानेके लिए उद्यत हुआ वैसे ही बन्दर उस संगीतको समाप्त करके दसों दिशाओंमें भाग गये ॥६९॥

तत्पश्चात् मन्त्रीने कहा कि हे सैनिको ! राजा निश्चित ही किसी भूतके द्वारा ग्रस्त किया गया है । ऐसा कहकर मन्त्रीने राजाको दृढ़तापूर्वक बँधवा दिया ॥७०॥

तत्पश्चात् जब बन्धनबद्ध राजाने भी फिरसे वही कहा कि मैंने मूर्खतावश असत्य कहा है तब मन्त्रीने मनमें सन्तुष्ट होकर हँसते हुए उसे बन्धनमुक्त करा दिया ॥७१॥

तब उसने राजासे कहा कि हे प्रभो ! जिस प्रकार तुमने वनमें बन्दरोंका संगीत देखा है उसी प्रकार मैंने जलके ऊपर तैरती हुई उस शिलाको भी देखा था ॥७२॥

---

६९) इ °मिदमाहृतः; अ क दिशः for दश । ७०) अ मन्त्री निगद्यते, ब क मन्त्री निगदिते; इ तं नृपम् ।
७१) क ड इ भाषिते ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अश्रद्धेयं[1] न वक्तव्यं प्रत्यक्षमपि वीक्षितम् ।
जानानैः पण्डितैर्नूनं वृत्तान्तं नृपमन्त्रिणोः[2] ॥७३
प्रत्येष्यथ[1] यतो यूयं वाक्यं नैकाकिनो मम ।
कथयामि ततो नाहं पृच्छचमानो ऽपि माहनाः[2] ॥७४
ते[1] ऽजल्पिषुस्ततो भद्र किं बाला वयमीदृशाः ।
घटमानं वचो युक्त्या न जानीमो यतः स्फुटम् ॥७५
अभाषिष्ट ततः खेटो यूयं यदि विचारकाः ।
निगदामि तदा स्पष्टं श्रूयतामेकमानसैः ॥७६
श्रावको मुनिदत्तो ऽस्ति श्रीपुरे स पिता मम ।
एकस्यर्षेरहं तेन पाठनाय समर्पितः ॥७७
प्रेषितो जलमानेतुं समर्प्याहं कमण्डलुम् ।
एकदा मुनिना तेन रममाणश्चिरं स्थितः ॥७८
एत्य छात्रैरहं प्रोक्तो नश्य रुष्टो गुरुस्तव ।
क्षिप्रमःगत्य भद्रासौ करिष्यति नियन्त्रणम्[1] ॥७९

७३) १. अप्रतीतम् । २. क न विश्वासं कुर्वतोः ।
७४) १. मनिष्यथ । २. विप्राः ।
७५) १. विप्राः ।
७९) १. बन्धनम् ।

मनोवेग कहता है कि हे विप्रो ! जो विद्वान् इस राजा और मन्त्रीके वृत्तान्तको जानते हैं उन्हें प्रत्यक्षमें भी देखी गयी घटनाको, यदि वह विश्वासके योग्य नहीं है तो, नहीं कहना चाहिए ॥७३॥

हे ब्राह्मणो ! मैं चूँकि अकेला हूँ, अतएव आप लोग मेरे कथनपर विश्वास नहीं करेंगे। इसी कारण आपके द्वारा पूछे जानेपर भी मैं कुछ कहना नहीं चाहता हूँ ॥७४॥

इसपर वे ब्राह्मण बोले कि हे भद्र ! क्या हम लोग ऐसे मूर्ख हैं जो युक्तिसे संगत वचनको स्पष्टतया न जान सकें ॥७५॥

इस प्रकार उन ब्राह्मणोंके कहनेपर मनोवेग विद्याधर बोला कि यदि आप लोग विचार-शील हैं तो फिर मैं स्पष्टतापूर्वक कहता हूँ, उसे स्थिरचित्त होकर सुनिए ॥७६॥

श्रीपुरमें एक मुनिदत्त नामका श्रावक है। वह मेरा पिता है। उसने मुझे पढ़नेके लिए एक ऋषिको समर्पित किया था ॥७७॥

एक दिन ऋषिने मुझे कमण्डलु देकर जल लानेके लिए भेजा। सो मैं बहुत समय तक खेलता हुआ वहींपर स्थित रहा ॥७८॥

तत्पश्चात् दूसरे छात्रोंने आकर मुझसे कहा कि हे भद्र ! गुरुजी तुम्हारे ऊपर रुष्ट हुए हैं, तुम यहाँसे भाग जाओ। अन्यथा, वे शीघ्र ही आकर तुम्हें बन्धनमें डाल देंगे ॥७९॥

७४) इ प्रत्येष्टव्यं यतो वाक्यं यूयं, ड तयोर्यूयं; इ ब्राह्मणाः । ७९) अ अन्य for एत्य; अ नियन्त्रणाम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुरे सन्ति परत्रापि साधवो ऽध्यापकाः स्फुटम् ।
चिन्तयित्वेत्यहं नष्ट्वा ततो यातः[1] पुरान्तरम् ॥८०

मदाम्बुधारार्द्रितभूतलो मया विलोकितः संमुखमागतो गजः ।
पुरान्तराले विशतात्र जङ्गमो[1] महोदयः शैल इवोरुनिर्झरः ॥८१

प्रसार्य हस्तं[1] स्थिरकर्णवालेधि[2]विभीषणो लङ्घितयन्त्रि[3]यन्त्रणः[4] ।
स धावितो मामवलोक्य सामजैः[5] सविग्रहो मृत्युरिवानिवारणः ॥८२

अनीक्षमाणः शरणं ततः परं[1] निवेश्य[2] भिण्डे सरले कमण्डलुम् ।
अविक्षमाकम्पितसर्वविग्रहः[3] पलायनं कर्तुमपारयन्नहम् ॥८३

दैवात्समुत्पन्नमतिस्तदाहं नाले प्रविष्टः खलु तस्य भीतेः ।
अस्मादविमुक्तो ऽस्म्यधुनेति हृष्टस्तिष्ठामि यावत्क्षणमत्र तावत् ॥८४

८०) १. गतः ।

८१) १. गमागमनकृतः ।

८२) १. सुंढि । २. पूछडं । ३. पोंता (?) । ४. आंकुश । ५. प्रति । ६. हस्ती ।

८३) १. अन्यम् । २. अवलम्ब्य । ३. विप्रवशेष प्रविष्ट (?) । ४. असमर्थः ।

तब दूसरे नगरमें भी तो शिक्षा देनेवाले साधु विद्यमान हैं, ऐसा सोचकर मैं वहाँसे भागकर दूसरे नगरमें जा पहुँचा ॥८०॥

वहाँ मैंने नगरके भीतर प्रवेश करते समय बीचमें अपने मदजलकी धारासे पृथिवी-पृष्ठको गीला करते हुए एक हाथीको देखा । सामने आता हुआ वह हाथी मुझे विशाल झरनेसे संयुक्त ऐसे चलते-फिरते हुए ऊँचे पर्वतके समान प्रतीत हो रहा था ॥८१॥

स्थिर कान व पूँछसे संयुक्त वह अतिशय भयानक हाथी महावतके नियन्त्रणको लाँघकर—उसके वशमें न रहकर—अपनी सूँड़को फैलाते हुए मेरी ओर इस प्रकारसे दौड़ा जिस प्रकार मानो अनिवार्य मृत्यु ही सामने आ रही हो ॥८२॥

यह देखकर मेरा समस्त शरीर कम्पित हो उठा और मैं भागनेके लिए सर्वथा असमर्थ हो गया । तब आत्मरक्षाका कोई दूसरा उपाय न देखकर मैंने कमण्डलुकी शरण लेते हुए उसे एक भिण्डीके पौधेके ऊपर रखा और उसके भीतर प्रविष्ट हो गया ॥८३॥

उस समय नसीबसे मुझे विचार सूझकर मैं उसकी भीतिसे कमण्डलुके टोंटीमें घुस गया और 'उससे अब छुट गया' इस आनन्दमें जो मैं क्षणभर रहता तो उधर विरुद्ध

८१) क शैल इवाम्बु°, ड इ शैलमिवाम्बु । ८३) इ °माणं; अ भिण्डे शरणं; ड इ अवेक्ष° । ८४) अ ब ड om. this verse ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समेत्य वेगेन विरुद्धमानसः प्रविश्य तत्रैव[1] मतङ्गजाधिपः।
क्रुधा गृहीत्वा रुदतो ममाम्बरं[2] स[3] पाणिना[4] पारयितुं समुद्यतः ॥८५
विलोक्य तत्पाटनसक्तचेतसं करेणुराजं[1] तरसाहमाकुलः।
कमण्डलोरूर्ध्वबिलेन निर्गतो भवन्त्युपायाः सति जीविते ऽङ्गिनाम् ॥८६
गजो ऽपि तेनैव बिलेन निर्गतो विलग्नमेकं विवरे कमण्डलोः।
व्यपासितुं[1] वालधिबालमक्षमः[2] पपात संक्लिश्य चिरं विषण्णधीः ॥८७
निरीक्ष्य नागं पतितं महीतले म्रियस्व शत्रो[1] त्वमिहैव दुर्मते।
इदं निगद्याहमभीतिवेपथुस्ततो ऽगमं स्वस्थमनाः पुरान्तरम् ॥८८
मनोरमं तत्र[1] जिनेन्द्रमन्दिरं विलोक्य कृत्वा जिननाथवन्दनाम्।
श्रमातुरस्तत्र[2] निरम्बरो निशा[3]मनैषमेकां शयितो धरातले ॥८९

८५) १. क कमण्डलौ। २. क वस्त्रम्। ३. क हस्ती। ४. सुंढेन; क शुण्डादण्डेन।

८६) १. क हस्तिनम्।

८७) १. आकर्षितुम्; क निष्कासितुम्। २. पुच्छस्यैकबालम्।

८८) १. हे शत्रो।

८९) १. पुरे। २. जिनालये। ३. नीतवान् नीगमि (?)।

विचारवाला वह गजराज भी शीघ्रतासे आकर उसी कमण्डलुके भीतर आ घुसा। उसने वहाँ क्रोधके वश होकर रोते हुए मेरे वस्त्रको पकड़ लिया; उसे सूँड़से फाड़नेमें उद्यत हो गया ॥८४-८५॥

इस प्रकार उस गजराजको वस्त्रके फाड़नेमें दत्तचित्त देखकर मैं व्याकुल होता हुआ शीघ्र ही उस कमण्डलुके ऊपरके बिलसे—उसकी टोंटीसे—निकल गया। ठीक है, आयुके शेष रहनेपर प्राणियोंको रक्षाके उपाय मिल ही जाते हैं ॥८६॥

तत्पश्चात् वह गजराज भी उसी बिलसे निकल गया। परन्तु कमण्डलुके छेदमें—उसकी टोंटीके भीतर—उसकी पूँछका एक बाल अटक गया, उसे निकालनेके लिए वह असमर्थ हो गया और तब खेदखिन्न होता हुआ संक्लेशपूर्वक वहीं पड़ गया ॥८७॥

इस प्रकार पृथिवी-पृष्ठपर पड़े हुए उस हाथीको देखकर मैं 'हे दुर्बुद्धि शत्रु! अब तू यहीं पर मर' ऐसा कहता हुआ भय व कम्पनसे मुक्त हुआ और तब स्वस्थचित्त होकर दूसरे नगरको चला गया ॥८८॥

वहाँ एक जिनमन्दिरको देखकर मैंने जिनेन्द्रदेवकी वन्दना की और वस्त्रसे रहित (नग्न) व मार्गश्रमसे पीड़ित होकर वहींपर पृथिवीके ऊपर सो गया। इस प्रकारसे मैंने एक रात वहींपर बितायी ॥८९॥

८५) ब क्रुद्ध्वा। ८६) इ °सक्तमानसम्। ८७) ब विपाशितुम्। ८८) क इ °मभीतवेपथुम्। ८९) अ विलोकयित्वा for विलोक्य कृत्वा; अ °मनैषमेकः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ममाम्बरं दास्यति को ऽत्र याचितो न शक्यते याचितुमप्यनम्बरैः ।
कुलागतं जैनतपः करोम्यहं चिरं विचिन्त्येति तपोधनो ऽभवम् ॥९०

पुराकरग्रामविभूषितां महीमरार्यमाणो[1] निजलीलया ततः ।
क्रमेण युष्माकमिदं बुधाकुलं विलोकितुं पत्तनमागतो ऽधुना ॥९१

इदं मया वः कथितं समासतो व्रतग्रहे कारणमात्मनः स्वयम् ।
वचो निशम्येति खगस्य माहना बभाषिरे हासविकासिताननाः ॥९२

असत्यभाषाकुशलाः सहस्रशो विचित्ररूपाः पुरुषा निरीक्षिताः ।
त्वया समः क्वापि न दुर्मते परं विभाषते यो वितथं[1] व्रतस्थितः ॥९३

न दन्तिनो निर्गमनप्रवेशनव्यवस्थितिप्रभ्रमणानि वीक्ष्यते ।
कमण्डलौ भिण्डशिखाव्यवस्थिते जगत्त्रये को ऽपि कदाचनापि ना ॥९४

९१) १. बम्भ्रम्यमाणः ।

९३) १. असत्यम् ।

फिर मैंने सोचा कि यहाँ माँगनेपर भला मुझे वस्त्र कौन देगा तथा इस नग्न अवस्थामें वस्त्रको माँगना भी शक्य नहीं है। इस अवस्थामें अब मैं अपनी कुलपरम्परासे आये हुए जैन तपको ही करूँगा। बस, दीर्घ काल तक यही सोचकर मैं स्वयं तपस्वी (दिगम्बर मुनि) हो गया हूँ ॥९०॥

तत्पश्चात् नगरसमूहों (अथवा नगरों, खानों) और ग्रामोंसे सुशोभित इस पृथ्वीपर क्रीड़ावश विचरण करता हुआ क्रमसे पण्डित जनोंसे परिपूर्ण आपके इस नगरके देखनेकी इच्छासे इस समय यहाँ आ गया हूँ ॥९१॥

मनोवेग कहता है कि हे ब्राह्मणो ! इस प्रकार मेरे व्रतके ग्रहणमें जो कारण था उसे मैंने संक्षेपमें आप लोगोंसे कह दिया है। मनोवेग विद्याधरके इस सम्भाषणको सुनकर वे ब्राह्मण हास्यपूर्वक बोले कि अनेक रूपोंको धारण करके चतुराईके साथ असत्य भाषण करनेवाले हमने हजारों लोग देखे हैं, परन्तु हे दुर्बुद्धे ! तेरे समान असत्यभाषी दूसरा ऐसा कोई भी नहीं दिखा जो व्रतमें स्थित होकर भी इस प्रकारका असत्य भाषण करता हो ॥९२-९३॥

तीनों लोकोंमें कोई भी मनुष्य कभी भी भिण्डीके पौधेके अग्रभागपर स्थित कमण्डलुके भीतरसे हाथीके बाहर निकलने, उसके भीतर प्रवेश करने, अवस्थित रहने एवं वंश परिभ्रमण करनेको नहीं देख सकता है—ये सब ही सर्वथा असम्भव हैं ॥९४॥

९१) ब ग्राममहीं विभूषितां; इ °मटाट्यमानो; अ सुधाकुलम् । ९२) क हास्यविकासिता° । ९४) ब क ड इ भिण्डि° ; इ वा for ना ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जलं हुताशे कमलं शिलातले खरे विषाणं[1] तिमिरं दिवाकरे ।
चलत्वमद्रावपि जातु जायते न सत्यता ते वचनस्य दुर्मते ॥९५

जगाद खेटः स्फुटमीदृशा वयं मृषापरास्तावदहो द्विजाः परम् ।
विलोक्यते किं भवदीयदर्शने न भूरिशो ऽसत्यमवार्यमीदृशम् ॥९६

कलयति[1] सकलः परगतदोषं
रचयति[2] विकलः[3] स्वकमतपोषम् ।
परमिह विरलो ऽमितगतिबुद्धि
प्रथयति विमलो परगुणशुद्धिम् ॥९७

इति धर्मपरीक्षायाममितगतिकृतायां द्वादशः परिच्छेदः ॥१२॥

९५) १. सींगडा ।
९७) १. जानाति । २. करोति । ३. अज्ञानी ।

हे दुर्बुद्धे ! कदाचित् अग्निमें जल-शीतलता, पत्थरपर कमल, गधेके मस्तकपर सींग, सूर्यके आस-पास अन्धकार और पर्वत (अचल) में अस्थिरता भी उत्पन्न हो जाये; परन्तु तेरे वचनमें कभी सत्यता नहीं हो सकती है ॥९५॥

यह सुनकर विद्याधर मनोवेग बोला कि हे ब्राह्मणो ! मैं तो स्पष्टतया निर्लज्ज व असत्यभाषी हूँ, किन्तु क्या इस प्रकारका अनिवार्य बहुत-सा असत्य आपके मतमें नहीं देखा जाता है ? ॥९६॥

सब ही जन दूसरेके दोषको जानते हैं और व्याकुल होकर अपने मतको पुष्ट किया करते हैं । परन्तु यहाँ ऐसा कोई विरला ही होगा जो स्वयं निर्मल होता हुआ अपरिमित ज्ञान व बुद्धिके साथ दूसरेके गुणोंकी निर्मलताको प्रसिद्ध करता हो—उसे विस्तृत करता हो ॥९७॥

इस प्रकार अमितगति विरचित धर्मपरीक्षामें बारहवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ॥१२॥

९६) अ स्फुटमत्रपा वयं । ९७) क ड इ सकलम्; अ °गुणसिद्धिम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूत्रकण्ठास्ततो ऽवोचन् यद्यसंभाव्यमीदृशम् ।
दृष्टं वेदे पुराणे वा तदा भद्र निगद्यताम् ॥१
सर्वथास्माकमग्राह्यं पुराणं शास्त्रमीदृशम् ।
न न्यायनिपुणाः क्वापि न्यायहीनं हि गृह्णते ॥२
ऋषिरूपधरो ऽवादीत्ततः खेचरनन्दनः ।
निवेदयामि जानामि परं विप्रा बिभेम्यहम् ॥३
स्ववृत्ते ऽपि मया ख्याते रुष्टा यूयमिति द्विजाः ।
किं न वेदपुराणार्थे कोपिष्यथ पुनर्मम ॥४
सूत्रकण्ठैस्ततो ऽभाषि त्वं भाषस्वाविशङ्कितः ।
त्वद्वाक्यसदृशं शास्त्रं त्यक्ष्यामो[1] निश्चितं वयम् ॥५

५) १. त्यजामः ।

मनोवेगके इस प्रकार कहनेपर यज्ञोपवीतके धारक वे ब्राह्मण बोले कि हे भद्र ! यदि तुमने वेद अथवा पुराणमें इस प्रकारकी असम्भव बात कहीं देखी हो तो तुम उसे बतलाओ ॥१॥

यदि ऐसे असत्यका पोषक कोई पुराण अथवा शास्त्र है तो वह हमारे लिए ग्रहण करनेके योग्य नहीं है—उसे हम न मानेंगे । कारण कि न्यायनिपुण—विचारशील—मनुष्य कहींपर भी न्यायहीन—युक्तिसे न सिद्ध हो सकनेवाले—वचनको नहीं ग्रहण किया करते हैं ॥२॥

यह सुनकर साधुके वेषका धारक वह विद्याधरकुमार बोला कि हे विप्रो ! मैं ऐसे पुराण व शास्त्रको जानता हूँ और उसके विषयमें निवेदन भी कर सकता हूँ, परन्तु इसके लिए मैं डरता हूँ । कारण इसका यह है कि जब मैंने केवल अपने तपस्वी होनेका ही वृत्तान्त कहा तब तो आप लोग इतने रुष्ट हुए हैं, फिर भला जब मैं वैसे वेद या पुराणके विषयमें कुछ निवेदन करूँगा तब आप लोग मेरे ऊपर क्या कुपित नहीं होंगे ? तब तो आप मेरे ऊपर अतिशय कुपित होंगे ॥३-४॥

इसपर उन ब्राह्मणोंने कहा कि तुम निर्भय होकर कहो । यदि तुम्हारे द्वारा कहे गये असत्य वाक्योंके समान कोई शास्त्र है तो उसका हम निश्चित ही परित्याग कर देंगे ॥५॥

२) अ निगृह्णते । ४) ड इ यूयमपि । ५) ब भाषस्व वि°....त्वद्वाक्यश्रवणं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खेचरेण ततो ऽवाचि यूयं यदि विचारकाः ।
कथयामि तदा विप्राः श्रूयतामेकमानसैः ॥६

एकदा धर्मपुत्रेण[1] सभायामिति भाषितम् ।
आनेतुं को ऽपि शक्तो ऽस्ति फणिलोकं रसातलात् ॥७

अर्जुनेन ततो ऽवाचि गत्वाहं देव भूतलम् ।
सप्तभिर्मुनिभिः सार्धमानयामि फणीश्वरम् ॥८

ततो गाण्डीवमारोप्य[1] क्षोणीं[2] शातमुखैः[3] शरैः ।
भिन्ना निरन्तरैः क्षिप्रं कामेनेव वियोगिनी[4] ॥९

रसातलं ततो गत्वा दशकोटिबलान्वितः ।
आनीतो भुजगाधीशो मुनिभिः सप्तभिः समम् ॥१०

अभाषिष्ट ततः खेटः किं भो[1] युष्माकमागमः ।
ईदृशो ऽस्ति न वा ब्रूत ते[2] ऽवोचन्निति[3] निश्चितम् ॥११

७) १. युधिष्ठिरेण ।

९) १. चापम् ; क धनुषम् । २. भूमि । ३. तीक्ष्णफलैः । ४. स्त्री ।

११) १. विप्राः । २. द्विजाः । ३. इति ईदृश आगमो ऽस्ति ।

ब्राह्मणोंके इस कथनको सुनकर मनोवेग विद्याधर बोला कि हे विप्रो ! यदि आप इस प्रकारके विचारक हैं, तो फिर कहता हूँ, उसे एकाग्रचित्त होकर सुनिए ॥६॥

एक समय युधिष्ठिरने सभामें यह कहा कि आप लोगोंमें ऐसा कौन है जो पातालसे यहाँ सर्पलोकके ले आनेमें समर्थ हो ॥७॥

यह सुनकर अर्जुनने कहा कि हे देव ! मैं पृथिवीतलमें जाकर सात मुनियोंके साथ शेषनागको यहाँ ला सकता हूँ ॥८॥

तत्पश्चात् उसने अपने गाण्डीव धनुषको चढ़ाकर निरन्तर छोड़े गये तीक्ष्ण मुखवाले बाणोंके द्वारा पृथिवीको इस प्रकारसे शीघ्र खण्डित कर दिया जिस प्रकार कि कामके द्वारा वियोगिनी स्त्री शीघ्र खण्डित की जाती है ॥९॥

तत्पश्चात् वह अर्जुन पातालमें जाकर, सात मुनियोंके साथ दस करोड़ सेनासे संयुक्त शेष नागको ले आया ॥१०॥

इस प्रकार कहकर मनोवेगने ब्राह्मणोंसे पूछा कि हे विप्रो ! जैसा मैंने निर्दिष्ट किया है वैसा आपका आगम है या नहीं, यह मुझे कहिए । इसपर उन सबोंने कहा कि हमारा आगम निश्चित ही वैसा है ॥११॥

६) ब खचरेण । ७) अ ब को ऽत्र for को ऽपि; अ ब ड शक्नोति । ८) ड भूतले । ९) क इ निरन्तरम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ततः खेटो ऽवदद्वाणविवरेणाप्यणीयसा[1] ।
दशकोटिबलोपेतो यद्यायाति फणीश्वरः ॥१२
तदानीं न कथं हस्ती विवरेण कमण्डलोः ।
निर्गच्छति द्विजा ब्रूत त्यक्त्वा मत्सरमञ्जसा ॥१३
भवतामागमः सत्यो न[1] पुनर्वचनं मम ।
पक्षपातं विहायैकं परमत्र न कारणम् ॥१४
[1]भूमिदेवैस्ततो ऽवाचि कुञ्जरः कुण्डिकोदरे ।
कथं माति कथं भग्नो न भिण्डो हस्तिभारतः ॥१५
शरीरे निर्गते पोलोः[1] कुण्डिकाच्छिद्रतो ऽखिले ।
विलग्य निबिडैस्तत्र[2] पुच्छवालः कथं स्थितः[3] ॥१६
श्रद्दध्महे[1] वचो नेदं त्वदीयं भद्र सर्वथा ।
नभश्चरस्ततो ऽवादीत् सत्यमेतदपि स्फुटम् ॥१७
पीतमङ्गुष्ठमात्रेण सर्वं सागरजीवनम् ।
अगस्त्यमुनिना विप्राः श्रूयते भवदागमे ॥१८

१२) १. क सूक्ष्मेण ।
१३) १. तर्हि ।
१४) १. सत्यम् ।
१५) १. द्विजैः ।
१६) १. हस्तिनः; क कुञ्जरस्य । २. एकदृढः । ३. छिद्रे ।
१७) १. मन्यामहे ।

इसपर मनोवेगने कहा कि हे विद्वान् विप्रो ! जब अतिशय छोटे भी बाणके छेदसे दस करोड़ सेनाके साथ पातालसे वह शेषनाग यहाँ आ सकता है तब भला उस कमण्डलुके छेदसे हाथी क्यों नहीं निकल सकता है, यह आप लोग हमें द्वेषबुद्धिको छोड़कर शीघ्र बतलायें ॥१२-१३॥

इस प्रकारका आपका आगम तो सत्य है, किन्तु उपर्युक्त मेरा कथन सत्य नहीं है; इसका कारण एक मात्र पक्षपातको छोड़कर दूसरा कोई नहीं है ॥१४॥

यह सुनकर उन ब्राह्मणोंने कहा कि कमण्डलुके भीतर हाथी कैसे समा सकता है तथा उस हाथीके बोझसे निर्बल भिण्डीका पौधा नष्ट कैसे नहीं हुआ। इसके अतिरिक्त कमण्डलुके छेदसे हाथीके समस्त शरीरके निकल जानेपर भी उसके भीतर उसकी पूँछका एक बाल दृढ़तापूर्वक चिपककर कैसे स्थित रह गया ॥१५-१६॥

हे भद्र ! इस प्रकारके तेरे उस असम्भव कथनपर हम सर्वथा विश्वास नहीं कर सकते हैं। ब्राह्मणों द्वारा ऐसा कहनेपर मनोवेग विद्याधर बोला कि यह भी स्पष्टतया सत्य

१२) अ ड यदायाति । १५) क इ भूमिदेवो ततोवाच । १६) इ पीने; अ °बालं । १७) अ ब क इ श्रद्धधाहे । १८) ब आगस्त्य° ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अगस्त्यजठरे माति सागरोयं पयो ऽखिलम् ।
न कुण्डिकोदरे हस्ती मया सार्धं कथं द्विजाः ॥१९
नष्टामेकार्णवे सृष्टिं स्वकीयां कमलासनः ।
बभ्राम व्याकुलीभूय सर्वत्रापि विमार्गयन् ॥२०
उपविष्टस्तरोर्मूले तेन सर्षपमात्रिकाम् ।
अगस्त्यो ऽदर्शि शाखायामतस्यां न्यस्य कुण्डिकाम् ॥२१
अगस्त्यमुनिना दृष्ट्वा सो ऽभिवाद्येति भाषितः ।
बम्भ्रमीषि विरिञ्चे त्वं कैवं व्याकुलमानसः ॥२२
स शंसति स्म मे साधो सृष्टिः क्वापि पलायिता ।
गवेषयन्निमां मूढो भ्रमामि ग्रहिलोपमः ॥२३
अगस्त्येनोदितो धाता कुण्डिका जठरे मम ।
तां प्रविश्य निरीक्षस्व मास्मान्यत्र गमो विधे ॥२४

१९) १. यदा ।
२०) १. प्रलयकाले । २. क शोधयन् ।
२१) १. वृक्षस्य । २. ब्रह्मणा । ३. सर्षपस्य शाखायां कुण्डिकाम् अवलम्ब्य ।
२२) १. नमस्कारं विधाय । २. हे ब्रह्मन् ।
२३) १. उक्तवान्; क कथयामास ।
२४) १. ब्रह्मा । २. सृष्टिम्; क प्रजा । ३. गच्छ ।

है । हे विप्रो ! आपके आगममें यह सुना जाता है कि अँगूठेके बराबर अगस्त्य ऋषिने समुद्रके समस्त जलको पी लिया था । इस प्रकार उन अगस्त्य ऋषिके पेटमें जब समुद्रका वह अपरिमित जल समा सकता है तब हे ब्राह्मणो ! कमण्डलुके भीतर मेरे साथ वह हाथी क्यों नहीं समा सकता है ? ॥१७-१९॥

एक समुद्रमें नष्ट हुई अपनी सृष्टिको खोजता हुआ ब्रह्मा व्याकुल होकर सर्वत्र घूम रहा था ॥२०॥

उसने इस प्रकारसे घूमते हुए अलसीके वृक्षके नीचे उसकी शाखाके ऊपर सरसोंके बराबर कमण्डलुको टाँगकर बैठे हुए अगस्त्य ऋषिको देखा ॥२१॥

तब अगस्त्य मुनिने देखकर अभिवादनपूर्वक उससे पूछा कि हे ब्रह्मन् ! इस प्रकारसे व्याकुलचित्त होकर तुम कहाँ घूम रहे हो ॥२२॥

इसपर ब्रह्माने कहा कि हे साधो ! मेरी सृष्टि कहीं पर भागकर चली गयी है । उसे खोजता हुआ मैं भूताविष्टके समान मूढ होकर इधर-उधर घूम रहा हूँ ॥२३॥

यह सुनकर अगस्त्य मुनिने ब्रह्मासे कहा कि हे ब्रह्मन् ! तुम मेरे कमण्डलुके भीतर प्रविष्ट होकर उस सृष्टिको देख लो, अन्यत्र कहींपर भी मत जाओ ॥२४॥

१९) अ ब आगस्त्यं । २१) ब °मात्रिकी; अ ब इ °मतस्या, ड °मेतस्या । २३) अ शंसति स्म स....ग्रथिलोपमाम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रविष्टो ऽत्र[1] ततः स्रष्टा श्रीपतिं वटपादपे ।
पत्रे शयितमद्राक्षीदुच्छ्रूनं[2] जठरान्तरम् ॥२५
अवादि वेधसोपेन्द्रं [न्द्रः] किं शेषे कमलापते ।
उत्तम्भितोदरो ऽत्यन्तं निश्चलीभूतविग्रहः ॥२६
अभाषि विष्णुना स्रष्टा सृष्टिमेकार्णवे तव ।
अहमालोक्य नश्यन्तीं कृतवानुदरान्तरे ॥२७
शाखाव्याप्तहरिच्चक्रे[1] वटवृक्षे महीयसि[2] ।
पर्णे शयिषि विस्तीर्णे तत आध्मातकुक्षिकः ॥२८
पितामहैस्ततो ऽलापीत् श्रीपते ऽकारि शोभनम् ।
यदरक्षि त्वया सृष्टिर्व्रजन्ती विप्लवे क्षयम् ॥२९
ममोत्सुकमिमां[1] द्रष्टुं श्रीपते वर्तते मनः ।
अपत्यविरहो[2] ऽत्यन्तं सर्वेषामपि दुस्सहः ॥३०

२५) १. कुण्डिकोदरे । २. स्थूल ।
२८) १. दिक्समूहे । २. गरीयसि ।
२९) १. ब्रह्मा ।
३०) १. सृष्टिम् । २. वियोग ।

इसपर ब्रह्माने उनके कमण्डलुके भीतर प्रविष्ट होकर वटवृक्षके ऊपर पत्तेपर सोते हुए विष्णुको देखा । उस समय उनका पेटका मध्य वृद्धिको प्राप्त हो रहा था ॥२५॥

यह देखकर ब्रह्माने उनसे कहा कि हे लक्ष्मीके पति विष्णो ! इस प्रकार पेटको ऊपर करके अत्यन्त निश्चल शरीरके साथ क्यों सो रहे हो ॥२६॥

इसके उत्तरमें विष्णुने ब्रह्मासे कहा कि तुम्हारी सृष्टि एक समुद्रमें नष्ट हो रही थी—भागी जा रही थी । उसे देखकर मैंने अपने पेटके भीतर कर लिया है ॥२७॥

इसपर ब्रह्माने विचार किया कि इसीलिए विष्णु भगवान् पेटको फुलाकर दिङ्मण्डलको व्याप्त करनेवाले विशाल वट वृक्षके ऊपर विस्तीर्ण पत्तेपर सो रहे हैं ॥२८॥

तत्पश्चात् ब्रह्माने कहा कि हे लक्ष्मीपते ! तुमने यह बहुत अच्छा किया जो प्रलयमें नाशको प्राप्त होनेवाली सृष्टिकी रक्षा की ॥२९॥

पुनः उसने कहा कि हे लक्ष्मीपते ! मेरा मन उस सृष्टिको देखनेके लिए उत्सुक हो रहा है । और वह ठीक भी है, क्योंकि अपनी सन्तानका वियोग सभीको अत्यन्त दुःसह हुआ करता है ॥३०॥

२५) अ इ श्रीपतिर्वट । २८) अ इ °व्याप्ते हरिश्चक्रे; अ ब ततो ऽत्राध्मातं° । २९) क ड ततो ऽलापि; ब विष्टपे for विप्लवे । ३०) इ दुस्त्यजः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपेन्द्रेण ततो ऽभाषि प्रविश्य जठरं मम ।
आनन्देन निरीक्षस्व किं त्वं दुःखायसे वृथा ॥३१
तत्[1]प्रविश्य ततो दृष्ट्वा सृष्टिं[2] स्रष्टातुषत्तराम् ।
अपत्यदर्शने कस्य न संतुष्यति मानसम् ॥३२
तत्र स्थित्वा चिरं वेधाः सृष्टिं दृष्ट्वाखिलां निजाम् ।
नाभिपङ्कजनालेन हरेर्निरगमत्ततः ॥३३
दृष्ट्वा वृषणवालाग्रं विलग्नं तत्र[1] संस्थिरम् ।
निष्कृष्टुं[3] दुःशकं ज्ञात्वा विगोपकविशङ्कितः ॥३४
तदेव[1] कमलं कृत्वा स्वस्यासनमधिष्ठितः ।
विश्वं व्याप्नवती माया न देवैरपि मुच्यते ॥३५। युगम्।
ततः पद्मासनो जातः प्रसिद्धो भुवने विधिः ।
महद्भिः क्रियमाणो हि प्रपञ्चो ऽपि प्रसिध्यति ॥३६

३२) १. जठरे। २. निराबाधाम्।
३३) १. जठरात्।
३४) १. मनोजीवा (?)। २. नाले। ३. आकर्षितुम्।
३५) १. नाभिकमल।

इसपर विष्णुने कहा कि मेरे पेटके भीतर प्रविष्ट होकर तुम मुखसे—अपने नेत्रोंसे—उसे देख लो, व्यर्थमें क्यों दुखी हो रहे हो ॥३१॥

तब ब्रह्मा विष्णुके उदरके भीतर प्रविष्ट हुआ व वहाँ अपनी सृष्टिको देखकर अतिशय सन्तुष्ट हुआ। ठीक है—सन्तानके देखनेपर भला किसका मन सन्तुष्ट नहीं होता है? उसको देखकर सभीका मन सन्तोषको प्राप्त होता है ॥३२॥

वहाँपर ब्रह्मा बहुत काल तक रहकर व अपनी समस्त सृष्टिको देखकर तत्पश्चात् विष्णुके नाभि-कमलके नालके द्वारा बाहर निकल आया ॥३३॥

परन्तु निकलते समय अण्डकोशके बालका अग्रभाग स्थिरताके साथ वहींपर चिपक गया। तब उसे वहाँ संलग्न देखकर व निकालनेके लिए अशक्य जानकर ब्रह्माने निन्दाके भयसे उस कमलको ही अपना स्थान बना लिया और वहींपर अधिष्ठित हो गया। ठीक है, विश्वको व्याप्त करनेवाली मायाको देव भी नहीं छोड़ सकते हैं ॥३४-३५॥

तत्पश्चात् इसी कारणसे वह ब्रह्मा लोकमें 'पद्मासन' इस नामसे प्रसिद्ध हो गया। ठीक है, महाजनोंके द्वारा की जानेवाली प्रतारणा भी प्रसिद्धिको प्राप्त होती है—उसकी भी साधारण जनोंके द्वारा प्रशंसा ही की जाती है ॥३६॥

३१) इ जठरे; अ ब क ड आननेन; क त्वं किं। ३२) क स्रष्टा सृष्टिं तुतोष सः, ड स्रष्टा सृष्टिमनुत्तराम्। ३४) क ड इ दुःसहम्। ३५) अस्वस्थानमधितिष्ठतः; ड प्राप्त for व्याप्त। ३६) ब प्रविष्टो for प्रसिद्धो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ईदृशो वः पुराणार्थः किं सत्यो वितथो ऽथ किम् ।
ब्रूत निर्मत्सरीभूय सन्तो नासत्यवादिनः ॥३७

अवोचन्नवनीदेवाः ख्यातो ऽयं[1] स्फुटमीदृशः ।
उदितो भास्करो भद्र पिधातुं केन शक्यते ॥३८

मनोवेगस्ततो ऽवादीत् कर्णिकाविवरे विधेः[1] ।
केशो लगति नो पीलोः[2] कुण्डिकाविवरे कथम् ॥३९

भज्यते नातसीस्तम्बः सविश्वस्यं[1] कमण्डलोः ।
भारेणैकेभयुक्तस्य भिण्डो मे भज्यते कथम् ॥४०

विश्वं सर्षपमात्रे ऽपि सर्वं माति कमण्डलौ ।
नं[1] सिंधुरो मया सार्धं कथं विप्रा महीयसि[2] ॥४१

३८) १. पुराणार्थः ।

३९) १. क ब्रह्मणः । २. क कुञ्जरस्य ।

४०) १. सहसृष्टेः पूरितस्य कमण्डलोः ।

४१) १. माति । २. कमण्डलौ ।

इस प्रकारका आपके पुराणका अर्थ—निरूपण—क्या सत्य है या असत्य है, यह आप लोग हमें मत्सरभावको छोड़कर कहें। कारण यह कि सत्पुरुष कभी असत्य भाषण नहीं किया करते हैं ॥३७॥

इस प्रकार मनोवेगके कहनेपर उन ब्राह्मणोंने कहा कि हे भद्र ! हमारे पुराणका यह अर्थ स्पष्टतया इसी प्रकारसे प्रसिद्ध है। सो ठीक भी है, उदयको प्राप्त हुए सूर्यको आच्छादित करनेके लिए भला कौन समर्थ हो सकता है ? कोई भी समर्थ नहीं है ॥३८॥

इसपर मनोवेगने कहा कि हे विप्रो ! जब उस कमलकर्णिकाके छेदमें ब्रह्माका बाल चिपककर रह सकता है तब भला कमण्डलुके छेदमें हाथीका बाल चिपककर क्यों नहीं रह सकता है ? ॥३९॥

इसी प्रकार कमण्डलुके भीतर स्थित विष्णुके उदरस्थ समस्त लोकके भारसे जब वह अलसीके वृक्षकी शाखा भग्न नहीं हुई तब भला केवल एक हाथीके साथ कमण्डलुके भीतर स्थित मेरे भारसे वह भिण्डीका वृक्ष कैसे भग्न हो सकता है ? ॥४०॥

उसके अतिरिक्त जब सरसोंके बराबर अतिशय छोटे उस कमण्डलुके भीतर समस्त विश्व (सृष्टि) समा सकता है तब हे विप्रो ! उससे अपेक्षाकृत बड़े उस कमण्डलुके भीतर मेरे साथ हाथी क्यों नहीं समा सकता है ? ॥४१॥

३७) अ वितथो ऽपि । ४०) इ स्तम्भः for स्तम्बः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्व स्थितो भुवनं विष्णुः प्रवेश्य जठरान्तरे ।
क्वागस्त्यः सो ऽतसीस्तम्बः क्व भ्रान्तश्च प्रजापतिः ॥४२
क्षितौ व्यवस्थितो भिण्डस्तत्र सेभः कमण्डलुः ।
चित्रं वो घटते पक्षो घटते न पुनर्मम ॥४३
सर्वज्ञो व्यापको ब्रह्मा यो जानाति चराचरम् ।
सृष्टिस्थानं कथं नासौ बुध्यते येन[1] मार्गति ॥४४
आकृष्टुं यः क्षमः क्षिप्रं नरकादपि देहिनः ।
असौ वृषणवालाग्रं न कथं कमलासनः ॥४५
यो ज्ञात्वा प्रलये धात्रीं त्रायते[1] सकलां हरिः ।
सीताया हरणं नासौ कथं वेत्ति न रक्षति ॥४६
यो[1] मोहयति निःशेषमसाविन्द्रजितो[3] कथम् ।
विमोह्यो[3] श्रीपतिर्बद्धो नागपाशैः स लक्ष्मणः ॥४७

४४) १. कारणेन ।
४६) १. रक्ष्यते ।
४७) १. रामः । २. इन्द्रजितेन । ३. रामावतारे । ४. सह ।

समस्त लोकको अपने उदरके भीतर प्रविष्ट करके वह विष्णु उस लोकके बिना कहाँपर स्थित रहा ? इसी प्रकार उस लोकके अभावमें वह अगस्त्य ऋषि, अलसी वृक्षकी शाखा और भ्रान्तिको प्राप्त हुआ वह ब्रह्मा भी कहाँपर स्थित रहा, यह सब आपके पुराणमें विचारणीय है ॥४२॥

उधर पृथिवीके ऊपर वह भिण्डीका वृक्ष तथा उसके ऊपर हाथीके साथ वह कमण्डलु अवस्थित था । इस प्रकार यह आश्चर्यकी बात है कि मेरा पक्ष तो खण्डित होता है और आपका पक्ष युक्तिसंगत है ॥४३॥

दूसरे, जो ब्रह्मा सर्वज्ञ व व्यापक होकर सब चराचर जगत्को जानता है वह भला अपनी सृष्टिके स्थानको कैसे नहीं जानता है, जिससे कि उसे इस प्रकारसे खोज करनी पड़ती है ॥४४॥

जो ब्रह्मा प्राणियोंको नरकसे भी शीघ्र खींचनेके लिए समर्थ है वह भला अण्डकोशके बालाग्रको खींचनेके लिए कैसे समर्थ नहीं हुआ, यह विचारणीय है ॥४५॥

जो विष्णु जान करके प्रलयके समयमें समस्त पृथिवीकी रक्षा करता है वही रामके रूपमें सीताके हरणको कैसे नहीं जानता है और उसे अपहरणसे क्यों नहीं बचाता है ? ॥४६॥

जो लक्ष्मीका स्वामी लक्ष्मण समस्त लोकको मोहित करता है वह भला इन्द्रजित्के द्वारा मोहित करके नागपाशोंसे कैसे बाँधा गया ? ॥४७॥

४२) क जठरान्तरम्....क्वातसीस्तम्बः । ४३) क ड इ °स्थिते भिण्डे तत्र सेभ°; अ चित्रं विघटते पक्षो मम वो घटते पुनः, ब विप्र न घटते पक्षो मम देवो घटते पुनः; क ड न मम घटते पुनः । ४६) ब प्रलयम्; अ सीतापहरणम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यस्य स्मरणमात्रेण नश्यन्ति विपदो ऽखिलाः ।
प्राप्तः सीतावियोगाद्याः स कथं विपदः स्वयम् ॥४८
निजानि दश जन्मानि नारदाय जगाद यः ।
स पृच्छति कथं कान्तां स्वकीयां फणिनां पतिम् ॥४९
राजीवपाणिपादास्या रूपलावण्यवाहिनी ।
फणिराज त्वया दृष्टा भामिनी गुणशालिनी ॥५०
अनादिकालमिथ्यात्ववातेन कुटिलीकृतान्[1] ।
कः क्षमः प्रगुणीकर्तुं[2] लोकान् जन्मशतैरपि ॥५१
क्षुधा तृषा भयं द्वेषो रागो मोहो मदो गदैः[1] ।
चिन्ता जन्म जरा मृत्युर्विषादो विस्मयो रतिः ॥५२
खेदः स्वेदस्तथा निद्रा दोषाः साधारणा इमे ।
अष्टादशापि विद्यन्ते सर्वेषां दुःखहेतवः ॥५३
क्षुधाग्निज्वालया तप्तः क्षिप्रं शुष्यति विग्रहः ।
इन्द्रियाणि न पञ्चापि प्रवर्तन्ते स्वगोचरे[1] ॥५४

५१) १. क वक्रीकृतान् । २. श [स] रलं कर्तुम्; क सरणं कर्तुम् ।
५२) १. रोगः ।
५३) १. सर्वेषां समानाः ।
५४) १. स्वविषये ।

जिस रामके स्मरणमात्रसे ही समस्त आपत्तियाँ नाशको प्राप्त होती हैं वही राम स्वयं सीताके वियोग आदि रूप आपत्तियोंको कैसे प्राप्त हुआ ॥४८॥

जिस रामने नारद ऋषिसे अपने दस जन्मोंके वृत्तको कहा था वही राम सर्पोंके स्वामीसे 'हे सर्पराज ! क्या तुमने कमलके समान हाथ, पाँव व मुखसे संयुक्त तथा रूप व लावण्यकी नदीस्वरूप ऐसी अनेक गुणोंसे शोभायमान मेरी स्त्रीको देखा है ?' इस प्रकारसे कैसे पूछता है ? ॥४९-५०॥

जो लोग अनादि कालसे प्राप्त हुए मिथ्यात्व-रूप वायुके द्वारा कुटिल—टेढ़े-मेढ़े—किये गये हैं उनको सैकड़ों जन्मोंमें भी सरल—सीधा—करनेके लिए कौन समर्थ हो सकता है ? उन्हें सरलहृदय करनेके लिए कोई भी समर्थ नहीं है ॥५१॥

भूख, प्यास, भय, द्वेष, राग, मोह, अभिमान, रोग, चिन्ता, जन्म, जरा, मरण, विषाद, आश्चर्य, रति, खेद, पसीना और निद्रा; ये दुखके कारणभूत अठारह दोष साधारण हैं जो सभी संसारी प्राणियोंके हुआ करते हैं ॥५२-५३॥

१ क्षुधा—प्राणीका शरीर भूखरूप अग्निकी ज्वालासे सन्तप्त होकर शीघ्र ही सूख जाता है—दुर्बल हो जाता है, तथा पाँचों इन्द्रियाँ अपने विषयमें प्रवृत्त नहीं होती हैं ॥५४॥

४८) ब ड इ नश्यन्ते; अ क इ प्राप्तम् । ५०) अ स्तुषा for त्वया । ५२) ब क तृष्णा । ५३) ब क ड खेदः स्वेदः । ५४) ड इ पञ्चानि....गोचरम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विलासो[1] विभ्रमो हासः संभ्रमः कौतुकादयः ।
तृष्णया पीड्यमानस्य नश्यन्ति तरसाखिलाः ॥५५

वातेनेव हतं पत्रं शरीरं कम्पते ऽखिलम् ।
वाणी पलायते भीत्या विपरीतं विलोक्यते ॥५६

दोषं गृह्णाति सर्वस्य विना कार्येण रुष्यति ।
द्वेषाकुलो न कस्यापि मन्यते गुणमस्तधीः ॥५७

पञ्चाक्षविषयासक्तः कुर्वाणः परपीडनम् ।
रागातुरमना नीचो युक्तायुक्ते न पश्यति ॥५८

कान्ता मे मे सुता मे स्वं गृहं मे मम बान्धवाः ।
इत्थं मोहपिशाचेन सकलो मुह्यते जनः ॥५९

ज्ञानजातिकुलैश्वर्यतपोरूपबलादिभिः ।
पराभवति[1] दुर्वृत्तः समदैः[2] सकलं जनम् ॥६०

५५) १. हावो मुखविकारः स्याद् भावः स्याच्चित्तसंभवः । विलासो नेत्रजो ज्ञेयो विभ्रमो भ्रूयुगान्तयोः ॥
६०) १. पीडयति; क अपमानयति । २. पुरुषः ।

२. तृषा—प्याससे पीड़ित प्राणीके विलास (दीप्ति या मौज), विभ्रम (शोभा) हास्य, सम्भ्रम (उत्सुकता) और कुतूहल आदि सब ही शीघ्र नष्ट हो जाते हैं ॥५५॥

३. भय—भयके कारण प्राणीका सब शरीर इस प्रकारसे काँपने लगता है जिस प्रकार कि वायुसे ताड़ित होकर वृक्षका पत्ता काँपता है, तथा भयभीत प्राणीका वचन भाग जाता है—वह कुछ बोल भी नहीं सकता है व विपरीत देखा करता है ॥५६॥

४. द्वेष—द्वेषसे व्याकुल हुआ दुर्बुद्धि प्राणी सबके दोषोंको ग्रहण किया करता है, प्रयोजनके बिना भी दूसरोंपर क्रोध करता है, तथा गुणको नहीं मानता है ॥५७॥

५. राग—जिसका मन रागसे व्याकुल किया गया है वह नीच प्राणी पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त रहकर दूसरोंको पीड़ा पहुँचाता है व योग्य-अयोग्यका विचार नहीं किया करता है ॥५८॥

६. मोह—'यह स्त्री मेरी है, यह पुत्री मेरी है, यह घर मेरा है, और ये बन्धुजन मेरे हैं', इस प्रकार मोहरूप पिशाचके द्वारा सब ही प्राणी मोहित किये जाते हैं ॥५९॥

७. मद—मानसे उन्मत्त दुराचारी मनुष्य ज्ञान, जाति (मातृपक्ष), कुल (पितृपक्ष), प्रभुत्व, तप, सौन्दर्य और शारीरिक बल आदिके द्वारा अन्य सब ही प्राणियोंको तिरस्कृत किया करता है ॥६०॥

५५) अ हास्यम् ; ब क संभ्रमो विनयो नयः । ५६) अ ब क विलोकते । ५९) अ सुतसुता for मे सुता; ब मे ऽर्था for मे स्वम्; इ बान्धवः ; अ क ड इ मोह्यते । ६०) अ °ज्ञाति for जाति ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्लेष्ममारुतपित्तोत्थैस्तापितो[1] रोगपावकैः ।
कदाचिल्लभते सौख्यं न परायत्तविग्रहः[3] ॥६१
कथं मित्रं कथं द्रव्यं कथं पुत्राः कथं प्रियाः ।
कथं ख्यातिः कथं प्रीतिरित्थं ध्यायति चिन्तया ॥६२
श्वभ्रवासाधिकासाते[1] गर्भे कृमिकुलाकुले ।
जन्मिनो[2] जायते जन्म भूयो भूयो[3] ऽसुखावहम् ॥६३
आदेशं कुरुते यस्य शरीरमपि नात्मनः ।
कस्तस्य जायते वश्यो जरिणो हतचेतसः ॥६४
नामाप्याकर्णितं यस्य[1] चित्तं कम्पयतेतराम्[2] ।
साक्षादुपागतो[3] मृत्युः स न किं कुरुते भयम् ॥६५
उपसर्गे महारोगे पुत्रमित्रधनक्षये[1] ।
विषादः स्वल्पसत्त्वस्य[2] जायते प्राणहारकः ॥६६

६१) १. सन् ; क पींडित । २. परवशात् ।
६३) १. दुःखे । २. संसारिणः जीवस्य । ३. पुनः पुनः ।
६५) १. मृत्योः । २. अतिशयेन । ३. प्राप्तः ।
६६) १. सति । २. अशक्तेः ।

८. रोग—कफ, वात और पित्तके प्रकोपसे उत्पन्न हुई रोग-रूप अग्निसे सन्तापित प्राणी शरीरकी परतन्त्रताके कारण कभी भी सुखको प्राप्त नहीं होता ॥६१॥

९. चिन्ता—चिन्ताके वशीभूत हुआ प्राणी मेरा मित्र कैसे है, धन किस प्रकारसे प्राप्त होगा व कैसे वह सुरक्षित रहेगा, पुत्र किस प्रकारसे मुझे सन्तुष्ट करेंगे, अभीष्ट प्रियतमा आदि जन किस प्रकारसे मेरे अनुकूल रह सकते हैं, मेरी प्रसिद्धि किस प्रकारसे होगी, तथा अन्य जन मुझसे कैसे अनुराग करेंगे, इस प्रकारसे निरन्तर चिन्तन किया करता है ।।६२॥

१०. जन्म—जो गर्भाशय नरकावाससे भी अधिक दुखप्रद एवं अनेक प्रकारके क्षुद्र कीड़ोंके समूहोंसे व्याप्त रहता है उसके भीतर प्राणीका अतिशय कष्टदायक जन्म बार-बार हुआ करता है ॥६३॥

११. जरा—नष्टबुद्धि जिस वृद्ध पुरुषका अपना शरीर ही जब आज्ञाका पालन नहीं करता है--उसके वशमें नहीं रहता है—तब भला दूसरा कौन उसके वशमें रह सकता है ? कोई नहीं—वृद्धावस्थामें प्राणीके अपने शरीरके साथ ही अन्य कुटुम्बी आदि भी प्रतिकूल हो जाया करते हैं ॥६४॥

१२. मरण—जिस मृत्युके नाममात्रके सुननेसे भी चित्त अतिशय कम्पायमान हो उठता है वह मृत्यु प्रत्यक्षमें उपस्थित होकर क्या भयको उत्पन्न नहीं करेगी ? अवश्य करेगी ।।६५।

१३. विषाद—किसी उपद्रव या महारोगके उपस्थित होनेपर अथवा पुत्र, मित्र व धनका विनाश होनेपर अतिशय हीनबलयुक्त (दुर्बल) मनुष्यको जो विषाद (शोक) उत्पन्न होता है वह उसके प्राणोंका घातक होता है ॥६६॥

६३) इ °धिके ऽसाते ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मासंभाविनीं[1] भूतिं विलोक्य परभाविनीम्[2] ।
ज्ञानशून्यस्य जीवस्य विस्मयो जायते परः ॥६७
सर्वामेध्यमये हेये शरीरे कुरुते रतिम् ।
बीभत्से कुथिते नीचः सारमेयो यथा शवे ॥६८
व्यापारं कुर्वतः खेदो देहिनो देहमर्दकः ।
जायते वीर्यहीनस्य विकलीकरणक्षमः ॥६९
श्रमेण दुर्निवारेण देहो व्यापारभाविना ।
तापितः[1] स्विद्यते क्षिप्रं घृतकुम्भ इवाग्निना ॥७०
निद्रया मोहितो जीवो न जानाति हिताहितम् ।
सर्वव्यापारनिर्मुक्तः सुरयेव[1] विचेतनः ॥७१
हरः कपालरोगार्तः शिरोरोगी हरिर्मतः ।
हिमेतररुचिः[1] कुष्टी पाण्डुरोगी विभावसुः[2] ॥७२

६७) १. परां विभूतिम् । २. परोत्पन्नाम् ।
७०) १. सन् ।
७१) १. मद्यपानेन ; क मदिरया ।
७२) १. सूर्यः । २. अग्निः ।

१४. विस्मय—जो विभूति अपने लिए कभी प्राप्त नहीं हो सकी ऐसी दूसरेकी विभूति को देखकर मूर्ख मनुष्यको अतिशय आश्चर्य हुआ करता है ॥६७॥

१५. रति—समस्त अपवित्र पदार्थोंसे—रस, रुधिर, हड्डी व चर्बी आदि घृणित धातुओंसे—निर्मित जो दुर्गन्धमय शरीर घृणास्पद होनेसे छोड़नेके योग्य है उसके विषयमें नीच मनुष्य इस प्रकारसे अनुराग करता है जिस प्रकार कि कुत्ता किसी सड़े-गले शवको—मृत शरीरको—पाकर उसमें अनुराग किया करता है ॥६८॥

१६. खेद—व्यापार करते हुए निर्बल प्राणीके शरीरको मर्दित करनेवाला जो खेद उत्पन्न होता है वह उसे विकल करनेमें समर्थ होता है—उससे वह व्याकुलताको प्राप्त होता है ॥६९॥

१७. स्वेद—व्यापारसे उत्पन्न हुए दुर्निवार परिश्रमसे सन्तापको प्राप्त हुआ शरीर पसीनेसे इस प्रकार तर हो जाता है जिस प्रकार अग्निसे सन्तापको प्राप्त हुआ घीका घड़ा पिघले हुए घीसे तर हो जाता है ॥७०॥

१८. निद्रा—जिस प्रकार मद्यसे मोहित हुआ प्राणी विवेकसे रहित होकर हित व अहितको नहीं जानता है उसी प्रकार निद्रासे मोहित हुआ प्राणी—उसके वशीभूत हुआ जीव—अचेत होकर सब प्रकारकी प्रवृत्तिसे मुक्त होता हुआ अपने हित व अहितको नहीं जानता है ॥७१॥

महादेव कपालरोगसे पीड़ित, विष्णु सिरकी वेदनासे व्याकुल, सूर्य कुष्ठरोगसे व्याप्त और अग्नि पाण्डुरोगसे ग्रस्त माना गया है ॥७२॥

६८) ड इ कुत्सिते नीचः; इ यथा स वै । ६९) अ कुर्वंते खेदो ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निद्रयाधोक्षजो[1] व्याप्तश्चित्रभानुर्बुभुक्षया[2] ।
शंकरः सर्वदा रत्या रागेण कमलासनः ॥७३
रामा सूचयते रागं द्वेषो वैरिविदारणम् ।
मोहो विघ्नापरिज्ञानं भीतिमायुधसंग्रहः ॥७४
एते यैः पीडिता दोषैस्तैमुच्यन्ते कथं परे[1] ।
सिंहानां हतनागानां न खेदो ऽस्ति मृगक्षये ॥७५
सर्वे रागिणि[1] विद्यन्ते दोषा नात्रास्ति संशयः ।
[2]रूपिणीव सदा द्रव्ये गन्धस्पर्शरसादयः ॥७६
यद्येकमूर्तयः सन्ति ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
मिथस्तथापि[2] कुर्वन्ति शिरश्छेदादिकं कथम् ॥७७॥

७३) १. कृष्णः ; क नारायणः । २. अग्निः ।

७५) १. ब्रह्मादयः ।

७६) १. पुरुषे । २. द्रव्यरूपे पुद्गलद्रव्ये ।

७७) १. परस्परम् । २. तर्हि ।

कृष्ण निद्रासे, अग्नि भूखसे, शम्भु रतिसे और ब्रह्मा रागसे सर्वदा व्याप्त रहता है ॥७३॥

दूसरोंके द्वारा माने गये इन देवोंमें स्त्री—लक्ष्मी एवं पार्वती आदिकी स्वीकृति—राग-भावको, शत्रुओंका विदारण—उन्हें पराजित करना—द्वेष बुद्धिको, विघ्न-बाधाओंका अप-रिज्ञान मोह (मूर्खता) को और आयुधों (चक्र, गदा व त्रिशूल आदि) का संग्रह भयके सद्भावको सूचित करता है ॥७४॥

जिन रागादि दोषोंसे ये देव पीड़ित हैं वे दूसरे साधारण प्राणियोंको भला कैसे छोड़ सकते हैं—उन्हें तो वे निश्चयसे पीड़ित करेंगे ही । ठीक भी है—जो पराक्रमी सिंह हाथीको पछाड़ सकते हैं उन्हें तुच्छ हिरणके मार डालनेमें कुछ भी खेद (परिश्रम) नहीं हुआ करता है ॥७५॥

जो रागसे आक्रान्त होता है उसमें उपर्युक्त सब ही दोष विद्यमान रहते हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं रहता । कारण यह कि अन्य सभी दोष रागके साथ इस प्रकारसे सदा अविनाभाव रखते हैं जिस प्रकार कि रूपयुक्त द्रव्यमें—पुद्गलमें—उस रूपके साथ सदा गन्ध, स्पर्श एवं रस आदि अविनाभाव रखा करते हैं ॥७६॥

यदि ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर ये एकमूर्तिस्वरूप हैं तो फिर वे शिरच्छेदन आदि जैसे जघन्य कृत्योंके द्वारा परस्परमें एक दूसरेका अपकार क्यों करते हैं ? ॥७७॥

७४) ब क ड इ द्वेषं....मोहम् । ७५) इ एतैर्यैः....ते मुच्यन्ते....परान् । ७६) अ नास्त्यत्र । ७७) अ ड ब्रह्माविष्णु; अ मिथस्तदापि, ब °स्तदापकुर्वन्ति; अ ब °छेदादिभिः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एते नष्टा यतो[1] दोषा भानोरिव तमश्चयाः ।
स स्वामी सर्वदेवानां पापनिर्दलनक्षमः ॥७८

ब्रह्मणा यज्जलस्यान्तर्बीजं[2] निक्षिप्तमात्मनः ।
बभूव बुद्बुदस्तस्मादेतस्मा[3]ज्जगदण्डकम् ॥७९

तत्र[1] द्वेधा कृते जाता लोकत्रयव्यवस्थितिः ।
यद्येवमागमे प्रोक्तं तदा तत्[2] क्व स्थितं जलम् ॥८०

निम्नगापर्वतक्षोणीवृक्षाद्युत्पत्तिकारणम् ।
समस्तकारणाभावे[1] लभ्यते क्व विहायसि[2] ॥८१

एकस्यापि शरीरस्य कारणं यत्र[1] दुर्लभम् ।
त्रिलोककारणं मूर्तं द्रव्यं तत्र[2] क्व लभ्यते ॥८२

---

७८) १. यस्मात् कारणात्, देवात् ।

७९) १. जलमध्ये । २. वीर्यम् । ३. बीजात् ।

८०) १. अण्डके । २. जलम् ।

८१) १. कार्यकारणाभावे । २. शून्याकाशे ।

८२) १. शून्याकाशे । २. क ब्रह्मणि ।

जिस प्रकार सूर्यके पाससे स्वभावतः अन्धकार दूर रहता है उसी प्रकार जिस महापुरुषके पाससे उपर्युक्त अठारह दोष दूर हो चुके हैं वह सब देवोंका प्रभु होकर पापके नष्ट करनेमें समर्थ है—इसके विपरीत जिसके उक्त दोष पाये जाते हैं वह न तो देव हो सकता है और न पापको नष्ट भी कर सकता है ॥७८॥

ब्रह्माने जलके मध्यमें जिस अपने बीज (वीर्य) का क्षेपण किया था वह प्रथमतः बुद्बुद हुआ । पश्चात् उसके दो भागोंमें विभक्त किये जानेपर तीन लोकोंकी व्यवस्था हुई । इस प्रकार जब आगममें निर्दिष्ट किया गया है तब यहाँ एक विचारणीय प्रश्न उपस्थित होता है कि उस लोककी उत्पत्तिके पूर्वमें वह जल—जिसके मध्यमें ब्रह्माने वीर्यका क्षेपण किया था—कहाँपर अवस्थित था ॥७९-८०॥

लोककी उत्पत्तिके पूर्वमें जब कुछ भी नहीं था तब समस्त—निमित्त व उपादान स्वरूप—कारणोंके अभावमें नदी, पर्वत, पृथिवी एवं वृक्ष आदिकी उत्पत्तिके कारण शून्य आकाशमें कहाँसे प्राप्त होते हैं ? ॥८१॥

जिस शून्य आकाशमें एक ही शरीरकी उत्पादक सामग्री दुर्लभ है उसमें भला तीनों लोकोंकी उत्पत्तिका कारणभूत मूर्तिक द्रव्य—निमित्त व उपादान स्वरूप कारणसामग्री—कहाँसे प्राप्त हो सकती है ? उसकी प्राप्ति सर्वथा असम्भव है ॥८२॥

---

७८) ब तेन नष्टा । ७९) अ क ड इ °जलस्यान्ते; अ °स्तस्माद्द्वितयं जगद° ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कथं विधीयते सृष्टिरशरीरेण वेधसा ।
विधानेनाशरीरेण शरीरं क्रियते कथम् ॥८३
विधाय भुवनं सर्वं स्वयं नाशयतो विधेः ।
लोकहत्या महापापा भवन्ती केन वार्यते ॥८४
कृतकृत्यस्य शुद्धस्य नित्यस्य परमात्मनः ।
अमूर्तस्याखिलज्ञस्य किं लोककरणे फलम् ॥८५
विनाश्य करणीयस्य क्रियते किं विनाशनम् ।
कृत्वा विनाशनीयस्य जगतः करणेन किम् ॥८६
पूर्वापरविरुद्धानि पुराणान्यखिलानि वः ।
श्रद्धीयन्ते कथं विप्रा न्यायनिष्ठैर्मनीषिभिः ॥८७
दृष्ट्वेति गदितः खेटः क्षितिदेवाननुत्तरान् ।
निर्गत्योपवनं गत्वा सुहृदं न्यगदीदिति ॥८८

८३) १. क ब्रह्मणा । २. विधानतः ।
८६) १. जगतः ।

इसके अतिरिक्त जब ब्रह्मा शरीरसे रहित है तब वह शरीरके विना सृष्टिका निर्माण कैसे करता है ? इसपर यदि यह कहा जाये कि वह शरीर धारण करके ही सृष्टिका निर्माण करता है तो पुनः वही प्रश्न उपस्थित होता है कि वह पूर्वमें शरीरसे रहित होकर अपने उस शरीरका भी निर्माण कैसे करता है ॥८३॥

दूसरे, समस्त जगत्को रचकर जब वह स्वयं उसको नष्ट भी करता है तब ऐसा करते हुए महान् पापको उत्पन्न करनेवाली जो लोकहत्या होगी उसे कौन रोक सकता है ? उसका प्रसंग अनिवार्य होगा ॥८४॥

साथमें यह भी विचारणीय है कि जब वह परमात्मा कृतार्थ, शुद्ध, नित्य, अमूर्तिक और सर्वज्ञ है तब उसे उस सृष्टि-रचनासे प्रयोजन ही क्या है ॥८५॥

लोकको नष्ट करके यदि उसकी पुनः रचना करना अभीष्ट है तो फिर उसका विनाश ही क्यों किया जाता है ? इसी प्रकार यदि रचना करके उसका विनाश करना आवश्यक है तो फिर उसकी रचना ही क्यों की जाती है—उस अवस्थामें उसकी रचना निरर्थक सिद्ध होती है ॥८६॥

इस प्रकार हे ब्राह्मणो ! आपके सब पुराण पूर्वापरविरुद्ध कथन करनेवाले हैं। ऐसी अवस्थामें जो विद्वान् न्यायनिष्ठ हैं वे उनपर कैसे विश्वास करते हैं, यह विचारणीय है ॥८७॥

इस प्रकार मनोवेग विद्याधरके कहनेपर जब वे विद्वान् ब्राह्मण कुछ भी उत्तर नहीं दे सके तब वह उन्हें निरुत्तर देखकर वहाँसे चल दिया और उपवनमें जा पहुँचा। वहाँ वह अपने मित्र पवनवेगसे इस प्रकार बोला ॥८८॥

८७) अ इ च for वः । ८८) ड इ गदिते खेटे; अ °देवान्निरुत्तरान्....स्वमित्रं निगदी° ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रुतो देवविशेषो यः[1] पुराणार्थश्च यस्त्वया ।
न विचारवतां तत्र[2] घटते किंचन स्फुटम् ॥८९
नारायणश्चतुर्बाहुर्विरिञ्चिश्चतुराननः[1] ।
त्रिनेत्रः पार्वतीनाथः केनेदं प्रतिपद्यते[2] ॥९०
एकास्यो द्विभुजो द्वयक्षैः[1] सर्वो जगति दृश्यते ।
मिथ्यात्वाकुलितैर्लोकैरन्यथा परिकल्प्यते ॥९१
अनादिनिधनो लोको व्योमस्थो ऽकृत्रिमः स्थिरः ।
न तस्य विद्यते कर्ता गगनस्येव कश्चन ॥९२
प्रेरिताः स्वकृतपूर्वकर्मभिः सर्वदा गतिचतुष्टये[1] ऽङ्गिनः ।
पर्यटन्ति सुखदुःखभागिनस्तत्र[2] पर्णनिचया इवानिलैः ॥९३
घ्नन्ति ये विपदमात्मनो ऽपि नो ब्रह्मधूर्जटिमुरारिकौशिकाः[1] ।
ते परस्य सुखकारणं कथं कोविदैः कथमिदं प्रतीयते ॥९४

८९) १. देवस्वरूपः । २. देवादौ ।
९०) १. क ब्रह्मा । २. मन्यते केन ।
९१) १. नेत्रे ।
९३) १. गतिचतुष्टये ।
९४) १. क ब्रह्माहरविष्णुपुरंदराः ।

हे मित्र ! तुमने जो देवविशेषका—अन्य जनोंके द्वारा देवरूपसे परिकल्पित ब्रह्मा आदिका—स्वरूप और उनके पुराणका अभिप्राय सुना है उसपर जो बुद्धिमान् विचार करते हैं उन्हें स्पष्टतया उसमें कुछ भी संगत नहीं प्रतीत होता है—उन्हें वह सब असंगत ही दिखता है। नारायण चार भुजाओंसे संयुक्त, ब्रह्मा चार मुखोंसे संयुक्त और पार्वतीका पति शम्भु तीन नेत्रोंसे संयुक्त है; इसे कौन स्वीकार कर सकता है? उसे कोई भी बुद्धिमान् स्वीकार नहीं कर सकता है। कारण यह कि लोकमें सब ही जन एक मुख, दो भुजाओं और दो नेत्रोंसे ही संयुक्त देखे जाते हैं; न कि चार मुख, चार भुजाओं और तीन नेत्रोंसे संयुक्त। फिर भी मिथ्यात्वके वशीभूत होकर आकुलताको प्राप्त हुए किन्हीं लोगोंने उसके विपरीत कल्पना की है ॥८९-९१॥

आकाशके मध्यमें स्थित यह लोक अनादि-निधन, अकृत्रिम और नित्य है। जिस प्रकार कोई भी आकाशका निर्माता (रचयिता) नहीं है उसी प्रकार उस लोकका भी कोई—ब्रह्मा आदि—निर्माता नहीं है, वह आकाशके समान ही स्वयंसिद्ध व अनादि-निधन है ॥९२॥

जिस प्रकार सूखे पत्तोंके समूह वायुसे प्रेरित होकर इधर-उधर परिभ्रमण किया करते हैं उसी प्रकार प्राणिसमूह अपने पूर्वोपार्जित कर्मोंसे प्रेरित होकर सुख अथवा दुखका अनुभवन करते हुए नारकादि चारों गतियोंमें सदा ही परिभ्रमण किया करते हैं ॥९३॥

जो ब्रह्मा, महादेव, विष्णु और इन्द्र अपनी ही आपत्तिको नहीं नष्ट कर सकते हैं वे

८९) इ °विशेषो ऽयं....यस्त्वया....विचारयताम् । ९२) ब क ड इ नैतस्य । ९३) क ड इ स्वकृतकर्मभिः सदा सर्वथा गतिं° । ९४) अ ते परस्परसुखदुःखकारणम् इष्टकोविदैः....प्रदीयते ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यो विभावसुकरालितं गृहं नात्मनः शमयते नरो ऽलसः[1]।
सो ऽन्यगेहशमने प्रवर्तते[2] कः करोति शुभधीरिदं हृदि ॥९५

द्वेषरागमदमोहमोहिता ये विदन्ति[1] सुखदानि नात्मनः।
ते परस्य कथयन्ति शाश्वतं मुक्तिमार्गमपबुद्धयः कथम् ॥९६

कामभोगवशवर्तिभिः खलैरन्यतः[1] स्थितमिदं जगत्त्रयम्।
अन्यथा कथितमस्तचेतनैः श्वभ्रवासमनवेक्ष्य दुःखदम् ॥९७

कापथैर्भवसमुद्रपातिभिश्छादिते जगति मुक्तिवर्त्मनि।
यः करोति न विचारमस्तधीः स प्रयाति शिवमन्दिरं कथम् ॥९८

९५) १. आलसी। २. अपि तु न प्रवर्तते।

९६) १. शास्त्राणि मार्गम्।

९७) १. लोकैः।

९८) १. मिथ्यादृष्टिभिः।

दूसरेके लिए सुख-दुखके कारण हो सकते हैं—उसे सुख अथवा दुख दे सकते हैं, इस बातको विचारशील विद्वान् कैसे मान सकते हैं—इसे कोई भी बुद्धिमान् स्वीकार नहीं कर सकता है ॥९४॥

उदाहरणस्वरूप जो आलसी मनुष्य अग्निसे जलते हुए अपने ही घरको शान्त नहीं कर सकता है वह दूसरेके जलते हुए घरके शान्त करनेमें—उसकी आगके बुझानेमें—प्रवृत्त होता है, इस बातको कौन निर्मल बुद्धिवाला मनुष्य हृदयस्थ कर सकता है? अर्थात् इसे कोई भी बुद्धिमान् स्वीकार नहीं कर सकता है ॥९५॥

द्वेष, राग, मद और मोहसे मूढ़ताको प्राप्त हुए जो प्राणी अपने ही सुखप्रद कारणोंको नहीं जानते हैं वे दुर्बुद्धि जन दूसरेके लिए शाश्वतिक मुक्तिके मार्गका—समीचीन धर्मका—उपदेश कैसे कर सकते हैं? नहीं कर सकते हैं ॥९६॥

जिनकी चेतना—विचारशक्ति—नष्ट हो चुकी है उन दुष्ट जनोंने काम-भोगोंके वशीभूत होकर दुखदायक नरकवासको—नारक पर्यायके दुखको—न देखते हुए अन्य स्वरूपसे स्थित इन तीनों लोगोंके स्वरूपका अन्य प्रकारसे—विपरीत स्वरूपसे—उपदेश किया है ॥९७॥

लोकमें संसाररूप समुद्रमें गिरानेवाले कुमार्गों—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र—से मोक्षमार्गके व्याप्त होनेपर जो दुर्बुद्धि प्राणी उसका—सन्मार्ग और कुमार्गका—विचार नहीं करता है वह मोक्षरूप भवनको कैसे जा सकता है? नहीं जा सकता है ॥९८॥

९५) अ शुभधीरयम्। ९६) अ वदन्ति। ९७) अ क ड खलैरन्यथा; ब इ दुःसहम्। ९८) ब मूर्तिवर्त्मनि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छेदतापननिघर्षताडनैस्तापनीयमिव शुद्धबुद्धिभिः ।
शीलसंयमतपोदयागुणैर्धर्मरत्नमनघं परीक्ष्यते ॥९९

देवतागमचरित्रलिङ्गिनो ये परीक्ष्य विमलानुपासते ।
ते निकृत्य[2] लघुकर्मशृङ्खलं यान्ति पावनमनश्वरं पदम् ॥१००

देवेन देवो हितमाप्तुकामैः शास्त्रेण शास्त्रं परिमुच्य दर्पम् ।
परीक्षणीयं महनीयबोधैर्धर्मेण धर्मो यतिना यतिश्च ॥१०१

देवो विध्वस्तकर्मा भुवनपतिनुतो[1] ज्ञातलोकव्यवस्थो[2]
धर्मो रागादिदोषप्रमथनकुशलः प्राणिरक्षाप्रधानः[3] ।
हेयोपादेयतत्त्वप्रकटननिपुणं युक्तितः शास्त्रमिष्टं
वैराग्यालंकृताङ्गो यतिरमितगतिस्त्यक्तसंगोपभोगः ॥१०२

इति धर्मपरीक्षायाममितगतिकृतायां त्रयोदशः परिच्छेदः ॥१३॥

९९) १. हेम । २. क्षमादिस्वभाव ।
१००) १. शास्त्रआचार । २. हत्वा ।
१०२) १. स्तवितः । २. स्वरूपः । ३. मुख्यः ।

जिस प्रकार सराफ काटना, तपाना, घिसना और ठोकना इन क्रियाओंके द्वारा सुवर्णकी परीक्षा किया करते हैं उसी प्रकार निर्मल बुद्धिके धारक प्राणी शील, संयम, तप और दया इन गुणोंके द्वारा निर्मल धर्मकी परीक्षा किया करते हैं ॥९९॥

जो विवेकी जन परीक्षा करके निर्दोष देव, शास्त्र, चारित्र और गुरुकी उपासना—आराधना—किया करते हैं वे शीघ्र ही कर्म-साँकलको काटकर पवित्र व अविनश्वर मोक्षपदको प्राप्त करते हैं ॥१००॥

जो स्तुत्य ज्ञानके धारक विद्वान् हैं उन्हें आत्महितकी प्राप्ति की अभिलाषासे अभिमानको छोड़कर देवसे देवकी, शास्त्रसे शास्त्रकी, धर्मसे धर्मकी और गुरुसे गुरुकी परीक्षा करनी चाहिए ॥१०१॥

जो सब कर्मोंका नाश करके इन्द्र, धरणेन्द्र और चक्रवर्ती इन तीन लोकके स्वामियोंके द्वारा स्तुत होता हुआ समस्त लोककी व्यवस्थाको ज्ञात कर चुका है उसे देव स्वीकार करना चाहिए। जो प्राणिरक्षणकी प्रधानतासे संयुक्त होता हुआ रागादिक दोषोंके दूर करनेमें समर्थ है वह धर्म कहा जाता है। जो हेय और उपादेय तत्त्वके प्रकट करनेमें दक्ष है वह शास्त्र अभीष्ट माना गया है। तथा जिसका शरीर वैराग्यसे विभूषित है और जो परिग्रहके दुष्ट संसर्गसे रहित होता हुआ अपरिमित ज्ञानस्वरूप है उसे गुरु जानना चाहिए ॥१०२॥

इस प्रकार आचार्य अमितगतिविरचित धर्मपरीक्षामें
तेरहवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ॥१३॥

९९) अ शुद्धि । १००) ड निकृत्य ।१०२) अ प्रकटनप्रवणम्; अ °संगोपसंगः, क ड इ °संगोप्यभङ्गः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तवान्यदपि मित्राहं निगदामि कुतूहलम् ।
विनिगद्येत्यृषे रूपं मुमोच खचराङ्गजः ॥१

ततः पुष्पपुरं भूयो विवेशोत्तरया दिशा ।
सार्धं पवनवेगेन गृहीत्वा तापसाकृतिम् ॥२

स घण्टां भेरिमाताड्य निविष्टो हेमविष्टरे ।
आगत्य माहनाः[1] प्राहुरागतस्तापसः कुतः ॥३

किं त्वं व्याकरणं वेत्सि किं वा तर्कं सविस्तरम् ।
करोषि ब्राह्मणैः सार्धं किं वादं शास्त्रपारगैः ॥४

तेनोक्तमहमायातो भूदेवा ग्रामतो ऽमुतः ।
वेद्मि व्याकरणं तर्कं वादं वापि न किंचन ।।५

विप्राः प्राहुर्वद क्रीडां विमुच्य त्वं यथोचितम्[1] ।
स्वरूपपृच्छिभिः सार्धं क्रीडां कर्तुं न युज्यते ॥६

३) १. विप्राः ।
६) १. यथायोग्यम् ।

तत्पश्चात् मनोवेग पवनवेगसे बोला कि हे मित्र ! मैं अब तुझे और भी कुतूहल कहता हूँ—आश्चर्यजनक वृत्तको दिखलाता हूँ, यह कहते हुए उस विद्याधरके पुत्रने पूर्वमें जिस मुनिके वेषको धारण किया था उसे छोड़ दिया ॥१॥

बादमें वह पवनवेगके साथ तापसके वेषको ग्रहण करके फिरसे भी उसी पाटलीपुत्र नगरके भीतर उत्तर दिशाकी ओरसे प्रविष्ट हुआ ॥२॥

उसके भीतर जाकर वह घण्टा और भेरीको बजाता हुआ सुवर्णमय सिंहासनके ऊपर जा बैठा । तब घण्टा और भेरीके शब्दको सुनकर ब्राह्मण वहाँ आ पहुँचे । उन्होंने उससे पूछा कि हे तापस, तुम कहाँसे आये हो, तुम क्या व्याकरणको जानते हो या विस्तारपूर्ण न्यायको जानते हो, तथा तुम क्या शास्त्रके मर्मज्ञ हम ब्राह्मणोंके साथ वाद करना चाहते हो ॥३-४॥

इसपर तापस वेषधारी मनोवेग बोला कि हे ब्राह्मणो ! मैं अमुक गाँवसे आया हूँ, तथा मैं व्याकरण, न्याय और वाद इनमें किसीको भी नहीं जानता हूँ ॥५॥

उसके इस उत्तरको सुनकर ब्राह्मण बोले कि तुम परिहासको छोड़कर यथायोग्य अपने

१) अ इ विनिगद्य ऋषे; क ड खेचरा° । ३) अ क ड इ घण्टाभेरि° । ६) ब क इ स्वरूपं पृ° ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खेचरेण ततो ऽवाचि तापसाकारधारिणा ।
कथयामि यथावृत्तं युष्मभ्यो ऽहं परं चके[1] ॥७
युक्ते ऽपि भाषिते विप्राः कुर्वते निर्विचारकाः ।
आरोप्यायुक्ततां दुष्टा रभसोपद्रवं परम् ॥८
सूत्रकण्ठास्ततो ऽवोचन् वद भद्र यथोचितम् ।
सर्वे विचारका विप्रा युक्तपक्षानुरागिणः ॥९
तदीयं वचनं श्रुत्वा जगाद खगनन्दनः[1] ।
निगदामि तदाभीष्टं यदि यूयं विचारकाः ॥१०
बृहत्कुमारिका माता साकेते नगरे[1] मम ।
दत्ता स्वकीयतातेन[2] मदीयजनकाय सा ॥११
श्रुत्वा तूर्यरवं हस्ती कृतान्त इव दारुणः[1] ।
मत्तो भङ्क्त्वागतः स्तम्भं विवाहसमये तयोः ॥१२
ततः पलायितो लोकः समस्तो ऽपि दिशोदिशः ।
विवाहकारणं हित्वा स्थिरत्वं क्व महामये ॥१३

७) १. बिभेमि ।
१०) १. क मनोवेगः ।
११) १. अयोध्यायाम् । २. मम सावित्रीपित्रा ।
१२) १. क भयानकः ।

वृत्तको बतलाओ । कारण कि जो यथार्थ स्वरूपको पूछते हैं उनके साथ परिहास करना उचित नहीं माना जाता है ॥६॥

यह सुनकर तापसकी आकृतिको धारण करनेवाला वह मनोवेग विद्याधर बोला कि मैं अपनी कथाको कह तो सकता हूँ, परन्तु उसे कहते हुए मैं आप लोगोंसे डरता हूँ ॥७॥

हे विप्रो ! इसका कारण यह है कि योग्य भाषण करनेपर भी अविवेकी दुष्ट जन उसके विषयमें अयोग्यपनेका आरोप लगाकर शीघ्र ही उपद्रव कर बैठते हैं ॥८॥

इसपर ब्राह्मण बोले कि हे भद्र पुरुष ! तुम निर्भय होकर अपने यथायोग्य वृत्तान्तको कहो, हम सब ब्राह्मण विचारशील होते हुए योग्य पक्षमें अनुराग करनेवाले हैं ॥९॥

ब्राह्मणोंके इस कथनको सुनकर वह विद्याधरकुमार बोला कि यदि आप सब विचारशील हैं तो फिर मैं अपने अभीष्ट वृत्तान्तको कहता हूँ ॥१०॥

अयोध्या नगरीमें मेरी बृहत्कुमारिका माता है । वह अपने पिता—मेरे नाना—के द्वारा मेरे पिताको दी गयी थी ॥११॥

उन दोनोंके विवाहके अवसरपर जो बाजोंका शब्द हुआ था उसे सुनकर यमराजके समान भयानक एक उन्मत्त हाथी स्तम्भको उखाड़कर वहाँ आ पहुँचा ॥१२॥

उसको देखकर अभ्यागत सब ही जन विवाहके प्रयोजनको छोड़कर दसों दिशाओंमें

७) अ कथावृत्तम्; ब युष्मत्तो ऽहम् । ८) क इ कुर्वन्ति; क ड इ °युक्तिताम् । १२) ब गजस्तम्भम् । १३) अ दिशोदिशं, इ दिशो दश; अ क विवाहकरणम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वधूः पलायमानेन वरेण व्याकुलात्मना ।
स्वाङ्गस्पर्शेन निश्चेष्टा पातिता वसुधातले ॥१४
पातयित्वा वधूं नष्टो भर्ता पश्यत पश्यत[1] ।
लोकैरित्युदिते क्वापि लज्जमानो वरो गतः ॥१५
सार्धं मासे ततो भूत्वा गर्भः स्पष्टत्वमागतः ।
उदरेण समं तस्या[1] नवमासानवर्धत ॥१६
मात्रा पृष्टा ततः पुत्रि केनेदमुदरं कृतम् ।
साचचक्षे[1] न जानामि वराङ्गस्पर्शतः परम् ॥१७
आगतास्तापसा गेहं भोजयित्वा विधानतः ।
मातामहेन ते पृष्टाः क्व यूयं यातुमुद्यताः ॥१८
एतैर्निवेदितं[2] तस्य भो दुर्भिक्षं भविष्यति ।
अत्र द्वादश वर्षाणि सुभिक्षे प्रस्थिता[3] वयम् ॥१९

१५) १. अहो लोकाः ।
१६) १. कन्यायाः ।
१७) १. उवाच ।
१९) १. क तापसैः । २. कथितम् । ३. निर्गताः ।

भाग गये । सो यह ठीक भी है, क्योंकि, महान् भयके उपस्थित होनेपर भला स्थिरता कहाँसे रह सकती है ? नहीं रह सकती है ॥१३॥

उस समय भयसे व्याकुल होकर वर भी भाग खड़ा हुआ । तब उसके शरीरके स्पर्शसे निश्चेष्ट होकर वधू पृथिवीतलपर गिर पड़ी ॥१४॥

उस समय देखो-देखो ! पति पत्नीको गिराकर भाग गया है, इस प्रकार जनोंके कहनेपर वर लज्जित होता हुआ कहीं चला गया ॥१५॥

इससे उसके जो गर्भ रह गया था वह अढ़ाई महीनेमें स्पष्ट दिखने लगा । तत्पश्चात् उसका वह गर्भ उदरवृद्धिके साथ नौ मास तक उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया ॥१६॥

उसकी गर्भावस्थाको देखकर माताने उससे पूछा कि हे पुत्री ! तेरा यह गर्भ किसके द्वारा किया गया है । इसपर उसने उत्तर दिया कि विवाहके समय हाथीका उपद्रव होनेपर पतिका केवल शरीरस्पर्श हुआ था, इतना मात्र मैं जानती हूँ; इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं जानती हूँ ॥१७॥

एक समय मेरे नानाके घरपर जो तपस्वी आये थे उन्हें विधिपूर्वक भोजन कराकर उसने उनसे पूछा कि आप लोग कहाँ जानेके लिए उद्यत हो रहे हैं ॥१८॥

इसपर वे मेरे नानासे बोले कि हे भद्र ! यहाँ बारह वर्ष तक दुर्भिक्ष पड़नेवाला है, इसलिए जहाँ सुभिक्ष रहेगा वहाँ हम लोग जा रहे हैं । तुम भी हमारे साथ चलो, यहाँ

१४) ब पतिता । १५) ड लोकेति भणितः क्वापि । १६) अ सार्धमासे....नवमासेन वर्धितः । १७) अ केन त्वदुदरम् । १८) अ ब मे for ते ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्वमप्येहि सहास्माभिर्मृथा[1] मात्र बुभुक्षया ।
किंचित् कुरूपकारं वा प्रणिगद्येति ते ययुः ॥२०
मया श्रुत्वा वचस्तेषां मातृगर्भनिवासिना ।
विचिन्तितमिदं चित्ते क्षुधाचकितचेतसा ॥२१
संपत्स्यते ऽत्र दुर्भिक्षं वर्षद्वादशकं यदि ।
किं क्षुधा म्रियमाणो ऽहं करिष्ये निर्गतस्तदा ॥२२
चिन्तयित्वेति वर्षाणि गर्भे ऽहं द्वादश स्थितः ।
अशनायाभयग्रस्तैः[1] क्व देही नावतिष्ठते ॥२३
आजग्मुस्तापसा भूयस्ते गर्भमभि तस्थुषि[1] ।
मयि मातामहावासं[2] दुर्भिक्षस्य व्यतिक्रमे ॥२४
प्रणम्य तापसाः पृष्टा ममार्येणाचचक्षिरे ।
सुभिक्षं भद्र संपन्नं प्रस्थिता विषयं निजम् ॥२५
मयि श्रुत्वा वचस्तेषां गर्भतो निर्यियासति[1] ।
अजनिष्ट सवित्री मे वेदनाक्रान्तविग्रहा ॥२६

२०) १. मरिष्यति ।
२३) १. क्षुत्पीडितः ।
२४) १. स्थितवति; क तिष्ठति सति । २. मातामहगृहे ।
२६) १. निर्गतस्य वाञ्छया ।

भूखसे पीड़ित होकर मत मरो, अथवा कुछ उपकार करो; ऐसा कहकर वे सब तापस वहाँसे चले गये ॥१९-२०॥

माताके गर्भमें स्थित रहते हुए जब मैंने तापसोंके इस कथनको सुना तब मैंने मनमें भूखसे भयभीत होकर चित्तमें यह विचार किया कि यदि यहाँ बारह वर्ष तक दुष्काल रहेगा तो वैसी अवस्थामें गर्भसे निकलकर भूखकी बाधासे मरणको प्राप्त होता हुआ मैं क्या करूँगा—इससे तो कहीं गर्भमें स्थित रहना ही ठीक होगा ॥२१-२२॥

यही सोचकर मैं बारह वर्ष तक उस गर्भमें ही स्थित रहा। सो ठीक भी है—भूखके भयसे पीड़ित प्राणी भला कहाँपर नहीं अवस्थित होता है ? अर्थात् वह भूखके भयसे व्याकुल होकर उत्तम व निकृष्ट किसी भी स्थानमें स्थित होकर रहता है ॥२३॥

इस प्रकार मेरे गर्भस्थ रहते हुए उस दुष्कालके बीत जानेपर वे तापस वापस आकर फिरसे मेरे नानाके घरपर आये ॥२४॥

तब मेरे नानाके पूछनेपर वे तापस बोले कि हे भद्र ! अब सुभिक्ष हो चुका है, इसीलिए हम अपने देशमें आ गये हैं ॥२५॥

उनके वचनोंको सुनकर जब मैं गर्भसे निकलनेका इच्छुक होकर निकलने लगा तब माताके शरीरमें बहुत पीड़ा हुई ॥२६॥

२३) अ त्रस्तः for ग्रस्तः । २४) इ मम for मयि; अ ब दुष्कालस्य । २५) अ °मार्येणादिचिक्षरे, ब °मार्येण वचक्षिरे, क पृष्टा आर्येणाथाचचक्षिरे, ड आर्येणाथ ववक्षिरे । २६) अ ड इ निर्यया सति ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कन्थां क्षिप्त्वा पुरश्चुल्ल्याः पतितायां[1] विचेतसः ।
निर्गत्योदरतो मातुर्निपतामि स्म भस्मनि ॥२७
उत्थाय पात्रमादाय जननी भणिता मया ।
देहि मे भोजनं मातः क्षुधितो नितरामहम् ॥२८
आर्यो मम ततः प्राह दृष्टः को ऽपि तपोधनाः ।
युष्माभिर्जातमात्रो ऽपि याचमानो ऽत्र भोजनम् ॥२९
तैरुक्तमयमुत्पातो गेहान्निर्घाटचतां स्फुटम् ।
भविष्यत्यन्यथा साधो तव विघ्नपरंपरा ॥३०
ततो ऽहं गदितो मात्रा याहि रे यममन्दिरम् ।
तापको मम दुर्जातः[1] स[2] ते दास्यति भोजनम् ॥३१
मयावाचि ततो मातरादेशो मम दीयताम् ।
तया न्यगादि याहि त्वं निर्गत्य मम गेहतः ॥३२
ततो ऽहं भस्मना देहमवगुण्ठ्य[1] विनिर्गतः ।
ततो मुण्डशिरो भूत्वा तापसस्तापसैः सह ॥३३

२७) १. मातापि ।
३१) १. क ड [ढ] पुत्रः । २. यमः ।
३३) १. अवलिम्प्य ।

तब वह चूल्हेके आगे कथड़ी डालकर अचेत होती हुई पड़ गयी । इस अवस्थामें मैं वहाँ माताके उदरसे निकलकर राखमें गिर गया ॥२७॥

तत्पश्चात् मैं उठा और बरतन लेकर मातासे बोला कि माँ ! मैं बहुत भूखा हूँ, मुझे भोजन दे ॥२८॥

उस समय मेरे पूज्य नानाने उन तापसोंसे पूछा कि हे तपोरूप धनके धारक साधुजन ! क्या आप लोगोंने ऐसे किसी व्यक्तिको देखा है जो जन्मसे ही भोजनकी माँग कर रहा हो ॥२९॥

इस प्रश्नके उत्तरमें वे बोले कि यह एक आकस्मिक उपद्रव है । इस बालकको स्पष्टतया घरसे निकाल दो, अन्यथा हे सत्पुरुष ! तेरे यहाँ विघ्न-बाधाओंकी परम्परा उत्पन्न होगी ॥३०॥

तत्पश्चात माताने मुझसे कहा कि अरे दुखपूर्वक जन्म लेकर मुझे सन्तप्त करनेवाला कुपूत ! जा, तू यमराजके घर जा—मर जा, वही यमराज तेरे लिए भोजन देगा ॥३१॥

इसपर मैंने मातासे कहा कि अच्छा माँ ! मुझे आज्ञा दे । तब माताने कहा कि जा, मेरे घरसे निकल जा ॥३२॥

माताके इस आदेशको सुनकर मैं अपने शरीरको भस्मसे आच्छादित करते हुए घरसे

२७) अ क्षुप्त्वा नरश्चुल्ल्या, ब पुरस्तस्याः । २९) अ प्राहुर्दृष्टः । ३०) ब भविष्यत्वन्यथा । अ विघ्नः for विघ्न । ३१) क ड °मन्दिरे; क दुर्जात । ३२) ड त्वगादि । ३३) अ ततो ऽहं गदितो यावदवगुण्ठ्य; अ गतो for ततो ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थितो ऽहं तापसस्थाने कुर्वाणो दुष्करं तपः ।
न श्रेयस्कार्यमारभ्य प्रमाद्यन्ति हि पण्डिताः ॥३४
मया गतवता श्रुत्वा साकेतपुरमेकदा ।
माता विवाह्यमाना स्वा वरेणान्येन वीक्षिता ॥३५
विनिवेद्य स्वसंबन्धं मया पृष्टास्तपोधनाः ।
आचक्षते न दोषो ऽस्ति परेणास्या विवाहने ॥३६
द्रौपद्याः पञ्च भर्तारः कथ्यन्ते यत्र पाण्डवाः ।
जनन्यास्तव को दोषस्तत्र भर्तृद्वये सति ॥३७
एकदा[1] परिणीतापि विपन्ने[2] दैवयोगतः ।
भर्तर्यक्षतयोनिः[3] स्त्री पुनः संस्कारमर्हति ॥३८
प्रतीक्षेताष्ट वर्षाणि प्रसूता वनिता सती ।
अप्रसूता तु चत्वारि प्रोषिते[2] सति भर्तरि ॥३९
पञ्चस्वेषु गृहीतेषु कारणे सति भर्तृषु ।
न दोषो विद्यते स्त्रीणां व्यासादीनामिदं वचः ॥४०

३६) १. ते सर्वे ब्रुतः । (?)
३८) १. एकवारम् । २. मृते । ३. अभग्नयोनि । ४. विवाहम् ।
३९) १. मार्गम् अवलोकयति । २. प्रदेशे वसिते; क मरणे ।

निकल पड़ा । फिर मैं सिरको मुड़ाकर तापस हो गया और तापसोंके साथ चल दिया ॥३३॥

इस प्रकार तापसोंके साथ जाकर मैं कठोर तपको करता हुआ तापसाश्रममें स्थित हो गया । सो ठीक भी है, क्योंकि, पण्डित जन जिस कल्याणकारी कार्यको प्रारम्भ करते हैं उसके पूरा करनेमें वे कभी प्रमाद नहीं किया करते हैं ॥३४॥

एक बार मैं अयोध्यापुरीमें गया और वहाँ, जैसा कि मैंने सुना था, अपनी माताको दूसरे वरके द्वारा विवाहित देख लिया ॥३५॥

तत्पश्चात् मैंने अपने सम्बन्धमें निवेदन करके—अपने पूर्व वृत्तको कहकर—उसके विषयमें तापसोंसे पूछा । उत्तरमें वे बोले कि उसके दूसरे वरके साथ विवाह कर लेनेमें कोई दोष नहीं है । कारण कि जहाँ द्रौपदीके पाँच पाण्डव पति कहे जाते हैं वहाँ तेरी माताके दो पतियोंके होनेपर कौन-सा दोष है ? कुछ भी दोष नहीं है । एक बार विवाहके हो जानेपर भी यदि दुर्भाग्यसे पति विपत्तिको प्राप्त होता है—मर जाता है—तो वैसी अवस्थामें अक्षत-योनि स्त्रीका—यदि उसका पूर्व पतिके साथ संयोग नहीं हुआ है तो उस अवस्थामें—फिरसे विवाह हो सकता है, अर्थात् उसमें कोई दोष नहीं है । पतिके प्रवासमें रहनेपर प्रसूत स्त्रीको—जिसके सन्तान उत्पन्न हो चुकी है उसको—आठ वर्ष तक तथा सन्तानोत्पत्तिसे रहित अप्रसूत स्त्रीको चार वर्ष तक पतिके आगमनकी प्रतीक्षा करनी चाहिए—तत्पश्चात् उसके पुनर्विवाह

३४) अ च for हि । ३५) ब क इ स्मृत्वा for श्रुत्वा । ३६) ब दृष्टास्तपो° । ३७) क पञ्च for यत्र । ३९) ब अप्रसूतात्र । ४०) ब पञ्चकेषु ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऋषीणां वचसानेन ज्ञात्वा मातुरदोषताम् ।
एकान्तस्थस्तपः कुर्वन् वत्सरं तापसाश्रमे ॥४१
महीमटाट्यमानोऽहं तीर्थयात्रापरायणः ।
ततः पत्तनमायातो युष्मदीयमिदं द्विजाः ॥४२
आचचक्ष ततो विप्राः कोपविस्फुरिताधराः ।
ईदृशं शिक्षितं दुष्ट क्वासत्यं जल्पितं त्वया ॥४३
कृत्वैकत्रानृतं सर्वं नूनं त्वं वेधसा कृतः ।
असंभाव्यानि कार्याणि परथा भाषसे कथम् ॥४४
आचष्टे स्म ततः खेटो विप्राः किं जल्पथेदृशम् ।
युष्माकं किं पुराणेषु कार्यमीदृङ् न विद्यते ॥४५
ततोऽभाष्यत भूदेवैरीदृशं यदि वीक्षितम् ।
त्वया वेदे पुराणे वा क्वचिद्भद्र तदा वद ॥४६
आख्यत्खेटो द्विजा वच्मि परं युष्मद्बिभेम्यहम् ।
विचारेण विना यूयं चेद् गृह्णीथाखिलं वचः ॥४७

कर लेनेमें कोई दोष नहीं है। इस प्रकार कारणके रहते हुए स्त्रियोंके उन पाँच पतियों तकके स्वीकार करने पर कोई दोष नहीं होता। यह व्यास आदि महर्षियोंका कहना है ॥३६-४०॥

ऋषियोंके इस उत्तरसे अपनी माताकी निर्दोषताको जानकर मैं एक वर्ष तक तप करता हुआ उसी तापसाश्रममें स्थित रहा ॥४१॥

तत्पश्चात् हे ब्राह्मणो ! मैं तीर्थयात्रामें तत्पर होकर पृथिवीपर विचरण करता हुआ आपके इस नगरमें आया हूँ ॥४२॥

तापस वेषधारी उस मनोवेगके इस आत्म-वृत्तान्तको सुनकर क्रोधके वश अधरोष्ठको कँपाते हुए वे ब्राह्मण बोले कि अरे दुष्ट ! तूने इस प्रकारका असत्य बोलना कहाँसे सीखा है। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि निश्चयतः समस्त असत्यको एकत्र करके ही ब्रह्मदेवने तुझे निर्मित किया है। कारण कि यदि ऐसा न होता तो जो कार्य सर्वथा असम्भव है उनका कथन तू कैसे कर सकता था ? नहीं कर सकता था ॥४३-४४॥

ब्राह्मणोंके इस कथनको सुनकर मनोवेग विद्याधर बोला कि हे ब्राह्मणो ! ऐसा आप क्यों कहते हैं, क्या आपके पुराणोंमें इस प्रकारके कार्यका उल्लेख नहीं है ? अवश्य है ॥४५॥

इसपर ब्राह्मणोंने कहा कि हे भद्र ! तुमने यदि कहीं वेद अथवा पुराणमें ऐसा उल्लेख देखा है तो उसे कहो ॥४६॥

इसपर मनोवेग बोला कि हे विप्रो ! मैं जानता हूँ व कह भी सकता हूँ। परन्तु जो आप लोग विचार करनेके विना ही सब कथनको ग्रहण करते हैं उनसे मैं डरता हूँ ॥४७॥

---

४१) ब एकान्तस्थम् । ४२) अ महीमठाद्यमानो; ब युष्मदीयमिति । ४३) ब दुष्टं, ब क जल्पितुम् । ४४) क कुतः for कृतः । ४६) क भाषितभूदेवै° । ४७) अ वेद्मि for वच्मि; अ ब क ड परं तेभ्यो बिभे°; अ ये गृह्णीयात्खिलं, ब ये गृह्णीथाखिलं, क यदगृह्णीथाखिलं, ड चेदगृह्णीयाखिलम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

येषां वेदपुराणेषु ब्रह्महत्या पदे पदे ।
ते गृह्णीथ कथं यूयं कथ्यमानं सुभाषितम् ॥४८
पुराणं मानवो धर्मः[1] साङ्गो वेदश्चिकित्सितम्[2] ।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥४९
मनुव्यासवसिष्ठानां वचनं वेदसंयुतम् ।
अप्रमाणयतः पुंसो ब्रह्महत्या दुरुत्तरा ॥५०
हेतुर्निवार्यते तत्र दूषणं[2] यत्र[3] विद्यते ।
को ऽपि त्रस्यति निर्दोषे तप्यमाने ऽपि काञ्चने ॥५१
अवादि वैदिकैर्भद्र वाक्यतः[2] पातकं कुतः ।
निशातो गदितः खड्गो लुनीते रसनां न हि ॥५२

४९) १. मनुस्मृतिः । २. वैद्यकशास्त्रम् ।
५१) १. विचारम् । २. ब्रह्महत्यादिर्भवेत् । ३. देवादौ ।
५२) १. ब्राह्मणैः वेदस्य भावो वैदः, तैः वैदिकैः । २. कथनात् ।

जिनके वेद और पुराणोंमें पद-पद (पग-पग) पर—अनेक स्थलोंपर—ब्रह्महत्या (प्राणि-हिंसा या ब्राह्मणघात) पायी जाती है उनके आगे यदि सुन्दर (यथार्थ) भाषण भी किया जाये तो भी वे उसे कैसे ग्रहण कर सकते हैं ? अर्थात् वे उसे स्वीकार नहीं कर सकते हैं ॥४८॥

आपके यहाँ कहा गया है कि पुराण, मानव धर्म—मनुके द्वारा मनुस्मृतिमें प्ररूपित अनुष्ठान, अंगसहित वेद और चिकित्सा (आयुर्वेद) ये चारों आज्ञासिद्ध हैं—उन्हें आज्ञा-रूपसे ही स्वीकार किया जाना चाहिए। उनका युक्तियोंके द्वारा खण्डन करना योग्य नहीं है ॥४९॥

तथा मनु, व्यास और वशिष्ठ इन महर्षियोंके वचन वेदका अनुसरण करनेवाले हैं। इसलिए जो पुरुष उनके कथनको अप्रमाण मानता है उसे अनिवार्य ब्रह्महत्याका दोष लगता है ॥५०॥

जहाँ दोष विद्यमान होता है वहाँ युक्तिको रोका जाता है। सो यह ठीक नहीं, क्योंकि सुवर्णके तपाये जानेपर कोई भी विचारक त्रस्त नहीं होता है—उसकी निर्दोषता प्रत्यक्षसिद्ध होनेपर उसके लिए कोई भी परीक्षणका कष्ट नहीं किया करता है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार सुवर्णके तपाये जानेपर किसीको भी उसकी निर्दोषतामें सन्देह नहीं रहता है। उसी प्रकार पुराण एवं धर्म आदिकी युक्तियों द्वारा परीक्षा हो जानेपर उनकी भी निर्दोषतामें किसीको सन्देह नहीं रह सकता है, अतएव उनके विषयमें युक्तियोंका निषेध करना उचित नहीं कहा जा सकता है ॥५१॥

मनोवेगके इस कथनको सुनकर वेदको प्रमाण माननेवाले वे ब्राह्मण बोले कि हे भद्र ! केवल वचनमात्रसे दोषके प्रदर्शित करनेपर वस्तुतः दोष कहाँसे हो सकता है ? नहीं हो सकता है। उदाहरणार्थ—'तलवार तीक्ष्ण है' ऐसा उच्चारण करनेसे ही वह जीभको नहीं काट डालती है ॥५२॥

५०) अ ड अप्रमाणं यतः । ५१) अ क ड ताप्यमाने; अ ब न for अपि ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वचनोच्चारमात्रेण कल्मषं यदि जायते ।
तदोष्णो वह्निरित्युक्ते वचनं किं न दह्यते ॥५३
आचक्ष्व त्वं पुराणार्थं यथावृत्तमशङ्कितः ।
वयं नैयायिकाः सर्वे गृह्णीमो न्यायभाषितम् ॥५४
ततः स्वपरशास्त्रज्ञो व्याचष्टे गगनायनः ।
यद्येवं श्रूयतां विप्राः स्पष्टयामि मनोगतम् ॥५५
एकत्र सुप्तयोर्नार्योर्भागीरथ्याख्ययोर्द्वयोः ।
संपन्नगर्भयोः पुत्रः ख्यातो ऽजनि भगीरथिः ॥५६
यदि स्त्रीस्पर्शमात्रेण गर्भः संभवति स्त्रियाः ।
मातुर्मे न कथं जातः पुरुषस्पर्शतस्तदा ॥५७
धृतराष्ट्राय गान्धारी द्विमासे किल दास्यते ।
तावद्रजस्वला जाता पूर्वं सा संप्रदानतः ॥५८
चतुर्थे वासरे स्नात्वा पनसालिङ्गने कृते ।
वर्धयन्नुदरं तस्या गर्भो ऽजनि महाभरः ॥५९

५४) १. कथय । २. न्यायकाः ।
५५) १. मनोवेगः ।
५८) १. विवाहात् ।

यदि वचनके उच्चारणमात्रसे ही दोषकी सम्भावना होती तो फिर 'अग्नि उष्ण है' ऐसा कहनेपर मुँह क्यों नहीं जल जाता है ? ॥५३॥

इसलिए हे भद्र ! यदि हमारे पुराणोंमें कहीं वस्तुतः कोई दोष है तो उसका केवल वचन मात्रसे उल्लेख न करके जहाँ वह दोष विद्यमान हो उस पुराणके अर्थको तुम हमें निर्भयतापूर्वक कहो । हम सब नैयायिक हैं—न्यायका अनुसरण करनेवाले हैं, इसीलिए न्यायोचित भाषणको ग्रहण किया करते हैं ॥५४॥

इसपर अपने व दूसरोंके आगमके रहस्यको जाननेवाले उस मनोवेग विद्याधरने कहा कि यदि आप न्याय्य वचनोंके ग्रहण करनेवाले हैं तो फिर मैं अपने हृदयगत अभिप्रायको कहता हूँ, उसे सुनिए ॥५५॥

भागीरथी नामकी दो स्त्रियाँ एक स्थानपर सोयी हुई थीं, इससे उनके गर्भाधान होकर प्रसिद्ध भगीरथ नामका पुत्र उत्पन्न हुआ, यह आपके पुराणोंमें वर्णित है ॥५६॥

यदि स्त्रीके स्पर्शमात्रसे अन्य स्त्रीके गर्भस्थिति हो सकती है तो फिर मेरी माताके पुरुषके स्पर्शसे गर्भस्थिति क्यों नहीं हो सकती है, यह आप ही बतलायें ॥५७॥

धृतराष्ट्रके लिए गान्धारी दो मासमें दी जानेवाली थी, सो उसे देनेके पूर्व ही वह रजस्वला हो गयी । तब उसने चौथे दिन स्नान करके पनस वृक्षका आलिंगन किया । इससे उसके अतिशय भारसे संयुक्त गर्भ रह गया व पेट बढ़ने लगा ॥५८-५९॥

५३) इ दह्यति । ५५) क आचष्टे, ड व्याचष्ट । ५६) इ भगीरथः । ५९) ब ज्ञात्वा for स्नात्वा.... वर्धयन्युदरम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धृतराष्ट्राय सा दत्ता पित्रा गर्भावलोकने ।
लोकापवादनोदाय सर्वोऽपि यतते जनः ॥६०
यद्दूढया[1] तया जातं पनसस्य[2] फलं परम् ।
बभूव जठरे तस्य पुत्राणां शतमूर्जितम् ॥६१
खेटः प्राह किमीदृक्षः पुराणार्थोऽस्ति वा न वा ।
ते प्राहुर्नितरामस्ति को भद्रेमं निषेधति ॥६२
पनसालिङ्गने पुत्राः सन्तीत्यवितथं[1] यदि ।
तदा नृस्पर्शतः पुत्रप्रसूतिर्वितथा[2] कथम् ॥६३
श्रुत्वेति वचनं तस्य भाषितं द्विजपुंगवैः ।
त्वं भर्तृस्पर्शतो जातो भद्र सत्यमिदं वचः ॥६४
तापसोयं वचः श्रुत्वा वर्षद्वादशकं स्थितः ।
जनन्या जठरे नेदं प्रतिपद्यामहे[1] परम् ॥६५
जगाद खेचरः पूर्वं सुभद्राया[1] मुरद्विषा[2] ।
चक्रव्यूहप्रपञ्चस्य व्यधीयत निवेदनम्[3] ॥६६

६१) १. क धृतराष्ट्रपरिणीतया । २. फणसवृक्षस्य ।
६३) १. सत्यम् । २. असत्यम् ।
६५) १. न मन्यामहे ।
६६) १. भगिन्याः । २. कृष्णेन । ३. कथनम् ।

तब पिताने उसके गर्भको देखकर उसे धृतराष्ट्रके लिये दे दिया—उसके साथ वैवाहिक विधि सम्पन्न करा दी। ठीक है—लोकनिन्दासे बचनेके लिए सब ही जन प्रयत्न किया करते हैं ॥६०॥

पश्चात् धृतराष्ट्रके द्वारा परिणीत उसने जिस विशाल पनसके फलको उत्पन्न किया उसके मध्यमें सौ पुत्र वृद्धिंगत हुए थे ॥६१॥

इस प्रकार पुराणके वृत्तको कहता हुआ मनोवेग विद्याधर बोला कि हे विप्रो ! क्या आपके पुराणोंमें इस प्रकारका वृत्त है कि नहीं है। इसपर वे ब्राह्मण बोले कि हे भद्र ! पुराणोंमें इस प्रकारका वृत्तान्त अवश्य है, उसका निषेध कौन करता है ॥६२॥

उनके इस उत्तरको सुनकर मनोवेगने कहा कि जब पनसके साथ आलिंगन होनेपर पुत्र हुए, यह सत्य है तब पुरुषके स्पर्शसे पुत्रकी उत्पत्तिको असत्य कैसे कहा जा सकता है ? ॥६३॥

मनोवेगके इस कथनको सुनकर वे श्रेष्ठ ब्राह्मण बोले कि हे भद्र ! पतिके स्पर्श मात्रसे तुम उत्पन्न हुए हो, यह तुम्हारा कहना सत्य है। परन्तु उन तापसोंके वचनको सुनकर तुम बारह वर्ष तक माताके पेटमें ही स्थित रहे, इसे हम स्वीकार नहीं कर सकते हैं ॥६४-६५॥

यह सुनकर मनोवेग बोला कि पूर्व समयमें कृष्णने अपनी बहन सुभद्राके लिये चक्रव्यूहके विस्तारके सम्बन्धमें निवेदन किया था—उसे चक्रव्यूहकी रचना और उसके

६१) ड वरं for परम्; अ ड तस्याः for तस्य । ६३) इ सन्तीति कथितम् । ६६) अ इ विधीयेत, ड विधीयते ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तदाश्रावि कथं मातुर्गर्भस्थेनाभिमन्युना ।
कथं मया न भूदेवास्तापसानां वचः पुनः ॥६७
मयेन मुनिना धौते स्वकौपीने सरोवरे ।
पीतः शुक्रसो ऽम्येत्य मण्डूक्या सलिलस्थया ॥६८
तदीयपानतो गर्भे संपन्ने सति दर्दुरी ।
सासूत सुन्दरीं कन्यां संपूर्णे समये सति ॥६९
न जातेरस्मदीयाया योग्येयं शुभलक्षणा ।
इति ज्ञात्वा तया क्षिप्ता मण्डूक्या नलिनोदले ॥७०
एकदा यतिना दृष्ट्वा सा सरोवरमीयुषा ।
स्वीकृता स्नेहतो ज्ञात्वा स्वबीजबलसंभवा ॥७१
उपायैर्विविधैस्तेन सा प्रपाल्य विवर्धिता ।
अपत्यपालने सर्वो निसर्गेण प्रवर्तते ॥७२

६७) १. कथनम् । २. क पुत्रेण ।
६८) १. नाम । २. एत्य ।
७२) १. मयेन । २. जनः प्राणी ।

भीतर प्रवेश करनेकी विधिको समझाया था। उसे उस समय माताके गर्भमें स्थित अभिमन्युने कैसे सुन लिया था और हे ब्राह्मणो ! मैं माताके गर्भमें स्थित रहकर तापसोंके कथनको क्यों नहीं सुन सकता था—जिस प्रकार गर्भस्थ अभिमन्युने चक्रव्यूहके वृत्तको सुन लिया था उसी प्रकार मैंने भी माताके गर्भमें रहते हुए तापसोंके कथनको सुन लिया था ॥६६-६७॥

मय नामक ऋषिने जब अपने लंगोटको तालाबमें धोया था तब उसमेंसे जो वीर्यका अंश प्रवाहित हुआ उसे पानीमें स्थित एक मेंढकीने आकर पी लिया था। उसके पीनेसे उस मेंढकीके गर्भ रह गया और तब उस सतीने समयके पूर्ण हो जानेपर एक सुन्दर कन्याको जन्म दिया था ॥६८-६९॥

पश्चात् उस मेंढकीने यह जानकर कि यह उत्तम लक्षणोंवाली कन्या हमारी जातिके योग्य नहीं है, उसे एक कमलिनीके पत्तेपर रख दिया ॥७०॥

एक समय मय ऋषि उस तालाबके ऊपर पुनः पहुँचे। तब वहाँ उन्होंने उसे देखा और अपने वीर्यके प्रभावसे उत्पन्न हुई जानकर स्नेहके वश ग्रहण कर लिया ॥७१॥

तत्पश्चात् उन्होंने नाना प्रकारके उपायों द्वारा उसका पालन-पोषण कर वृद्धिंगत किया। सो ठीक भी है, क्योंकि, अपनी सन्तानके परिपालनमें सब ही जन स्वभावतः प्रवृत्त हुआ करते हैं ॥७२॥

६७) क ड तदश्रावि । ६८) अ इ यमेन for मयेन; ड सलिलेस्थया । ६९) ब सुन्दराम् । ७०) क इति मत्वा । ७१) क इ स्ववीर्य° ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उदक्यया[1] तया तस्यै[2] कौपीनं शुक्रकश्मलम् ।
परिधाय कृतं स्नानं कदाचिद्यौवनोदये ॥७३

जातं तस्यास्ततो गर्भं विज्ञाय निजवीर्यजम् ।
तं[1] मुनिः स्तम्भयामास कन्यादूषणशङ्कितः ॥७४

सप्तवर्षसहस्राणि गर्भो ऽसौ निश्चलीकृतः ।
अतिष्ठदुदरे तस्याः कुर्वाणः पीडनं परम् ॥७५

परिणीता ततो भव्या रावणेन महात्मना ।
वितीर्णा मुनिनासूत पुत्रमिन्द्रजिताभिधम् ॥७६

पूर्वमिन्द्रजिते जाते सप्तवर्षसहस्रकैः ।
बभूव रावणः पश्चात् ख्यातो मन्दोदरीपतिः ॥७७

सप्तवर्षसहस्राणि कथमिन्द्रजितः स्थितः ।
सवित्रीजठरे नाहं वर्षद्वादशकं कथम् ॥७८

७३) १. रजस्वलया कन्यया । २. मयस्य ।

७४) १. गर्भम् ।

किसी समय वह यौवन अवस्थाके प्रादुर्भूत होनेपर रजस्वला हुई । उस समय उसने वीर्यसे मलिन पिताके लंगोटको पहनकर स्नान किया । इससे उसके गर्भाधान हो गया । तब मय मुनिने उस गर्भको अपने वीर्यसे उत्पन्न जानकर कन्याप्रसंगरूप लोकनिन्दाके भयसे उसे स्तम्भित कर दिया—वहींपर स्थिर कर दिया ॥७३-७४॥

इस प्रकार मुनिके द्वारा उस गर्भको सात हजार वर्ष तक निश्चल कर देनेपर वह कन्याको केवल पीड़ा उत्पन्न करता हुआ तब तक उसके उदरमें ही अवस्थित रहा ॥७५॥

तत्पश्चात् ऋषिने उस सुन्दर कन्याको अतिशय शोभासे सम्पन्न रावणके लिए प्रदान कर दिया, जिसे उसने स्वीकार कर लिया । तब उसने इन्द्रजित् नामक पुत्रको जन्म दिया ॥७६॥

पूर्वमें जब इन्द्रजित् उत्पन्न हो चुका तब कहीं सात हजार वर्षोंके पश्चात् रावण मन्दोदरीके पतिस्वरूपसे प्रसिद्ध हुआ ॥७७॥

इस प्रकार हे विद्वान् विप्रो ! यह कहिए कि वह इन्द्रजित् सात हजार वर्ष तक कैसे माताके उदरमें अवस्थित रहा और मैं केवल बारह वर्ष तक ही क्यों नहीं माताके उदरमें रह सकता था ॥७८॥

७३) ड ततः for कृतम् । ७४) अ निजबीजनम् । ७६) अ ब महाश्रिया । ७७) ड जातो for ख्यातो ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जज्जल्पुर्याज्ञिकाः साधो तव सत्यमिदं वचः ।
परमुत्पन्नमात्रेण तपो ऽग्राहि कथं त्वया ॥७९
परिणीताभवत् कन्या कथं ते जननी पुनः ।
सुदुर्घटमिदं ब्रूहि संदेहध्वान्तविच्छिदे ॥८०
नभश्चरो ऽवदद्वह्नि श्रूयतामवधानतः ।
पाराशरो ऽजनिष्टात्र तापसस्तापसार्चितः ॥८१
असावुत्तरितुं नावा कैवर्त्या वाह्यमानया ।
प्रविष्टः कन्यया गङ्गां नवयौवनदेहया ॥८२
तामेषो भोक्तुमारेभे दृष्ट्वा तारुण्यशालिनीम् ।
पुष्पायुधशरैर्भिन्नः स्थानास्थाने न पश्यति ॥८३
चकमे सापि तं बाला शापदानविभीलुका[1] ।
अकृत्यकरणेनापि सर्वो रक्षति जीवितम् ॥८४

८३) १. पारासरः ।
८४) १. स्रापदानभीता ।

मनोवेगके इस कथनको सुनकर यज्ञकर्ता ब्राह्मण बोले कि हे साधो ! यह तुम्हारा कहना सत्य है । परन्तु यह कहो कि उत्पन्न होते ही तुमने तपको ग्रहण कैसे कर लिया ॥७९॥

इसके अतिरिक्त तुम्हारी माता तुमको जन्म देकर कन्या कैसे रही और तब वैसी अवस्थामें उसका पुनः विवाह कैसे सम्पन्न हुआ, यह अतिशय असंगत है । इस सब सन्देह-रूप अन्धकारको नष्ट करनेके लिए हमें उत्तर दो ॥८०॥

इसपर मनोवेगने कहा कि यह भी मैं जानता हूँ । मैं उसे कहता हूँ, सावधान होकर सुनिए—यहाँ अन्य तापस जनोंसे पूजित—सब तापसोंमें श्रेष्ठ—एक पारासर नामका तापस हुआ है ॥८१॥

वह जिस नावसे गंगा नदीको पार करनेके लिए उसके भीतर प्रविष्ट हुआ उसे एक नवीन यौवनसे विभूषित शरीरवाली धीवर कन्या चला रही थी ॥८२॥

उसे यौवनसे विभूषित देखकर पारासर कामके बाणोंसे विद्ध हो गया । इससे उसने उस कन्याको भोगना प्रारम्भ कर दिया । सो ठीक है—कामके बाणोंसे विद्ध हुआ प्राणी योग्य और अयोग्य स्थानको—स्त्रीकी उच्चता व नीचताको नहीं देखा करता है ॥८३॥

शाप देनेके भयसे भीत होकर उस धीवर कन्याने भी उसे स्वीकार कर लिया । सो ठीक है, क्योंकि, सब ही प्राणी अयोग्य कार्य करके भी प्राणोंकी रक्षा किया करते हैं ॥८४॥

७९) क तदसत्य°; अ जजल्पि । ८१) इ °वदद्वाग्मी । ८३) अ स्थाने स्थाने । ८४) ब चकमे सा पतिम्....जीवितुम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तपःप्रभावतो ऽकारि तेन तत्र तमस्विनी[1] ।
सामग्रीतो विना कार्यं किंचनापि न सिध्यति ॥८५

सुरतानन्तरं जातस्तयोर्व्यासः शरीरजः ।
याचमानो ममादेशं देहि तातेति भक्तितः ॥८६

अत्रैव वत्स[1] तिष्ठ त्वं कुर्वाणः पावनं तपः ।
पाराशरो ददौ तस्मै नियोगं[2]मिति तुष्टधीः ॥८७

भूयो योजनगन्धाख्यां सौगन्ध्यव्याप्तदिङ्मुखाम् ।
अगात् पाराशरः कृत्वा कुमारीं योग्यमाश्रमम् ॥८८

तापसः पितुरादेशाज्जननानन्तरं कथम् ।
व्यासो मातुरहं नास्मि कथमेतद्विचार्यताम् ॥८९

धीवरी जायते कन्या व्यासे ऽपि तनये सति ।
मयि माता न मे ऽत्रास्ति किं परं पक्षपाततः ॥९०

८५) १. रात्रिः ।
८७) १. हे । २. आदेशः ।

उस समय पारासर ऋषिने वहाँ तपके प्रभावसे दिनको रात्रिमें परिणत कर दिया। ठीक भी है, क्योंकि, सामग्रीके बिना कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता है ॥८५॥

सम्भोगके पश्चात् उन दोनोंके व्यास पुत्र उत्पन्न हुआ। उसने 'हे पूज्य पिता! मुझे आज्ञा दीजिए' इस प्रकार भक्तिपूर्वक पितासे याचना की ॥८६॥

इसपर पिता पारासरने सन्तुष्ट होकर उसे 'हे वत्स! तुम पवित्र तपका आचरण करते हुए यहींपर स्थित रहो' इस प्रकारकी आज्ञा दी ॥८७॥

फिर पारासर ऋषि उस धीवर कन्याको अपनी सुगन्धिसे दिङ्मण्डलको व्याप्त करनेवाली योजनगन्धा नामकी कुमारी करके अपने योग्य आश्रमको चले गये ॥८८॥

इस प्रकार वह व्यास जन्म लेनेके पश्चात् पिताकी आज्ञासे कैसे तापस हो सकता है और मैं जन्म लेनेके पश्चात् माताकी आज्ञासे क्यों नहीं तापस हो सकता हूँ, इसपर आप लोग विचार करें ॥८९॥

इसी प्रकार व्यास पुत्रके उत्पन्न होनेपर भी वह धीवरकी पुत्री तो कन्या रह सकती है और मेरी माता मेरे उत्पन्न होनेपर कन्या नहीं रह सकती है, यह पक्षपातको छोड़कर और दूसरा क्या हो सकता है—यह केवल पक्षपात ही है ॥९०॥

८६) ब भाक्तिकः । ८७) क ड इ तिष्ठ वत्स; अ तस्मिन्नियोग°; ब रुष्टधीः । ८८) अ सृत्वा for कृत्वा ।
८९) इ जननानन्तरः । ९०) ब न for किम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदित्यसंगेन सुते ऽपि जाते भूयो ऽपि कुन्ती भवति स्म कन्या ।
माता मदीया न कथं मयीदं विचारणीयं मनसा महद्भिः ॥९१
उद्दालकर्षिः सुरनिम्नगायां स्वप्ने स्वशुक्रं क्षरितं गृहीत्वा ।
महातपाः सर्वजनप्रसिद्धश्चकार पङ्केरुहपत्रसंस्थम् ॥९२
देवीव देवीभिरमा कुमारी रघोः[1] सखीभिर्गुणराजधानी ।
शरीरजा चन्द्रमतीति नाम्ना रजस्वला स्नातुमियाय गङ्गाम् ॥९३
आघ्रायमाणे कमले कुमार्याः शुक्रं प्रविष्टं जठरे तदस्याः ।
शुक्तेरिवाम्भो भवति स्म गर्भं आप्यायमानो ऽखिलदेहयष्टिम् ॥९४
विलोक्य तां गर्भवतीं सवित्र्या निवेद्यमानां तरसा क्षितीशः ।
निवेशयामास वनान्तराले त्रस्यन्ति सन्तो गृहदूषणेभ्यः ॥९५
मुनेर्निवासे तृणबिन्दुनाम्नः सा नागकेतुं तनयं कुमारी ।
असूत दुर्नीतिरिवार्थनाशं विशुद्धकीर्तिव्यपघातहेतुम्[1] ॥९६

९३) १. राज्ञः ।
९६) १. नाशहेतुम् ।

सूर्यके संयोगसे पुत्रके उत्पन्न हो जानेपर भी जब कुन्ती फिर भी कन्या बनी रही तब मेरे उत्पन्न होनेपर मेरी माता क्यों नहीं कन्या रह सकती है, यह महाजनोंको अन्तःकरणसे विचार करना चाहिए ॥९१॥

महान् तपस्वी व सर्व जनोंमें सुप्रसिद्ध उद्दालक ऋषिका जो वीर्य स्वप्नमें स्खलित हो गया था उसे लेकर उन्होंने गंगा नदीमें कमलपत्रके ऊपर अवस्थित कर दिया ॥९२॥

उधर गुणोंकी राजधानीस्वरूप—उनकी केन्द्रभूत—व 'चन्द्रमती' नामसे प्रसिद्ध रघु राजाकी कुमारी पुत्री रजस्वला होनेपर स्नानके लिए अपनी सखियोंके साथ गंगा नदीपर गयी। वह वहाँ जाती हुई ऐसी सुशोभित हो रही थी जैसे मानो देवियोंके साथ देवी—इन्द्राणी—ही जा रही हो ॥९३॥

वहाँपर कुमारी चन्द्रमतीने जैसे ही उस कमलको सूँघा वैसे ही उसके ऊपर स्थित उद्दालक ऋषिका वह वीर्य उसके उदरके भीतर प्रविष्ट हो गया। इससे जिस प्रकार शुक्तिके भीतर जलके प्रविष्ट होनेपर उसके गर्भ हो जाता है उसी प्रकार वह वीर्य चन्द्रमतीके समस्त शरीरमें प्रविष्ट होकर गतिशील होता हुआ गर्भके रूपमें परिणत हो गया ॥९४॥

तब उसे गर्भवती देखकर उसकी माताने इसकी सूचना राजा रघुसे की, जिससे राजाने उसे वनके मध्यमें स्थापित करा दिया। ठीक है—सत्पुरुष घरके दूषणोंसे अधिक पीड़ित हुआ करते हैं ॥९५॥

तत्पश्चात् कुमारी चन्द्रमतीने तृणबिन्दु नामक मुनिके निवासस्थानमें निर्मल कीर्तिके नाशके कारणभूत नागकेतु नामक पुत्रको इस प्रकारसे उत्पन्न किया जिस प्रकार कि दुष्ट नीति धननाशको उत्पन्न किया करती है ॥९६॥

९१) ब मदीयं for मयीदम् । ९३) ब देवी च । ९५) क ड इ °मानस्तरसा । ९६) क नाकेतुम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गत्वेषय स्वं पितरं व्रज त्वं बाला निगद्येति विविग्नचित्ता ।
मञ्जूषयामा[1] विनिवेश्य बालं प्रवाहयामास सुरापगायाम् ॥९७

दृष्ट्वा तरन्तीं त्रिदशापगायामुद्दालकस्तामवतार्य[1] सद्यः ।
स्वबीजजं पुत्रमवेत्य[2] तस्या मध्ये स जग्राह विशुद्धबोधः ॥९८

तत्रागतां चन्द्रमतीं कुमारीं विमार्गयन्तीं तनयं विलोक्य ।
प्रदर्श्य तं[1] तां[2] निजगाद बाले तुष्टस्तवाहं भव मे प्रिया त्वम् ॥९९

साचष्ट साधो जनकेन दत्ता भवामि कान्ता तव निश्चिताहम् ।
त्वं गच्छ त[1] प्रार्थय मुक्तशङ्कः स्वयं न गृह्णन्ति पतिं कुलीनाः ॥१००

९७) १. क सह ।
९८) १. उत्तार्य । २. ज्ञात्वा ।
९९) १. तं तनयम् । २. चन्द्रमतीं ताम् ।
१००) १. पितरम् ।

इस पुत्रोत्पत्तिसे मनमें खेदको प्राप्त होकर कुमारी चन्द्रमतीने 'जा, तू अपने पिताको खोज' ऐसा कहते हुए बालकको एक पेटीमें रखकर उसके साथ उसे गंगामें प्रवाहित कर दिया ॥९७॥

उधर गंगामें तैरती हुई उस पेटीको देखकर उद्दालक मुनिने उसे उसमें-से शीघ्र निकाल लिया तथा अपने निर्मल ज्ञानके द्वारा उसके भीतर अपने ही वीर्यसे उत्पन्न पुत्रको अवस्थित जानकर उसे ग्रहण कर लिया ॥९८॥

पश्चात् जब वहाँ पुत्रको खोजती हुई कुमारी चन्द्रमती आयी तब उसे देखकर उस पुत्रको दिखलाते हुए उद्दालक ऋषिने उससे कहा कि हे बाले ! मैं तेरे ऊपर सन्तुष्ट हूँ, तू मेरी वल्लभा हो जा ॥९९॥

इसपर कुमारी चन्द्रमती बोली कि हे मुने ! यदि मेरा पिता मुझे तुम्हारे लिए प्रदान कर देता है तो मैं निश्चित ही तुम्हारी पत्नी हो जाऊँगी। इसलिए तुम जाओ और निर्भय होकर पितासे याचना करो। कारण यह कि उन्नत कुलकी कन्याएँ स्वयं ही पतिका वरण नहीं किया करती हैं, किन्तु वे अपने माता-पिता आदिकी सम्मतिपूर्वक ही उसे वरण किया करती हैं ॥१००॥

९७) ब मञ्जूषायां मां विनिवेशगालम्; अ इ प्रवेशयामास । ९८) इ °मवतीर्य.... स्वबीर्यजम् । ९९) इ तत्रागमच्चन्द्रमती कुमारी विमार्गती सा.... बालाम् । १००) ब तां प्रार्थय; इ गृह्णाति....कुलीना ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गत्वा तत्र तपोधनो ऽमितगतिस्तां प्रार्थ्य भूमीश्वरं
लब्ध्वा चन्द्रमतीं महागुणवतीं चक्रे प्रियामात्मनः ।
आनन्देन विवाह्य यौवनवतीं कृत्वा कुमारीं पुनः
किं प्राणी न करोति मन्मथशरैर्भिन्नः समं पञ्चभिः ॥१०१

इति धर्मपरीक्षायाममितगतिकृतायां चतुर्दशः परिच्छेदः ॥१४॥

तदनुसार अपरिमित ज्ञानवाले उस उद्दालक मुनिने रघु राजाके पास जाकर उससे चन्द्रमतीकी याचना की और तब उत्तम गुणोंसे संयुक्त उस युवतीको फिरसे कन्या बनाकर आनन्दपूर्वक उसके साथ विवाह कर लिया व उसे अपनी प्रियतमा बना लिया। सो ठीक है—जो प्राणी कामदेवके पाँच बाणोंसे विद्ध हुआ है वह भला क्या नहीं करता है? अर्थात् वह किसी भी स्त्रीको स्वीकार किया करता है ॥१०१॥

इस प्रकार आचार्य अमितगति विरचित धर्मपरीक्षामें चौदहवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ॥१४॥

---

१०१) अ तस्य for तत्र; अ क सतां for महा; अ विगाह्य for विबाह्य ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[१५]

अथ चन्द्रमती कन्या कथं जाते ऽपि देहजे ।
कथं न जायते माता मदीया मयि कथ्यताम् ॥१
इत्थं निरुत्तरीकृत्य वेदिकानेष खेचरः ।
विमुच्य तापसाकारं गत्वा काननमभ्यधात् ॥२
अहो लोकपुराणानि विरुद्धानि परस्परम् ।
न विचारयते को ऽपि मित्र मिथ्यात्वमोहितः ॥३
अपत्यं जायते स्त्रीणां पनसालिङ्गने कुतः ।
मनुष्यस्पर्शतो वल्ल्यो न फलन्ति कदाचन ॥४
अन्तर्वत्नी कथं नारी नारीस्पर्शेन जायते ।
गोसंगेन न गौर्दृष्टा क्वापि गर्भवती मया ॥५

२) १. ब्राह्मणान् । २. अब्रूत; क अवोचन् ।
३) १. क हे मित्र ।
४) १. क पुत्रम् ।
५) १. गर्भवती ।

इस प्रकार चन्द्रमतीके उपर्युक्त वृत्तान्तको कहकर मनोवेगने कहा कि हे विप्रो ! चन्द्रमतीके पुत्रके उत्पन्न हो जानेपर भी जैसे वह कन्या रह सकती है वैसे मेरे उत्पन्न होनेपर मेरी माता क्यों नहीं कन्या रह सकती है, यह मुझे कहिए ॥१॥

इस प्रकारसे वह मनोवेग विद्याधर उन वेदके ज्ञाता ब्राह्मण विद्वानोंको निरुत्तर करके तापस वेषको छोड़ते हुए उद्यानमें जा पहुँचा और मित्र पवनवेगसे बोला ॥२॥

हे मित्र ! आश्चर्य है कि लोकमें प्रसिद्ध वे पुराण परस्पर विरोधसे संयुक्त हैं। फिर भी मिथ्यात्वसे मोहित होनेके कारण कोई भी वैसा विचार नहीं करता है ॥३॥

स्त्रियोंके पनस वृक्षका आलिंगन करनेसे भला सन्तान कैसे उत्पन्न हो सकती है ? नहीं हो सकती है। क्या कभी मनुष्यके स्पर्शसे बेलें फल दे सकती हैं ? कभी नहीं—जिस प्रकार मनुष्यके स्पर्शसे कभी बेलें फल नहीं दिया करती हैं उसी प्रकार वृक्षके स्पर्शसे स्त्री भी कभी सन्तानको उत्पन्न नहीं कर सकती है ॥४॥

स्त्री अन्य स्त्रीके स्पर्शसे गर्भवती कैसे हो सकती है ? नहीं हो सकती। कारण कि मैंने कभी एक गायको दूसरी गायके स्पर्शसे गर्भवती होती हुई नहीं देखा है ॥५॥

१) अ जाते ऽपि दोहदे । २) ब °मभ्यगात् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मण्डूकी मानुषं सूते केनेदं प्रतिपद्यते ।
न शालितो मया दृष्टा जायमाना हि कोद्रवाः ॥६

शुक्रभक्षणमात्रेण यद्यपत्यं प्रजायते ।
किं कृत्यं धवसंगेन[1] तदापत्याय योषिताम् ॥७

रेतःस्पर्शनमात्रेण जायन्ते यदि सूनवः ।
बीजसंगममात्रेण दत्ते सस्यं[2] तदा धरा ॥८

आघ्राते कमले गर्भः शुक्राक्ते यदि जायते ।
भक्तमिश्रे तदा पात्रे तृप्तिः केन निवार्यते ॥९

कथं विज्ञाय मण्डूकी कन्यां धत्ते ऽब्जिनीदले ।
भेकानामीदृशं ज्ञानं कदा केनोपलभ्यते[1] ॥१०

७) १. पुरुषसंगेन ।

८) १. शुक्र । २. अन्नम् ।

१०) १. मन्यते प्राप्यते ।

मेंढकी मनुष्य स्त्रीको उत्पन्न करती है, इसे भला कौन विचारशील स्वीकार कर सकता है ? कोई नहीं । कारण कि मैंने कभी शालि धानसे कोदों उत्पन्न होते हुए नहीं देखे ॥६॥

यदि वीर्यके भक्षणमात्रसे सन्तान उत्पन्न हो सकती है तो फिर सन्तानोत्पत्तिके लिए स्त्रियोंको पुरुषके संयोगकी आवश्यकता ही क्या रह जाती है ? वह व्यर्थ सिद्ध होता है ॥७॥

यदि वीर्यके स्पर्शमात्रसे ही पुत्र उत्पन्न हो जाते हैं तो फिर पृथिवी बीजके संसर्ग-मात्रसे ही धान्यको दे सकती है । सो ऐसा सम्भव नहीं है, किन्तु बीजके आत्मसात् कर लेनेपर ही पृथिवी धान्यको उत्पन्न करती देखी जाती है, न कि उसके स्पर्श मात्रसे ही । यही बात प्रकृतमें जाननी चाहिए ॥८॥

वीर्यसे लिप्त कमलके सूँघनेपर यदि गर्भ होता है तो फिर भोजनसे परिपूर्ण पात्र (थाली आदि) के सूँघनेपर तृप्तिको कौन रोक सकता है ? कोई नहीं । जिस प्रकार वीर्ययुक्त कमलके सूँघनेमात्रसे गर्भ हो जाता है उसी प्रकार भोजनयुक्त पात्रके सूँघनेपर भोजन-विषयक तृप्ति होकर भूख शान्त हो जानी चाहिए । परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है ॥९॥

मेंढकी कन्याको जान करके उसे कमलके पत्रपर कैसे रख सकती है ? नहीं रख सकती है । क्योंकि, मेंढकोंके इस प्रकारके ज्ञानको कब और किसने देखा है ? अर्थात् मेंढक जातिमें इस प्रकारका ज्ञान कभी किसीके द्वारा नहीं देखा गया है ॥१०॥

६) ब क ड मानुषीम् । ७) ब यदपत्यम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[1]रविधर्मानिलेन्द्राणां तनयाः संगतो ऽभवन् ।
कुन्त्याः सत्या विदग्धस्य कस्येदं हृदि तिष्ठति ॥११

देवानां यदि नारीभिः संगमो जायते सह ।
देवीभिः सह मर्त्यानां न तदा दृश्यते कथम् ॥१२

सर्वाशुचिमये देहे मानुषे कश्मले कथम् ।
निर्धातुविग्रहा देवा रमन्ते मलवर्जिताः ॥१३

अविचारितरम्याणि परशास्त्राणि कोविदैः ।
यथा यथा विचार्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा ॥१४

देवास्तपोधना भुक्त्वा कन्याः कुर्वन्ति योषितः ।
महाप्रभावसंपन्ना नेदं श्रद्दधते[1] बुधाः ॥१५

११) १. सूर्यस्य पुत्रः कर्णः, धर्मस्य पुत्रः युधिष्ठिरः ।
१५) १. न मन्यन्ते ।

सती कुन्तीके सूर्य, धर्म, वायु और इन्द्रके संयोगसे पुत्र—क्रमसे कर्ण, युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन—हुए। यह वृत्त किस चतुर मनुष्यके हृदयमें स्थान पा सकता है ? तात्पर्य यह कि इसपर कोई भी विचारशील व्यक्ति विश्वास नहीं कर सकता है ॥११॥

इस प्रकारसे यदि मनुष्य स्त्रियोंके साथ देवोंका संयोग हो सकता है तो फिर मनुष्योंका संयोग देवियोंके साथ क्यों नहीं देखा जाता है ? वह भी देखा-सुना जाना चाहिए था ॥१२॥

मनुष्योंका शरीर जब मल-मूत्रादि रूप सब ही अपवित्र वस्तुओंसे परिपूर्ण एवं घृणित है तब उसमें देव—जिनका कि शरीर सात धातुओंसे रहित और जो मलसे रहित हैं—कैसे रम सकते हैं ? कभी नहीं रम सकते हैं। तात्पर्य यह कि अतिशय सुन्दर और मल-मूत्रादिसे रहित शरीरवाले देव अत्यन्त घृणित शरीरको धारण करनेवाली मनुष्य स्त्रियोंसे कभी भी अनुराग नहीं कर सकते हैं ॥१३॥

दूसरोंके—जैनेतर—शास्त्रोंके विषयमें जबतक विचार नहीं किया जाता है तबतक ही वे रमणीय प्रतीत होते हैं। परन्तु जैसे-जैसे विद्वान् उनके विषयमें विचार करते हैं वैसे-वैसे वे जीर्ण-शीर्ण होते जाते हैं—उन्हें वे अनेक दोषोंसे व्याप्त दिखने लगते हैं ॥१४॥

देव और तपस्वी जन स्त्रियोंको भोगकर पीछे उन्हें महान् प्रभावसे सम्पन्न होनेके कारण कन्या कर देते हैं, इसपर कोई भी विश्वास नहीं कर सकता है ॥१५॥

११) क तनयः संगतो ऽभवत् । १३) अ मानुष्ये । १४) अ ब अविचारेण रम्याणि । १५) अ ब इ कन्याम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ये पारदारिकीभूय[1] सेवन्ते परयोषितः ।
प्रभावो जायते तेषां विटानां कथ्यतां कथम् ॥१६
किं मित्रासत्प्रलापेन कृतेनानेन वच्मि ते ।
उत्पत्तिं कर्णराजस्य जिनशासनशंसिताम्[1] ॥१७
व्यासस्य भूभृतेः पुत्रास्त्रयो जाता गुणालयाः ।
धृतराष्ट्रः परः पाण्डुर्विदुरश्चेति विश्रुताः ॥१८
एकदोपवने पाण्डू रममाणो मनोरमे ।
निरैक्षत लतागेहे खेचरीं काममुद्रिकाम् ॥१९
यावत्तिष्ठति तत्रासौ कृत्वा मुद्रां कराङ्गुलौ ।
आगाच्चित्राङ्गदस्तावत्तस्याः खेटो गवेषकः ॥२०

१६) १. परदारलम्पटाः ।
१७) १. कथिताम् ।
१८) १. राज्ञः ।

जो परस्त्रियोंमें अनुरक्त रहकर उनका सेवन किया करते हैं वे यदि महान् प्रभावशाली हो सकते हैं तो फिर व्यभिचारी जनोंके विषयमें क्या कहा जाये ? वे भी प्रभावशाली हो सकते हैं । अभिप्राय यह है कि अन्य दुराचारी जनोंके समान यदि देव व मुनिजन भी परस्त्रियोंका सेवन करने लग जायें तो फिर उन दुराचारियोंसे उनमें विशेषता ही क्या रहेगी और तब वैसी अवस्थामें वे प्रभावशाली भी कैसे रह सकते हैं ? यह सब असम्भव है ॥१६॥

आगे मनोवेग कहता है कि हे मित्र ! इस प्रकार जो उन पुराणोंमें असत्य कथन पाया जाता है उसके सम्बन्धमें अधिक कहनेसे कुछ लाभ नहीं है । उन पुराणोंमें जिस कर्णकी उत्पत्ति सूर्यके संयोगसे कुन्तीके कही गयी है उसकी उत्पत्ति जैन शास्त्रोंमें किस प्रकार निर्दिष्ट की गयी है, यह मैं तुम्हें बतलाता हूँ ॥१७॥

व्यास राजाके गुणोंके आश्रयभूत धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर ये प्रसिद्ध तीन पुत्र उत्पन्न हुए थे ॥१८॥

एक समय पाण्डु वनक्रीड़ाके लिए किसी मनोहर उपवनमें गया था । वहाँ क्रीड़ा करते हुए उसने एक लतामण्डपमें किसी विद्याधरकी उस काममुद्रिकाको देखा जो अभीष्ट रूपके धारण करानेमें समर्थ थी ॥१९॥

उसे हाथकी अंगुलीमें डालकर वह अभी वहींपर स्थित था कि इतनेमें उक्त मुद्रिकाको खोजते हुए चित्रांगद नामका विद्याधर वहाँ आ पहुँचा ॥२०॥

१६) अ क ड इ पारदारकीभूय; क ड इ °योषितम्; अ इ कथ्यते । १७) क कृतेन शृणु; अ कर्णिराजस्य । १८) अ धृतराष्ट्रो ऽपरः । २०) ब अगाच्चित्रा°; क ड आयाच्चित्रा° ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तस्य सा पाण्डुना दत्ता निःस्पृहीभूतचेतसा ।
परद्रव्ये महीयांसः[1] सर्वत्रापि पराङ्मुखाः ॥२१
स[2] विलोक्य विलोभत्वं[3] तं[4] ममन्यत बान्धवम् ।
अन्यवित्तपराधीना[5] जायन्ते जगदुत्तमाः ॥२२
तमाचष्ट ततः खेटः साधो त्वं मे हि बान्धवः ।
यो ऽन्यदीयं सदा द्रव्यं कचारमिव पश्यति ॥२३
विषण्णो दृश्यसे किं त्वं बन्धो सूचय कारणम् ।
न गोप्यं क्रियते किंचित् सुहृदो हि पटीयसा ॥२४
अभाषिष्ट ततः पाण्डुः साधो सूर्यपुरे नृपः ।
विद्यते ऽन्धकवृष्टयाख्यस्त्रिदिवे मघवानिव ॥२५
तस्यास्ति सुन्दरा कन्या कुन्ती मकरकेतुना ।
ऊर्ध्वीकृता पताकेव त्रिलोकजयिना सता ॥२६
सा तेन भूभृता पूर्वं दत्ता मन्मथवर्धिनी ।
इदानीं न पुनर्दत्ते विलोक्य मम रोगिताम् ॥२७

२१) १. महानुभावः ।
२२) १. खेटः । २. क निर्लोभत्वम् । ३. धृतराष्ट्रम् । ४. पराङ्मुखाः ।

तब मनमें उसकी किंचित् भी अभिलाषा न करके पाण्डुने वह मुद्रिका उसे दे दी। सो ठीक है—महान् पुरुष सभी जगह दूसरेके द्रव्यके विषयमें पराङ्मुख रहा करते हैं—वे उसकी कभी भी इच्छा नहीं किया करते हैं ॥२१॥

पाण्डुकी निर्लोभ वृत्तिको देखकर चित्रांगदने उसे अपना हितैषी मित्र समझा। ठीक है—दूसरेके धनसे विमुख रहनेवाले सज्जन लोकमें उत्तम हुआ ही करते हैं ॥२२॥

पश्चात् विद्याधरने उससे कहा कि हे सज्जन! तुम मेरे वह बन्धु हो जो निरन्तर दूसरेके धनको कचराके समान तुच्छ समझा करता है ॥२३॥

फिर वह बोला—हे मित्र! तुम खिन्न क्यों दिखते हो, मुझे इसका कारण बतलाओ। कारण यह कि चतुर मित्र अपने मनोगत भावको मित्रसे नहीं छिपाया करता है ॥२४॥

इसपर पाण्डु बोला कि हे सत्पुरुष! सूर्यपुरमें एक अन्धकवृष्टि नामका राजा है। वह ऐसा प्रभावशाली है जैसा कि स्वर्गमें इन्द्र प्रभावशाली है ॥२५॥

उसके एक सुन्दर आकृतिको धारण करनेवाली—अतिशय रूपवती—कन्या है। वह ऐसी प्रतीत होती है जैसे मानो तीनों लोकोंके जीत लेनेपर कामदेवने अपने विजयकी पताका ही ऊपर खड़ी कर दी हो—फहरा दी हो ॥२६॥

कामको वृद्धिंगत करनेवाली उस कन्याको पहले अन्धकवृष्टि राजाने मुझे दे दिया था। किन्तु अब इस समय वह मेरी रुग्णावस्थाको देखकर उसे मुझे नहीं दे रहा है ॥२७॥

२२) अ ड जगत्युत्तमाः, ब जगतो मताः । २३) क ड इ तमाचष्टे; क ड त्वमेव; अ ब स for हि । २४) ब सुहृदा; क पटीयसः । २६) अ सुन्दराकारा कन्या मकर°....त्रिलोकं जयता । २७) ब मन्मथवर्तिनी; इ रोगताम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनेन हेतुना बन्धो विषादो मानसे ऽजनि ।
कुठार इव काष्ठानां मर्मणां मम कर्तकः ॥२८

चित्राङ्गदस्ततो ऽवोचत् साधो मुञ्च विषण्णताम् ।
नाशयामि तवोद्वेगं कुरुष्व मम भाषितम् ॥२९

गृहाण त्वमिमां मित्र मदीयां काममुद्रिकाम् ।
कामरूपधरो भूत्वा तां भजस्व मनःप्रियाम् ॥३०

पश्चाद् गर्भवतीं जातां स ते दास्यति तां स्वयम् ।
न दूषितां स्त्रियं सन्तो वासयन्ति निजे गृहे ॥३१

सो ऽगात्तस्यास्ततो गेहं गृहीत्वा काममुद्रिकाम् ।
स्वयं हि विषये लोलो लब्धोपायो न किं जनः ॥३२

स्वेच्छया स सिषेवे तां[1] कामाकारधरो रहः ।
मनःप्रियां प्रियां प्राप्य स्वेच्छा हि क्रियते न कैः ॥३३

३३) १. नारीम् ।

इसी कारण हे मित्र ! मेरे मनमें लकड़ियोंको काटनेवाले कुठारके समान मर्मोंको काटनेवाला यह खेद उत्पन्न हुआ है ॥२८॥

उसके इस विषादकारणको सुनकर चित्रांगद बोला कि हे भद्र ! तुम इस विषादको छोड़ दो । मैं तुम्हारी उद्विग्नताको नष्ट कर देता हूँ । तुम जो मैं कहता हूँ उसे करो ॥२९॥

हे मित्र ! तुम मेरी इस काममुद्रिकाको लेकर जाओ और इच्छानुसार रूपको धारण करके अपने मनको प्यारी उस कन्याका उपभोग करो ॥३०॥

तत्पश्चात् जब उसके गर्भाधान हो जायेगा तब वह उसे स्वयं ही तुम्हारे लिए प्रदान कर देगा, क्योंकि, सत्पुरुष दूषित स्त्रीको अपने घरमें नहीं रहने दिया करते हैं ॥३१॥

तदनुसार पाण्डु उस काममुद्रिकाको लेकर उक्त कन्याके निवासगृहमें जा पहुँचा । सो ठीक है—मनुष्य विषयका लोलुपी स्वयं रहता है, फिर जब तदनुकूल उपाय भी मिल जाता है तब वह क्या उसका लोलुपी नहीं रहेगा ? तब तो वह अधिक लोलुपी होगा ही ॥३२॥

इस प्रकार वहाँ पहुँचकर उसने इच्छानुसार कामदेवके समान आकारको धारण करते हुए उसका स्वेच्छापूर्वक उपभोग किया । ठीक है—मनको प्रसन्न करनेवाली उस प्रियाको एकान्तमें पाकर कौन अपनी इच्छाको चरितार्थ नहीं किया करते हैं ? अर्थात् वैसी अवस्थामें सब ही जन अपनी अभीष्ट प्रियाका उपभोग किया ही करते हैं ॥३३॥

३१) ब स्वयं for स्त्रियम् । ३२) क ड इ लब्धोपायेन । ३३) अ °कारकरोरहः, ब कामाकामकरो रहः, क °कारमनोहरः; ड स्वेच्छया क्रियते न किम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तेन तां[1] सेवमानेन कुमारीं दिनसप्तकम् ।
यूना[2] निरोपितो गर्भः कोशो[3] नीतिमिवानघाम् ॥३४

अयासीन्निर्वृतो[1] भूत्वा हित्वा[2] तत्रैव तामसौ ।
सिद्धे मनोषिते कृत्ये निर्वृतिं लभते न कः ॥३५

ज्ञात्वा गर्भवती मात्रा निभृतं[1] सा प्रसाविता[2] ।
गुह्यं छादयते सर्वो गृहदूषणभीलुकः ॥३६

मञ्जूषायां विनिक्षिप्य देवनद्यां प्रवाहितः ।
तदीयस्तनयो मात्रा गृहदूषणभीतया ॥३७

गङ्गया नीयमानां तामादित्यो जगृहे नृपः ।
संपत्तिमिव दुर्नीत्या दृष्ट्वा चम्पापुरीपतिः ॥३८

तस्या मध्ये ददर्शासौ बालं पावनलक्षणम् ।
सरस्वत्या इवानिन्द्यमर्थं विद्वज्जनार्चितम् ॥३९

३४) १. कुन्तीम् । २. यौवनेन पाण्डुना । ३. भंडारः ।

३५) १. सुखी । २. मुक्त्वा; क त्यक्त्वा ।

३६) १. प्रच्छन्नम् । २. क गुह्यस्थानं प्रति रक्षिता सती पुत्रमसूत ।

इस प्रकार उस तरुण पाण्डुने सात दिन तक उसका सम्भोग करते हुए गर्भको इस प्रकारसे स्थापित कर दिया जिस प्रकार कि खजाना निर्दोष नीतिको स्थापित करता है ॥३४॥

तत्पश्चात् उसने सुखी होकर उसको वहींपर छोड़ा और स्वयं वापस आ गया। सो ठीक है--अभीष्ट कार्यके सिद्ध हो जानेपर भला कौन सुखको नहीं प्राप्त होता है ? अर्थात् समीहितके सिद्ध हो जानेपर सब ही जन सुखका अनुभव किया करते हैं ॥३५॥

इधर कुन्ती की माताको जब यह ज्ञात हुआ कि वह गर्भवती है तब उसने अत्यन्त गुप्तरूपसे प्रसूति करायी। सो ठीक है—घरके कलंकसे भयभीत होकर सब ही जन गोपनीय बातको छिपाया करते हैं ॥३६॥

उस समय कुन्तीकी माताने इस गृह-कलंकसे भयभीत होकर उसके पुत्रको एक पेटीमें रखा और गंगा नदीमें प्रवाहित कर दिया ॥३७॥

इस प्रकार गंगाके द्वारा ले जायी गयी उस पेटीको देखकर चम्पापुरके अधिपति आदित्य राजाने उसे दूषित नीतिसे लायी गई सम्पत्तिके समान ग्रहण कर लिया ॥३८॥

तब उसने उस पेटीके भीतर विद्वान् जनोंसे पूजित सरस्वतीके मध्यगत निर्दोष अर्थके समान उत्तम लक्षणोंसे परिपूर्ण एक बालकको देखा ॥३९॥

३४) अ तेनैताम्; ब क ड प्ररोपितो for निरोपितो । ३५) अ ब क आयासीत्; अ निवृत्तिम् । ३६) अ ब गर्भवतीम् । ३८) अ गङ्गायाः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्णे ऽग्राहि यतो राजा बालेन मुखदर्शने ।
आजुहाव[1] महाप्रीत्या ततस्तं कर्णसंज्ञया ॥४०

अवीवृधदसौ[1] बालमपुत्रः पुत्रकाङ्क्षया ।
अद्रव्यो द्रव्यलाभेन द्रव्यराशिमिवोर्जितम् ॥४१

चम्पायां सो ऽभवद्राजा तत्रातीते[1] महोदये ।
आदित्ये भुवनानन्दी व्योमनीव निशाकरः ॥४२

आदित्येन यतो ऽर्धि भूभृतादित्यजस्ततः ।
ज्योतिष्केण पुनर्जातो नादित्येन महात्मना ॥४३

निर्धातुकेन देवेन न नार्यां जन्यते नरः ।
पाषाणेन कदा[1] धात्र्यां[2] जन्यन्ते सस्यजातयः ॥४४

४०) १. आकारयामास ।
४१) १. आदित्यः ।
४२) १. तस्मिन् आदित्ये मृते सति ।
४४) १. तर्हि । २. क पृथिव्याम् ।

उस समय उस बालकने अपने मुखको देखते समय चूँकि राजाको कानमें ग्रहण किया था अतएव उसने उक्त बालकको 'कर्ण' इस नामसे बुलाया—उसका उसने 'कर्ण' यह नाम रख दिया ॥४०॥

उसके कोई पुत्र न था । इसलिए उसने उसे पुत्रकी इच्छासे इस प्रकार वृद्धिंगत किया जिस प्रकार कि कोई निर्धन मनुष्य धनकी इच्छासे उस धनकी राशिको वृद्धिंगत करता है ॥४१॥

जिस प्रकार महोदय—अतिशय उन्नत (तेजस्वी)—सूर्यके अस्त हो जानेपर आकाशमें उदित होकर चन्द्रमा लोकको आनन्दित करता है उसी प्रकार उस महोदय—अतिशय उन्नत (प्रतापी)—आदित्य राजाके अस्तंगत हो जानेपर (मृत्युको प्राप्त) वह कर्ण राजा होकर लोकको आनन्दित करनेवाला हुआ ॥४२॥

महा मनस्वी उस कर्णको चूँकि आदित्य राजाने वृद्धिंगत किया था, इसीलिये वह आदित्यज—सूर्यपुत्र—कहा जाता है; न कि आदित्य (सूर्य) नामके ज्योतिषी देवसे उत्पन्न होनेके कारण ॥४३॥

कारण यह कि धातु (वीर्य आदि) से रहित कोई भी देव मनुष्यस्त्रीसे मनुष्यको उत्पन्न नहीं कर सकता है । और वह ठीक भी है, क्योंकि, पत्थरके द्वारा भूमिमें गेहूँ आदि अनाज कभी भी उत्पन्न नहीं किये जाते हैं । अभिप्राय यह है कि समानजातीय पुरुष प्राणी समानजातीय स्त्रीसे समानजातीय सन्तानको ही उत्पन्न कर सकता है, न कि विपरीत दशामें ॥४४॥

४१) अ क इ द्रव्यलोभेन । ४२) क तत्रातीव; अ भवना° । ४३) इ ज्योतिषेण; अ ड इ महामनाः । ४४) क ड तदा धात्र्याम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वितीर्णा पाण्डवे कुन्ती विज्ञायान्धकवृष्टिना[2] ।
गान्धारी धृतराष्ट्राय[3] दोषं प्रच्छाद्य धीमता ॥४५

इत्यन्यथा पुराणार्थो व्यासेन कथितो ऽन्यथा ।
रागद्वेषग्रहग्रस्ता न हि बिभ्यति पापतः ॥४६

युक्तितो घटते यन्न तद् ब्रुवन्ति न धार्मिकाः ।
युक्तिहीनानि वाक्यानि भाषन्ते पापिनः परम् ॥४७

संबन्धा भुवि दृश्यन्ते सर्वे सर्वस्य भूरिशः ।
भर्तॄणां क्वापि पञ्चानां नैकया भार्यया पुनः ॥४८

सर्वे सर्वेषु कुर्वन्ति संविभागं महाधियः ।
महेलासंविभागस्तु निन्द्यानामपि निन्दितः ॥४९

व्यासो योजनगन्धाया यः पुत्रः स परो मतः ।
धन्याया राजकन्यायाः सत्यवत्याः पुनः प्रियः ॥५०

४५) १. पाण्डु । २. कुन्तीस्वरूपं ज्ञात्वा । ३. दत्ता ।

कुन्तीके उपर्युक्त वृत्तको जानकर उसे बुद्धिमान् अन्धकवृष्टि राजाने उस दोषको छिपाते हुए पाण्डुके लिये प्रदान कर दिया—उसके साथ उसका विवाह कर दिया । साथ ही उसने गान्धारीको धृतराष्ट्रके लिए भी प्रदान कर दिया ॥४५॥

इस प्रकार पुराणका वृत्तान्त तो अन्य प्रकार है, परन्तु व्यास ऋषिने उसका निरूपण अन्य प्रकारसे—विपरीत रूपसे—किया है । ठीक है—जो जन राग व द्वेषरूप पिशाचसे पीड़ित होते हैं वे पापसे नहीं डरा करते हैं ॥४६॥

जो वृत्त युक्तिसे संगत नहीं होता है उसका कथन धर्मात्मा जन नहीं किया करते हैं । युक्तिसे असंगत वाक्योंका उच्चारण तो केवल पापी जन ही किया करते हैं ॥४७॥

लोकमें सबके सब सम्बन्ध बहुत प्रकारके देखे जाते हैं, परन्तु एक ही स्त्रीसे पाँच भाइयोंका सम्बन्ध कहींपर भी नहीं देखा जाता है ॥४८॥

इसी प्रकार सब ही बुद्धिमान् सबके साथ द्रव्यादिका विभाजन किया करते हैं, परन्तु स्त्रीका विभाजन तो नीच जनोंके द्वारा भी निन्दनीय माना जाता है ॥४९॥

जो व्यास योजनगन्धाका पुत्र था वह भिन्न माना गया है और प्रशंसनीय सत्यवती नामकी राजकन्याका पुत्र व्यास भिन्न माना गया है ॥५०॥

४५) अ °न्धकवह्निना । ४६) क इ बिभ्यन्ति । ४७) ब कर्षं for परम् । ४८) अ ड इ भुवि विलन्ते । ब सर्वे सर्वेण; अ इ महिला° । ५०) ब क ड इ पुनः परः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परः पाराशरो राजा तापसो ऽसौ पुनः परः ।
एकतां कुर्वते लोकास्तयोर्नामविमोहिताः ॥५१
दुर्योधनादयः पुत्रा गान्धार्या धृतराष्ट्रजाः ।
कुन्तीमद्र्योः सुताः पञ्च पाण्डवाः प्रथिता[1] भुवि ॥५२
गान्धारीतनयाः सर्वे कर्णेन सहिता नृपम् ।
जरासंधं निषेवन्ते पाण्डवाः केशवं पुनः ॥५३
जरासंधं रणे हत्वा वासुदेवो महाबलः ।
बभूव धरणीपृष्ठे समस्ते धरणीपतिः ॥५४
कुन्तीशरीरजाः कृत्वा तपो जग्मुः शिवास्पदम् ।
माद्रीशरीरजौ भव्यौ सर्वार्थसिद्धिमीयतुः ॥५५
दुर्योधनादयः सर्वे निषेव्य जिनशासनम् ।
आत्मकर्मानुसारेण प्रययुस्त्रिदिवास्पदम् ॥५६
ईदृशो ऽयं पुराणार्थो व्यासेन परथाकथि ।
मिथ्यात्वाकुलचित्तानां तथ्या[1] भाषा कुतस्तनी ॥५७

५२) १. विख्याताः ।
५७) १. सत्या ।

इसी प्रकार पूर्व व्यासका पिता वह पारासर तापस और उत्तर व्यासका पिता पारासर राजा ये दोनों भी भिन्न हैं। लोग दोनोंका एक ही नाम होनेसे अज्ञानतावश उन्हें अभिन्न मानते हैं ॥५१॥

धृतराष्ट्रके संयोगसे उत्पन्न हुए दुर्योधन आदि पुत्र गान्धारीके तथा पृथ्वीपर प्रसिद्ध पाँच पाण्डव (पाण्डुपुत्र) कुन्ती व मद्रीके पुत्र थे ॥५२॥

वे सब गान्धारीके पुत्र कर्णके साथ राजा जरासन्धकी सेवा किया करते थे तथा पाँचों पाण्डव कृष्णकी सेवा करते थे ॥५३॥

वसुदेवका पुत्र अतिशय प्रतापशाली कृष्ण युद्धमें जरासन्धको मारकर समस्त पृथिवीका—तीन खण्ड स्वरूप दक्षिणार्ध भरत क्षेत्रका—स्वामी हुआ ॥५४॥

कुन्तीसे उत्पन्न तीन पाण्डव—युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन—तपश्चरण करके मुक्तिको तथा मद्रीके भव्य पुत्र—नकुल व सहदेव—सर्वार्थसिद्धिको प्राप्त हुए ॥५५॥

शेष दुर्योधन आदि सब जैन धर्मका आराधन करके अपने-अपने कर्मके अनुसार स्वर्गादिको प्राप्त हुए हैं ॥५६॥

इस प्रकार यह पुराणका यथार्थ वृत्त है, जिसका वर्णन व्यासने विपरीत रूपसे किया है। सो ठीक भी है—जिनका अन्तःकरण मिथ्यात्वसे व्याप्त रहता है, वे यथार्थ कथन कहाँसे कर सकते हैं ? नहीं कर सकते ॥५७॥

५१) ब पुरः परासरो; इ जातस्तापसो....कुर्वन्ते । ५३) अ क ड इ जरासिन्धुं; ब निषेवन्तः । ५४) क धरणीतले, ड इ धरणीपीठे । ५५) अ क मद्री° । ५६) अ ब इ °स्त्रिदिवादिकम् । ५७) ब यो for अयम्; क तथा भाषा ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अप्रसिद्धिकरीं दृष्ट्वा पूर्वापरविरुद्धताम् ।
भारते निर्मिते व्यासः प्रैदध्याविति मानसे ॥५८
निरर्थकं कृतं कार्यं यदि लोके प्रसिध्यति[1] ।
असंबद्धं विरुद्धार्थं तदा शास्त्रमपि स्फुटम्[2] ॥५९
सं[1] ताम्रभाजनं क्षिप्त्वा जाह्नवीपुलिने[2] ततः ।
तस्योपरि चकारोच्चैर्वालुकापुञ्जमूर्जितम् ॥६०
तदीयं सिकतापुञ्जं विलोक्य सकलैर्जनैः ।
परमार्थमजानानैश्चक्रिरे[1] धर्मकाङ्क्षिभिः ॥६१
यावत्स्नानं विधायासौ वीक्षते ताम्रभाजनम् ।
तावत्तत्पुञ्जसंघाते न स्थानमपि बुध्यते ॥६२
पुलिनं[1]व्यापकं दृष्ट्वा वालुकापुञ्जसंचयम् ।
विज्ञाय लोकमूढत्वं स श्लोकमपठीदिमम् ॥६३
दृष्ट्वानुसारिभिर्लोकैः[1] परमार्थाविचारिभिः ।
तथा स्वं हार्यते कार्यं यथा मे ताम्रभाजनम् ॥६४

५८) १. चिन्तयामास ।
५९) १. प्रसिद्धीभवति । २. प्रसिध्यति ।
६०) १. व्यासः । २. क गङ्गातटे ।
६१) १. पुञ्जाः ।
६३) १. तट ।
६४) १. गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः । पश्य लोकस्य मूर्खत्वं हारितं ताम्रभाजनम् ॥

भारत (महाभारत) की रचना कर चुकनेके पश्चात् उसमें निन्दाके कारणभूत पूर्वापर विरोधको देखकर व्यासने अपने मनमें इस प्रकार विचार किया—यदि विना प्रयोजनके भी किया गया कार्य लोकमें प्रसिद्ध हो सकता है तो असम्बद्ध एवं विरुद्ध अर्थसे परिपूर्ण मेरा शास्त्र—महाभारत—भी स्पष्टतया प्रसिद्ध हो सकता है ॥५८–५९॥

इसी विचारसे व्यासने एक ताँबेके पात्र (कमण्डलु) को गंगाके किनारे रखकर उसके ऊपर बहुत-सी बालुकाके समूहका ढेर कर दिया ॥६०॥

उनके उस बालुकासमूहको देखकर यथार्थ स्वरूपको न जाननेवाले—अन्धश्रद्धालु जनोंने भी धर्म समझकर उसी प्रकारके बालुके ढेर कर दिये ॥६१॥

इस बीच स्नान करनेके पश्चात् जब व्यासने उस ताँबेके बर्तनको देखा तब वहाँ बालुकासमूहके इतने ढेर हो चुके थे कि उनमें उस ताम्रपात्रके स्थानका ही पता नहीं लग रहा था ॥६२॥

समस्त गंगातटको व्याप्त करनेवाले उस बालुका समूहकी राशिको देखकर व लोगोंकी इस अज्ञानताको जानकर व्यासने यह श्लोक पढ़ा—जो लोग दूसरेके द्वारा किये गये कार्यको

६०) ब क इ चकारोच्चं, ड चकारेत्थं; ड इ °पुञ्जसंचयम् । ६३) ब क °पठीदिदम् । ६४) अ दृष्टानुसारि°।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिथ्याज्ञानतमोव्याप्ते लोके ऽस्मिन्निर्विचारके।
एकः शतसहस्राणां मध्ये यदि विचारकः ॥६५
विरुद्धमपि मे शास्त्रं यास्यतीदं प्रसिद्धताम्।
इति ध्यात्वा तुतोषासौ दृष्ट्वा लोकविमूढताम् ॥६६
विज्ञायेत्थं पुराणानि लौकिकानि मनीषिभिः[1]।
न कार्याणि प्रमाणानि वचनानीव वैरिणाम् ॥६७
दर्शयामि पुराणं ते मित्रान्यदपि लौकिकम्।
उक्त्वेति परिजग्राह स रक्तपटरूपताम्[1] ॥६८
द्वारेण पञ्चमेनासौ प्रविश्य नगरं ततः।
आरूढः काञ्चने पीठे भेरीमाहत्य पाणिना ॥६९
समेत्य भूसुरैरुक्तो दृश्यसे त्वं विचक्षणः।
किं करोषि समं वादमस्माभिर्वेत्सि किंचन ॥७०

६७) १. विद्वद्भिः।
६८) १. बौद्धरूपम्।
७०) १. ब्राह्मणैः।

देखकर यथार्थताका विचार नहीं किया करते हैं वे अपने अभीष्ट कार्यको इस प्रकारसे नष्ट करते हैं जिस प्रकार इन लोगोंने मेरे ताम्रपात्रको नष्ट कर दिया—इतने असंख्य बालुकाके ढेरोंमें उसका खोजना असम्भव कर दिया ॥६३-६४॥

अज्ञानरूप अन्धकारसे व्याप्त इस अविवेकी लोकके भीतर लाखोंके बीचमें एक आध मनुष्य ही विचारशील उपलब्ध हो सकता है। ऐसी अवस्थामें विपरीत भी मेरा वह शास्त्र—महाभारत—प्रसिद्धिको प्राप्त हो सकता है। ऐसा विचार करके व लोगोंकी मूर्खताको देखकर अन्तमें व्यासको अतिशय सन्तोष हुआ ॥६५-६६॥

इस प्रकार लोकमें प्रसिद्ध उन पुराणोंको शत्रुओंके वचनोंके समान जानकर उन्हें विद्वानोंको प्रमाण नहीं करना चाहिये—उन्हें विश्वसनीय नहीं समझना चाहिये ॥६७॥

आगे मनोवेग कहता है कि हे मित्र! अब मैं तुम्हें और भी लोकप्रसिद्ध पुराणको—पुराणप्ररूपित वृत्तको—दिखलाता हूँ, इस प्रकार कहकर उसने रक्त वस्त्रके धारक परिव्राजकके वेषको ग्रहण किया ॥६८॥

तत्पश्चात् वह पाँचवें द्वारसे प्रविष्ट होकर नगरके भीतर गया और हाथसे भेरीको ताड़ित करता हुआ सुवर्णमय सिंहासन के ऊपर बैठ गया ॥६९॥

उस भेरीके शब्दको सुनकर ब्राह्मण आये और उससे बोले कि तुम विद्वान् दिखते हो, तुम क्या कुछ जानते हो व हम लोगोंके साथ शास्त्रार्थ करोगे? ॥७०॥

६५) ड व्याप्तलोके; ब निर्विचारकः। ६७) अ विज्ञायित्वम्; अ वचानीव हि, ड वचनान्येव। ६८) अ इ पुराणान्ते; इ °न्यदपि कौतुकम्....प्रतिजग्राह। ६९) अ नगरं गतः...कानके पीठे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आख्यदेषं[1] न जानामि किंचिच्छास्त्रमहं द्विजाः ।
अपूर्वभेरिमाताड्य निविष्टो ऽष्टापदासने ॥७१
ते प्रोचुर्मुञ्च भद्र त्वं वर्करं[1] प्राञ्जलं वद ।
सद्भाववादिभिः सार्धं तत्कुर्वाणो विनिन्द्यते ॥७२
स प्राह दृष्टमाश्चर्यं सूचयामि परं चके ।
निर्विचारतया यूयं मा ग्रहीथान्यथा स्फुटम् ॥७३
ते ऽवादिषुस्त्वमाचक्ष्व मा भैषीर्भद्र सर्वथा ।
वयं विवेचकाः सर्वे न्यायवासितमानसाः ॥७४
ततो रक्तपटः प्राह यद्येवं श्रूयतां तदा ।
उपासकसुतावावां[1] वन्दकानामुपासकौ[2] ॥७५
एकदा रक्षणायावां[1] दण्डपाणी नियोजितौ ।
शोषणाय स्ववासांसि[2] क्षोण्यां निक्षिप्य भिक्षुभिः ॥७६

७१) १. मनोवेगः ।
७२) १. वर्करम् ।
७५) १. आवाम् । २. बौद्धानाम् ।
७६) १. आवाम् । २. स्ववस्त्राणि ।

इसपर मनोवेग बोला कि हे ब्राह्मणो ! मैं किसी शास्त्रको नहीं जानता हूँ । मैं तो केवल अपूर्व भेरीको ताड़ित करके यों ही सुवर्ण-सिंहासनके ऊपर बैठ गया हूँ ॥७१॥

मनोवेगके इस उत्तरको सुनकर ब्राह्मण बोले कि हे भद्र ! तुम परिहास न करके सीधा-सच्चा अभिप्राय कहो । कारण यह कि जो समीचीन अभिप्राय प्रकट करनेवाले सत्पुरुषोंके साथ हास्यपूर्ण व्यवहारको करता है उसकी लोकमें निन्दा की जाती है ॥७२॥

इसपर मनोवेगने कहा कि मैं देखे हुए आश्चर्यकी सूचना तो करता हूँ, परन्तु ऐसा करते हुए भयभीत होता हूँ । आप लोग उसे अविवेकतासे विपरीत रूपमें ग्रहण न करें ॥७३॥

इसपर ब्राह्मण बोले कि भद्र ! तुमने जो देखा है उसे कहो, इसमें किसी भी प्रकारका भय न करो । कारण कि हम सब विचारशील हैं व हमारा मन न्यायसे संस्कारित है—वह पक्षपातसे दूषित नहीं है, अतः हम न्यायसंगत वस्तुस्वरूपको ही ग्रहण किया करते हैं ॥७४॥

तत्पश्चात् लाल वस्त्रका धारक वह मनोवेग बोला कि यदि ऐसा है तो फिर मैं कहता हूँ, सुनिये । हम दोनों उपासक—बुद्धभक्त गृहस्थ—के पुत्र व वन्दकोंके—बौद्धभिक्षुओंके—आराधक हैं ॥७५॥

एक बार भिक्षुओंने अपने वस्त्रोंको सुखानेके लिए पृथिवीपर फैलाया और उनकी रक्षाके लिये हाथमें लाठी देकर हम दोनोंको नियुक्त किया ॥७६॥

७१) अ अपूर्वे....विनिष्ठोष्टा° । ७२) अ ब ड ते प्राहुर्मुञ्च; अ त्वं कर्बरं प्राञ्जलं वदः । सद्भाव-वाचिभिः । ७३) क ग्रहीष्टान्यथा, ड गृह्णीयान्यथा, इ गृह्णीष्वान्यथा । ७४) क °माचष्ट । ७६) अ ब यष्टिपाणी; इ भिक्षुकाः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आवयो रक्षतोस्तत्र भिक्षुवासांसि यत्नतः ।
आजग्मतुः शृगालौ द्वौ भीषणौ स्थूलविग्रहौ ॥७७

त्रस्तावावां ततो यावदारूढौ स्तूपमूर्जितम् ।
तावदुत्पतितौ तं[1] तौ गृहीत्वा विगतौ दिवि[2] ॥७८

श्रुत्वावयोः स्वनं यावन्निर्गच्छन्ति तपस्विनः ।
योजनानि गतौ तावद् द्वादशैतौ महास्यदौ[1] ॥७९

मुक्त्वा स्तूपेमिमौ[2] भूम्यामावां खादितुमुद्यतौ ।
गृद्धौ सौनध्विकांश्चित्रानद्राष्टां शस्त्रधारिणः ॥८०
तावस्मद्भक्षणं त्यक्त्वा तेभ्यो भीतौ पलायितौ ।
करोति भोजनारम्भं न को ऽपि प्राणसंशये ॥८१

ततः पार्षदिकैः सार्धमागत्य विषयं[1] शिवम् ।
आवाभ्यां मन्त्रितं[2] द्वाभ्यां निश्चलीकृत्य मानसम् ॥८२

७८) १. स्तूपम् । २. आकाशे ।
७९) १. शीघ्रगामिनौ ।
८०) १. क क्षुद्रपर्वतम् । २. शृगालौ ।
८१) १. तौ ।
८२) १. देशम् । २. इति मन्त्रितम् ।

तदनुसार हम दोनों वहाँ उन भिक्षुओंके वस्त्रोंकी रक्षा प्रयत्नपूर्वक कर रहे थे । इतने में दो मोटे ताजे भयानक गीदड़ [गीध] वहाँ आ पहुँचे ॥७७॥

तब हम दोनों उनसे भयभीत होकर एक बड़े टीले के ऊपर चढ़े ही थे कि इतने में वे दोनों उस टीलेको उठाकर ऊपर उड़े और आकाशमें चले गये ॥७८॥

उस समय हमारे आक्रन्दनको सुनकर जब तक भिक्षु बाहर निकले तबतक वे दोनों बड़े वेगसे बारह योजन तक चले गये थे ॥७९॥

पश्चात् वे दोनों गीध उस टीलेको पृथिवीपर छोड़कर जैसे ही हम दोनोंको खानेके लिए उद्यत हुए वैसे ही उन्हें शास्त्रोंके धारक अनेक प्रकारके शिकारी कुत्तोंके साथ वहाँ आते हुए दिखाई दिये ॥८०॥

तब उनसे भयभीत होकर उन दोनोंने हमें खानेसे छोड़ दिया और स्वयं भाग गये । ठीक है—प्राण जानेकी शंका होनेपर कोई भी भोजनको प्रारम्भ नहीं करता है—किन्तु उसे छोड़कर अन्यत्र भाग जानेका ही प्रयत्न करता है ॥८१॥

तत्पश्चात् हम दोनोंने शिकारियोंके साथ शिव देशमें आकर मनको स्थिर करते हुए इस प्रकार विचार किया—हम दोनों दिङ्मूढ होकर इस दूसरेके देशको प्राप्त हुए हैं व अपने

७७) ड इ रक्षितोस्तत्र । ७८) अ वेगतो दिवि । ७९) अ ब क इ महास्पदौ । ८०) ब क ड इ गृध्रौ for गृद्धौ । ८१) इ प्राणसंकटे ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परकीयमिमं प्राप्तौ देशमाशाविमोहितौ ।
कथं मार्गमजानन्तौ यावो गेहमसंबलौ ॥८३

वरं कुलागतं कुर्वंस्तत्तपो[1] बुद्धभाषितम् ।
लोकद्वयसुखं सारं यतो नित्यं लभावहे ॥८४

रक्तानि सन्ति वस्त्राणि मुण्डयावः परं शिरः ।
आवां किमु करिष्यावो गेहेनानर्थकारिणा ॥८५

आवाभ्यामित्थमालोच्य गृहीतं व्रतमात्मना ।
स्वयमेव प्रवर्तन्ते पण्डिता धर्मकर्मणि ॥८६

भ्रमन्तौ धरणीमावां नगराकरमण्डिताम्[1] ।
भवदीयमिदं स्थानमागमाव द्विजाकुलम् ॥८७

शृगालस्तूपकोत्क्षेपं नयनाश्चर्यमीदृशम् ।
दृष्टं प्रत्यक्षमावाभ्यामिदं वो विनिवेदितम्[1] ॥८८

८४) १. तपसः ।

८७) १. समूह ।

८८) १. क इत्थं कथानकं युष्माकं कथितम् ।

घरके मार्गको नहीं जानते हैं तथा मार्गमें खाने के योग्य भोजन भी पासमें नहीं है। तब ऐसी अवस्थामें घरको कैसे जा सकते हैं ? वहाँ जाना सम्भव नहीं है। अच्छा तो अब यही होगा कि बुद्ध भगवान्के द्वारा उपदिष्ट जो तप कुलपरम्परासे चला आ रहा है, उसीका हम आचरण करें। कारण कि उससे हमें दोनों लोकों सम्बन्धी श्रेष्ठ व नित्य सुखकी प्राप्ति हो सकती है। वस्त्र तो अपने पास लाल हैं ही, बस अब शिरको और मुड़ा लेते हैं। जो घर अनेक अनर्थोंका कारण है उस घरसे हम दोनोंका क्या प्रयोजन सिद्ध होनेवाला है ? कुछ भी नहीं ॥८२-८५॥

इस प्रकारका विचार करके हम दोनोंने अपने-आप ही व्रतको ग्रहण कर लिया है। और वह ठीक भी है, क्योंकि, विद्वान् जन स्वयं ही धर्मकार्यमें प्रवृत्त हुआ करते हैं ॥८६॥

हम दोनों नगरों और खानोंसे (अथवा नगरसमूहसे) सुशोभित इस पृथिवीपर परिभ्रमण करते हुए ब्राह्मण जनसे परिपूर्ण इस आपके स्थानको आ रहे हैं ॥८७॥

गीदड़ोंके द्वारा टीलेको ऊपर उठाकर ले भागना, यह नेत्रोंको आश्चर्यजनक है; परन्तु इस प्रकारके आश्चर्यको हम दोनोंने प्रत्यक्ष देखा है व उसके सम्बन्धमें आपसे निवेदन किया है ॥८८॥

८३) ब परकीयमिमौ । ८४) ड लभ्यं for नित्यम् । ८५) ब करिष्यामो । ८६) ब °मालोक्य; अ क ड इ °मात्मनः । ८७) ड नगराकार°; अ °मागच्छाव । ८८) क °मित्थं वो ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इदं वचनमाकर्ण्य क्षितिदेवा बभाषिरे ।
असत्यमीदृशं भद्र व्रतस्थो भाषसे कथम् ॥८९

एकीकृत्य ध्रुवं स्रष्टा त्रैलोक्यासत्यवादिनः ।
त्वमकार्यन्यथेदृक्षैः किमसत्यो न दृश्यते ॥९०

निशम्य तेषां वचनं मनोषी जगाद खेटाधिपतेस्तनूजः ।
ईदृंशि[2] विप्रा भवतां पुराणे न भूरिशः किं वितथानि[3] सन्ति ॥९१

दोषं परेषामखिलो ऽपि लोको विलोकते स्वस्य न को ऽपि नूनम् ।
निरीक्षते चन्द्रमसः कलङ्कं न कज्जलं लोचनमात्मसंस्थम् ॥९२

बभाषिरे वेदविदां वरिष्ठा यदीदृशं भद्र पुराणमध्ये ।
त्वयेक्षितं ब्रूहि तदा विशङ्कं वयं त्यजामो वितथं विचार्य ॥९३

श्रुत्वेत्यवादीज्जितशत्रुसूनुर्जिनेन्द्रवाक्योदकधौतबुद्धिः ।
ज्ञात्वा द्विजास्त्यक्ष्यथ[1] यद्यसत्यं तदा पुराणार्थमहं ब्रवीमि ॥९४

९०) १. पुरुषो ऽपरः ।

९१) १. क जितशत्रोः । २. क वचनानि । ३. असत्यानि ।

९४) १. त्यजथ ।

मनोवेगके इस कथनको सुनकर ब्राह्मण बोले कि हे भद्र ! तुम व्रतमें स्थित रहकर इस प्रकारका असत्य भाषण कैसे करते हो ? ॥८९॥

हमें ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्माने निश्चित ही तीनों लोकोंके असत्यभाषियोंको एकत्रित करके तुम्हें रचा है । कारण कि यदि ऐसा न होता तो फिर इस प्रकारका असत्य-भाषी अन्य क्यों नहीं देखा जाता है ? और भी ऐसे असत्यभाषी देखे जाने चाहिए थे ॥९०॥

ब्राह्मणोंके इस भाषणको सुनकर वह विद्याधर राजाका बुद्धिमान् पुत्र बोला कि हे ब्राह्मणो ! आप लोगोंके पुराणोंमें क्या इस प्रकारके बहुतसे असत्य नहीं हैं ? ॥९१॥

दूसरोंके दोषको तो सब ही जन देखा करते हैं, परन्तु अपने दोषको निश्चयसे कोई भी नहीं देखता है । ठीक है—चन्द्रमाके कलंकको तो सभी जन देखते हैं, परन्तु अपने आपमें स्थित काजलयुक्त नेत्रको कोई भी नहीं देखता है ॥९२॥

मनोवेगके इस आरोपको सुनकर वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ वे ब्राह्मण बोले कि हे भद्र ! यदि तुमने हमारे पुराणमें इस प्रकारका असत्य देखा है तो तुम उसे निर्भय होकर कहो, तब हम विचार करके उस असत्यको छोड़ देंगे ॥९३॥

ब्राह्मणोंके इन वाक्योंको सुनकर जिसकी बुद्धि जिनेन्द्र भगवान्‌के वचनरूप जलके द्वारा धुल चुकी थी ऐसा वह जितशत्रुका पुत्र मनोवेग बोला कि हे ब्राह्मणो ! यदि आप जान करके उस असत्यको छोड़ देंगे तो फिर मैं पुराणके उस वृत्तको कहता हूँ ॥९४॥

९०) इ त्वमाकार्य° । ९१) अ क वितथा न । ९३) अ ब विशङ्को ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निहत्य रामस्त्रिशिरःखराद्यान्[1] आस्ते[2] समं लक्ष्मणजानकीभ्याम् ।
यावद्वने[3] वीररसानुविद्धो लङ्काधिपस्तावदियाय तत्र ॥९५
स छद्मना हेममयं कुरङ्गं प्रदर्श्य रामाय जहार सीताम् ।
निपात्य पक्षाधिकृतं शकुन्तं[1] नोपद्रवं कस्य करोति कामी ॥९६
निहत्य वालिं बलिनं बलिष्ठः सुग्रीवराजे कपिभिः समेते ।
संमीलिते प्रेषयति स्म वार्तां लब्धुं हनूमन्तमसौ[1] प्रियायाः ॥९७
तत्रायाते[2] ऽमितगतिरये[3] वीक्ष्य रक्षोनिवासे
सीतामाज्ञां लघु रघुपतिर्वानराणां वितीर्य ।
शैलैस्तुङ्गैर्जलनिधिजले बन्धयामास सेतुं
कान्ताकाङ्क्षी किमु न कुरुते कार्यमाश्चर्यकारि ॥९८
इति धर्मपरीक्षायाममितगतिकृतायां पञ्चदशः परिच्छेदः ॥१५

९५) १. दैत्यान् । २. तिष्ठति । ३. गुहायाम् ।
९६) १. जटापक्षिणम् ।
९७) १. क रामः ।
९८) १. हनूमति; क लङ्कायाम् । २. सति । ३. वेगे ।

रामचन्द्र त्रिशिर और खर आदि राक्षसोंको मारकर लक्ष्मण और सीताके साथ वनमें अवस्थित थे कि इतने में वहाँ वीररससे परिपूर्ण—प्रतापी—लंकाका स्वामी (रावण) आया ॥९५॥

उसने छलपूर्वक रामके लिए सुवर्णमय मृगको दिखलाकर व रक्षाके कार्यमें नियुक्त पक्षी—जटायुको—मारकर सीताका अपहरण कर लिया। सो ठीक है—कामी मनुष्य किसके लिए उपद्रव नहीं करता है ? वह अपने अभीष्टको सिद्ध करनेके लिए जिस किसीको भी कष्ट दिया ही करता है ॥९६॥

तत्पश्चात् अतिशय प्रतापी रामने बलवान् वालिको मारकर बन्दरोंके साथ सुग्रीव राजाको अपनी ओर मिलाया और तब सीता के वृत्तान्तको जाननेके लिये उसने हनुमान्को लंका भेजा ॥९७॥

इस प्रकार अपरिमित गमनके वेगसे परिपूर्ण—अतिशय शीघ्रगामी—वह हनुमान् लंका गया और वहाँ राक्षस रावणके निवासगृहमें सीताको देखकर वापस आ गया। तब रामने शीघ्र ही बन्दरोंको आज्ञा देकर उन्नत पर्वतोंके द्वारा समुद्रके जलके ऊपर पुलको बँधवा दिया। ठीक है—स्त्रीका अभिलाषी मनुष्य कौनसे आश्चर्यजनक कार्यको नहीं करता है—वह उसकी प्राप्तिकी इच्छासे कितने ही आश्चर्यजनक कार्योंको भी कर डालता है ॥९८॥

इस प्रकार आचार्य अमितगतिविरचित धर्मपरीक्षामें
पन्द्रहवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ॥१५॥

९५) ब °रसानुबद्धो । ९६) अ ड रक्षाधिकृतम् ; अ सुकान्तं for शकुन्तम् । ९७) अ सुग्रीववालिः ।
९८) इ °गतिरवौ; अ सीतामज्ञाम्; क पञ्चदशमः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकैको वानरः पञ्च जगामाथ धराधरान्[1] ।
गृहीत्वा हेलयाकाशे कुर्वन् क्रीडामनेकधा ॥१
रामायणाभिधे शास्त्रे वाल्मीकिमुनिना कृते ।
किं भो दाशरथेर्वृत्तमीदृक्षं कथ्यते न वा ॥२
ते ऽवोचन्नीदृशं सत्यं केनेदं क्रियते ऽन्यथा ।
प्रभातं छाद्यते जातु न केनापि हि पाणिना ॥३
ततो रक्तपटो ऽलापोद्यदेको वानरो द्विजाः ।
आदाय पर्वतान् पञ्च गगने याति लीलया ॥४
शृगालौ द्वौ तदा स्तूपमेकमादाय मांसलौ[1] ।
व्रजन्तौ नभसि क्षिप्रं वार्यते केन कथ्यताम् ॥५
भवदीयमिदं सत्यं मदीयं[1] नात्र दृश्यते ।
विचारशून्यतां हित्वा कारणं न परं मया ॥६

१) १. पर्वतान् ।
५) १. मांसपूरितौ ।
६) १. सत्यम् ।

उस समय रामकी आज्ञासे एक-एक बन्दर पाँच-पाँच पर्वतोंको अनायास लेकर आकाशमें अनेक प्रकारकी क्रीड़ा करता हुआ वहाँ जा पहुँचा ॥१॥

मनोवेग कहता है कि हे ब्राह्मणो ! वाल्मीकि मुनिके द्वारा विरचित रामायण नामक शास्त्रमें रामका वृत्त इसी प्रकारसे कहा गया है कि नहीं ॥२॥

इसपर ब्राह्मणोंने कहा कि सचमुचमें ही वह इसी प्रकारका है, उसे अन्य प्रकार कौन कर सकता है । कारण कि कोई भी हाथके द्वारा कभी प्रभातको—सूर्यके प्रकाशको—नहीं आच्छादित कर सकता है ॥३॥

ब्राह्मणोंके इस उत्तरको सुनकर रक्त वस्त्रका धारक वह मनोवेग बोला कि हे विप्रो ! यदि एक-एक बन्दर पाँच-पाँच पर्वतोंको लेकर आकाशमें अनायास जा सकता है तो फिर हम दोनोंके साथ उस टीलेको लेकर शीघ्रतासे आकाशमें जाते हुए उन दोनों पुष्ट शृगालोंको कौन रोक सकता है, यह हमें कहिए ॥४-५॥

आपका यह रामायणकथित वृत्त सत्य है और मेरा वह कहना सत्य नहीं है, इसका कारण यहाँ मुझे विवेकहीनताको छोड़कर और दूसरा कोई भी नहीं दिखता है ॥६॥

१) इ महीधरान् । २) अ वृत्तं किमर्थम् । ३) ड स्व for हि । ४) अ ड °द्यद्येको । ५) अ नौ for द्वौ; ब क वार्येते । ६) ड नापरम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

युष्माकमीदृशे शास्त्रे देवधर्मावपीदृशौ ।
कारणे कश्मले कार्यं निर्मलं जायते कुतः ॥७

नास्माकं युज्यते मध्ये मिथ्याज्ञानवृतात्मनाम् ।
ईदृशानामवस्थातुमुक्त्वासौ निर्ययौ ततः ॥८

मुक्त्वा रक्तपटाकारं मित्रमूचे मनोजवः[1] ।
सर्वासंभावनीयार्थं परशास्त्रं श्रुतं त्वया ॥९

एतदुक्तमनुष्ठानं कुर्वाणो नाश्नुते फलम् ।
सिकतापीलने तैलं कदा केनोपलभ्यते ॥१०

वानरै राक्षसा हन्तुं शक्यन्ते न कथंचन ।
क्व महाष्टगुणा देवाः क्व तिर्यञ्चो विचेतसः ॥११

उत्क्षिप्यन्ते कथं शैला गरीयांसः प्लवङ्गमैः[1] ।
कथं तिष्ठन्त्यकूपारे ऽगाधनिर्मुक्तपाथसि[2] ॥१२

९) १. मनोवेगः ।

१२) १. वानरैः । २. पाररहितसमुद्रे ।

आपके शास्त्रके इस प्रकार—दोषपूर्ण—होनेपर देव और धर्म भी उसी प्रकारके—दोषपूर्ण—होने चाहिए । इसका हेतु यह है कि कारणके सदोष होनेपर कार्य निर्मल कहाँसे हो सकता है ? अर्थात् कारणके मलिन होनेपर कार्य भी मलिन होगा ही ॥७॥

जिनकी आत्मा मिथ्याज्ञानसे आच्छादित हो रही है इस प्रकारके विद्वानोंके बीचमें हमारा स्थित रहना उचित नहीं है, ऐसा कहकर वह मनोवेग वहाँसे चल दिया ॥८॥

तत्पश्चात् रक्त वस्त्रधारी भिक्षुके वेषको छोड़कर वह मनोवेग पवनवेगसे बोला कि हे मित्र ! तुमने सब ही असम्भावनीय अर्थोंसे—असंगत वर्णनोंसे—परिपूर्ण दूसरोंके शास्त्रको सुन लिया है । उसमें उपदिष्ट अनुष्ठानको करनेवाला—तदनुसार क्रियाकाण्डमें प्रवृत्त होनेवाला—प्राणी उत्तम फलको—समीचीन सुखको—नहीं प्राप्त कर सकता है । कारण कि बालुके पीलनेसे कभी किसीको तेल नहीं प्राप्त हो सकता है ॥९-१०॥

जैसा कि उक्त रामायणादिमें कहा गया है, बन्दर किसी प्रकारसे भी राक्षसोंको नहीं मार सकते हैं । कारण कि अणिमा-महिमा आदि आठ महागुणोंके धारक वे राक्षस—उस जातिके व्यन्तर देव—तो कहाँ और वे विवेकहीन पशु कहाँ ? अर्थात् उक्त राक्षस देवोंके साथ उन तुच्छ बन्दरोंकी कुछ भी गणना नहीं की जा सकती है ॥११॥

उतने भारी पर्वतोंको भला वे बन्दर कैसे उठा सकते हैं तथा वे पर्वत भी अगाध जलसे परिपूर्ण समुद्रके मध्यमें कैसे अवस्थित रह सकते हैं—उनका पुलके रूपमें जलके ऊपर रहना सम्भव नहीं है ॥१२॥

८) अ ब °स्थातुमित्युक्त्वा । ९) ड °यार्थपरशास्त्रम् । १०) अ शक्तायाः पीडने तैलम्; क इ वद for कदा ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वरप्रसादतो जातो यद्यवध्यो दिवौकसाम्[1] ।
तदासौ मानवीभूय हन्यते केन रावणः ॥१३

अमरा वानरीभूय निर्जघ्नू राक्षसाधिपम् ।
नैषापि युज्यते भाषा नेप्सिता लभ्यते गतिः ॥१४

सर्ववेदी कथं दत्ते शंकरो[1] वरमीदृशम् ।
देवानामपि दुर्वारं भुवनोपद्रवो यतः[2] ॥१५

नार्थः[1] परपुराणेषु चिन्त्यमानेषु दृश्यते ।
नवनीतं कदा तोये मथ्यमाने हि लभ्यते ॥१६

शाखामृगा[1] भवन्त्येते न सुग्रीवपुरःसराः[2] ।
न लोककल्पिता मित्र राक्षसा रावणादयः ॥१७

विद्याविभवसंपन्ना जिनधर्मपरायणाः ।
शुचयो मानवाः[1] सर्वे सदाचारा महौजसः[2] ॥१८

१३) १. देवानाम् ।
१५) १. क रुद्रः । २. वरात् ।
१६) १. सत्यार्थः ।
१७) १. वानराः । २. प्रमुखाः ।
१८) १. एते । २. महाबलाः ।

जो रावण शंकरके वरदानको पाकर देवताओंके द्वारा भी नहीं मारा जा सकता था वही रावण मनुष्य होकर क्या रामके द्वारा मारा जा सकता है ? नहीं मारा जाना चाहिए, अन्यथा उस वरदानकी निष्फलता अनिवार्य है ॥१३॥

यदि कदाचित् यह भी कहा जाये कि देवताओंने ही बन्दर होकर उस रावणको मारा था तो यह कहना भी योग्य नहीं हो सकता है, क्योंकि, कोई भी कभी इच्छानुसार गतिको—मनुष्य व देवादिकी अवस्थाको—नहीं प्राप्त कर सकता है ? ॥१४॥

दूसरे, जब महादेव सर्वज्ञ था तब उसने उस रावणको वैसा वरदान ही कैसे दिया, जिससे कि उसके द्वारा लोकमें किये जानेवाले उपद्रवको देव भी न रोक सकें ॥१५॥

इस प्रकार दूसरोंके पुराणोंके विषयमें विचार करनेपर वहाँ कुछ भी तत्त्व अथवा लाभ नहीं देखा जाता है। ठीक भी है—पानीके मथनेपर भला मक्खन कब व किसको प्राप्त हुआ है ? वह कभी किसीको भी प्राप्त नहीं हुआ है—वह तो दहीके मथनेपर ही प्राप्त होता है, न कि पानीके मथनेपर ॥१६॥

हे मित्र ! जैसी कि अन्य लोगोंने कल्पना की है, तदनुसार न तो ये सुग्रीव आदि बन्दर थे और न रावण आदि राक्षस भी थे ॥१७॥

वे सब—सुग्रीव एवं रावण आदि—विद्या व वैभव (अथवा विद्याकी समृद्धि) से परिपूर्ण, जैन धर्मके आराधनमें तत्पर, पवित्र, सदाचारी और अतिशय प्रतापी मनुष्य थे ॥१८॥

१३) अ किं स, ब किं न for केन। १४) अ ब निजघ्नू; ड गतिम् । १५) अ ड दुर्वारो ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ततः शाखामृगाः प्रोक्ता यतः शाखामृगध्वजाः ।
सिद्धानेकमहाविद्या राक्षसा राक्षसध्वजाः ॥१९
गौतमेन यथा प्रोक्ताः[1] श्रेणिकाय गणेशिना ।
श्रद्धातव्यास्[2]तथा भव्यैः शशाङ्कोज्ज्वलदृष्टिभिः ॥२०
परकीयं परं[1] साधो पुराणं दर्शयामि ते ।
इत्युक्त्वा श्वेतभिक्षुत्वं जग्राहासौ समित्रकः ॥२१
एष द्वारेण षष्ठेन गत्वा पुष्पपुरं ततः ।
आस्फाल्य सहसा भेरीमारूढः कनकासने ॥२२
आगत्य ब्राह्मणैः पृष्टः किं वेत्सि को गुरुस्तव ।
कर्तुं शक्नोषि किं वादं सौष्ठवं दृश्यते परम् ॥२३
तेनोक्तं वेद्मि नो किंचित् विद्यते न गुरुर्मम ।
वादनामापि नो वेद्मि वादशक्तिः कुतस्तनी ॥२४
अदृष्टपूर्वकं दृष्ट्वा निविष्टो ऽष्टापदासने ।
प्रताड्य महतीं भेरीं महाशब्ददिदृक्षया ॥२५

२०) १. एते सुग्रीवरावणादयः । २. माननीयाः ।
२१) १. अन्यम् ।

ध्वजामें बन्दरका चिह्न होनेसे सुग्रीव आदि बन्दर कहे गये हैं तथा राक्षसका चिह्न होनेसे रावण आदि राक्षस कहे गये हैं । दोनोंको ही अनेक महाविद्याएँ सिद्ध थीं ॥१९॥

उनका स्वरूप जिस प्रकार गौतम गणधरने श्रेणिकके लिए कहा था, चन्द्रमाके समान निर्मल दृष्टिवाले भव्य जीवोंको उसका उसी प्रकारसे श्रद्धान करना चाहिए ॥२०॥

हे मित्र ! अब मैं तुम्हें दूसरोंके पुराणके विषयमें और भी कुछ दिखलाता हूँ, यह कहकर मनोवेगने मित्रके साथ कौलिकके आकारको—तान्त्रिक मतानुयायीके वेषको—ग्रहण किया ॥२१॥

तत्पश्चात् वह छठे द्वारसे पाटलीपुत्र नगरके भीतर गया और अकस्मात् भेरीको बजाकर सुवर्णसिंहासनके ऊपर बैठ गया ॥२२॥

भेरीके शब्दको सुनते ही ब्राह्मणोंने आकर उससे पूछा कि तुम क्या जानते हो, तुम्हारा गुरु कौन है, और क्या तुम हम लोगोंसे शास्त्रार्थ कर सकते हो या केवल बाह्य अतिशयता ही दिखती है ॥२३॥

ब्राह्मणोंके प्रश्नोंको सुनकर मनोवेग बोला कि मैं कुछ नहीं जानता हूँ, तथा गुरु भी मेरा कोई नहीं है । मैं तो शास्त्रार्थके नामको भी नहीं जानता हूँ, फिर भला शास्त्रार्थकी शक्ति मुझमें कहाँसे हो सकती है ॥२४॥

मैंने पूर्वमें कभी ऐसे सुवर्णमय आसनको नहीं देखा था, इसीलिए इस अपूर्व आसन को देखकर उसके ऊपर बैठ गया हूँ तथा भेरीके दीर्घ शब्दको देखनेकी इच्छासे इस विशाल भेरीको बजा दिया था ॥२५॥

२१) अ कोलकाकारं for श्वेतभिक्षुत्वम् । २५) ड °पदासनम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आभीरतनयौ मूर्खौ सर्वशास्त्रबहिष्कृतौ ।
पर्यटावो महीं भीत्या गृहीत्वावां स्वयं तपः ॥२६
ते ऽभाषन्त कुतो भीत्या युवाभ्यां स्वीकृतं तपः ।
उपरोधेन[1] जल्प त्वमस्माकं कौतुकं परम् ॥२७
श्वेतभिक्षुस्ततो ऽजल्पीदाभीरविषये पिता ।
आवयोरुरणश्रीको[1] वृक्षग्राममवस्थितः ॥२८
अन्येद्युरविपालस्य पित्रा जाते ज्वरे सति ।
आवामुरणरक्षार्थं प्रहितावटवीं गतौ ॥२९
बहुशाखोपशाखाढ्यः कुटुम्बीव फलानतः ।
कपित्थपादपो दृष्टस्तत्रावाभ्यां महोदयः ॥३०
ततो ऽवादि मया भ्राता कपित्थादनचेतसा ।
अहमद्रि कपित्थानि रक्ष भ्रातरेवीरिमाः[2] ॥३१

२७) १. प्रसादेन ।
२८) १. मिढाविक्रिय ।
३१) १. प्रति । २. मिंढकान् ।

हम दोनों अहीरके मूर्ख लड़के हैं व किसी भी शास्त्रका परिज्ञान हमें सर्वथा नहीं है । हम तो भयसे स्वयं तपको ग्रहण करके पृथिवीपर घूम रहे हैं ॥२६॥

मनोवेगके इस उत्तरको सुनकर ब्राह्मण बोले कि तुमने भयसे तपको कैसे ग्रहण किया है, यह तुम हमारे आग्रहसे हमें कहो । कारण कि हमें उसके सम्बन्धमें बहुत कुतूहल हो रहा है ॥२७॥

उनके आग्रहपर वह चार्वाक वेषधारी मनोवेग बोला कि आभीर देशके भीतर वृक्ष-ग्राममें हम दोनोंका उरणश्री नामका पिता रहता था ॥२८॥

एक दिन भेड़ोंके पालकको—चरवाहेको—ज्वर आ गया था, इसलिए पिताने हम दोनोंको भेड़ोंकी रक्षाके लिए वनमें भेजा, तदनुसार हम दोनों वहाँ गये भी ॥२९॥

वहाँ हमने कुटुम्बी (कृषक) के समान एक कैंथके वृक्षको देखा—कुटुम्बी यदि बहुत-सी शाखा-उपशाखाओं (पुत्र-पौत्रादिकों) से संयुक्त होता है तो वह वृक्ष भी अपनी बहुत-सी शाखाओं व उपशाखाओं (बड़ी-छोटी टहनियों) से संयुक्त था, कुटुम्बी जिस प्रकार धान्यकी प्राप्तिसे नम्रीभूत होता है उसी प्रकार यह वृक्ष भी अपने विशाल फलोंसे नम्रीभूत हो रहा था—उनके भारसे नीचेकी ओर झुका जा रहा था, तथा जैसे कुटुम्बी महान् उदयसे—धन-धान्य आदि समृद्धिसे—सम्पन्न होता है वैसे वह वृक्ष भी महान् उदयसे—ऊँचाईसे—सहित था ॥३०॥

उसे देखकर मेरे मनमें कैंथ फलोंके खानेकी इच्छा उदित हुई । इसलिए मैंने भाईसे कहा कि हे भ्रात, मैं कैंथके फलोंको खाता हूँ, तुम इन भेड़ोंकी रखवाली करना ॥३१॥

२६) अ इ गृहीत्वा वा । २७) ड ते भाषन्ते । २८) अ स चार्वाकस्ततो; क ड इ °रुरणश्रीको; ब क ड इ ग्रामव्यवस्थितः । २९) इ पितुर्जाते । ३०) इ °स्तत्र द्वाभ्याम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ततः पालयितुं याते[1] सोदर्ये[2] ऽस्मिन्नवीगणम् ।
दुरारोहं तमालोक्य कपित्थं चिन्तितं मया ॥३२
न शक्नोम्यहमारोढुं दुरारोहे ऽत्र पादपे ।
खादामि कथमेतानि[1] बुभुक्षाक्षीणकुक्षिकः ॥३३
स्वयं च सन्मुखं गत्वा विचिन्त्येति चिरं मया ।
छित्त्वा शिरो निजं क्षिप्रं सर्वप्राणेन पादपे ॥३४
यथा यथा कपित्थानि स्वेच्छयात्ति शिरो मम ।
महासुखकरीं तृप्तिं गात्रं याति तथा तथा ॥३५
विलोक्य जठरं पूर्णमधस्तादेत्य मस्तके ।
कण्ठे निःसंधिके लग्ने गतो द्रष्टुमवीरहम् ॥३६
यावत्ततो व्रजामि स्म कुमारमवलोकितुम् ।
तावच्छयितमद्राक्षं भ्रातरं काननान्तरे ॥३७
उत्थाप्य स मया पृष्टो भ्रातर्यातः क्व मेषिकाः ।
तेनोक्तं मम सुप्तस्य क्वापि तात पलायिताः ॥३८

३२) १. गते । २. भ्रातरि ।
३३) १. कपित्थानि ।

तदनुसार इस भाईके भेड़समूहकी रक्षाके लिए चले जानेपर मैंने उस कैंथके वृक्षको चढ़नेके लिए अशक्य देखकर यह विचार किया कि यह वृक्ष चूँकि बहुत ऊँचा है, अत एव मेरा उसके ऊपर चढ़ना कठिन है, और जब मैं उसके ऊपर चढ़ नहीं सकता हूँ तब मैं भूखसे पीड़ित होकर भी उन फलोंको कैसे खा सकता हूँ ॥३२-३३॥

इस प्रकार दीर्घकाल तक विचार करके मैंने स्वयं उसके सम्मुख जाकर अपने सिरको काट लिया और उसे सब प्राणके साथ उस वृक्षके ऊपर फेंक दिया ॥३४॥

वह मेरा सिर जैसे-जैसे इच्छानुसार उन कैंथके फलोंको खा रहा था वैसे-वसे मेरा शरीर अतिशय सुखको उत्पन्न करनेवाली तृप्तिको प्राप्त हो रहा था ॥३५॥

इस प्रकारसे उन फलोंको खाते हुए मस्तकने जब देखा कि अब पेट भर चुका है तब वह नीचे आया और छिद्ररहित होकर कण्ठमें जुड़ गया। तत्पश्चात् मैं भेड़ोंको देखनेके लिए गया ॥३६॥

जैसे ही मैं कुमारको—भाईको—देखनेके लिए वहाँसे आगे बढ़ा वैसे ही मैंने भाईको वनके बीचमें सोता हुआ देखा ॥३७॥

तब मैंने उसे उठाकर पूछा कि हे भ्रात ! भेड़ें कहाँ गयी हैं। इसपर उसने उत्तर दिया कि हे पूज्य ! मैं सो गया था, इसलिए मुझे ज्ञात नहीं है कि वे किधर भाग गयी हैं ॥३८॥

३३) ड तु for अत्र । ३४) अ स्वयमत्र मुखं गत्वा; ब स्वयमत्तुं मुखम्; अ ड क्षिप्रं for क्षिप्तम् । ३५) ब महत्सुख° । ३६) अ ड इ मस्तकम्; ड इ निःसंधिकं लग्नम् । ३७) अ कुमारीरवं°, ब कुमारीमवं°; ब कानन्नान्तरम् । ३८) इ स उत्थाप्य; अ पृष्टो पतयानाः क्व, क इ रे ता for भ्रातः; इ भ्रातः for तात ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भ्राता ततो मया प्रोक्तो नष्ट्वा यावः कुतश्चन ।
निग्रहीष्यति विज्ञाय कोपिष्यति पितावयोः ॥३९

परं गतौ मरिष्यावः परदेशे बुभुक्षया ।
निलिङ्गौ येन तेनावां भवावो भद्र लिङ्गिनौ ॥४०

यष्टिकम्बलमुण्डत्वलक्षणं लिङ्गमावयोः ।
विद्यते श्वेतभिक्षूणां सुखभोजनसाधनम् ॥४१

कुलेन सितवस्त्राणां यतो नौ भाक्तिकः पिता ।
श्वेतभिक्षू भवावो ऽतो नान्यलिङ्गैः प्रयोजनम् ॥४२

इति ज्ञात्वा[1] स्वयं भूत्वा श्वेताम्बरतपोधनौ ।
आयातौ भवतां स्थाने हिण्डमानौ महीतलम् ॥४३

ते प्राहुर्न बिभेषि त्वं यद्यपि श्वभ्रपाततः ।
तथापि युज्यते वक्तुं नेदृशं व्रतवर्तिनम् ॥४४

अभाषिष्ट ततः खेटो धृतश्वेताम्बराकृतिः ।
किं वाल्मीकिपुराणे वो विद्यते नेदृशं वचः ॥४५

४३) १. ज्ञात्वा ।

यह सुनकर मैंने भाईसे कहा कि तो फिर चलो भागकर कहीं अन्यत्र चलें। कारण कि जब पिताको यह ज्ञात होगा कि भेड़ें कहीं भाग गयी हैं तब वह हम दोनोंके ऊपर रुष्ट होगा व हमें दण्ड देगा ॥३९॥

परन्तु यदि किसी वेषको धारण करनेके बिना परदेशमें चलते हैं तो भूखसे पीड़ित होकर मर जायेंगे, अतएव हे भद्र ! इसके लिए हम दोनों किसी वेषके धारक हो जायें ॥४०॥

शरीरमें भस्म लगाना व कथड़ीके साथ नरकपालको धारण करना, यह कर्णमुद्रों (?) का वेष है जो हम दोनोंके लिए सुखपूर्वक भोजनका कारण हो सकता है ॥४१॥

पिता कुलमें तान्त्रिक मतानुयायी भिक्षुओंका भक्त है। अतः हम दोनों कापालिक—वाममार्गी या अघोरपन्थी—हो जाते हैं, अन्य लिंगसे कुछ प्रयोजन नहीं है ॥४२॥

यह जान करके हम दोनों बृहस्पतिप्रोक्त चार्वाक मतानुयायी साधु बन गये व इस प्रकारसे पृथिवीपर घूमते हुए आपके नगरमें आये हैं ॥४३॥

मनोवेगके इस वृत्तको सुनकर ब्राह्मण बोले कि यद्यपि तुम नरकमें जानेसे नहीं डरते हो फिर भी जो व्रतमें स्थित हैं उन्हें इस प्रकारसे नहीं बोलना चाहिए ॥४४॥

तत्पश्चात् कापालिकके वेषको धारण करनेवाला वह मनोवेग बोला कि क्या आप लोगोंके वाल्मीकिपुराणमें इस प्रकारका कथन नहीं है ॥४५॥

४१) अ भस्मकन्थाकपालत्वलक्षणं....विद्यते कर्णमुद्राणसुख° । ४२) अ कुले कौलकभिक्षूणां, इ कुलेन श्वेतभिक्षूणां; अ मे for नौ; अ कापालिकौ भवावो नौ । ४३) इ घ्यात्वा स्वयम्; अ बार्हस्पत्य for श्वेताम्बर; ब इ आयावो; अ ब स्थानम् । ४४) अ ब श्वभ्रयानतः; ब ड व्रतवर्तिनाम् । ४५) अ धृतकापालिकाकृतिः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऊचुस्ततो द्विजा दृष्टं त्वया क्वापि[1] यदीदृशम् ।
तदा व्याचक्ष्व निःशङ्कस्ततो ऽवादीन्नभश्चरः ॥४६

यो विंशतिमहाबाहुर्महाधैर्यो दशाननः ।
सो ऽभवद्राक्षसाधीशो विश्रुतो भुवनत्रये ॥४७

तेनाराधयता शंभुं स्थेयसीं भक्तिमीयुषा[1] ।
छिन्नानि करवालेन मस्तकानि नवात्मनः ॥४८

[1]फुल्लाधरदलैस्तेन पूजितो मुखपङ्कजैः ।
ततो गौरीपतिर्भक्त्या वरार्थी कुरुते न किम् ॥४९

निजेन बाहुना श्रव्यं[1] कृत्वा रावणहस्तकम् ।
संगीतं कर्तुमारेभे देवगान्धर्वमोहकम् ॥५०

गौरीवदनविन्यस्तां दृष्टिमाकृष्य धूर्जटिः ।
विलोक्य साहसं तस्य दत्तवानीप्सितं वरम् ॥५१

४६) १. पुराणे ।
४८) १. प्राप्तेन ।
४९) १. विकसितोष्ठदलैः ।
५०) १. मनोज्ञम् ।

इसके उत्तरमें वे ब्राह्मण बोले कि ऐसा कथन वाल्मीकिपुराणमें कहाँ है । यदि तुमने कहीं इस प्रकारका कथन देखा है तो तुम निर्भय होकर उसे कहो । इसपर मनोवेग विद्याधर इस प्रकार बोला ॥४६॥

जो रावण विशाल बीस भुजाओंसे सहित, अतिशय धीर और दस मुखोंसे संयुक्त था वह राक्षसोंका अधिपति हुआ है, यह तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है ॥४७॥

उसने स्थिर भक्तिके साथ शंकरकी आराधना करते हुए अपने नौ मस्तकोंको तलवारसे काटकर विकसित अधरोष्ठरूप पत्रोंसे सुशोभित उन मस्तकोंरूप कमलपुष्पोंके द्वारा पार्वतीके पतिकी—शंकरकी—भक्तिपूर्वक पूजा की थी । ठीक भी है—वरका अभिलाषी प्राणी किस कार्यको नहीं करता है ? वह वरकी अभिलाषासे दुष्कर कार्यको भी किया करता है ॥४८-४९॥

तत्पश्चात् अपनी भुजासे रावणहस्तकको श्रव्य करके (?) देवों व गन्धर्वोंको मोहित करनेवाले संगीतको प्रारम्भ किया ॥५०॥

उस समय शंकरकी जो दृष्टि पार्वतीके मुखपर स्थित थी उसे उस ओरसे हटाते हुए उन्होंने उसके साहसको देखकर उसे अभीष्ट वरदान दिया ॥५१॥

४६) अ कुतस्ततो । ४७) ब महावीर्यो; अ ब विख्यातो for विश्रुतो । ५०) इ गन्धर्व° । ५१) अ तस्या for तस्य ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निःसंधियोजिता भूयस्तत्र[1] मूर्धपरंपरा ।
उष्णाभिरस्रधाराभिः[2] सिञ्चन्ती धरणीतलम् ॥५२
किमीदृशः पुराणार्थो वाल्मीकीयो ऽस्ति भो न वा ।
निगद्यतां तदा सत्यं यूयं चेत्सत्यवादिनः ॥५३
ते व्याचचक्षिरे साधो सत्यमेवेदमीदृशम्[1] ।
प्रत्यक्षमीक्षितं ख्यातं को ऽन्यथा कर्तुमीशते[2] ॥५४
श्वेतभिक्षुस्ततो ऽवोचन्मूर्धानो यदि कर्तिताः ।
रावणस्य नवा लग्नास्तदैको न कथं मम ॥५५
युष्मदीयमिदं सत्यं नास्मदीयं वचः पुनः ।
कारणं नात्र पश्यामि मुक्त्वा मोहविजृम्भणम् ॥५६
हरः शिरांसि लूनानि पुनर्योजयते यदि ।
स्वलिङ्गं तापसैश्छिन्नं तदानीं किं न योजितम् ॥५७
स्वोपकाराक्षमः शंभुर्नान्येषामुपकारकः ।
न स्वयं मार्यमाणो हि परं रक्षति वैरितः ॥५८

५२) १. कबन्धके । २. अशुद्ध ।
५४) १. पुराणम् । २. समर्थाः ।

तत्पश्चात् रावणने गरम-गरम रुधिरकी धारासे पृथिवीतलको सींचनेवाली उन सिरोंकी परम्पराको बिना किसी प्रकारके छिद्रके फिरसे जोड़ दिया ॥५२॥

मनोवेग पूछता है कि हे विप्रो ! वाल्मीकिके द्वारा वर्णित पुराणका अभिप्राय क्या इसी प्रकारका है या अन्यथा । यदि आप सत्यभाषी हैं तो उसकी सत्यताको कहिए ॥५३॥

इसपर ब्राह्मण बोले कि हे भद्र ! सचमुचमें वह उसी प्रकारका है । जो प्रत्यक्षमें देखा गया है अथवा अतिशय प्रसिद्ध है उसे अन्य प्रकार करनेके लिए कौन समर्थ हैं ? ॥५४॥

ब्राह्मणोंके इस उत्तरको सुनकर भस्मका धारक वह मनोवेग बोला कि हे विद्वान् विप्रो ! जब कि वे रावणके काटे हुए नौ सिर पुनः जुड़ गये थे तो मेरा एक सिर क्यों नहीं जुड़ सकता है ? आपका यह कथन तो सत्य है, परन्तु मेरा वह कहना सत्य नहीं है; इसका कारण मुझे मोहके विकासको छोड़कर और दूसरा कोई नहीं दिखता ॥५५-५६॥

यदि उन काटे हुए सिरोंको शंकर जोड़ देता है तो उसने उस समय तापसोंके द्वारा काटे गये अपने लिंगको क्यों नहीं जोड़ा ? ॥५७॥

जब शंकर स्वयं अपना ही भला करनेमें असमर्थ है तब वह दूसरोंका भला नहीं कर सकता है । कारण कि जो स्वयं शत्रुके द्वारा पीड़ित हो रहा है वह उस शत्रुसे दूसरे की रक्षा नहीं कर सकता है ॥५८॥

५२) अ °र्योजनीभूय तत्र । ५३) ड वा for भो । ५४) अ न तेव्याचक्षिरे साधो । ५५) अ स भौतिक-स्ततोवोचत् । ५६) अ युष्मदीयं वचः सत्यम्; अ मुक्ता मोहविजृम्भितम् । ५७) ब तापसच्छिन्नम् । ५८) अ ब मर्द्यमानो, क मर्यमाणो ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्यच्च श्रूयतां विप्राः पुत्रं दधिमुखाभिधम् ।
श्रीकण्ठब्राह्मणी[1] ख्यातं शिरोमात्रमजीजनत् ॥५९
श्रुतयः स्मृतयस्तेन निर्मलीकरणक्षमाः ।
स्वीकृताः सकलाः क्षिप्रं सागरेणेव सिन्धवः ॥६०
तेनागस्त्यो मुनिर्दृष्टो जातु कृत्वाभिवादनम्[1] ।
त्वयाद्य मे गृहे भोज्यमिति[2] भक्त्या निमन्त्रितः ॥६१
अगस्त्यस्तमभाषिष्ट क्वास्ति ते भद्र तद्गृहम् ।
मां त्वं भोजयसे यत्र विधाय परमादरम् ॥६२
तेनागद्यत किं पित्रोर्गेहं साधो ममास्ति नो ।
मुनिनोक्तं न ते ऽनेन[1] संबन्धः को ऽपि विद्यते ॥६३
दानयोग्यो गृहस्थो ऽपि कुमारो नेष्यते गृही ।
दानधर्मक्षमा साध्वी गृहिणी गृहमुच्यते ॥६४
निर्गद्येति गते तत्र[1] तेनोक्तौ पितराविदम् ।
कौमार्यदोषविच्छेदो युवाभ्यां क्रियतां मम ॥६५

५९) १. नगरे ।
६१) १. वन्दनम् । २. उक्त्वा ।
६३) १. गेहेन सह ।
६५) १. अगस्त्ये ।

हे ब्राह्मणो ! इसके अतिरिक्त और भी सुनिए—श्रीकण्ठ नगरमें ब्राह्मणीने दधिमुख नामसे प्रसिद्ध जिस पुत्रको उत्पन्न किया था वह केवल सिर मात्र ही था ॥५९॥

उसने प्राणियोंके निर्मल करनेमें समर्थ सब ही श्रुतियों और स्मृतियोंको इस प्रकारसे शीघ्र स्वीकार किया था जिस प्रकार कि समुद्र समस्त नदियोंको स्वीकार करता है ॥६०॥

किसी समय उसने अगस्त्य मुनिको देखकर उन्हें प्रणाम करते हुए 'आप आज मेरे घरपर भोजन करें' यह कहकर निमन्त्रित किया ॥६१॥

इसपर अगस्त्य मुनिने पूछा कि हे भद्र ! तुम्हारा वह घर कहाँपर है, जहाँ तुम मुझे अतिशय आदरपूर्वक स्थापित करके भोजन करना चाहते हो ॥६२॥

इसके उत्तरमें वह दधिमुख बोला कि हे साधो ! क्यों माता-पिताका घर मेरा घर नहीं है । इसपर अगस्त्य ऋषिने कहा कि नहीं, उससे तेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है । घरमें स्थित होकर भी जो कुमार है—अविवाहित है—वह दान देनेके योग्य गृहस्थ नहीं माना जाता है । किन्तु दानधर्ममें समर्थ जो उत्तम स्त्री है उसे ही घर कहा जाता है ॥६३-६४॥

इस प्रकार कहकर अगस्त्य ऋषिके चले जानेपर उसने अपने माता-पितासे यह कहा कि तुम दोनों मेरे कुमारपनेके दोषको दूर करो—मेरा विवाह कर दो ॥६५॥

५९) ब श्रीकण्ठम् । ६१) अ मुनिर्दृष्ट्वा; ब भक्त्याभिमन्त्रितम् । ६२) अ ब आगस्त्यः; अ निधाय । ६५) ब तेनोक्ते ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ताभ्यामुक्तं स ते पुत्र को ऽपि दत्तें न डिक्करीम् ।
आवां निराकरिष्यावः[1] कान्ताश्रद्धां तथापि ते ॥६६
द्रव्येण भूरिणा ताभ्यां गृहीत्वा निःस्वदेहजाम् ।
कृत्वा महोत्सवं योग्यं ततो ऽसौ परिणायितः ॥६७
ताभ्यामेष ततो ऽवाचि स्वल्पकालव्यतिक्रमे[1] ।
नावयोरस्ति वत्स स्वं[2] त्वं स्वां पालय वल्लभाम् ॥६८
ततो दधिमुखेनोक्ता स्ववधूरेहि वल्लभे ।
व्रजावः क्वापि जीवावः पितृभ्यां पेल्लितौ[1] गृहात् ॥६९
ततः पतिव्रतारोप्य सिक्यके दयितं निजम् ।
बभ्राम धरणीपृष्ठे दर्शयन्ती गृहे गृहे ॥७०
पालयन्तीमिमां दृष्ट्वा तादृशं विकलं पतिम् ।
चक्रिरे महतीं भक्तिं ददानाः कशिपुं[1] प्रजाः ॥७१
तथा पतिव्रता पूजां लभमाना पुरे पुरे ।
एकदोज्जयिनीं प्राप्ता भूरिटिण्टाकुलां सती ॥७२

६६) १. पूरयिष्यावः ।
६८) १. गते । २. द्रव्यम् ।
६९) १. निकालितौ ।
७१) १. द्रव्यम् ।

यह सुनकर माता-पिताने उससे कहा कि हे पुत्र ! तेरे लिए कोई भी अपनी छोकरी नहीं देता है । फिर भी हम दोनों तेरे कामकी श्रद्धाका निराकरण करेंगे—तेरी स्त्रीविषयक इच्छाको पूर्ण करेंगे ॥६६॥

तत्पश्चात् उन दोनोंने बहुत-सा धन देकर एक दरिद्रकी पुत्रीको प्राप्त किया और यथायोग्य महोत्सव करके उसके साथ इसका विवाह कर दिया ॥६७॥

फिर कुछ थोड़े-से ही कालके बीतनेपर उन दोनोंने दधिमुखसे कहा कि हे वत्स ! अब हमारे पास द्रव्य नहीं है, अतः तुम अपनी प्रियाका पालन करो ॥६८॥

इसपर दधिमुखने अपनी पत्नीसे कहा कि हे प्रिये ! हम दोनोंको माता-पिताने घरसे निकाल दिया है, इसलिए चलो कहींपर भी जीवन-यापन करेंगे ॥६९॥

तब दधिमुखकी वह पतिव्रता पत्नी अपने पतिको एक सींकेमें रखकर घर-घर दिखलाती हुई पृथिवीपर फिरने लगी ॥७०॥

इस प्रकार ऐसे विकल—हाथ-पाँव आदि अंगोंसे रहित सिरमात्र स्वरूप—पतिका पालन करती हुई उस दधिमुखकी स्त्रीको देखकर प्रजाजनोंने अन्न-वस्त्र देते हुए उसकी बड़ी भक्ति की ॥७१॥

उपर्युक्त रीतिसे वह सती पतिव्रता प्रत्येक नगरमें जाकर उसी प्रकारसे पूजाको प्राप्त करती हुई एक समय बहुत-से जुआके अड्डोंसे व्याप्त उज्जयिनी नगरीमें पहुँची ॥७२॥

६६) अ क ताभ्यामुक्तः । ६८) ब कालम् । ७२) क ड इ पूजा ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सा टिण्टाकीलिके मुक्त्वा सिक्थकं कान्तसंयुतम् ।
गता प्रार्थयितुं भोज्यमेकदा नगरान्तरे ॥७३
परस्परं महायुद्धे जाते ऽत्र द्यूतकारयोः ।
एकस्यैकः शिरश्छेदं चक्रे खड्गेन वेगतः ॥७४
असिनोत्क्षिप्यमाणेन विलूने सति सिक्थके ।
मूर्धा दधिमुखस्यैत्य लग्नस्तत्र कबन्धके ॥७५
ततो दधिमुखो भूत्वा लग्ननिःसंधिमस्तकः ।
सर्वकर्मक्षमो जातो नरः सर्वाङ्गसुन्दरः ॥७६
किं जायते न वा सत्यमिदं वाल्मीकिभाषितम् ।
निगद्यतां मम क्षिप्रं पर्यालोच्य स्वमानसे ॥७७
अशंसिषुर्द्विजास्तथ्यं केनेदं[1] क्रियते ऽन्यथा ।
उदितो ऽनुदितो भानुर्भण्यमानो न जायते ॥७८
खेटेनावाचि तस्यासौ निश्छेदो ऽन्यकबन्धके ।
यदि निःसंधिको लग्नस्तदा छेदी कथं न मे ॥७९
शितेन करवालेन रावणेन द्विधा कृतः ।
तथाङ्गदः कथं लग्नो योज्यमानो हनूमता ॥८०

७८) १. ईदृशं सत्यम् ।

वहाँ वह जुवारियोंके एक अड्डेमें कीलके ऊपर पतिसे संयुक्त उस सींकेको छोड़कर भोजनकी याचनाके लिए नगरके भीतर गयी ॥७३॥

इस बीचमें वहाँ दो जुवारियोंमें परस्पर घोर युद्ध हुआ और उसमें एकने एकके सिरको शीघ्रतापूर्वक तलवारसे काट डाला ॥७४॥

उस समय तलवारके प्रहारमें उस सींकेके कट जानेसे दधिमुखका सिर आकर उस जुवारीके धड़से जुड़ गया ॥७५॥

इस प्रकार दधिमुखके मस्तकके उस धड़के साथ बिना जोड़के मिल जानेपर वह सर्वांगसुन्दर मनुष्य होकर सब ही कार्योंके करनेमें समर्थ हो गया ॥७६॥

मनोवेग कहता है कि ब्राह्मणो ! यह वाल्मीकिका कथन क्या सत्य है या असत्य, यह मुझे अपने अन्तःकरणमें यथेष्ट विचारकर शीघ्र कहिए ॥७७॥

इसपर उन ब्राह्मणोंने कहा कि वह सत्य ही है, उसे असत्य कौन कर सकता है। कारण कि उदित हुए सूर्यको अनुदित कहनेपर वह वस्तुतः अनुदित नहीं हो जाता है ॥७८॥

यह सुनकर मनोवेग विद्याधरने कहा कि जब उस दधिमुखका अखण्ड सिर उस धड़से बिना जोड़के मिल गया तब मेरा काटा हुआ सिर क्यों नहीं जुड़ सकता है ॥७९॥

इसके अतिरिक्त रावणने तीक्ष्ण तलवारके द्वारा अंगदके दो टुकड़े कर दिये थे। तत्पश्चात् जब उन्हें हनुमान्‌ने जोड़ा तो उन दोनोंके जुड़ जानेपर वह अंगद पूर्ववत् अखण्ड कैसे हो गया था ॥८०॥

७३) ब कीलके । ७४) अ एकस्यैकम् । ७८) अ इ द्विजाः सत्यम्; क भानुर्भास्यमानो ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आराध्य देवतां लब्ध्वा ततः पिण्डं मनीषितम् ।
दानवेन्द्रो ददौ देव्यास्तनयोत्पत्तिहेतवे ॥८१
द्विधाकृत्य तया दत्ते[1] सपत्न्या मोहतो दले[2] ।
द्विधा गर्भस्तयोर्देव्योर्भवति स्म द्वयोरपि ॥८२
जातं खण्डद्वयं दृष्ट्वा संपूर्णे समये सति ।
ताभ्यां नीत्वा बहिः क्षिप्तं जरया संधितं पुनः ॥८३
तत्र[1] जातो जरासंधो विनिर्जितनरामरः ।
सर्वकर्मक्षमः ख्यातो महनीयपराक्रमः ॥८४
शकलद्वितयं लग्नं योज्यमानं गतव्रणम् ।
सव्रणो न कथं मूर्धा मदीयः कथ्यतां द्विजाः ॥८५
जरासंधाङ्गदौ यत्र द्वेधाकृतकलेवरौ ।
जीवितौ मिलितौ तत्र न किं मे मूर्धविग्रहौ ॥८६

८१) १. देवतायाः । तथापरापि कथा—राजगृहे राजा भद्ररथस्तस्य द्वे भार्ये । तयोः पुत्राभावादीश्वराराधनं कृत्वा तेन च तुष्टेन तस्मात् ।
८२) १. सति । २. एकखंडे ।
८४) १. संधिते ।
८५) १. खंड ।

दानवोंके स्वामी (बृहद्रथ) ने देवताका आराधन करके जिस अभीष्ट पिण्डको उससे प्राप्त किया था उसे उसने पुत्रोत्पत्तिके निमित्त अपनी स्त्रीको दिया ॥८१॥

परन्तु उस स्त्रीने सौत—दानवेन्द्रकी द्वितीय स्त्री—के व्यामोहसे उसके दो भाग करके उनमें-से एक भाग उसे भी दे दिया। इससे उन दोनोंके ही दो भागोंमें गर्भाधान हुआ ॥८२॥

पश्चात् समयके पूर्ण हो जानेपर जब पुत्र उत्पन्न हुआ तब उसे पृथक्-पृथक् दो खण्डोंमें विभक्त देखकर उन दोनोंने उसे ले जाकर बाहर फेंक दिया। परन्तु जरा राक्षसीने उन दोनों भागोंको जोड़ दिया ॥८३॥

इस प्रकार उन दोनों भागोंके जुड़ जानेपर उससे प्रसिद्ध जरासन्ध राजा हुआ। वह अतिशय पराक्रमी होनेसे मनुष्य और देवोंका विजेता होकर सब ही कार्योंके करनेमें समर्थ था ॥८४॥

जब वे दोनों खण्ड घावसे रहित होते हुए भी जोड़नेपर जुड़कर एक हो गये थे तब हे विप्रो ! मेरा वह घावसे संयुक्त सिर क्यों नहीं जुड़ सकता था, यह मुझे कहिए ॥८५॥

इस प्रकार जहाँ जरासन्ध और अंगद इन दोनोंके दो-दो-भागोंमें विभक्त शरीर जुड़कर एक हो गया व दोनों जीवित रहे वहाँ मेरा सिर व उससे रहित शेष शरीर ये दोनों जुड़कर एक क्यों नहीं हो सकते हैं ? जरासन्ध और अंगदके समान उनके जुड़ जानेमें भी कोई बाधा नहीं होनी चाहिए ॥८६॥

८१) ब लब्धो । ८२) अ मोहितो । ८४) अ विवर्जितनरा°; ड °पराक्रमे । ८५) अ सव्रणेन कथं मूर्ध्ना; ब द्विज । ८६) ब जरासंधो गतो यत्र; अ इ द्विधा° ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकीकृत्य कथं स्कन्दः षट्खण्डो ऽपि विनिर्मितः।
प्रतीयते न मे योगश्छिन्नयोर्मूर्धदेहयोः ॥८७
अथ षड्वदनो[1] देवः षोढाप्येकत्वमश्नुते।
तदयुक्तं यतो नार्यां देवः संपद्यते कुतः ॥८८
निरस्ताशेषरक्तादिमलायां देवयोषिति।
शिलायामिव गर्भस्य संभवः कथ्यतां कथम् ॥८९
द्विजैरुक्तमिदं सर्वं सूनृतं भद्र भाषितम्।
परं कथं फलैर्मूर्ध्ना जग्धैः पूर्णं तवोदरम् ॥९०
ततो बभाषे सितवस्त्रधारी भुक्तेषु तृप्यन्ति कथं द्विजेषु।
पितामहाद्याः पितरो व्यतीता देहो न मे मूर्ध्नि कथं समीपे ॥९१
दग्धा[1] विपन्नाश्चिरकालजातास्तृप्यन्ति भुक्तेषु परेषु यत्र।
आसन्नवर्ती मम तत्र कायो न विद्यमानः किमतो[2] विचित्रम् ॥९२

८८) १. कार्तिकेयः।
९२) १. मृताः। २. अतःपरम्।

छह खण्डोंमें विभक्त कार्तिकेयका उन छह खण्डोंको एक करके निर्माण कैसे हुआ? उन छह खण्डोंके जुड़नेमें जब अविश्वास नहीं किया जा सकता है तब मेरे शिर और शेष शरीरके जुड़नेमें विश्वास क्यों नहीं किया जाता है? ॥८७॥

यदि इसपर यह कहा जाये कि वह कार्तिकेय तो देव है, इसलिए उसके छह खण्डोंमें विभक्त होनेपर भी एकता हो सकती है तो वह भी योग्य नहीं है, क्योंकि, वैसी अवस्थामें मनुष्य-स्त्रीसे देवकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है? वह असम्भव है ॥८८॥

यदि उसका देवीसे उत्पन्न होना माना जाय तो वह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि, देवीका शरीर रुधिर आदि सब प्रकारके मलसे रहित होता है, अतएव जिस प्रकार शिला (चट्टान) के ऊपर गर्भाधानकी सम्भावना नहीं है उसी प्रकार देव-स्त्रीके भी उस गर्भकी सम्भावना नहीं की जा सकती है। यदि वह उसके सम्भव है तो कैसे, यह मुझे कहिए ॥८९॥

मनोवेगके इस कथनको सुनकर ब्राह्मण बोले कि हे भद्र! तुम्हारा यह सब कहना सत्य है, परन्तु यह कहो कि तुम्हारे सिरके द्वारा फलोंके खानेसे उदरकी पूर्णता कैसे हो गयी ॥९०॥

इसपर शुभ्र वस्त्रका धारक वह मनोवेग बोला कि ब्राह्मणोंके भोजन कर लेनेपर मरणको प्राप्त हुए पितामह (आजा) आदि पूर्वज कैसे तृप्तिको प्राप्त होते हैं और मेरे सिरके द्वारा फलोंका भक्षण करनेपर समीपमें ही स्थित मेरा उदर क्यों नहीं तृप्तिको प्राप्त हो सकता है, इसका उत्तर आप मुझे दें ॥९१॥

जिनको जन्मे हुए दीर्घकाल बीत गया व जो मृत्युको प्राप्त होकर भस्मीभूत हो चुके हैं वे जहाँ दूसरोंके भोजन कर लेनेपर तृप्तिको प्राप्त होते हैं वहाँ मेरा समीपवर्ती विद्यमान शरीर तृप्तिको नहीं प्राप्त हो सकता है, क्या इससे भी और कोई विचित्र बात हो सकती है? ॥९२॥

८७) ब क ड इ षट्खण्डानि। ८८) ततो for यतो। ८९) अ निरक्ताशेष°। ९१) अ स कचौघधारी.... द्विजेभ्यः; अ क ड समीपः। ९२) ब क किमतो ऽपि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इत्थं महान्तः पुरुषाः पुराणा धर्मप्रवीणाः परथोपदिष्टाः ।
व्यासादिभिः श्वभ्रगतैरभीतैः प्ररूढमिथ्यात्वतमो ऽवगूढैः[1] ॥९३

जिनाङ्घ्रिपङ्केरुहचञ्चरीको दुर्योधनो धन्यतमो ऽन्त्यदेहः ।
भीमेन युद्धे निहतो ममार व्यासो जगादेत्यनृतं विमुग्धः ॥९४

मुक्त्यङ्गनालिङ्गनलोलचित्ताः श्रीकुम्भकर्णेन्द्रजितादयो ये ।
विगर्ह्य[1] मांसाशनदोषदुष्टं ते राक्षसत्वं जनखादि नीताः ॥९५

जगाम यः सिद्धिवधूवरत्वं वालिर्महात्मा हतकर्मबन्धः ।
नीतः स[1] रामेण निहत्य मृत्युं वाल्मीकिरित्थं वितथं बभाषे ॥९६

लङ्काधिनाथो गतिभङ्गरुष्टः श्रीवालये योगविधौ स्थिताय ।
कैलासमुत्क्षेपयितुं प्रवृत्तो विद्याप्रभावेन विकृत्य कायम् ॥९७

९३) १. आच्छादितैः ।

९५) १. निन्द्य ।

९६) १. वालिः ।

इसी प्रकारसे जो प्राचीन महापुरुष—दुर्योधन आदि—धर्ममें तत्पर रहे हैं उनके विषयमें भी व्यास आदिने विपरीत कथन किया है। ऐसा करते हुए उन्हें वृद्धिको प्राप्त हुए मिथ्यात्वरूप गाढ़ अन्धकारसे आच्छादित होनेके कारण नरकमें जानेका भी भय नहीं रहा ॥९३॥

उदाहरणस्वरूप जो दुर्योधन राजा जिनदेवके चरणरूप कमलका भ्रमर रहकर—उनके चरणोंका आराधक होकर दिव्य गतिको—प्राप्त हुआ है उसके विषयमें मूढ़ व्यासने 'वह युद्धमें भीमके द्वारा मारा जाकर मृत्युको प्राप्त हुआ' इस प्रकार असत्य कहा है ॥९४॥

जो श्रेष्ठ कुम्भकर्ण और इन्द्रजित् आदि मुक्तिरूप स्त्रीके आलिंगनमें दत्तचित्त रहे हैं—उस मुक्तिकी प्राप्तिके लिए प्रयत्नशील रहे हैं—उन्हें व्यासादिने निन्दापूर्वक मांसभक्षण दोषसे दूषित ऐसी प्राणिभक्षक राक्षस अवस्थाको प्राप्त कराया है—उन्हें घृणित राक्षस कहा है ॥९५॥

जो बालि महात्मा कर्मबन्धको नष्ट करके मुक्तिरूप वधूका पति हुआ है—मोक्षको प्राप्त हुआ है—उसके सम्बन्धमें वाल्मीकिने 'वह रामके द्वारा मारा जाकर मृत्युको प्राप्त हुआ' इस प्रकार असत्य कहा है ॥९६॥

लंकाका स्वामी रावण समाधिमें स्थित बालि मुनिके निमित्तसे अपने विमानकी गतिके रुक जानेसे उनके ऊपर क्रोधित होता हुआ विद्याके बलसे शरीरकी विक्रिया करके उक्त मुनिराजसे अधिष्ठित कैलास पर्वतके फेंक देनेमें प्रवृत्त हुआ ॥९७॥

---

९४) अ दुर्योधनो दिव्यगतिं जगाम; ब निहतो ममाख्यामसौ जगादे° । ९६) क ड वाल्मीक इत्थम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिनेन्द्रसौधव्यपघातरक्षी निःपीड्य पादेन मुनिर्नगेन्द्रम् ।
लङ्काधिपो यो धृतरावणाख्यो संकोच्य पादं रुदते नितान्तम् ॥९८

कैलासशैलोद्धरणं प्रसिद्धं बालौ कवियोंजयति स्म रुद्रे ।
क्व रावणः सुव्रततीर्थभाव क्वी शंकरः सन्मतितीर्थवर्ती ॥९९

अहल्यया दूषितदीनवृत्तियंः शक्रनामा भुवि खेचरेशः ।
सौधर्मदेवो न विशुद्धवृत्तिः शरीरसंगो ऽस्ति न देवनार्योः[1] ॥१००

सौधर्मकल्पाधिपतिर्महात्मा सर्वाधिकश्रीर्दशकन्धरेण ।
व्यजीयतेत्यस्तधियो ब्रुवाणा ब्रुवन्ति कीटेन जितं मृगेन्द्रम् ॥१०१

१००) १. नरो वनिता सह न भवति ।

उस समय उस कैलाश पर्वतके ऊपर स्थित जिनभवनोंको विनाशसे बचानेकी इच्छासे बालि मुनिने पर्वतराजको पाँवसे पीड़ित किया—अपने पाँवके अँगूठेसे उस कैलास पर्वतको नीचे दबाया । इससे रावण उसके नीचे दबकर अतिशय रुदन करने लगा । तब बालि मुनिने अपने पाँवको संकुचित (शिथिल) करके उस लंकाके अधिपतिको 'रावण' इस सार्थक नामको प्राप्त कराया ॥९८॥

इस प्रकार उस कैलास पर्वतके उद्धारका वृत्त बालिके विषयमें प्रसिद्ध परन्तु कविने—उसकी योजना सात्यकि रुद्र—शंकर—के विषयमें की है । सो वह ठीक नहीं है, क्योंकि, मुनि सुव्रत तीर्थंकरके तीर्थमें होनेवाला वह रावण तो कहाँ और अन्तिम तीर्थंकर महावीरके तीर्थमें होनेवाला वह शंकर कहाँ—दोनोंका भिन्न समय होनेसे ही उक्त कथन असंगत सिद्ध होता है ॥९९॥

जो अहिल्याके अनुरागवश दूषित दीनतापूर्ण प्रवृत्तिमें रत हुआ वह भूलोकमें अवस्थित शक्र नामका एक विद्याधरोंका स्वामी था, न कि अतिशय पवित्र आचरणवाला सौधर्म-कल्पका इन्द्र । इसके अतिरिक्त देव और मनुष्य स्त्रीके मध्यमें शरीरका संयोग भी सम्भव नहीं है ॥१००॥

सर्वोत्कृष्ट लक्ष्मीसे सम्पन्न वह सौधर्म कल्पका स्वामी महात्मा इन्द्र दशमुख (रावण) के द्वारा पराजित हुआ, ऐसा कहनेवाले यह कहें कि क्षुद्र कीट—चींटी आदि—के द्वारा गजराज पराजित किया गया । अभिप्राय यह कि उपर्युक्त वह कथन 'चींटीने हाथीको मार डाला' इस कथनके समान असत्य है ॥१०१॥

९८) अ लंकाधिपायानि न रावणाख्यां; ब लंकाधिपासाधितरावणाख्यं; क ड लंकाधिपाया धृतरावणाख्या । ९९) ड कलौ for वालौ । १००) ड आहल्लयादूषि सदीन°, ब क आहल्लया; अ विशुद्धि । १०१) अ ब्रुवन्तु ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन्द्राभिधाने विजिते खगेन्द्रे विनिर्जितं स्वर्गपतिं वदन्ति ।
महीयसां कं वितरन्ति[1] दोषं न दुर्जनाः सर्वविचारशून्याः ॥१०२

यः सेवनीयो भुवनस्य विष्णुः ख्यातस्त्रिखण्डाधिपतिर्बलीयान् ।
कथं स दूतो ऽजनि सारथिर्वा पार्थस्य[1] भृत्यस्य निजस्य चित्रम् ॥१०३

मानसमोहप्रथनसमर्थं लौकिकवाक्यं जनितकदर्थम् ।
इत्थमवेत्यामितगतिवार्यं शुद्धमनोभिर्मनसि न कार्यम्[1] ॥१०४

इति धर्मपरीक्षायाममितगतिकृतायां षोडशः परिच्छेदः ॥१६॥

१०२) १. ददति ।
१०३) १. अर्जुनस्य ।
१०४) १. करणीयम् ।

रावणके द्वारा इन्द्र नामक विद्याधरोंके स्वामीके जीत लेनेपर अन्य कवि यह कहते हैं कि उसने इन्द्रको पराजित किया था । ठीक है—जो दुष्ट जन सब योग्यायोग्यके विचारसे रहित हैं वे महापुरुषोंके लिए किस दोषको नहीं देते हैं ? वे उनमें अविद्यमान दोषको दिखलाकर स्वभावतः उनकी निन्दा किया करते हैं ॥१०२॥

विश्वके द्वारा आराधनीय जो प्रसिद्ध विष्णु अतिशय बलवान् व तीन खण्डका स्वामी—अर्धचक्री—था वह अपने ही सेवक अर्जुनका दूत अथवा सारथि कैसे हुआ, यह बड़ी विचित्र बात है ॥१०३॥

इस प्रकार लोकप्रसिद्ध इन पुराणोंका कथन अन्तःकरणकी अज्ञानताके ख्यापित करनेमें समर्थ—अभ्यन्तर अज्ञानभावको प्रकट करनेवाला—होकर अनर्थको उत्पन्न करनेवाला है, इस प्रकार जानकर अपरिमित ज्ञानियोंके द्वारा अथवा प्रस्तुत ग्रन्थके कर्ता अमितगति आचार्यके द्वारा उसका निवारण करना योग्य है । इसीलिए निर्मल बुद्धिके धारक प्राणियोंको उसे अपने मनके भीतर स्थान नहीं देना चाहिए—उसे प्रमाण नहीं मानना चाहिए ॥१०४॥

इस प्रकार आचार्य अमितगतिविरचित धर्मपरीक्षामें सोलहवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ॥१६॥

१०४) अ सिद्धि for शुद्ध ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निरुत्तरांस्तथालोक्य खेटपुत्रौ द्विजन्मनः ।
निर्गत्य काननं यातौ भूरिभूरुहभूषितम् ॥१
आसीनौ पादपस्याधो मुक्त्वा श्वेताम्बराकृतिम्[1] ।
सज्जनस्येव नम्रस्य विचित्रफलशालिनः ॥२
ऊचे पवनवेगस्तं जिघृक्षुर्जिनशासनम् ।
मित्र द्विजादिशास्त्राणां विशेषं मम सूचय ॥३
तमुवाच मनोवेगो वेदशास्त्रं द्विजन्मनाम् ।
प्रमाणं[1] मित्र धर्मादावकृत्रिममदूषणम् ॥४
हिंसा निवेद्यते येन[1] जन्मोर्वीरुहवर्धिनी ।
प्रमाणीक्रियते नात्रै[2] ठकशास्त्रमिवोत्तमैः ॥५

२) १. स्वरूपम् ।
३) १. ग्रहणस्य इच्छुः ।
४) १. मान्यम् । २. धर्मकार्यादौ ।
५) १. वेदेन । २. वेदशास्त्र ।

इस प्रकारसे उन ब्राह्मणोंको निरुत्तर देखकर वह विद्याधरकुमार—मनोवेग—वहाँसे निकलकर बहुत-से वृक्षोंसे विभूषित उद्यानमें चला गया ॥१॥

वहाँ वे दोनों जटाधारक साधुके वेषको छोड़कर अनेक प्रकारके फलोंसे सुशोभित होनेके कारण सज्जनके समान नम्रीभूत हुए—नीचेकी ओर झुके हुए—एक वृक्षके नीचे बैठ गये ॥२॥

उस समय जैनमतके ग्रहण करनेकी इच्छासे प्रेरित होकर पवनवेगने मनोवेगसे कहा कि हे मित्र ! तुम मुझे ब्राह्मण आदिके शास्त्रोंकी विशेषताको सूचित करो ॥३॥

इसपर मनोवेगने उससे कहा कि ब्राह्मणोंका अपौरुषेय वेदशास्त्र उनके द्वारा धर्मादिक-में—यज्ञादि क्रियाकाण्डके विषयमें—निर्दोष प्रमाण माना गया है ॥४॥

परन्तु चूँकि वह संसाररूप वृक्षको वृद्धिंगत करनेवाली हिंसाकी विधेयताको निरूपित करता है, अतएव उसे ठगशास्त्रके समान समझकर सत्पुरुष प्रमाण नहीं मानते हैं ॥५॥

१) इ निरुत्तरानथा°; अ पुत्रो....यातो । २) अ मुक्त्वासौ जटिलाकृतिम् । ५) अ इ तन्न for नात्र ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वेदे निगदिता हिंसा जायते धर्मकारणम् ।
न पुनष्ठकशास्त्रेण न विशेषो ऽत्र दृश्यते ॥६
नापौरुषेयतां[1] हेतुर्वेदे धर्मनिवेदने ।
तस्या[2] विचार्यमाणायाः सर्वथानुपपत्तितः[3] ॥७
अकृत्रिमः कथं वेदः कृतस्तालवादिकारणैः ।
प्रासादो ऽकृत्रिमो नोक्तस्तक्षव्यापारनिर्मितः ॥८
तालवादिकारणं तस्य व्यञ्जकं[1] न तु कारकम् ।
नात्रावलोक्यते हेतुः को ऽपि निश्चयकारणम् ॥९
यथा कुम्भादयो[1] व्यङ्ग्या दीपकैर्व्यञ्जकैर्विना ।
विज्ञायन्ते तथा शब्दा विना तालवादिभिर्न किम् ॥१०

७) १. अकृत्रिमता । २. अकृत्रिमतायाः । ३. अघटनात् ।
९) १. प्रकाशकम् ।
१०) १. पदार्थाः ।

कारण इसका यह है कि वेदमें कही गयी हिंसा—यज्ञादिमें किया जानेवाला प्राणि-विघात—तो धर्मका कारण है, परन्तु ठगशास्त्रके द्वारा प्ररूपित हिंसादि धर्मका कारण नहीं है—वह पापका कारण है; इस प्रकार इन दोनोंमें कोई विशेषता नहीं देखी जाती है—ठग-शास्त्रविहित हिंसाके समान ही यज्ञविहित हिंसाको भी पापका ही कारण समझना चाहिए ॥६॥

यदि कहा जाये कि वेद जो धर्मादिके निरूपणमें प्रमाण माना जाता इसका कारण उसकी अपौरुषेयता है—राग, द्वेष एवं अज्ञानता आदि दोषोंसे दूषित पुरुषविशेषके द्वारा उसका न रचा जाना (अनादि-निधनता) है—तो यह भी योग्य नहीं है, क्योंकि, जब उसकी इस अपौरुषेयतापर विचार करते हैं तब वह किसी प्रकारसे बनती नहीं है—विघटित हो जाती है ॥७॥

यथा—यदि वह वेद अकृत्रिम है—किसीके द्वारा नहीं किया गया है—तो फिर वह तालु एवं ओष्ठ आदि कारणोंके द्वारा कैसे किया गया है ? कारण कि बढ़ई और राज आदिके व्यापारसे निर्मित हुआ भवन अकृत्रिम नहीं कहा जाता है ॥८॥

इसपर यदि यह कहा जाये कि उक्त तालु आदि कारण उसके व्यंजक हैं, न कि कारण—वे उस विद्यमान वेदको प्रकट करते हैं, न कि उसे निर्मित करते हैं—तो यह कहना भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि, इसका नियामक यहाँ कोई भी हेतु नहीं देखा जाता है। कारण कि जिस प्रकार प्रगट करने योग्य घट-पटादि पदार्थ उन्हें प्रकाशित करनेवाले दीपक व प्रकाश आदिरूप व्यंजक कारणोंके बिना भी जाने जाते हैं उस प्रकार शब्द भी तालु आदिरूप उन व्यंजक कारणोंके बिना क्यों नहीं जाने जाते हैं—उक्त घटादिके समान उन शब्दोंका भी परिज्ञान बिना व्यंजक कारणोंके होना चाहिए था, सो होता नहीं है। अतः सिद्ध होता है

६) क ड इ वेदेन गदिता; ड धर्मकारकम् ; अ ब पुनर्ठक°; इ विशेषस्तत्र दृश्यते । ८) अ क इ प्रसादो ।
९) ड निश्चयकारकम् । १०) अ ब व्यङ्ग्या ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कृत्रिमेभ्यो न शास्त्रेभ्यो विशेषः को ऽपि दृश्यते ।
अपौरुषेयता तस्य वैदिकैः[1] कथ्यते कथम् ॥११
व्यज्यन्ते व्यापका वर्णाः सर्वे तालवादिभिर्न किम्[1] ।
व्यञ्जकैरेकदा कुम्भा दीपकैरिव सर्वथा ॥१२
सर्वज्ञेन विना तस्य केनार्थः कथ्यते स्फुटम् ।
न स्वयं भाषते स्वार्थं विसंवादोपलब्धितः ॥१३
ऐदंयुगीनगोत्रर्षिशाखादीनि सहस्रशः ।
अनादिनिधनो वेदः कथं सूचयितुं क्षमः ॥१४

११) १. वेदज्ञैः ।
१२) १. अपि तु न । २. प्रकटनसमर्थैः ।

कि तालु आदि कारण वेदके व्यंजक नहीं हैं, किन्तु उत्पादक ही हैं। तब ऐसी अवस्थामें उसकी अपौरुषेयता सिद्ध नहीं होती है ॥९-१०॥

दूसरे, जो कृत्रिम—पुरुषविरचित—शास्त्र हैं उनसे प्रस्तुत वेदमें जब कोई विशेषता नहीं देखी जाती है तब वेदके उपासक जन उसे अपौरुषेय कैसे कहते हैं—पुरुषविरचित अन्य शास्त्रोंके समान होनेसे वह अपौरुषेय नहीं कहा जा सकता है ॥११॥

इसके अतिरिक्त मीमांसकोंके मतानुसार जब अकारादि सब ही वर्ण व्यापक हैं—सर्वत्र विद्यमान हैं—तब उनके व्यंजक वे तालु व कण्ठ आदि उन सबको एक साथ ही क्यों नहीं व्यक्त करते हैं। कारण कि लोकमें यह देखा जाता है कि जितने क्षेत्रमें जो भी घट-पटादि पदार्थ विद्यमान हैं उतने क्षेत्रवर्ती उन घट-पटादि पदार्थोंको उनके व्यंजक दीपक आदि व्यक्त किया ही करते हैं। तदनुसार उक्त अकारादि वर्णोंके उन तालु आदिके द्वारा एक स्थानमें व्यक्त होनेपर सर्वत्र व्यक्त हो जानेके कारण उनका श्रवण सर्वत्र ही होना चाहिए, सो होता नहीं है ॥१२॥

और भी—वेद जब अनादि व अपौरुषेय है तब सर्वज्ञके बिना उसके अर्थको स्पष्टतापूर्वक कौन कहता है? कारण कि वह स्वयं ही अपने अर्थको कह नहीं सकता है। यदि कदाचित् यह भी स्वीकार किया जाय कि वह स्वयं ही अपने अर्थको व्यक्त करता है तो यह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि, वैसी अवस्थामें उसके माननेवालोंमें विवाद नहीं पाया जाना चाहिए था; परन्तु वह पाया ही जाता है। यदि उसके व्याख्याता किन्हीं अल्पज्ञ जनोंको माना जाये तो उस अवस्थामें उसके अर्थके विषयमें परस्पर विवादका रहना अवश्यम्भावी है, जो कि उसको समानरूपसे प्रमाण माननेवाले मीमांसक एवं नैयायिक आदिके मध्यमें पाया ही जाता है ॥१३॥

तथा यदि वह वेद अनादि-निधन है तो फिर वह वर्तमानकालीन गोत्र और मुनियोंकी शाखाओं आदिकी, जो कि हजारोंकी संख्यामें वहाँ प्ररूपित हैं, सूचना कैसे कर सकता था? अभिप्राय यह है कि जब उस वेदमें वर्तमान काल, कालवर्ती ऋषियोंकी अनेक शाखाओं आदिका उल्लेख पाया जाता है तब वह अनादि-निधन सिद्ध नहीं होता, किन्तु सादि व पौरुषेय ही सिद्ध होता है ॥१४॥

१२) अ क व्यञ्ज्यन्ते । १३) इ क्रियते स्फुटम्....ते for न । १४) अ ब देवः कथम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पारंपर्येण सं[1] ज्ञेयो नेदृशं सुन्दरं[2] वचः ।
सर्वज्ञेन विना मूले पारंपर्यं कुतस्तनम् ॥१५

समस्तैरप्यसर्वज्ञैर्वेदो ज्ञातुं न शक्यते ।
सर्वे विचक्षुषो मार्गं कुतः पश्यन्ति काङ्क्षितम् ॥१६

कालेनानादिना नष्टं[1] कः प्रकाशयते पुनः ।
असर्वज्ञेषु सर्वेषु व्यवहारमिवादिमम् ॥१७

नापौरुषेयता[1] साध्वी सर्वत्रापि मता सताम् ।
पन्था हि[2] जारचौराणां मन्यते कैरकृत्रिमः ॥१८

१५) १. वेदः । २. सत्यम् ।

१७) १. जगत् ।

१८) १. अकृत्रिमता । २. यस्मात् कारणात् ।

इसपर यदि यह कहा जाय कि वह वेदका अर्थ परम्परासे जाना जाता है तो ऐसा कहना भी सुन्दर नहीं है—वह भी अयोग्य है । क्योंकि, सर्वज्ञके माने विना वह मूलभूत परम्परा भी कहाँसे बन सकती है ? नहीं बन सकती है । अभिप्राय यह है कि यदि मूलमें उसका व्याख्याता सर्वज्ञ रहा होता तो तत्पश्चात् वह व्याख्यातार्थ परम्परासे उसी रूपमें चला आया माना भी जा सकता था, सो वह सर्वज्ञ मीमांसकोंके द्वारा माना नहीं गया है । इसीलिए वह उसके व्याख्यानकी परम्परा भी नहीं बनती है ॥१५॥

इस प्रकार मीमांसकोंके मतानुसार जब सब ही असर्वज्ञ हैं—सर्वज्ञ कभी कोई भी नहीं रहा है—तब वे सब उस वेदके रहस्यको कैसे जान सकते हैं ? जैसे—यदि सब ही पथिक चक्षुसे रहित (अन्धे) हों तो फिर वे अभीष्ट मार्गको कैसे देख सकते हैं ? नहीं देख सकते हैं ॥१६॥

अनादि कालसे आनेवाला वह वेद कदाचित् नष्ट भी हो सकता है, तब वैसी अवस्था में जब सब ही असर्वज्ञ हैं—पूर्णज्ञानी कोई भी नहीं है—तब उसको सादि व्यवहारके समान फिरसे कौन प्रकाशित कर सकता है ? कोई भी नहीं प्रकाशित कर सकता है ॥१७॥

इसके अतिरिक्त वह अपौरुषेयता सत्पुरुषोंको सभी स्थानमें अभीष्ट नहीं है—क्वचित् आकाशादिके विषयमें ही वह उन्हें अभीष्ट हो सकती है, सो वह ठीक भी है, क्योंकि, व्यभिचारी एवं चोरोंके मार्गको भला कौन अकृत्रिम—अपौरुषेय—मानते हैं ? कोई भी उसे अकृत्रिम नहीं मानता है । यदि सर्वत्र ही अपौरुषेयता अभीष्ट हो तो फिर व्यभिचारी एवं चोरों आदिके भी मार्गको अपौरुषेय मानकर उसे भी प्रमाणभूत व ग्राह्य क्यों नहीं माना जा सकता है ? ॥१८॥

१५) अ ब मूलम् । १६) ब °सर्वज्ञे वेदो । १८) अ सर्वाः for साध्वी....मन्यन्ते ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अध्वर्युभिः कृता यागे हिंसा संसारकारिणी ।
पार्पधिकैरिवारण्ये प्राणिपीडाकरी यतः ॥१९
हन्यमाना हठाज्जीवा याज्ञिकैः खट्टिकैरिव[1] ।
स्वर्गं यान्तीति भो चित्रं संक्लेशव्याकुलीकृताः ॥२०
या धर्मनियमध्यानसंगतैः साध्यते ऽङ्गिभिः ।
कथं स्वर्गगतिः साध्या हन्यमानैरसौ हठात् ॥२१
वैदिकानां वचो ग्राह्यं न हिंसासाधि साधुभिः ।
खट्टिकानां कुतो वाक्यं धार्मिकैः क्रियते[1] हृदि ॥२२
न जातिमात्रतो धर्मो लभ्यते देहधारिभिः ।
सत्यशौचतपःशीलध्यानस्वाध्यायवर्जितैः ॥२३

२०) १. खाटकैः ।
२२) १. ध्रियते ।

याग कर्ताओंके द्वारा यागमें जो प्राणिहिंसा की जाती है वह इस प्रकारसे संसारपरिभ्रमणकी कारण है जिस प्रकार कि शिकारियोंके द्वारा वनके बीचमें की जानेवाली प्राणिपीड़ाजनक जीवहिंसा संसारपरिभ्रमणकी कारण है ॥१९॥

जिस प्रकार कसाइयोंके द्वारा मारे जानेवाले गो-महिषादि प्राणी उस समय उत्पन्न होनेवाले संक्लेशसे अतिशय व्याकुल किये जाते हैं उसी प्रकार यज्ञमें यागकर्ताओंके द्वारा हठपूर्वक मारे जानेवाले बकरा व भैंसा आदि प्राणी भी उस समय उत्पन्न होनेवाले भयानक संक्लेशसे अतिशय व्याकुल किये जाते हैं। फिर भी यज्ञमें मारे गये वे प्राणी स्वर्गको जाते हैं, इन याज्ञिकोंके कथनपर मुझे आश्चर्य होता है। कारण कि उक्त दोनों ही अवस्थाओंमें समान संक्लेशके होते हुए भी यज्ञमें मारे गये प्राणी स्वर्गको जाते हैं और कसाइयोंके द्वारा मारे गये प्राणी स्वर्गको नहीं जाते हैं, यह कथन युक्तिसंगत नहीं है ॥२०॥

प्राणी जिस देवगतिको धर्मके नियमों—व्रतविधानादि—और ध्यानमें निरत होकर प्राप्त किया करते हैं उस देवगतिको दुराग्रहवश यज्ञमें मारे गये प्राणी कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? उसकी प्राप्ति उनके लिए सर्वथा असम्भव है ॥२१॥

इसलिए सत्पुरुषोंको इन वेदभक्त याज्ञिकोंके हिंसाके कारणभूत उक्त कथनको ग्रहण नहीं करना चाहिए। कारण कि धर्मात्मा जन कसाइयोंके—हिंसक जनोंके—कथनको कहीं किसी प्रकारसे भी हृदयंगम नहीं किया करते हैं ॥२२॥

प्राणी सत्य, शौच, तप, शील, ध्यान और स्वाध्यायसे रहित होकर भी जाति मात्रसे—केवल उच्च समझी जानेवाली ब्राह्मण आदि जातिमें जन्म लेनेसे ही—धर्मको नहीं प्राप्त कर सकते हैं ॥२३॥

१९) अ ड अथ पुम्भिः for अध्वर्युभिः; अ योगे, ब गेहे for यागे । २०) अ खङ्गिकैरिव; अ ब ड इ मे चित्रं । २१) अ ध्यानं संगीतैः, °ध्यानससंगध्यायते ऽङ्गिभिः । २२) इ हिंसासाध्वि ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचारमात्रभेदेन जातीनां भेदकल्पनम्[1] ।
न जातिर्ब्राह्मणीयास्ति नियता क्वापि तात्त्विकी ॥२४
ब्राह्मणक्षत्रियादीनां चतुर्णामपि तत्त्वतः ।
एकैव मानुषी जातिराचारेण विभिद्यते ॥२५
भेदे[1] जायेत विप्रायां क्षत्रियो न कथंचन ।
शालिजातौ मया दृष्टः कोद्रवस्य न संभवः ॥२६
ब्राह्मणो ऽवाचि विप्रेण पवित्राचारधारिणा ।
विप्रायां[1] शुद्धशीलायां जनितो नेदमुत्तरम् ॥२७
न विप्राविप्रयोरस्ति सर्वदा शुद्धशीलता ।
कालेनानादिना गोत्रे स्खलनं क्व न जायते ॥२८
संयमो नियमः शीलं तपो दानं दमो दया ।
विद्यन्ते तात्त्विका यस्यां सा जातिर्महिता सताम् ॥२९

२४) १. भवेत् ।
२६) १. सति ।
२७) १. ब्राह्मणी ।

जातियोंके भेदकी कल्पना केवल आचारकी विशेषतासे ही की गयी है। प्राणियोंके ब्राह्मणकी प्रशंसनीय जाति कहीं भी नियत नहीं है—परम्परासे ब्राह्मण कहे जानेवालोंके कुलमें जन्म लेने मात्रसे वह ब्राह्मण जाति प्राप्त नहीं होती, किन्तु वह जप-तप, पूजापाठ एवं अध्ययन-अध्यापन आदिरूप समीचीन आचरणसे ही प्राप्त होती है ॥२४॥

ब्राह्मण और क्षत्रिय आदि चारों ही वर्णवालोंकी जाति वस्तुतः एक ही मनुष्य जाति है। उसके भीतर यदि विभाग किया जाता है तो वह विविध प्रकार के आचारसे ही किया जाता है ॥२५॥

यदि उक्त चारों वर्णवालोंके मध्यमें स्वभावतः वह जातिभेद होता तो फिर ब्राह्मणीसे क्षत्रियकी उत्पत्ति किसी प्रकारसे भी नहीं होनी चाहिए थी। कारण कि मैंने शालि जातिमें—एक विशेष चावलकी जातिमें—कोद्रव (कोदों) की उत्पत्ति कभी नहीं देखी है ॥२६॥

यदि यहाँ यह उत्तर दिया जाये कि शुद्ध शीलवाली ब्राह्मण स्त्रीमें पवित्र आचारके धारक ब्राह्मणके द्वारा जो पुत्र उत्पन्न किया गया है वह ब्राह्मण कहा जाता है, तो यह उत्तर भी ठीक नहीं है; क्योंकि, ब्राह्मण और ब्राह्मणेतरमें सर्वकाल शुद्धशीलपना स्थिर नहीं रह सकता है। इसका भी कारण यह है कि अनादि कालसे आनेवाले कुलमें उस शुद्धशीलतासे पतन कहाँ नहीं होता है ? कभी न कभी उस शुद्धशीलताका विनाश होता ही है ॥२७-२८॥

वस्तुतः जिस जातिमें संयम, नियम, शील, तप, दान, इन्द्रियों व कषायोंका दमन और दया; ये परमार्थभूत गुण अवस्थित रहते हैं वही सत्पुरुषोंकी श्रेष्ठ जाति समझी जाती है ॥२९॥

२४) अ क्वापि सात्त्विकी । २५) अ इ विभज्यते । २६) ब क इ विप्राणाम्; ब क्वापि कोद्रवसंभवः । २७) ड इ जनिता । २८) ड गोत्रस्खलनम् । २९) ब विनयः for नियमः; ब सात्त्विका यस्याम्; अ इ जातिर्महती ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दृष्ट्वा योजनगन्धादिप्रसूतानां तपस्विनाम् ।
व्यासादीनां महापूजां तपसि क्रियतां मतिः ॥३०
शीलवन्तो गताः स्वर्गं नीचजातिभवा अपि ।
कुलीना नरकं प्राप्ताः शीलसंयमनाशिनः ॥३१
गुणैः संपद्यते[1] जातिर्गुणध्वंसे विपद्यते[2] ।
यतस्ततो बुधैः कार्यो गुणेष्वेवादरः परः ॥३२
जातिमात्रमदः कार्यो न नीचत्वप्रवेशकः ।
उच्चत्वदायकः सद्भिः कार्यः शीलसमादरः ॥३३
मन्यन्ते स्नानतः शौचं शीलसत्यादिभिर्विना ।
ये तेभ्यो न परे सन्ति पापपादपवर्धकाः ॥३४
शुक्रशोणितनिष्पन्नं मातुरुद्गालवर्धितम् ।
पयसा शोध्यते[1] गात्रमाश्चर्यं किमतः परम् ॥३५

३२) १. प्राप्यते । २. विनश्यति ।
३५) १. शुद्धं भवति ।

योजनगन्धा (धीवरकन्या) आदिसे उत्पन्न होकर तपश्चरणमें रत हुए व्यासादिकों-की की जानेवाली उत्तम पूजाको देखकर तपश्चरणमें अपनी बुद्धिको लगाना चाहिए ॥३०॥

शीलवान् मनुष्य नीच जातिमें उत्पन्न होकर भी स्वर्गको प्राप्त हुए हैं तथा उत्तम कुलमें उत्पन्न होकर भी कितने ही मनुष्य शील व संयम को नष्ट करनेके कारण नरकको प्राप्त हुए हैं ॥३१॥

चूँकि गुणोंके द्वारा उत्तम जाति प्राप्त होती है और उन गुणोंके नष्ट होनेपर वह विनाशको प्राप्त होती है, अतएव विद्वानोंको गुणोंके विषयमें उत्कृष्ट आदर करना चाहिए ॥३२॥

सज्जनोंको केवल—शील-संयमादि गुणोंसे रहित—जातिका अभिमान नहीं करना चाहिए, क्योंकि, वह कोरा अभिमान नीचगतिमें प्रवेश करानेवाला है । किन्तु इसके विपरीत उन्हें शीलका अतिशय आदर करना चाहिए, क्योंकि, वह ऊँच पदको प्राप्त करानेवाला है ॥३३॥

जो लोग शील और सत्य आदि गुणोंके बिना केवल शरीरके स्नानसे पवित्रता मानते हैं उनके समान दूसरे कोई पापरूप वृक्षके बढ़ानेवाले नहीं हैं—वे अतिशय पापको वृद्धिंगत करते हैं ॥३४॥

जो शरीर वीर्य और रुधिरसे परिपूर्ण होकर मलसे वृद्धिको प्राप्त हुआ है वह जलके द्वारा शुद्ध किया जाता है—स्नानसे शुद्ध होता है, इससे भला अन्य क्या आश्चर्यजनक बात हो सकती है ? अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार स्वभावतः काला कोयला जलसे धोये जानेपर कभी श्वेत नहीं हो सकता है, अथवा मलसे परिपूर्ण घटको बाह्य भागमें स्वच्छ

३०) क इ दृष्टा for दृष्ट्वा....महापूजा । ३१) अ °नाशतः । ३२) इ °ध्वंसेविपद्यते । ३४) ब ड इ शौचशील; ब पापपावक° । ३५) अ °शोणितसंपन्नम्; ब क इ मात्र्युद्गालविवर्धितम्, ड मातुर्गात्रं मलविवर्धितम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मलो विशोध्यते बाह्यो जलेनेति निगद्यताम् ।
पापं निहन्यते तेन[1] कस्येदं हृदि वर्तते ॥३६
मिथ्यात्वासंयमाज्ञानैः कल्मषं प्राणिनार्जितम् ।
सम्यक्त्वसंयमज्ञानैर्हन्यते नान्यथा स्फुटम् ॥३७
कषायैर्जितं पापं सलिलेन निवार्यते ।
एतज्जडात्मनो[1] ब्रूते नान्यो मीमांसको ध्रुवम् ॥३८
यदि शोधयितुं शक्तं शरीरमपि नो जलम् ।
अन्तःस्थितं मनो दुष्टं कथं तेन विशोध्यते ॥३९
गर्भादिमृत्युपर्यन्तं चतुर्भूतभवो भवी[1] ।
नापरो विद्यते येषां[2] तैरात्मा वञ्च्यते ध्रुवम् ॥४०

३६) १. जलेन ।
३८) १. मानविचारणे ।
३९) १. जलेन ।
४०) १. जीवः । २. मते ।

करनेपर भी वह कभी पवित्र नहीं हो सकता है; उसी प्रकार स्वभावतः मलसे परिपूर्ण शरीर बाह्यमें जलसे स्नान करने पर वह कभी पवित्र नहीं हो सकता है ॥३५॥

जलसे बाहरी मल शुद्ध होता है—वह शरीरके ऊपरसे पृथक् हो जाता है, यह तो कहा जा सकता है; परन्तु उसके द्वारा पापरूप मल नष्ट किया जाता है, यह विचार भला किसके हृदयमें उदित हो सकता है—इस प्रकारका विचार कोई भी बुद्धिमान् नहीं कर सकता है ॥३६॥

पापी प्राणी मिथ्यात्व, असंयम और अज्ञानताके द्वारा जिस पापको संचित करता है वह सम्यक्त्व, संयम और विवेक ज्ञानके द्वारा ही नष्ट किया जा सकता है; उसके नष्ट करनेका और दूसरा कोई उपाय नहीं है; यह स्पष्ट है ॥३७॥

क्रोधादि कषायोंके द्वारा उपार्जित पाप जलसे धोया जाता है, इस बातको जडात्मासे अन्य—विवेकहीन मनुष्यको छोड़कर और दूसरा—कोई भी विचारशील मनुष्य नहीं कह सकता है, यह निश्चित है ॥३८॥

जब कि वह जल पूर्णतया शरीरको ही शुद्ध नहीं कर सकता है तब भला उसके द्वारा उस शरीरके भीतर अवस्थित दोषपूर्ण मन कैसे निर्मल किया जा सकता है ? कभी नहीं ॥३९॥

जो पृथिवी आदि चार भूतोंसे उत्पन्न होकर गर्भसे लेकर मरण पर्यन्त ही रहता है उसीका नाम प्राणी या जीव है, उसको छोड़कर गर्भसे पूर्व व मरणके पश्चात् भी रहनेवाला कोई जीव नामका पदार्थ नहीं है; इस प्रकार जो चार्वाक मतानुयायी कहते हैं वे निश्चयसे अपने आपको ही धोखा देते हैं ॥४०॥

३६) अ विशुद्धचते; ब निहन्यतेनेन । ३७) अ पापिनार्जितम् । ३८) ब क नान्ये for नान्यो; ड इदं for ध्रुवम् । ३९) अ विशुध्यति । ४०) अ पर्यन्तश्चतु° ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यथादिमेन चित्तेन मध्यमं जन्यते सदा ।
मध्यमेन यथा चान्त्यमन्तिमेनाग्रिमं तथा ॥४१
मध्यमं जायते चित्तं यथा न प्रथमं विना ।
तथा न प्रथमं चित्तं जायते पूर्वकं विना ॥४२
शरीरे दृश्यमाने ऽपि न चैतन्यं विलोक्यते ।
शरीरं न च चैतन्यं यतो भेदस्तयोस्ततः ॥४३
चक्षुषा वीक्षते गात्रं चैतन्यं संविदा[1] यतः ।
भिन्नज्ञानोपलम्भेन ततो भेदस्तयोः स्फुटम् ॥४४
प्रत्यक्षमीक्षमाणेषु सर्वभूतेषु वस्तुषु ।
अभावः परलोकस्य कथं मूढैर्विधीयते ॥४५

४४) १. ज्ञानेन ।

जिस प्रकार आदिम चित्तसे मध्यम चित्त तथा मध्यम चित्तसे अन्तिम चित्त सदा उत्पन्न होता है उसी प्रकार अन्तिम चित्तसे आदिम चित्त भी उत्पन्न होना चाहिए। जिस प्रकार मध्यम चित्त प्रथम चित्तके बिना उत्पन्न नहीं हो सकता है उसी प्रकार प्रथम चित्त भी पूर्व चित्तके बिना उत्पन्न नहीं हो सकता है। विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि पर्यायकी दृष्टिसे प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण पूर्व पर्यायको छोड़कर नवीन पर्यायको ग्रहण किया करती है। इस प्रकार पूर्व क्षणवर्ती पर्याय कारण व उत्तर क्षणवर्ती पर्याय कार्य होती है। तदनुसार गर्भसे मरण पर्यन्त अनुभवमें आनेवाला चित्त—जीव-द्रव्य—भी जन्म लेनेके पश्चात् जिस प्रकार उत्तरोत्तर नवीन नवीन पर्यायको प्राप्त होता है तथा इस उत्पत्तिक्रममें पूर्व चित्त कारण और उत्तर चित्त कार्य होता है उसी प्रकार जन्म समयका आदिम चित्त भी जब कार्य है तब उसके पूर्व भी उसका जनक कोई चित्त अवश्य होना चाहिये, अन्यथा उसकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है। इस युक्तिसे गर्भके पूर्व भी जीवका अस्तित्व सिद्ध होता है। तथा इसी प्रकार जब कि पूर्व-पूर्व चित्तक्षण उत्तर-उत्तर चित्तक्षणको उत्पन्न करते हैं तो मरणसमयवर्ती अन्तिम चित्तक्षण भी आगेके चित्तक्षणका उत्पादक होगा ही। इस प्रकारसे मरणके पश्चात् भी जीवका अस्तित्व सिद्ध होता है। अतएव गर्भसे पूर्व और मरणके पश्चात् जीवका अस्तित्व नहीं है, यह चार्वाकोंका कहना युक्तिसंगत नहीं है ॥४१-४२॥

इसके अतिरिक्त शरीरके दिखनेपर भी चूँकि चेतनता दिखती नहीं है तथा वह शरीर चेतनता नहीं है—उससे भिन्न है, इसलिए भी उन दोनोंमें भेद है। चूँकि शरीर आँखके द्वारा देखा जाता है और वह चैतन्य स्वसंवेदन ज्ञानके द्वारा देखा जाता है, इसलिए भिन्न-भिन्न ज्ञानके विषय होनेसे भी उन दोनोंमें स्पष्टतया भेद है ॥४३-४४॥

सब प्राणियोंमें वक्ताओंके—पूर्व जन्मके वृत्तान्तको कहनेवाले कुछ प्राणियोंके—प्रत्यक्षमें देखे जानेपर मूर्ख जन परलोकका अभाव कैसे कर सकते हैं? अर्थात् वैसी अवस्थामें उसका अभाव सिद्ध करना शक्य नहीं है ॥४५॥

४१) इ चान्त्यं चान्त्यमेना° । ४३) अ च न चैतन्यम् । ४४) अ क वीक्ष्यते । ४५) अ क ड वक्तृषु for वस्तुषु ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दुग्धाम्भसोर्यथा भेदो विधानेन विधीयते।
तथात्मदेहयोः प्राज्ञैरात्मतत्त्वविचक्षणैः ॥४६
बन्धमोक्षादितत्त्वानामभावः क्रियते यकैः[1]।
अविश्वदृश्वभिः सद्भिस्तेभ्यो धृष्टो[2] ऽस्ति कः परः ॥४७
कर्मभिर्बध्यते नात्मा सर्वथा यदि सर्वदा।
संसारसागरे घोरे बंभ्रमीति तदा कथम् ॥४८
सदा नित्यस्य शुद्धस्य ज्ञानिनः परमात्मनः।
व्यवस्थितिः कुतो देहे दुर्गन्धामेध्यमन्दिरे ॥४९
सुखदुःखादिसंवित्तिर्यदि देहस्य जायते।
निर्जीवस्य तदा नूनं भवन्ती केन वार्यते ॥५०

४६) १. क्रियते।
४७) १. यैः। २. अभिभवः।

जिस प्रकार मिले हुए दूध और पानीमें विधिपूर्वक भेद किया जाता है—हंस उन दोनोंको पृथक्-पृथक् कर देता है—उसी प्रकार वस्तुस्वरूपके ज्ञाता विद्वान् अभिन्न दिखनेवाले आत्मा और शरीरमें-से आत्माको पृथक् कर देते हैं ॥४६॥

जो लोग विश्वके ज्ञाता द्रष्टा न होकर भी—अल्पज्ञ होते हुए भी—बन्ध-मोक्षादि तत्त्वोंका अभाव करते हैं उनसे धीठ और दूसरा कौन हो सकता है—वे अतिशय निर्लज्ज हैं ॥ ४७ ॥

यदि प्राणी सदा काल ही कर्मोंसे किसी प्रकार सम्बद्ध नहीं होता है तो फिर वह इस भयानक संसाररूप समुद्रमें कब और कैसे घूम सकता था ? अभिप्राय यह है कि प्राणीका जो संसारमें परिभ्रमण हो रहा है वह कार्य है जो अकारण नहीं हो सकता है। अतएव इस संसारपरिभ्रमणरूप हेतुसे उसकी कर्मबद्धता निश्चित सिद्ध होती है ॥४८॥

यदि आत्मा सर्वथा नित्य, सदा शुद्ध, ज्ञानी और परमात्मा—स्वरूप होकर उस कर्मबन्धनसे एकान्ततः रहित होता तो फिर वह दुर्गन्धयुक्त इस अपवित्र शरीरके भीतर कैसे अवस्थित रह सकता था ? नहीं रह सकता था—इसीसे सिद्ध है कि वह स्वभावतः शुद्ध-बुद्ध होकर भी पर्यायस्वरूपसे चूँकि अशुद्ध व अल्पज्ञ है, अतएव वह कर्मसे सम्बद्ध है ॥४९॥

यदि सुख-दुख आदिका संवेदन शरीरको—प्रकृतिको—होता है तो फिर वह निर्जीव (मृत) शरीरके क्यों नहीं होता है व उसे उसके होनेसे कौन रोक सकता है ? अभिप्राय यह है कि सुख-दुख आदिके वेदनको जड़ शरीरमें स्वीकार करनेपर उसका प्रसंग मृत शरीरमें भी अनिवार्य स्वरूपसे प्राप्त होगा ॥५०॥

४७) अ बन्धो मोक्षादि°; ड कं परम्। ४८) अ कदा for तदा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा प्रवर्तमानो ऽपि यत्र तत्र न बध्यते ।
बन्धबुद्धिमकुर्वाणो नेदं वचनमञ्चितम् ॥५१
कथं निर्बुद्धिको[1] जीवो यत्र तत्र प्रवर्तते ।
प्रवृत्तिर्न मया दृष्टा पर्वतानां कदाचन ॥५२
मृत्युबुद्धिमकुर्वाणो वर्तमानो महाविषे ।
जायते तरसा किं न प्राणी प्राणविवर्जितः ॥५३
यद्यात्मा सर्वथा शुद्धो ध्यानाभ्यासेन किं तदा ।
शुद्धे प्रवर्तते को ऽपि शोधनाय न काञ्चने ॥५४
नात्मनः साध्यते शुद्धिर्ज्ञानेनैव[2] कदाचन ।
न भैषज्यावबोधेन व्याधिः क्वापि निहन्यते ॥५५
ध्यानं श्वासनिरोधेन दुर्धियः साधयन्ति ये ।
आकाशकुसुमैर्नूनं शेखरं रचयन्ति ते ॥५६

५२) १. अभिप्रायरहितः ।
५३) १. सेव्यमानः ।
५५) १. केवलेन । २. ज्ञातेन ।

जीव जहाँ-तहाँ प्रवृत्ति करता हुआ भी बन्धबुद्धिसे रहित होनेके कारण कर्मसे सम्बद्ध नहीं होता है, यह जो कहा जाता है वह योग्य नहीं है । इसका कारण यह है कि यदि वह बुद्धिसे विहीन है तो फिर वह जहाँ-तहाँ प्रवृत्त ही कैसे हो सकता है ? नहीं प्रवृत्त हो सकता है, क्योंकि, बुद्धिविहीन पर्वतोंकी मैंने—किसीने भी—कभी प्रवृत्ति (गमनागमनादि) नहीं देखी है ॥५१-५२॥

मृत्युका विचार न करके यदि कोई प्राणी भयानक विषके सेवनमें प्रवृत्त होता है तो क्या वह शीघ्र ही प्राणोंसे रहित नहीं हो जाता है ? अवश्य हो जाता है ॥५३॥

यदि आत्मा सर्वथा शुद्ध है तो फिर ध्यानके अभ्याससे उसे क्या प्रयोजन रहता है ? कुछ भी नहीं—वह निरर्थक ही सिद्ध होता है । कारण कि कोई भी बुद्धिमान् शुद्ध सुवर्णके संशोधनमें प्रवृत्त नहीं होता है ॥५४॥

केवल ज्ञानमात्र से ही कभी आत्माकी शुद्धि नहीं की जा सकती है । ठीक है, क्योंकि, औषधके ज्ञान मात्रसे ही कहीं रोगको नष्ट नहीं किया जाता है । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार औषधको जानकर उसका सेवन करनेसे रोग नष्ट किया जाता है उसी प्रकार आत्माके स्वरूपको जानकर तपश्चरणादिके द्वारा उसके संसारपरिभ्रमणरूप रोगको नष्ट किया जाता है ॥५५॥

जो अज्ञानी जन श्वासके निरोधसे—प्राणायामादिसे—ध्यानको सिद्ध करते हैं वे निश्चयसे आकाशफूलोंके द्वारा सिरकी मालाको रचते हैं ॥५६॥

५१) ड यत्र यत्र । ५२) इ कथंचन । ५५) ब °ज्यावघोषेण...व्याधिः को ऽपि । ५६) अ ध्यानं श्वासा°।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देहे ऽवतिष्ठमानो ऽपि नात्मा मूढैरवाप्यते।
प्रयोगेण विना काष्ठे चित्रभानुरिव स्फुटम् ॥५७
ज्ञानसम्यक्त्वचारित्रैरात्मनो हन्यते मलः।
ददात्यनेकदुःखानि त्रिभिर्व्याधिरिवोजितः ॥५८
अनादिकालसंसिद्धं संबन्धं जीवकर्मणोः।
रत्नत्रयं विना नान्यो नूनं ध्वंसयितुं क्षमः ॥५९
न दीक्षामात्रतः क्वापि जायते कलिलक्षयः।
शत्रवो न पलायन्ते राज्यावस्थितिमात्रतः ॥६०
ये दीक्षणेन कुर्वन्ति पापध्वंसं विबुद्धयः।
आकाशमण्डलाग्रेण ते छिन्दन्ति रिपोः शिरः ॥६१

५७) १. परमसमाधितपादिना।
५८) १. कर्म।
६१) १. दुर्बुद्धयः।

जिस प्रकार काष्ठमें अवस्थित भी अग्नि कभी प्रयोगके विना—तदनुकूल प्रयत्नके अभावमें—प्राप्त नहीं होती है उसी प्रकार शरीरके भीतर अवस्थित भी आत्माको अज्ञानी जन प्रयोगके विना—संयम व ध्यानादिके अभावमें—कभी नहीं प्राप्त कर पाते हैं, यह स्पष्ट है ॥५७॥

जिस प्रकार अनेक दुखोंको देनेवाला प्रबल रोग तदनुरूप औषधका ज्ञान, उसपर विश्वास और उसका सेवन; इन तीनके विना नष्ट नहीं किया जाता है उसी प्रकार अनेक दुखोंके देनेवाले आत्माके कर्ममलरूप रोगको भी तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् आचरण; इन तीनके बिना उस आत्मासे नष्ट नहीं किया जा सकता है ॥५८॥

जीव और कर्म इन दोनोंका जो अनादिकालसे सम्बन्ध सिद्ध है उसे नष्ट करनेके लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयके बिना दूसरा कोई भी समर्थ नहीं है ॥५९॥

दीक्षाके ग्रहण करने मात्रसे कहींपर भी—किसी भी प्राणीके पापका विनाश नहीं होता है। सो ठीक भी है—क्योंकि, राज्यमें अवस्थित होने मात्रसे—केवल राजाके पदपर प्रतिष्ठित हो जानेसे ही—शत्रु नहीं भाग जाते हैं। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार कोई राजपदपर प्रतिष्ठित होकर राजनीतिके अनुसार जब सेना आदिको सुसज्जित करता है तब ही वह उसके आश्रयसे अपने शत्रुओंको नष्ट करके राज्यको स्वाधीन करता है, न कि केवल राजाके पदपर स्थित होकर ही वह उसे स्वाधीन करता है। ठीक इसी प्रकार जो मुमुक्षु प्राणी दीक्षा लेकर तदनुसार संयम, तप एवं ध्यान आदिमें रत होता है तब ही वह कर्म-शत्रुओंको नष्ट करके अपनी आत्माको स्वाधीन करता है—मुक्तिपदको प्राप्त होता है, न कि केवल संयमादिसे हीन दीक्षाके ग्रहण कर लेने मात्र से ही वह मोक्षपद प्राप्त करता है ॥६०॥

जो मूर्ख जन दीक्षाके द्वारा ही पापको नष्ट करना चाहते हैं वे मानो आकाशकी तलवारके अग्र भागसे शत्रुके सिरको काटते हैं—जिस प्रकार असम्भव आकाश तलवारसे

५८) अ ब ददानो ऽनेक°।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिथ्यात्वाव्रतकोपादियोगैः कर्म यदर्ज्यते ।
कथं तच्छक्यते हन्तुं तदभावं[2] विनाङ्गिभिः ॥६२

फलं [1]निर्व्रतदीक्षायां निर्वाणं वर्णयन्ति ये ।
आकाशवल्लरीपुष्पसौरभ्यं वर्णयन्तु ते ॥६३

सूरीणां यदि वाक्येन पुंसां पापं पलायते ।
क्षीयन्ते वैरिणो राज्ञां बन्धूनां वचसा तदा ॥६४

नाश्यन्ते दीक्षया रागा यया नेह शरीरिणाम् ।
न सा नाशयितुं शक्ता कर्मबन्धं पुरातनम् ॥६५

गुरूणां वचसा ज्ञात्वा[1] रत्नत्रितयसेवनम् ।
कुर्वतः क्षीयते पापमिति सत्यं वचः पुनः ॥६६

६२) १. तत् कर्म । २. सम्यक्त्वेन विना ।

६३) १. व्रतरहितेन ।

६६) १. यथायोग्यम् ।

कभी शत्रुका सिर नहीं छेदा जा सकता है उसी प्रकार संयम एवं ध्यानादिसे रहित नाम मात्रकी दीक्षासे कभी पापका विनाश नहीं हो सकता है ॥६१॥

प्राणी मिथ्यात्व, अविरति, क्रोधादि कषाय और योगके द्वारा जिस कर्मको उपार्जित करते हैं उसे वे उक्त मिथ्यात्वादिके अभावके बिना कैसे नष्ट कर सकते हैं ? नहीं नष्ट कर सकते हैं ॥६२॥

व्रतहीन दीक्षाके होनेपर मोक्षपदरूप फल प्राप्त होता है, इस प्रकार जो कथन करते हैं, उन्हें आकाशवेलिके पुष्पोंकी सुगन्धिका वर्णन भी करना चाहिए। तात्पर्य यह कि व्रतहीन दीक्षासे मोक्षकी प्राप्ति इस प्रकार असम्भव है, जिस प्रकार कि आकाशलताके फूलोंसे सुगन्धिकी प्राप्ति ॥६३॥

आचार्योंके वचनसे—ऋषि-मुनियोंके आशीर्वादात्मक वाक्यके उच्चारण मात्रसे—यदि प्राणियोंका पाप नष्ट होता है तो फिर बन्धुजनोंके कहने मात्रसे ही राजाओंके शत्रु भी नष्ट हो सकते हैं ॥६४॥

जिस दीक्षाके द्वारा यहाँ प्राणियोंके रोग भी नहीं नष्ट किये जा सकते हैं वह दीक्षा भला उनके पूर्वकृत कर्मबन्धके नष्ट करनेमें कैसे समर्थ हो सकती है ? नहीं हो सकती है ॥६५॥

परन्तु गुरुओंके वचनसे—उनके सदुपदेशसे—रत्नत्रयके स्वरूपको जानकर जो उसका परिपालन करता है उसका पाप नष्ट हो जाता है, यह कहना सत्य है ॥६६॥

६२) अ °कोपादियोगिनः कर्म दीर्यते, ब क इ यदर्यते । ६३) क ड इ वर्णयन्ति । ६५) इ नाश्यते....रागो ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मना विहितं[1] पापं कषायवशवर्तिना।
दीक्षया क्षीयते क्षिप्रं केनेदं प्रतिपद्यते ॥६७
सकषाये यदि ध्याने शाश्वतं लभ्यते पदम्।
वन्ध्यातनूजसौभाग्यवर्णने द्रविणं तदा ॥६८
नेन्द्रियाणां जयो येषां न कषायविनिग्रहः।
न तेषां वचनं तथ्यं विटानामिव विद्यते ॥६९
ऊर्ध्वाधोद्वारनिर्यातो भविष्यामि जुगुप्सितः।
इति ज्ञात्वा विदार्याङ्गं जनन्या यो विनिर्गतः ॥७०
मांसस्य भक्षणे गृद्धो[1] दोषाभावं जगाद यः।
बुद्धस्य तस्य मूढस्य कोदृशी विद्यते कृपा ॥७१
कायं कृमिकुलाकीर्णं व्याघ्रभार्याानने कुधीः।
यो निचिक्षेप जानानः संयमस्तस्य[1] कोदृशः ॥७२

६७) १. कृतम्।
७०) १. निर्गतः सन्।
७१) १. आसक्तः सन्।
७२) १. बुद्धस्य।

कषायके वशीभूत होकर प्राणीके द्वारा उपार्जित पाप दीक्षासे शीघ्र नष्ट हो जाता है, इसे कौन स्वीकार कर सकता है? कोई भी विचारशील व्यक्ति उसे नहीं मान सकता है ॥६७॥

यदि कषायसे परिपूर्ण ध्यानके करनेपर अविनश्वर मोक्षपद प्राप्त हो सकता है तो फिर वन्ध्या स्त्रीके पुत्रके सौभाग्यका कीर्तन करनेसे धनकी भी प्राप्ति हो सकती है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार निराश्रय वन्ध्यापुत्रकी स्तुतिसे धनकी प्राप्ति असम्भव है उसी प्रकार कषाय-विशिष्ट ध्यानसे मोक्षकी प्राप्ति भी असम्भव है ॥६८॥

जिन पुरुषोंने अपनी इन्द्रियोंको वशमें नहीं किया है तथा कषायोंका दमन नहीं किया है उनका कथन व्यभिचारी जनके कथनके समान यथार्थ व हितकर नहीं हो सकता है ॥६९॥

ऊर्ध्वद्वार अथवा अधोद्वारसे बाहर निकलने पर मैं घृणित व निन्दित होऊँगा, इस विचारसे जो बुद्ध माताके शरीरको विदीर्ण करके बाहर निकला तथा जिसने मांसके भक्षणमें अनुरक्त होकर उसके भक्षणमें निर्दोषताका उपदेश दिया उस बुद्धकी क्रिया—उसका अनुष्ठान—कैसा हो सकता है? अर्थात् वह कभी भी अनिन्द्य व प्रशस्त नहीं हो सकता है ॥७०-७१॥

जिसने दुर्बुद्धिके वश होकर कीड़ोंके समूहसे व्याप्त शरीरको जानते हुए भी व्याघ्रीके मुखमें डाला उसका संयम—सदाचरण—भला किस प्रकारका हो सकता है? अर्थात् उसका आचरण कभी प्रशस्त नहीं कहा जा सकता है ॥७२॥

६७) क ड इ दीक्षाया;। ६९) इ यथा येषां....सत्यं। ७०) ब क इ °द्वारनिर्जातो। ७१) अ क्रिया for कृपा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वशून्यत्वनैरात्म्यक्षणिकत्वानि भाषते ।
यः प्रत्यक्षविरुद्धानि तस्य ज्ञानं कुतस्तनम् ॥७३

कल्पिते सर्वशून्यत्वे[1] यत्र बुद्धो न विद्यते ।
बन्धमोक्षादितत्त्वानां कुतस्तत्र व्यवस्थितिः ॥७४

स्वर्गापवर्गसौख्यादिभागिनः स्फुटमात्मनः ।
अभावे[1] सकलं वृत्तं क्रियमाणमनर्थकम् ॥७५

क्षणिके[1] हन्तृहन्तव्यदातृदेयादयो ऽखिलाः ।
भावा यत्र विरुध्यन्ते तद्गृह्णन्ति न धीधनाः ॥७६

प्रमाणबाधितः पक्षः सर्वो यस्येति सर्वथा ।
सार्वज्ञ्यं विद्यते तस्य न बुद्धस्य दुरात्मनः ॥७७

---

७४) १. सति ।

७५) १. सति ।

७६) १. सति । २. क्षणिकम् ।

जो बुद्ध प्रत्यक्षमें ही विपरीत प्रतीत होनेवाली सर्वशून्यता, आत्माके अभाव और सर्व पदार्थोंकी क्षणनश्वरताका निरूपण करता है उसके ज्ञान—समीचीन बोध—कहाँसे हो सकता है ? नहीं हो सकता है ? ॥७३॥

कारण यह कि उक्त प्रकारसे सर्वशून्यताकी कल्पना करनेपर—जगत्में कुछ भी वास्तविक नहीं है, यह जो भी कुछ दृष्टिगोचर होता है वह अविद्याके कारण सत् प्रतीत होता है—जो वस्तुतः स्वप्नमें देखी गयी वस्तुओंके समान भ्रान्तिसे परिपूर्ण है—ऐसा स्वीकार करनेपर जहाँ स्वयं उसके उपदेष्टा बुद्धका ही अस्तित्व नहीं रह सकता है वहाँ बन्ध और मोक्ष आदि तत्त्वोंकी व्यवस्था भला कहाँसे हो सकती है ? नहीं हो सकती है ॥७४॥

इसी प्रकार स्वर्गसुख और मोक्ष सुख आदिके भोक्ता जीवके अभावमें—उसका सद्भाव न माननेपर—यह सब किया जानेवाला व्यवहार व्यर्थ ही सिद्ध होगा ॥७५॥

जिस क्षणिकत्वके माननेमें घातक व मारे जानेवाले प्राणी तथा दाता और देने योग्य वस्तु, इत्यादि सब ही पदार्थ विरोधको प्राप्त होते हैं उस क्षणिक पक्षको विचारशील विद्वान् कभी स्वीकार नहीं करते हैं। अभिप्राय यह है कि वस्तुको सर्वथा क्षणिक माननेपर हिंस्य और हिंसक तथा की जानेवाली हिंसाके फलभोक्ता आदिकी चूँकि कुछ भी व्यवस्था नहीं बनती है, अतएव वह ग्राह्य नहीं हो सकता है ॥७६॥

इस प्रकार जिस बुद्धका सब ही पक्ष प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे बाधित है उस दुरात्मा बुद्धके सर्वज्ञपना नहीं रह सकता है ॥७७॥

---

७६) अ °देयास्ततो° ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाणारसीनिवासस्य ब्रह्मा पुत्रः प्रजापतेः ।
उपेन्द्रो वसुदेवस्य सात्यकेर्योगिनो हरः ॥७८
सृष्टिस्थितिविनाशानां कथ्यन्ते हेतवः कथम् ।
एते निसर्गसिद्धस्य जगतो हतचेतनैः ॥७९
यदि सर्वविदामेषां मूर्तिरेकास्ति तत्त्वतः ।
तदा ब्रह्ममुरारिभ्यां लिङ्गान्तः किं न वीक्ष्यते ॥८०
सर्वज्ञस्य विरागस्य शुद्धस्य परमेष्ठिनः ।
किंचिज्ज्ञारागिणो ऽशुद्धा जायन्ते ऽवयवाः कथम् ॥८१
प्रलयस्थितिसर्गाणां विधातुः पार्वतीपतेः ।
लिङ्गच्छेदकरस्तापस्तापसैर्दीयते कथम् ॥८२
ये यच्छन्ति महाशापं धूर्जटेरपि तापसाः ।
निर्भिन्नास्ते कथं बाणैर्मन्मथेन निरन्तरैः ॥८३
स्रष्टारो जगतो देवा ये गीर्वाणनमस्कृताः ।
प्राकृता इव कामेन किं ते त्रिपुरुषा जिताः ॥८४

८४) १. समस्तलोका इव ।

ब्रह्मा वाराणसीमें रहनेवाले प्रजापतिका, कृष्ण वसुदेवका और शम्भु सात्यकि योगी-का पुत्र है । ये तीनों जब साधारण मनुष्यके ही समान रहे हैं तब उन्हें अज्ञानी जन स्वभाव-सिद्ध लोकके निर्माण, रक्षण और विनाशके कारण कैसे बतलाते हैं ? अभिप्राय यह है कि अनादि-निधन इस लोकका न तो ब्रह्मा निर्माता हो सकता है, न विष्णु रक्षक हो सकता है, और न शम्भु संहारक ही हो सकता है ॥७८-७९॥

यदि ये तीनों सर्वज्ञ होकर वस्तुतः एक ही मूर्तिस्वरूप हैं तो फिर ब्रह्मा और विष्णु लिंगके—इस एक मूर्तिस्वरूप शिवके लिंगके—अन्तको क्यों नहीं देख सके ? ॥८०॥[1]

जो परमात्मा सर्वज्ञ, वीतराग, शुद्ध और परमेष्ठी है उसके अवयव अल्पज्ञ, रागी और अशुद्ध संसारी प्राणी—उक्त प्रजापति आदिके पुत्रस्वरूप वे ब्रह्मा आदि—कैसे हो सकते हैं; यह विचारणीय है ॥८१॥

जो पार्वतीका पति शंकर लोकके विनाश, रक्षण और निर्माणका करनेवाला है उसके लिए लिंगच्छेदको करनेवाला शाप तापस कैसे दे सकते हैं ? यह वृत्त युक्तिसंगत नहीं माना जा सकता है ॥८२॥

इनके अतिरिक्त जो ऐसे सामर्थ्यशाली तापस शंकरके लिए भी भयानक शाप दे सकते हैं वे कामके द्वारा निरन्तर फेंके गये बाणोंसे कैसे विद्ध किये गये हैं, यह भी सोचनीय है ॥८३॥

जो उक्त ब्रह्मा आदि विश्वके निर्माता थे तथा जिन्हें देवता भी नमस्कार किया करते थे वे तीनों महापुरुष साधारण पुरुषोंके समान कामके द्वारा कैसे जीते गये हैं—उन्हें कामके वशीभूत नहीं होना चाहिए था ॥८४॥

७८) ब क इ वाराणसी° । ८०) अ इ °रेको ऽस्ति; क ड इ लिङ्गान्तम्; अ ब वीक्षितः । ८२) अ ड शापः for तापः । ८३) ब निरन्तरम् । ८४) अ प्रकृता इव ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कामेन येन निर्जित्य सर्वे देवा विडम्बिताः ।
स कथं शम्भुना दग्धस्तृतीयाक्षिकृशानुना ॥८५
ये रागद्वेषमोहादिमहादोषवशीकृताः ।
ते वदन्ति कथं देवा धर्मं धर्मार्थिनां हितम् ॥८६
न देवा लिङ्गिनो धर्मा दृश्यन्ते ऽन्यत्र निर्मलाः ।
ते यान्निषेव्य जीवेन प्राप्यते शाश्वतं पदम् ॥८७
देवो रागी यतिः संगी धर्मो हिंसानिषेवितः ।
कुर्वन्ति काङ्क्षितां लक्ष्मीं जीवानामतिदुर्लभाम् ॥८८
ईदृशीं हृदि कुर्वाणा धिषणां सुखसिद्धये ।
ईदृशीं किं न कुर्वन्ति निराकृतविचेतनाः ॥८९
वन्ध्यास्तनंधयो राजा शिलापुत्रो महत्तरः ।
मृगतृष्णाजले स्नातः कुर्वते सेविताः श्रियम् ॥९०

८५) १. कामः ।
८७) १. शासने ।
८८) १. ईदृग्देवादयः ।
९०) १. राजादयः ।

जिस कामदेवने सब देवोंको पराजित करके तिरस्कृत किया था उस कामदेवको शंकरने अपने तीसरे नेत्रसे उत्पन्न अग्निके द्वारा भला कैसे भस्म कर दिया ? ॥८५॥

इस प्रकारसे जो ब्रह्मा आदि राग, द्वेष एवं मोह आदि महादोषोंके वशीभूत हुए हैं वे देव होकर—मोक्षमार्गके प्रणेता होते हुए—धर्माभिलाषी जनोंके लिए हितकारक धर्मका उपदेश कैसे कर सकते हैं ? नहीं कर सकते हैं—ऐसे रागी द्वेषी देवोंसे हितकर धर्मके उपदेशकी सम्भावना नहीं की जा सकती है ॥८६॥

हे मित्र ! इस प्रकार दूसरे किसी भी मतमें ऐसे यथार्थ देव, गुरु और धर्म नहीं देखे जाते हैं कि जिनकी आराधना करके प्राणी नित्य पदको—अविनश्वर मोक्षसुखको—प्राप्त कर सके ॥८७॥

रागयुक्त देव, परिग्रहसहित गुरु और हिंसासे परिपूर्ण धर्म; ये प्राणियोंके लिए उस अभीष्ट लक्ष्मीको करते हैं जो कि दूसरोंको प्राप्त नहीं हो सकती है; इस प्रकारसे जो अज्ञानी जन सुखकी प्राप्तिके लिए विचार करते हैं वे उसका इस प्रकार निराकरण क्यों नहीं करते हैं—[यदि रागी देव, परिग्रहमें आसक्त गुरु और हिंसाहेतुक धर्म अभीष्ट सिद्धिको करते हैं तो समझना चाहिए कि] बन्ध्याका पुत्र राजा, अतिशय महान् शिलापुत्र और मृगतृष्णा-जलमें स्नान किया हुआ; इन तीनोंकी सेवा करनेसे वे लक्ष्मीको प्राप्त करते हैं। अभिप्राय यह है कि बन्ध्याका पुत्र, शिला (पत्थर) का पुत्र और मृगतृष्णा (बालु) में स्नान ये जिस प्रकार असम्भव होनेसे कभी अभीष्ट लक्ष्मीको नहीं दे सकते हैं उसी प्रकार उक्त रागी देव आदि भी कभी प्राणियोंको अभीष्ट लक्ष्मी नहीं दे सकते हैं ॥८८-९०॥

८५) अ सर्वदेवा । ८७) ड ते ये निषेव्य । ८८) अ जीवानामन्य° । ८९) क यदि for हृदि; अ निराकृतिम् ।
९०) अ महत्तमः; ब स्नाति, क जलस्नातः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वेषरागमदमोहविद्विषो निर्जिताखिलनरामरेश्वराः ।
कुर्वते वपुषि यस्य नास्पदं भास्करस्य तिमिरोत्करा इव ॥९१
केवलेन गलिताखिलैनसा[1] यो ऽवगच्छति[2] चराचरस्थितिम् ।
तं त्रिलोकमतमाप्तमुत्तमाः सिद्धिसाधकमुपासते जिनम् ॥९२
विद्धसर्वनरखेचरामरैर्यें मनोभवशरैर्न ताडिताः ।
ते भवन्ति यतयो जितेन्द्रिया जन्मपादपनिकर्तनाशयाः ॥९३
प्राणिपालदृढमूलबन्धनः सत्यशौचशमशीलपल्लवः ।
इष्टशर्मफलजालमुल्बणं पेशलं[1] फलति धर्मपादपः ॥९४
बन्धमोक्षविधयः सकारणा युक्तितः सकलबाधवर्जिताः ।
येन सिद्धिपथदर्शनोदिताः शास्त्रमेतदवयन्ति[1] पण्डिताः ॥९५

९२) १. ज्ञानावरणादिना । २. जानाति ।
९४) १. मनोज्ञम् ।
९५) १. पठ्यन्ति ।

जिस प्रकार सूर्यके शरीरमें—उसके पासमें—कभी अन्धकारका समूह नहीं रहता है उसी प्रकार जिसके शरीरमें समस्त नरेश्वरों—राजा महाराजा आदि—और अमरेश्वरों—इन्द्रादि—को पराजित करनेवाले द्वेष, राग एवं मोहरूप शत्रु निवास नहीं करते हैं तथा जो समस्त आवरणसे रहित केवलज्ञानके द्वारा चराचर लोकके स्वरूपको जानता-देखता है वह कर्म-शत्रुओंका विजेता जिन—अरिहन्त—ही यथार्थ आप्त (देव) होकर सिद्धिका शासक—मोक्षमार्गका प्रणेता—हो सकता है। इसीलिए वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशक होनेसे उत्तम जन उसीकी आराधना किया करते हैं व वही तीनों लोकोंके द्वारा आप्त माना भी गया है ॥९१-९२॥

जो महात्मा समस्त मनुष्य, विद्याधर और देवोंको भी वेधनेवाले कामके बाणोंसे आहत नहीं किये गये हैं—उस कामके वशीभूत नहीं हुए हैं—तथा जो संसाररूप वृक्षके काटनेके अभिप्रायसे—मुक्तिप्राप्तिकी अभिलाषासे—इन्द्रियविषयोंसे सर्वथा विमुख हो चुके हैं वे महर्षि ही यथार्थ गुरु हो सकते हैं ॥९३॥

जिस धर्मरूप वृक्षकी जड़ उसे स्थिर रखनेवाली प्राणिरक्षा (संयम) है तथा सत्य, शौच, समता व शील ही जिसके पत्ते हैं; वही धर्मरूप वृक्ष स्पष्टतया अभीष्ट सुखरूप मनोहर फूलको दे सकता है ॥९४॥

जिसके द्वारा युक्तिपूर्वक कारण सहित बन्ध और मोक्षकी विधियाँ समस्त बाधाओंसे रहित होकर मुक्तिमार्गके दिखलानेमें प्रयोजक कही गयी हैं उसे विद्वान् शास्त्र समझते हैं। अभिप्राय यह है कि जिसके अभ्याससे मोक्षके साधनभूत व्रत-संयमादिका परिज्ञान होकर प्राणीकी मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति होती है वही यथार्थ शास्त्र कहा जा सकता है ॥९५॥

९२) अ गदिताखिलै°; अ °स्थितम्; अ इ सिद्धसाधक° । ९३) क ड निकर्तनाशयः । ९५) अ विषये for विधयः; अ ब सकलबोध° ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मद्यमांसवनिताङ्गसंगिनो धार्मिका यदि भवन्ति रागिणः ।
शौण्डखट्टिकविटास्तदा स्फुटं यान्ति नाकवसतिं निराकुलाः ॥९६

क्रोधलोभभयमोहमर्दिताः पुत्रदारधनमन्दिरादराः ।
धर्मसंयमदमैरपाकृताः[1] पातयन्ति यतयो भवाम्बुधौ ॥९७

देवता विविधदोषदूषिताः संगभङ्गकलितास्तपोधनाः[1] ।
प्राणिहिंसनपरायणो वृषः सेविता लघु नयन्ति संसृतिम् ॥९८

जन्ममृत्युबहुमार्गसंकुले[1] द्वेषरागमदमत्सराकुले ।
दुर्लभः शिवपथो जने यतस्त्वं सदा भव परीक्षकस्ततः ॥९९

भवान्तकजरोज्झितास्त्रिदशवन्दिता देवता
निराकृतपरिग्रहस्मरहृषीकदर्पो यतिः ।

९६) १. मद्यपानिनः खाटकादयः ।

९७) १. रहिताः ।

९८) १. परिग्रहसमूहव्याप्ताः ।

९९) १. संसारे ।

जो रागके वशीभूत होकर मद्यका पान करते हैं, मांसके भक्षणमें रत हैं और स्त्रीके शरीरकी संगतिमें आसक्त हैं वे यदि धर्मात्मा हो सकते हैं तो फिर मद्यका विक्रय करनेवाले, कसाई और व्यभिचारी जन भी निश्चिन्त होकर स्पष्टतया स्वर्गपुरीको जा सकते हैं ॥९६॥

जो साधु क्रोध, लोभ, भय और मोहसे पीड़ित होकर धर्म, संयम व इन्द्रियनिग्रह आदिसे विमुख होते हुए पुत्र, स्त्री, धन एवं गृह आदिमें अनुराग रखते हैं वे अपने भक्त जनोंको और स्वयं अपनेआपको भी संसाररूप समुद्रमें गिराते हैं ॥९७॥

अनेक दोषोंसे दूषित देवताओं, परिग्रहके विकल्पसे संयुक्त तपस्वियों और प्राणिहिंसामें तत्पर ऐसे धर्मकी आराधनासे प्राणी शीघ्र ही संसारमें परिभ्रमण किया करते हैं ॥९८॥

जो प्राणी संसारपरिभ्रमणकी उत्पत्तिके बहुत-से मार्गोंसे परिपूर्ण—जन्मपरम्पराके बढ़ानेवाले साधनोंमें व्याप्त—तथा द्वेष, राग, मद और मात्सर्य भावसे व्याकुल रहता है उसे चूँकि मोक्षमार्ग दुर्लभ होता है; अतएव हे मित्र ! तुम सदा परीक्षक होओ—निरन्तर यथार्थ और अयथार्थ देव, गुरु एवं धर्म आदिका परीक्षण करके जो यथार्थ प्रतीत हों उनका आराधन करो ॥९९॥

जो जन्म, मरण व जरासे रहित होकर देवोंके द्वारा वन्दित हो वह देव; जो परिग्रहसे रहित होकर काम और इन्द्रियोंके अभिमानको चूर्ण करनेवाला हो वह गुरु; तथा जो

९७) ब इ मद for भय; अ वर्जिताः for मर्दिताः; अ संयमद्रुमै°....रपाकृतास्तापयन्ति । ९९) अ ब जन्मजाति°; ड शिवपथा ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वृषो ऽकपटसंकटः[1] सकलजीवरक्षापरो
वसन्तु मम मानसे ऽमितगतिः शिवायानिशम् ॥१००

इति धर्मपरीक्षाया ममितगतिकृतायां सप्तदशः परिच्छेदः ॥१७॥

१००) १. कपटरहितः ।

कपटकी विषमतासे रहित होकर समस्त प्राणियोंकी रक्षा करनेवाला हो वह धर्म कहा जाता है। ग्रन्थकार अमितगति आचार्य कहते हैं कि ये तीनों मोक्ष सुखकी प्राप्तिके लिए मेरे हृदय-में निरन्तर वास करें ॥१००॥

इस प्रकार आचार्य अमितगति विरचित धर्मपरीक्षामें सत्रहवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ॥१७॥

१००) अ इ रक्षाकरो;... °मितगतेः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रुत्वा पवनवेगो ऽथ परदर्शनदुष्टताम् ।
पप्रच्छेति मनोवेगं संदेहतिमिरच्छिदे ॥१
परस्परविरुद्धानि कथं जातानि भूरिशः ।
दर्शनान्यन्यदीयानि कथ्यतां मम सन्मते ॥२
आकर्ण्य भारतीं तस्य मनोवेगो ऽगदीदिति ।
उत्पत्तिमन्यतीर्थानां श्रूयतां मित्र वच्मि ते ॥३
उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ वर्तेते भारते सदा ।
दुर्निवारमहावेगे त्रियामावासराविव ॥४
एकैकस्यात्र षड्भेदाः सुखमासुखमादयः ।
परस्परमहाभेदा वर्षे वा शिशिरादयः ॥५

४) १. रात्रिदिवसौ इव ।

इस प्रकार पवनवेगने दूसरे मतोंकी दुष्टताको सुनकर—उन्हें अनेक दोषोंसे परिपूर्ण जानकर—अपने सन्देहरूप अन्धकारको नष्ट करनेके लिए मनोवेगसे यह पूछा कि दूसरोंके वे बहुत प्रकारके मत परस्पर विरुद्ध हैं, यह तुम कैसे जानते हो। हे समीचीन बुद्धिके धारक मित्र ! उन दर्शनोंकी उत्पत्तिको बतलाकर मेरे सन्देहको दूर करो ॥१-२॥

पवनवेगकी वाणीको—उसके प्रश्नको—सुनकर मनोवेग इस प्रकार बोला—हे मित्र ! मैं अन्य सम्प्रदायोंकी उत्पत्तिको कहता हूँ, सुनो ॥३॥

जिस प्रकार रात्रिके पश्चात् दिन और फिर दिनके पश्चात् रात्रि, यह रात्रि-दिनका क्रम निरन्तर चालू रहता है; उनकी गतिको कोई रोक नहीं सकता है, उसी प्रकार इस भरत क्षेत्रके भीतर उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी ये दो काल सर्वदा क्रमसे वर्तमान रहते हैं, उनके संचारक्रमको कोई रोक नहीं सकता है। इनमें उत्सर्पिणी कालमें प्राणियोंकी आयु एवं बल व बुद्धि आदि उत्तरोत्तर क्रमसे वृद्धिको प्राप्त होते रहते हैं और अवसर्पिणी कालमें वे उत्तरोत्तर क्रमसे हानिको प्राप्त होते रहते हैं ॥४॥

जिस प्रकार एक वर्षमें शिशिर व वसन्त आदि छह ऋतुएँ प्रवर्तमान होती हैं उसी प्रकार उक्त दोनों कालोंमें-से प्रत्येकमें सुषमासुषमा आदि छह कालभेद—अवसर्पिणीमें १. सुषमासुषमा २. सुषमा ३. सुषमदुःषमा ४. दुःषमसुषमा ५. दुःषमा और ६. दुःषमदुःषमा तथा उत्सर्पिणीमें दुःषमदुःषमा व दुःषमा आदि विपरीत क्रमसे छहों काल—प्रवर्तते हैं। जिस प्रकार ऋतुओंमें परस्पर भेद रहता है उसी प्रकार इन कालोंमें भी परस्पर महान् भेद रहता है ॥५॥

४) क ड इ °महावेगौ; अ वर्तन्ते । ५) अ एकैका यत्र, ब एकैकात्र तु, क एकैकत्रात्र ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोटीकोट्यो दशाब्धीनां[1] प्रत्येकमनयोः प्रमाः ।
तत्रावसर्पिणी ज्ञेया[2] वर्तमाना विचक्षणैः ॥६

कोटीकोट्यो ऽम्बुराशीनां सुखमासुखमादिमा ।
चतस्रो गदितास्तिस्रो द्वितीया सुखमा समा[1] ॥७

तेषामन्ते तृतीयाब्दे सुखमादुःखमोदिते[1] ।
तासु[2] त्रिद्व्येकपल्यानि जीवितं क्रमतो ऽङ्गिनाम् ॥८

त्रिद्व्येकका मताः क्रोशाः क्रमतो ऽत्र तनूच्छ्रितिः ।
त्रिद्व्येकदिवसैस्तेषामाहारो भोगभागिनाम् ॥९

आहारः क्रमतस्तुल्यो बदरामलकाक्षकैः ।
परेषां दुर्लभो वृक्षः सर्वेन्द्रियबलप्रदः[1] ॥१०

६) १. सागराणाम् । २. तयोः ।

७) १. काल ।

८) १. द्वे कोटीकोट्यौ । २. कालेषु ।

९) १. कालेषु ।

१०) १. शक्तिवान् ।

उक्त दोनों कालोंमें प्रत्येकका प्रमाण दस कोड़ाकोडि सागरोपम है—सु. सु. ४ कोड़ाकोडि+सु. ३ को. को.+सु. दु. २ को. को.+दु. सु. २१ हजार वर्ष कम १ को. को. और+दु. दु. २१ ह. वर्ष=१० को. को. सा.। उन दोनों कालोंमें-से यहाँ वर्तमानमें अवसर्पिणी काल चल रहा है, ऐसा विद्वानोंको जानना चाहिये ॥६॥

प्रथम सुषमासुषमा काल चार कोड़ाकोडि सागरोपम प्रमाण, द्वितीय सुषमा काल तीन कोड़ाकोडि सागरोपम प्रमाण और तीसरा सुषमदुःषमा दो कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण कहा गया है। इन तीन कालोंमें प्राणियोंकी आयु क्रमसे तीन पल्य, दो पल्य और एक पल्य प्रमाण निर्दिष्ट की गयी है ॥७-८॥

उक्त तीन कालोंमें प्राणियोंके शरीरकी ऊँचाई क्रमसे तीन, दो और एक कोश मानी गयी है। इन कालोंमें भोगभूमिज प्राणियोंका आहार क्रमसे तीन, दो और एक दिनके अन्तरसे होता है ॥९॥

वह आहार भी उनका प्रमाणमें क्रमसे बेर, आँवला और बहेड़ेके फलके बराबर होता है। इस प्रकार प्रमाणमें कम होनेपर भी वह सब ही इन्द्रियोंको शक्ति प्रदान करनेवाला होता है। ऐसा पौष्टिक आहार अन्य जनोंको—कर्मभूमिज जीवोंको—दुर्लभ होता है ॥१०॥

७) अ °सुषमादिना....सुषमा स सा । ८) अ तेषामेव, ब तेषामेते; अ तेषु for तासु; इ क्रमतो ऽङ्गिनः ।
९) अ तनूत्सृतिः, क तनूत्थितिः । १०) अ बदराम्लककाख्यकैः; क इ वृष्यः सर्वेन्द्रिय° ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नास्ति स्वस्वामिसंबन्धो नान्यगेहे गमागमौ ।
न हीनो नाधिकस्तत्र न व्रतं नापि संयमः ॥११

सप्तभिः सप्तकैस्तत्र दिनानां जायते ऽङ्गिनाम् ।
सर्वभोगक्षमो देहो नवयौवनभूषणः ॥१२

स्त्रीपुंसयोर्युगं तत्र जायते सहभावतः ।
कान्तिद्योतितसर्वाङ्गं ज्योत्स्नाचन्द्रमसोरिव ॥१३

आर्यमाह्वयते नाथं प्रेयसी प्रियभाषिणी ।
तत्रासौ[1] प्रेयसीमार्यां चित्रचाटुक्रियोद्यतः ॥१४

दशाङ्गो दीयते भोगस्तेषां कल्पमहीरुहैः ।
दशाङ्गैर्निर्विकारैश्च धर्मैरिव सविग्रहैः ॥१५

मद्यतूर्यंगृहज्योतिर्भूषाभोजनविग्रहाः ।
स्रग्दीपवस्त्रपात्राङ्गा दशधा कल्पपादपाः ॥१६

---

१४) १. आर्यः ।

इन कालोंमें प्राणियोंके मध्यमें स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध—सेवक व स्वामीका व्यवहार—नहीं रहता, दूसरोंके घरपर जाना-आना भी नहीं होता, हीनता व अधिकता (नीच-ऊँच) का भी व्यवहार नहीं होता, तथा उस समय व्रत व संयमका भी परिपालन नहीं होता ॥११॥

उन कालोंमें प्राणियोंका शरीर जन्म लेनेके पश्चात् सात सप्ताह—उनचास दिनोंमें—नवीन यौवनसे विभूषित होकर समस्त भोगोंके भोगनेमें समर्थ हो जाता है ॥१२॥

उस समय चाँदनी और चन्द्रमाके समान कान्तिसे सब ही शरीरको प्रतिभासित करनेवाला स्त्री व पुरुषका युगल साथ ही उत्पन्न होता है ॥१३॥

भोगभूमियों स्नेह पूर्वक मधुर भाषण करनेवाली प्रिय स्त्री अपने स्वामीको 'आर्य' इस शब्दके द्वारा बुलाती है तथा वह स्वामी भी उस प्रियतमाको अनेक प्रकारकी खुशामद-में तत्पर होता हुआ 'आर्या' इस शब्दसे सम्बोधित करता है ॥१४॥

उक्त कालोंमें शरीरधारी दस धर्मोंके समान जो दस प्रकारके कल्पवृक्ष होते हैं वे सब प्रकारसे विकारसे रहित होकर उन आर्य जनोंके लिए दस प्रकारके भोगको प्रदान किया करते हैं ॥१५॥

वे दस प्रकारके कल्पवृक्ष ये हैं—मद्यांग, तूर्यांग, गृहांग, ज्योतिरंग, भूषणांग, भोज-नांग, मालांग, दीपांग, वस्त्रांग, और पात्रांग ॥१६॥

---

११) अ क ड °गेहगमा°; ड न दीनो । १३) ब शुभभावतः, ड महतावतः; अ °द्योतितसर्वांशम् । १४) अ प्रेमभाषिणी....प्रेयसीनार्यां....चित्रवाटक्रियोदितः, ब चित्रचाटुरिव क्रिया । १५) ब क °निर्मलाकारैर्धर्मै° ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पल्यस्याथाष्टमे भागे सति शेषे व्यवस्थिते ।
चतुर्दश तृतीयस्यामुत्पन्नाः कुलकारिणः ॥१७
प्रतिश्रुत्यादिमस्तत्र द्वितीयः सन्मतिः स्मृतः ।
क्षेमंकरधरौ प्राज्ञौ सीमंकरधरौ ततः ॥१८
ततो विमलवाहो ऽभूच्चक्षुष्मानष्टमस्ततः ।
यशस्वी नवमो जैनैरभिचन्द्रः परो मतः ॥१९
चन्द्राभो मरुदेवो ऽन्यः प्रसेनो ऽत्र त्रयोदशः ।
नाभिराजो बुधैरन्त्यः कुलकारी निवेदितः ॥२०
एते जातिस्मराः सर्वे दिव्यज्ञानविलोचनाः ।
लोकानां दर्शयामासुः समस्तां भुवनस्थितिम् ॥२१
मरुदेव्यां महादेव्यां नाभिराजो जिनेश्वरम् ।
प्रभात इव पूर्वस्यां तिग्मरश्मिममजीजनत् ॥२२
स्वर्गावतरणे भर्तुरयोध्यां त्रिदशेश्वरः ।
भक्त्या रत्नमयीं चक्रे दिव्यप्राकारमन्दिराम् ॥२३

१७) १. समायां [ये] ।

जब तृतीय कालमें पल्यका आठवाँ भाग शेष रहता है तब उस समय क्रमसे चौदह कुलकर पुरुष उत्पन्न हुआ करते हैं ॥१७॥

उनमें प्रथम प्रतिश्रुत, द्वितीय सन्मति, तत्पश्चात् क्षेमंकर, क्षेमन्धर, सीमंकर, सीमन्धर, विमलवाह, आठवाँ चक्षुष्मान्, नौवाँ यशस्वी, तत्पश्चात् अभिचन्द्र, चन्द्राभ, मरुदेव, तेरहवाँ प्रसेन और अन्तिम नाभिराज; इस प्रकार विद्वानोंके द्वारा ये चौदह कुलकर पुरुष उत्पन्न हुए माने गये हैं ॥१८-२०॥

ये सब जातिस्मरणसे संयुक्त व दिव्य ज्ञानरूप नेत्रसे सुशोभित—उनमें कितने ही अवधिज्ञानके धारक—थे। इसीलिए उन सबने उस समयके प्रजाजनोंको सब ही लोककी स्थितिको—भिन्न-भिन्न समयमें होनेवाले परिवर्तनको—दिखलाया था ॥२१॥

जिस प्रकार प्रभातकाल पूर्व दिशामें तेजस्वी सूर्यको उत्पन्न करता है उसी प्रकार अन्तिम कुलकर नाभिराजने मरुदेवी महादेवीसे प्रथम तीर्थंकर आदि जिनेन्द्रको उत्पन्न किया था ॥२२॥

भगवान् आदि जिनेन्द्र जब स्वर्गसे अवतार लेनेको हुए—माता मरुदेवीके गर्भमें आनेवाले थे—तब इन्द्रने भक्तिके वश होकर अयोध्या नगरीको दिव्य कोट और भवनोंसे विभूषित करते हुए रत्नमयी कर दिया था ॥२३॥

१७) अ पल्यस्य वाष्टमे, ब पल्यस्याप्याष्टमे । १८) अ प्रज्ञौ, ब प्राज्ञैः for प्राज्ञौ । १९) ब ड प्रसेनो ऽतः; इ जनैरन्त्यः । २१) इ समस्तभुवन° । २३) ब त्रिदिवेश्वरः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कन्ये नन्दासुनन्दाख्ये कच्छस्य नृपतेर्वृषा ।
जिने नियोजयामास नीतिकीर्ती इवामले ॥२४

एतयोः कान्तयोस्तस्य पुत्राणामभवच्छतम् ।
सब्राह्मीसुन्दरीकन्यं मानसाह्लादनक्षमम् ॥२५

जिनः कल्पद्रुमापाये लोकानामाकुलात्मनाम् ।
दिदेश षट्क्रियाः पृष्टो जीवनस्थितिकारिणीः ॥२६

ततो नीलंजसां देवो[1] नृत्यन्तीं देवकामिनीम् ।
विलीनां सहसा दृष्ट्वा चिन्तयामास मानसे ॥२७

यथैषा पश्यतो[1] नष्टा शम्पेव त्रिदशाङ्गना ।
तथा नश्यति निःशेषा लक्ष्मीर्मोहनिकारिणी ॥२८

सलिलं मृगतृष्णायां नभःपुर्यां महाजनः ।
प्राप्यते न पुनः सौख्यं संसारे सारवर्जिते ॥२९

२७) १. आदीश्वरः ।

२८) १. अस्माकम् ।

जन्म लेनेके पश्चात् जब भगवान् ऋषभनाथ विवाहके योग्य हुए तब इन्द्रने उनके लिए नीति और कीर्तिके समान नन्दा और सुनन्दा नामकी क्रमसे कच्छ और महाकच्छ राजाओंकी पुत्रियोंकी योजना की—उनका उक्त दोनों कन्याओंके साथ विवाह सम्पन्न करा दिया ॥२४॥

इन दोनों पत्नियोंसे उनके ब्राह्मी और सुन्दरी नामकी दो कन्याओंके साथ सौ पुत्र उत्पन्न हुए । ये सब उनके मनको प्रमुदित करते थे ॥२५॥

कल्पवृक्षोंके नष्ट हो जानेपर जब प्रजाजन व्याकुलताको प्राप्त हुए तब उनके द्वारा पूछे जानेपर भगवान् आदि देवने उन्हें जीवनकी स्थिरताकी कारणभूत असि-मषी आदिरूप छह क्रियाओंका उपदेश दिया था ॥२६॥

तत्पश्चात् सभाभवनमें नृत्य करती हुई नीलंजसा नामक अप्सराको अकस्मात् मरणको प्राप्त होती हुई देखकर भगवान्ने अपने मनमें इस प्रकार विचार किया ॥२७॥

जिस प्रकारसे यह देवांगना देखते ही देखते बिजलीके समान नष्ट हो गयी उसी प्रकारसे प्राणियोंको मोहित करनेवाली यह समस्त लक्ष्मी भी नष्ट होनेवाली है ॥२८॥

कदाचित् बालूमें पानी और आकाशपुरीमें महापुरुष भले ही प्राप्त हो जावें, परन्तु इस असार संसारमें कभी सुख नहीं प्राप्त हो सकता है ॥२९॥

२४) अ जिनेन योजया°....नीतिः कीर्तेर्यथा वृषा । २५) अ सैकं ब्राह्मीसुन्दरीकं, ब °सुन्दरीकन्या, क °कन्याम् । २६) क ड °द्रुमप्रायो; अ जीवितस्थिति° । २७) अ चिन्तया मानसे तदा । २८) अ ब क पश्यताम्; इ मोंहविकारिणी ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न शक्यते विना स्थातुं येनेहैकमपि क्षणम् ।
वियोगः सह्यते ऽस्यापि चित्रांशुरिव तापकः ॥३०
क्षीणो ऽपि वर्धते चन्द्रो दिनमेति पुनर्गतम् ।
नदीतोयमिवातीतं यौवनं न निवर्तते ॥३१
बन्धूनामिह संयोगः पन्थानामिव संगमः ।
सुहृदां जायते स्नेहः प्रकाश इव विद्युताम् ॥३२
पुत्रमित्रगृहद्रव्यधनधान्यादिसंपदाम् ।
प्राप्तिः स्वप्नोपलब्धेव न स्थैर्यमवलम्बते ॥३३
यदर्थमर्ज्यते द्रव्यं कृत्वा पातकमूर्जितम् ।
शरदभ्रमिव क्षिप्रं जीवितं तत्पलायते ॥३४
संसारे दृश्यते देही नासौ दुःखनिधानके ।
गोचरीक्रियते[1] यो[2] न मृत्युना विश्वगामिना ॥३५

३०) १. अग्निः ।
३५) १. न गृह्यते । २. जीवः ।

प्राणी जिस अभीष्ट वस्तुके बिना यहाँ एक क्षण भी नहीं रह सकता है वह अग्निके समान सन्तापजनक उसके वियोगको भी सहता है ॥३०॥

हानिको प्राप्त हुआ भी चन्द्रमा पुनः वृद्धिको प्राप्त होता है, तथा बीता हुआ भी दिन फिरसे आकर प्राप्त होता है; परन्तु गया हुआ यौवन (जवानी) नदीके पानीके समान फिरसे नहीं प्राप्त हो सकता है ॥३१॥

जिस प्रकार प्रवासमें कुछ थोड़े-से समयके लिए पथिकोंका संयोग हुआ करता है उसी प्रकार यहाँ—संसारमें—बन्धु-जनोंका भी कुछ थोड़े-से ही समयके लिए संयोग रहता है, तत्पश्चात् उनका वियोग नियमसे ही हुआ करता है। तथा जिस प्रकार बिजलीका प्रकाश क्षण-भरके लिए ही होता है उसी प्रकार मित्रोंका स्नेह भी क्षणिक ही है ॥३२॥

जिस प्रकार कभी-कभी स्वप्नमें अनेक प्रकारके अभीष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति देखी जाती है, परन्तु जागनेपर कुछ भी नहीं रहता है; उसी प्रकार संसारमें पुत्र, मित्र, गृह और धन-धान्यादि सम्पदाओंकी भी प्राप्ति कुछ ही समयके लिए हुआ करती है; उनमें-से कोई भी सदा स्थिर रहनेवाला नहीं है ॥३३॥

जिस जीवनके लिए प्राणी महान् पापको करके धनका उपार्जन किया करता है वह जीवन शरद् ऋतुके मेघके समान शीघ्र ही नष्ट हो जाता है—आयुके समाप्त होनेपर मरण अनिवार्य होता है ॥३४॥

दुखके स्थानभूत इस संसारमें वह कोई प्राणी नहीं देखा जाता है जो कि समस्त लोकमें विचरण करनेवाली मृत्युका ग्रास न बनता हो—इन्द्र, धरणेन्द्र और चक्रवर्ती आदि सब ही आयुके क्षीण होनेपर मरणको प्राप्त हुआ ही करते हैं ॥३५॥

३१) ब क ड इ क्षीणो वि°; अ ड इ न विवर्तते । ३२) अ ब संगमे, क संगमम् । ३४) अ इ °मर्यते । ३५) ब °निदानके ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न किंचनात्र जीवानां श्वोवसीयसकारणम् ।
रत्नत्रयं विहायैकं न परं विद्यते ध्रुवम्[1] ॥३६
विचिन्त्येति जिनो गेहाद्विनिर्गन्तुं प्रचक्रमे ।
संसारासारतावेदी कथं गेहे ऽवतिष्ठति ॥३७
आरूढः शिबिकां देवो मुक्ताहारविभूषिताम् ।
आनेतुं स्वयमायातां सिद्धभूमिमिवामलाम् ॥३८
उत्क्षिप्तां पार्थिवैरेतामग्रहीषुर्दिवौकसः ।
समस्तधर्मकार्येषु व्याप्रियन्ते[2] महाधियः ॥३९
समेत्य शकटोद्यानं देवो वटतरोरधः ।
पर्यङ्कासनमास्थाय भूषणानि निराकरोत् ॥४०
पञ्चभिर्मुष्टिभिः क्षिप्रं ततो ऽसौ दृढमुष्टिकः ।
केशानुत्पाटयामास कृतसिद्धनमस्कृतिः ॥४१

३६) १. शाश्वतम् ।
३९) १. शिबिकाम् । २. प्रवर्तन्ते ।

इस संसारमें एक रत्नत्रयको छोड़कर और दूसरा कोई प्राणियोंके कल्याणका कारण नहीं है, यह निश्चित समझना चाहिए ॥३६॥

यही विचार करके जिन—भगवान् आदिनाथ तीर्थंकर—गृहसे निकलनेके लिए समर्थ हुए—समस्त परिग्रहको छोड़कर निर्ग्रन्थ दीक्षाके धारण करनेमें प्रवृत्त हुए । ठीक भी है—जो संसारकी निःसारताको जान लेता है वह घरमें कैसे अवस्थित रह सकता है ? नहीं रह सकता है ॥३७॥

वे भगवान् मोतियोंके हारोंसे सुशोभित जिस पालकीके ऊपर विराजमान हुए वह ऐसी प्रतीत होती थी जैसे मानो उन्हें लेनेके लिए स्वयं सिद्धभूमि (सिद्धालय) ही आकर उपस्थित हुई हो ॥३८॥

उस पालकीको सर्वप्रथम राजाओंने ऊपर उठाकर अपने कन्धोंपर रखा, तत्पश्चात् फिर उसे देवोंने ग्रहण किया—वे उसे उठाकर ले गये । ठीक है—धर्मके कामोंमें सब ही बुद्धिमान् प्रवृत्त हुआ करते हैं ॥३९॥

इस प्रकारसे भगवान् जिनेन्द्र शकट नामके उद्यानमें पहुँचे और वहाँ उन्होंने वटवृक्षके नीचे पद्मासनसे अवस्थित होकर अपने शरीरके ऊपरसे भूषणोंको—सब ही वस्त्राभरणोंको पृथक् कर दिया ॥४०॥

तत्पश्चात् उन्होंने दृढ़ मुष्टिसे संयुक्त होकर सिद्धोंको नमस्कार करते हुए पाँच मुष्टियोंके द्वारा शीघ्र ही अपने केशोंको उखाड़ डाला—उनका लोंच कर दिया ॥४१॥

३६) अ विहायैकमपरम् । ३८) अ ब क इ सिद्धिभूमि° । ३९) अ ब समस्ता धर्म° । ४१) ब °सिद्धि° ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कल्याणाङ्गो महासत्त्वो नरामरनिषेवितः ।
ऊर्ध्वीभूय ततस्तस्थौ सुवर्णाद्रिरिव स्थिरः ॥४२
कृत्वा [1]पटलिकान्तःस्थान् जिनेन्द्रस्य शिरोरुहान् ।
आरोप्य मस्तके शक्रश्चिक्षेप क्षीरसागरे ॥४३
प्रकृष्टो ऽत्र[1] कृतो योगो यतस्त्यागो जिनेशिना ।
शकटामुखमुद्यानं प्रयागाख्यां गतं ततः ॥४४
चत्वार्यर्मो[1] सहस्राणि भूपा जातास्तपोधनाः ।
सद्भिराचरितं कार्यं समस्तः श्रयते जनः ॥४५
षण्मासाभ्यन्तरे भग्नाः सर्वे ते नृपपुङ्गवाः ।
दीनचित्तैरविज्ञानैः सह्यन्ते न परीषहाः ॥४६
फलान्यत्तुं प्रवृत्तास्ते पयः पातुं दिगम्बराः ।
तन्नास्ति क्रियते यन्न बुभुक्षाक्षीणकुक्षिभिः ॥४७

४३) १. रत्नपेटिकान्तःस्थान् ।
४४) १. उद्याने ।
४५) १. जिनेन सह ।

तत्पश्चात् मंगलमय शरीरसे संयुक्त, अतिशय बलवान् तथा मनुष्य एवं देवोंसे आराधित वे भगवान् सुमेरुके समान स्थिर होकर ऊर्ध्वीभूत स्थित हुए—कायोत्सर्गसे ध्यानमें लीन हो गये ॥४२॥

उस समय सौधर्म इन्द्रने आदि जिनेन्द्रके उन बालोंको एक पेटीके भीतर अवस्थित करके अपने मस्तक पर रखा और जाकर क्षीर समुद्रमें डाल दिया ॥४३॥

भगवान् आदि जिनेन्द्रने उस वनमें चूँकि महान् त्याग व उत्कृष्ट ध्यान किया था, इसीलिए तबसे वह वन 'प्रयाग' के नामसे प्रसिद्ध हो गया ॥४४॥

भगवान् आदि जिनेन्द्रके दीक्षित होनेके साथ चार हजार अन्य राजा भी दीक्षित हुए थे। सो ठीक भी है—सत्पुरुष जिस कार्यका अनुष्ठान करते हैं उसका आश्रय सब ही अन्य जन किया करते हैं ॥४५॥

परन्तु वे सब राजा छह महीनेके ही भीतर उस संयमसे भ्रष्ट हो गये थे। ठीक है—अज्ञानी जन मानसिक दुर्बलताके कारण परीषहोंको नहीं सह सकते हैं ॥४६॥

तब वे निर्ग्रन्थके वेषमें स्थित रहकर फलोंके खाने और पानीके पीनेमें प्रवृत्त हो गये। ठीक है—जिनका उदर भूखसे कृश हो रहा है वे बुभुक्षित प्राणी ऐसा कोई जघन्य कार्य नहीं है जिसे न करते हों—भूखा प्राणी हेयाहेयका विचार न करके कुछ भी खानेमें प्रवृत्त हो जाता है ॥४७॥

४२) अ ऊर्ध्वीभूतस्ततः । ४३) पटलिकान्तस्तान् । ४४) अ इ प्रयोगाख्यं, ड प्रयोगाख्याम् । ४६) इ °रवज्ञानैः, सह्यते ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ततो देवतया प्रोक्ता भो भो भूपा न युज्यते ।
विधातुमीदृशं कर्म लिङ्गेनानेन निन्दितम् ॥४८
गृहीत्वा स्वयमाहारं भुञ्जते ये दिगम्बराः ।
नोत्तारो विद्यते तेषां नीचानां भववारिधेः ॥४९
पाणिपात्रे परैर्दत्तं प्रासुकं परवेश्मनि ।
आहारं भुञ्जते जैना योगिनो धर्मवृद्धये ॥५०
निशम्येति वचो देव्याः कृत्वा कौपीनमाकुलाः ।
पानीयं ते पपुर्घोरं कालकूटमिवोज्जितम् ॥५१
हित्वा लज्जां गृहं याताः केचित् क्षुत्तृट्करालिताः ।
त्रपन्ते प्राणिनस्तावद्यावच्चेतो न दुष्यति ॥५२
यदि यामो गृहं हित्वा देवमत्र वनान्तरे ।
तदानीं भरतो रुष्टो वृत्तिच्छेदं करोति नः ॥५३
वरमत्र स्थिताः सेवां विदधाना विभोर्वने ।
इति ध्यात्वापरे तस्थुस्तत्र कन्दादिखादिनः ॥५४

उनकी इस संयमविरुद्ध प्रवृत्तिको देखकर किसी देवताने उनसे कहा कि हे राजाओ ! इस दिगम्बर वेषके साथ ऐसा निकृष्ट कार्य करना योग्य नहीं है। जो दिगम्बर होकर—जिनलिंगके धारण करते हुए—स्वयं आहारको ग्रहण करके उसका उपभोग करते हैं उन नीच जनोंका संसारसे उद्धार इस प्रकार नहीं हो सकता है जिस प्रकार कि समुद्रसे हीन पुरुषोंका उद्धार नहीं हो सकता है। जिनलिंगके धारक यथार्थ योगी संयमकी वृद्धिके लिए दूसरोंके घरपर जाकर श्रावकोंके द्वारा हाथोंरूप पात्रमें दिये प्रासुक—निर्दोष—आहारको ग्रहण किया करते हैं ॥४८-५०॥

देवताके इन वचनोंको सुनकर उक्त वेषधारी राजाओंने व्याकुल होते हुए उस दिगम्बर साधुके वेषको छोड़कर कौपीन (लंगोटी) को धारण कर लिया। फिर वे पानीको ऐसे पीने लगे जैसे मानो बलवान् व भयानक कालकूट विषको ही पी रहे हों ॥५१॥

उनमें कुछ लोग भूख और प्याससे पीड़ित होकर लज्जाको छोड़ते हुए अपने-अपने घरको वापस चले गये। ठीक है—प्राणी तभी तक लज्जा करते हैं जबतक कि मन दूषित नहीं होता है—वह निराकुल रहता है ॥५२॥

दूसरे लोगोंने विचार किया कि यदि हम आदिनाथ भगवान्‌को यहाँ वनके बीचमें छोड़कर जाते हैं तो उस समय राजा भरत क्रुद्ध होकर हम लोगोंकी आजीविकाको नष्ट कर देगा। इसलिए यहीं वनमें स्थित रहकर स्वामीकी सेवा करते रहना कहीं अच्छा है। ऐसा विचार करके वे कन्द-मूलादिका भक्षण करते हुए वहीं वनमें स्थित रह गये ॥५३-५४॥

४८) ब प्रोक्तो । ४९) ड इ नोत्तीरो; अ नीचानामिव वारिधेः । ५०) इ °पात्रम्; अ परवेश्मसु । ५२) अ हत्वा लज्जां गृहं कृत्वा । ५३) अ गत्वा for हित्वा; तत् for नः । ५४) इ विदधाम ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्रतं कच्छमहाकच्छौ तापसीयं वितेनतुः[1] ।
महापाण्डित्यगर्वेण फलमूलादिभक्षणैः ॥५५
विधाय दर्शनं सांख्यं कुमारेण मरीचिना ।
व्याख्यातं[1] निजशिष्यस्य कपिलस्य पटीयसा ॥५६
स्वस्वपाण्डित्यदर्पेण परे मानविडम्बिताः ।
तस्थुर्विधाय पाखण्डं भूपा रुचितमात्मनः ॥५७
पाखण्डानां विचित्राणां सत्रिषष्टिशतत्रयम् ।
क्रियाक्रियादिवादानामभून्मिथ्यात्ववर्धकम् ॥५८
चार्वाकदर्शनं कृत्वा भूपौ शुक्रबृहस्पती ।
प्रवृत्तौ स्वेच्छया कर्तुं स्वकीयेन्द्रियपोषणम् ॥५९
इत्थं धराधिपाः[1] प्राप्ता भूरिभेदां विडम्बनाम् ।
विडम्ब्यते न को दीनः कर्तुकामः प्रभोः क्रियाम् ॥६०

५५) १. विस्तारितः ।
५६) १. पाठितम् ।
६०) १. भूपाः ।

उनमें जो कच्छ और महाकच्छ राजा थे उन दोनोंने अपनी विद्वत्ताके अभिमानमें चूर होकर फल व कन्दादिके भक्षणसे तापस धर्मकी स्थिरता बतलायी—उन्होंने उपर्युक्त फलादिके भक्षणको साधुओंके धर्मके अनुकूल सिद्ध किया ॥५५॥

भगवान् ऋषभनाथके पौत्र और महाराज भरतके पुत्र अतिशय चतुर मरीचिकुमारने सांख्य मतकी रचना कर उसका व्याख्यान अपने शिष्य कपिल ऋषिके लिए किया ॥५६॥

अन्य राजा लोगोंने भी महत्त्वाकांक्षाके वशीभूत होकर अपनी-अपनी विद्वत्ताके अभिमानको प्रकट करनेके लिए आत्मरुचिके अनुसार कृत्रिम असत्य मतोंकी रचना की ॥ ५७ ॥

इस प्रकार क्रियावादी व अक्रियावादियों आदिके मिथ्यात्वको बढ़ानेवाले तीन सौ तिरसठ असत्य व बनावटी विविध प्रकारके मतोंका प्रचार उसी समयसे प्रारम्भ हुआ ॥५८॥

शुक्र और बृहस्पति नामके दो राजा आत्मा व परलोकके अभावके सूचक चार्वाक मतको रचकर इच्छानुसार अपनी इन्द्रियोंके पुष्ट करनेमें प्रवृत्त हुए—इस लोक-सम्बन्धी विषयोपभोगमें स्वच्छन्दतासे मग्न हुए ॥५९॥

इस प्रकार भगवान् आदिनाथके साथ दीक्षित हुए वे राजा अनेक प्रकारके कपटपूर्ण वेषोंको (अथवा अपमान या दुखको) प्राप्त हुए। ठीक है—समर्थ महापुरुषके द्वारा की जानेवाली क्रिया (अनुष्ठान) के करनेका इच्छुक हुआ कौन-सा कातर प्राणी विडम्बनाको नहीं प्राप्त होता है ? अवश्य ही वह विडम्बनाको प्राप्त हुआ करता है ॥६०॥

५५) क °भक्षणौ । ५७) ड स्वस्य for स्वस्व । ५८) क °मिथ्यात्वदर्शनम् । ५९) ब शक्र for शुक्र । ६०) क विडम्बिनाम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आहारेण विना भग्नाः परीषहकरालिताः ।
इमे यथा तथान्येऽपि लगिष्यन्ति कुदर्शने ॥६१
विचिन्त्येति जिनो योगं संहृत्यान्योपकारकः ।
प्रारेभे योगिनां कर्तुं शुद्धान्नग्रहणक्रमम् ॥६२
अवाप्य शोभनं स्वप्नं भूत्वा जातिस्मरो नृपः ।
अबूभुजज्जिनं श्रेयान् विधानज्ञो विधानतः ॥६३
श्रावकाः पूजिताः पूर्वं भक्तितो भरतेन ये ।
चक्रिपूजनतो जाता ब्राह्मणास्ते मदोद्धताः ॥६४
इक्ष्वाकुनाथभोजोग्रवंशास्तीर्थकृता कृताः ।
आद्येन कुर्वता राज्यं चत्वारः प्रथिता भुवि ॥६५
व्रतिनो ब्राह्मणाः प्रोक्ताः क्षत्रिया: क्षतरक्षिणः ।
वाणिज्यकुशला वैश्याः शूद्राः प्रेषणकारिणः ॥६६

६६) १. परकार्यंकराः ।

जिस प्रकार भोजनके बिना परीषहसे व्याकुल होकर ये मरीचि आदि मिथ्या मतोंके प्रचारमें लग गये हैं उसी प्रकारसे दूसरे जन भी उस मिथ्या मतके प्रचारमें लग जावेंगे, ऐसा विचार करके भगवान् आदिनाथने ध्यानको समाप्त किया व अन्य अनभिज्ञ जनोंके उपकारकी दृष्टिसे मुनि जनोंके शुद्ध आहार ग्रहणकी विधिको करना प्रारम्भ किया—आहार-दानकी विधिको प्रचलित करनेके विचारसे वे स्वयं ही उस आहारके ग्रहण करनेमें प्रवृत्त हुए ॥६१-६२॥

उस समय सुन्दर स्वप्नके देखनेसे राजा—श्रेयांसको पूर्व जन्मका—राजा वज्रजंघकी पत्नी श्रीमतीके भवका—स्मरण हो आया । इससे मुनिके लिए दिये जानेवाले आहारदानकी विधिको जान लेनेके कारण उसने भगवान् आदिनाथ तीर्थंकरको विधिपूर्वक आहार कराया ॥६३॥

पूर्वमें सम्राट् भरतने जिन श्रावकोंकी भक्तिपूर्वक पूजा की थी वे ब्राह्मणके रूपमें प्रतिष्ठित श्रावक चक्रवर्ती द्वारा पूजे जानेके कारण कालान्तरमें अतिशय गर्वको प्राप्त हो गये थे ॥६४॥

प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ महाराजने राज्यकार्य करते हुए इक्ष्वाकु, नाथ, भोज और उग्र इन चार वंशोंकी स्थापना की थी । वे चारों पृथिवीपर प्रसिद्ध हुए हैं ॥६५॥

उस समय जो सत्पुरुष व्रत-नियमोंका परिपालन करते थे वे ब्राह्मण, जो पीड़ित जन-की रक्षा करते थे वे क्षत्रिय, जो व्यापार-कार्यमें चतुर थे—उसे कुशलतापूर्वक करते थे—वे वैश्य, और जो सेवाकार्य किया करते थे वे शूद्र कहे जाते थे ॥६६॥

६१) अ लपिष्यन्ति । ६२) अ संहृत्यां....ग्रहणक्षमम्; क श्रद्धान्न । ६३) अ आबुभुजे । ६४) अ इ महो-द्धताः । ६५) ब °भोजाग्र; इ चत्वारि । ६६) ड क्षितिरक्षिणः; ब वणिज्याकुशलाः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्ककीर्तिरभूत् पुत्रो भरतस्य रथाङ्गिनः ।
सोमो बाहुबलेस्ताभ्यां वंशौ सोमार्कसंज्ञकौ ॥६७

रुष्टः श्रीवीरनाथस्य तपस्वी मौङ्गलायनः ।
शिष्यः श्रीपार्श्वनाथस्य विदधे बुद्धदर्शनम् ॥६८

शुद्धोदनसुतं बुद्धं परमात्मानमब्रवीत्[1] ।
प्राणिनः कुर्वते किं न कोपवैरिपराजिताः ॥६९

षण्मासानवसद् विष्णोर्बलभद्रः कलेवरम् ।
यतस्ततो भुवि ख्यातं कङ्कालमभवद् व्रतम् ॥७०

कियन्तस्तव कथ्यन्ते मिथ्यादर्शनवर्तिभिः ।
नीचैः पाखण्डभेदा ये विहिता गणनातिगाः ॥७१

पाखण्डाः समये तुर्ये बीजरूपेण ये स्थिताः ।
प्ररुह्य विस्तरं प्राप्ताः कलिकालावनाविमे ॥७२

६९) १. अब्रुवन् ।
७२) १. पञ्चमसमयभुवि ।

चक्रवर्ती भरतके अर्ककीर्ति नामका और बाहुबलीके सोम नामका पुत्र हुआ था । इन दोनोंके निमित्तसे सोम और अर्क (सूर्य) नामके दो अन्य वंश भी पृथिवीपर प्रसिद्ध हुए ॥६७॥

भगवान् पार्श्वनाथका जो मौङ्गिलायन नामका तपस्वी शिष्य था उसने महावीर स्वामीके ऊपर क्रोधित होकर बुद्धदर्शनकी—बौद्ध मतकी—रचना की ॥६८॥

उसने शुद्धोदन राजाके पुत्र बुद्धको परमात्मा घोषित किया । ठीक है—क्रोधरूप शत्रुके वशीभूत हुए प्राणी क्या नहीं करते हैं—वे सब कुछ अकार्य कर सकते हैं ॥६९॥

बलभद्रने चूँकि कृष्णके निर्जीव शरीरको छह मास तक धारण किया था इसीलिए पृथ्वीपर 'कंकाल' व्रत प्रसिद्ध हो गया ॥७०॥

हे मित्र ! मिथ्यादर्शनके वशीभूत होकर मनुष्योंने जिन असंख्यात पाखण्ड भेदोंकी—विविध प्रकारके अयथार्थ मतोंकी—रचना की है उनमें-से भला कितने मतोंकी प्ररूपणा तेरे लिए की जा सकती है ? असंख्यात होनेसे उन सबकी प्ररूपणा नहीं की जा सकती है ॥७१॥

ये जो पाखण्ड मत चतुर्थ कालमें बीजके स्वरूपमें स्थित थे वे अब इस कलिकाल-स्वरूप पंचम कालमें अंकुरित होकर विस्तारको प्राप्त हुए हैं ॥७२॥

६७) अ °रभून्मिश्रो; अ ब क इ संज्ञिकौ । ६८) अ इ मौण्डिलायनः । ६९) अ ब °त्मानमकल्पयन् ।
७०) अ नावहेद्विष्णो° । ७१) अ इ नरैः for नीचैः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विरागः केवलालोकविलोकितजगत्त्रयः ।
परमेष्ठी जिनो देवः सर्वगीर्वाणवन्दितः[1] ॥७३

यत्र निर्वाणसंसारौ निगद्येते सकारणौ ।
सर्वबाधकनिर्मुक्त आगमो ऽसौ बुधस्तुतः[1] ॥७४

आर्जवं[1] मार्दवं सत्यं त्यागः शौचं क्षमा तपः ।
ब्रह्मचर्यमसंगत्वं संयमो दशधा वृषः ॥७५

त्यक्तबाह्यान्तरग्रन्थो निःकषायो जितेन्द्रियः ।
परीषहसहः साधुर्जातरूपधरो मतः ॥७६

निर्वाणनगरद्वारं संसारदहनोदकम् ।
एतच्चतुष्टयं ज्ञेयं सर्वदा सिद्धिहेतवे ॥७७

सम्यक्त्वज्ञानचारित्रतपोमाणिक्यदायकम् ।
चतुष्टयमिदं हित्वा नापरं मुक्तिकारणम् ॥७८

७३) १. स देवः ।
७४) १. बुधस्मृतः ।
७५) १. ऋजुत्वम् ।

जो रागादि दोषोंसे रहित होकर केवलज्ञानरूप प्रकाशके द्वारा तीनों लोकोंको देख चुका है, उच्च पदमें अवस्थित है, कर्म-शत्रुओंका विजेता है तथा सब ही देव जिसकी वन्दना किया करते हैं; वही यथार्थ देव हो सकता है ॥७३॥

जिसमें कारणनिर्देशपूर्वक मोक्ष और संसारकी प्ररूपणा की जाती है तथा जो सब बाधाओंसे—पूर्वापरविरोधादि दोषोंसे—रहित होता है वह यथार्थ आगम माना जाता है ॥७४॥

सरलता, मृदुता, शौच, सत्य, त्याग, क्षमा, तप, ब्रह्मचर्य, अकिंचन्य और संयम; इस प्रकारसे धर्म दस प्रकारका माना गया है ॥७५॥

जो बाह्य और अभ्यन्तर दोनों प्रकारके परिग्रहका परित्याग कर चुका है, क्रोधादि कषायोंसे रहित है, इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला है, परीषहोंको सहन करता है, तथा स्वाभाविक दिगम्बर वेषका धारक है; वह साधु—यथार्थ गुरु—माना गया है ॥७६॥

इन चारोंको—यथार्थ देव, शास्त्र, धर्म व गुरुको—मोक्षरूप नगरके द्वारभूत तथा संसाररूप अग्निको शान्त करनेके लिए शीतल जल जैसे समझने चाहिए। वे ही चारों अभीष्ट पदकी प्राप्तिके लिए सदा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तपरूप रत्नोंको प्रदान करनेवाले हैं। उन चारोंको छोड़कर और दूसरा कोई भी मुक्तिका कारण नहीं है ॥७७-७८॥

७३) ब क ड इ विरागकेवलां°; अ °लोकावलोकित । ७४) क ड इ सर्वबाधक; अ क °निर्मुक्तावागमो° ।
७५) अ शौचं त्यागः सत्यम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समस्तलब्धयो लब्धा भ्रमता जन्मसागरे ।
न लब्धिश्चतुरङ्गस्य मित्रैकापि शरीरिणा ॥७९
देशो जातिः कुलं रूपं पूर्णाक्षित्वमरोगिता ।
जीवितं दुर्लभं जन्तोर्देशनाश्रवणं ग्रहः ॥८०
एषु सर्वेषु लब्धेषु जन्मद्रुमकुठारिकाम् ।
लभते दुःखतो बोधिं सिद्धिसौधप्रवेशिकाम् ॥८१
यच्छुभं[1] दृश्यते वाक्यं तज्जैनं परदर्शने ।
मौक्तिकं हि यदन्यत्र तदब्धौ जायते ऽखिलम् ॥८२
जिनेन्द्रवचनं मुक्त्वा नापरं पापनोदनम्[1] ।
भिद्यते भास्करेणैव दुर्भेदं शार्वरं तमः ॥८३
आदिभूतस्य धर्मस्य जैनेन्द्रस्य महीयसः ।
अपरे नाशका धर्माः सस्यस्य शलभा इव ॥८४

८०) १. धर्मोपदेश ।
८२) १. क्रिया आचारपढय ।
८३) १. स्फेटनम् ।

हे मित्र! इस प्राणीने संसाररूप समुद्रमें गोते खाते हुए अन्य सब लब्धियोंको प्राप्त किया है, परन्तु उसे उन चारोंमें-से किसी एककी भी प्राप्ति नहीं हो सकी ॥७९॥

प्राणीके लिए योग्य देश, जाति, कुल, रूप, इन्द्रियोंकी परिपूर्णता, नीरोगता, दीर्घ आयु तथा धर्मोपदेशकी प्राप्ति एवं उसका सुनना व ग्रहण करना; ये सब क्रमशः उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं। फिर इन सबके प्राप्त हो जानेपर जो रत्नत्रयस्वरूप बोधि संसाररूप वृक्षके काटनेमें कुल्हाड़ीके समान होकर मोक्षरूप महलमें प्रवेश कराती है वह तो उसे बहुत ही कष्टके साथ प्राप्त होती है ॥८०–८१॥

अन्य मतमें जो उत्तम कथन दिखता है वह जिनदेवका ही कथन (उपदेश) जानना चाहिए। उदाहरणस्वरूप मोती जो अन्य स्थानमें देखे जाते हैं वे सब समुद्रमें ही उत्पन्न होते हैं। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार मोती एकमात्र समुद्रमें ही उत्पन्न होकर अन्य स्थानोंमें पहुँचा करते हैं उसी प्रकार वस्तुरूपका जो यथार्थ कथन अन्य विविध मतोंमें भी कचित् देखा जाता है वह जैन मतमें प्रादुर्भूत होकर वहाँ पहुँचा हुआ जानना चाहिए ॥८२॥

जिनेन्द्रके वचनको—जिनागमको—छोड़कर अन्य किसीका भी उपदेश पापके नष्ट करनेमें समर्थ नहीं है। ठीक भी है—रात्रिके दुर्भेद सघन अन्धकारको एकमात्र सूर्य ही नष्ट कर सकता है, अन्य कोई भी उसके नष्ट करनेमें समर्थ नहीं है ॥८३॥

सर्वश्रेष्ठ जो जिनेन्द्रके द्वारा उपदिष्ट आदिभूत धर्म है, अन्य धर्म उसको इस प्रकारसे नष्ट करनेवाले हैं जिस प्रकार कि पतंगे—टिड्डियों आदिके दल—खेतोंमें खड़ी हुई फसलको नष्ट किया करते हैं ॥८४॥

७९) क ड इ समस्ता लब्धयो; इ शरीरिणाम् । ८०) इ °मरोगिताम्; ड देशनाश्रवणे । ८१) अ °प्रवेशकाम् । ८३) व भास्करेणेव; इ दुर्भेद्यम् । ८४) अ जिनेन्द्रस्य ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिथ्यात्वग्रन्थिरद्यायं[1] दुर्भेद्यस्तस्य[2] सर्वथा ।
अनेन वचसाभेदि वज्रेणेव महीधरः ॥८५

ऊचे पवनवेगोऽथ भिन्नमिथ्यात्वपर्वतः ।
हा[1] हारितं मया जन्म स्वकीयं दुष्टबुद्धिना ॥८६

त्यक्त्वा[1] जिनवचोरत्नं हा मया मन्दमेधसा ।
गृहीतोऽन्यवचोलोष्टो निराकृत्य वचस्तव ॥८७

त्वया दत्तं मया पीतं न हो जिनवचोमृतम् ।
सकलं पश्यताभ्रान्तं[1] मिथ्यात्वविषपायिना ॥८८

निवार्यमाणेन मया त्वया सदा निषेवितं जन्मजरान्तकप्रदम् ।
दुरन्तमिथ्यात्वविषं महाभ्रमं विमुच्य सम्यक्त्वसुधामदूषणाम् ॥८९

त्वमेव बन्धुर्जनकस्त्वमेव त्वमेव मे मित्र गुरुः प्रियंकरः ।
[1]पतंस्त्वया येन भवान्धकूपके धृतो निबध्योत्तमवाक्यरश्मिभिः ॥९०

८५) १. शीघ्रेण । २. पवनवेगस्य ।
८६) १. इति खेदे ।
८७) १. अवगण्य ।
८८) १. विपरीतम् ।
९०) १. पतन् सन् ।

मनोवेगके इस उपदेशके द्वारा उसके मित्र पवनवेगकी दुर्भेद मिथ्यात्वरूप गाँठ सर्वथा इस प्रकार शीघ्र नष्ट हो गयी जिस प्रकार कि वज्रके द्वारा पर्वत शीघ्र नष्ट हो जाया करता है ॥८५॥

तत्पश्चात् जिसका मिथ्यात्वरूप पर्वत विघटित हो चुका था ऐसा वह पवनवेग मनोवेगसे बोला कि मुझे इस बातका खेद है कि मैंने दुर्बुद्धि (अज्ञानता) के वश होकर अपने जन्मको—अब तकके जीवनकालको—व्यर्थ ही नष्ट कर दिया ॥८६॥

दुख है कि मुझ-जैसे मन्द बुद्धिने तुम्हारे वचनका निरादर करते हुए जिन भगवान्के वचनरूप रत्नको—उनके द्वारा उपदिष्ट यथार्थ वस्तुस्वरूपको—छोड़कर दूसरोंके वचनरूप ढेलेको ग्रहण किया ॥८७॥

मिथ्यात्वरूप विषके पानसे सब ही वस्तुस्वरूपको विपरीत देखते हुए मैंने तुम्हारे द्वारा दिये गये जिनवचनरूप अमृतका पान नहीं किया ॥८८॥

तुम्हारे द्वारा निरन्तर रोके जानेपर भी मैंने निर्दोष सम्यग्दर्शनरूप अमृतको छोड़कर दुर्विनाश उस मिथ्यादर्शनरूप विषका सेवन किया जो कि महामोहको उत्पन्न करके जन्म, जरा व मरणको प्रदान करनेवाला है ॥८९॥

हे मित्र ! तुमने चूँकि मुझे उत्तम वचनोंरूप किरणोंके द्वारा प्रबोधित करके संसाररूप

८५) अ ब क दुर्भेदस्तस्य । ८६) अ क °वेगोऽतो, ब °वेगोऽपि । ८८) इ न जिनेन्द्रवचो ; अ सकलः ।
९०) ब क °न्धकूपे ; अ निबोध्योत्तम° ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रदर्श्य वाक्यं जिननाथभाषितं न वारणां[1] चेदकरिष्यथा मम ।
तदाभ्रमिष्यं भवकानने चिरं दुरापपारे बहुदुःखपादपे ॥९१
त्रिमोहमिथ्यात्वतमोविमोहितो गतो दुरन्तां परवाक्यशर्वरीम् ।
विबोधितो[2] मोहतमोपहारिभिर्जिनार्कवाक्यांशुभिरुज्ज्वलैस्त्वया ॥९२
विहाय मार्गं जिननाथदेशितं निराकुलं सिद्धिपुरप्रवेशकम् ।
चिराय लग्नो ऽध्वनि दुष्टदर्शिते महाभयश्वभ्रनिवासदायिनि ॥९३
गृहप्रियापुत्रपदातिबान्धवाः पुराकरग्रामनरेन्द्रसंपदः ।
भवन्ति जीवस्य पदे पदे परं[1] बुधार्चिता तत्त्वरुचिर्न निर्मला ॥९४
विदूषितो येन[1] समस्तमस्तधीः प्रदर्श्यमानं[2] विपरीतमीक्षते ।
निरासि[3] मिथ्यात्वमिदं मम त्वया प्रदाय सम्यक्त्वमलभ्यमुज्ज्वलम् ॥९५

९१) १. वर्जनम् ।
९२) १. देवगुरुशास्त्र । २. प्रतिबोधितः ।
९४) १. पण ।
९५) १. मिथ्यात्वेन । २. पदार्थम् । ३. अनाशि, अस्फेटि ।

अन्धकारसे परिपूर्ण कुएँमें गिरनेसे बचाया है; अतएव तुम ही मेरे यथार्थ बन्धु—हितैषी मित्र—हो, तुम ही पिता हो तथा तुम ही मेरे कल्याणके करनेवाले गुरु हो ॥९०॥

यदि तुमने जिनेन्द्रके द्वारा कहे गये वाक्यको—उनके द्वारा उपदिष्ट तत्त्वको—दिखलाकर न रोका होता तो मुझे बहुत प्रकारके दुःखोंरूप वृक्षोंसे परिपूर्ण अपरिमित संसाररूप बनमें दीर्घ काल तक परिभ्रमण करना पड़ता ॥९१॥

मैं तीन मूढ़तास्वरूप मिथ्यात्वरूप अन्धकारसे विमूढ़ होकर दुर्विनाश दूसरोंके उपदेशरूप रात्रिको प्राप्त हुआ था । परन्तु तुमने उस मूढ़तास्वरूप अन्धकारको नष्ट करनेवाले जिनदेवरूप सूर्यके वाक्यरूप उज्ज्वल किरणसमूहके द्वारा मुझे प्रबुद्ध कर दिया है—मेरी वह दिशाभूल नष्ट कर दी है ॥९२॥

जो जिनेन्द्रके द्वारा उपदिष्ट मोक्षका मार्ग आकुलतासे रहित होकर मुक्तिरूप नगरीके भीतर प्रवेश करानेवाला है उसको छोड़कर मैं दीर्घ कालसे दुष्ट मिथ्यादृष्टियोंके द्वारा प्रदर्शित ऐसे महाभयके उत्पादक व नरकमें निवासके कारणभूत कुमार्गमें लग रहा था ॥९३॥

प्राणीके लिए घर, वल्लभा, पुत्र, पादचारी सैनिक, बन्धुजन तथा नगर, सुवर्ण-रत्नादिकी खानें, गाँव एवं राजाकी सम्पत्ति—राज्यवैभव; ये सब पग-पगपर प्राप्त हुआ करते हैं । परन्तु विद्वानोंके द्वारा पूजित वह निर्मल तत्त्व-श्रद्धान—सम्यग्दर्शन—उसे सुलभतासे नहीं प्राप्त होता है—वह अतिशय दुर्लभ है ॥९४॥

जिस मिथ्यात्वसे दूषित प्राणी नष्टबुद्धि होकर हितैषी जनके द्वारा दिखलाये गये समस्त कल्याणके मार्गको विपरीत—अकल्याणकर—ही देखा करता है उस मिथ्यात्वको तुमने मुझे दुर्लभ निर्मल सम्यग्दर्शन देकर नष्ट कर दिया है ॥९५॥

९१) ड वारणम्; इ भ्रमिष्ये । ९२) क ड शर्वरी....विमोहितो मोह । ९३) इ महाभये; अ निवासदायिनि । ९५) क प्रादायि ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मया त्रिधाग्राहि जिनेन्द्रशासनं विहाय मिथ्यात्वविषं महामते ।
तथा विदध्या[1] व्रतरत्नभूषितस्तव प्रसादेन यथास्मि सांप्रतम् ॥९६

निरस्तमिथ्यात्वविषस्य भारतीं निशम्य मित्रस्य मुदं ययावसौ ।
जनस्य सिद्धे हि मनीषिते विधौ[1] न कस्य तोषः सहसा प्रवर्तते ॥९७

प्रगृह्य मित्रं जिनवाक्यवासितं प्रचक्रमे[1] गन्तुमनन्यमानसः[2] ।
असौ पुरीमुज्जयिनीं त्वरान्वितः प्रयोजने[3] कः सुहृदां प्रमाद्यति ॥९८

विमानमारुह्य मनःस्यदं[1] ततस्तमोपहैराभरणैरलंकृतौ ।
अगच्छतामुज्जयिनीपुरीवनं सुधाशिनार्थाविव[2] नन्दनं मुदा ॥९९

९६) १. कुरु ।
९७) १. कार्ये ।
९८) १. प्रारेभे । २. मित्रात् । ३. कार्ये ।
९९) १. मनोवेगम् । २. इन्द्रौ ।

हे समीचीन बुद्धिके धारक ! मैंने मिथ्यात्वरूप विषको छोड़कर मन, वचन व काय तीनों प्रकारसे जिनमतको ग्रहण कर लिया है । अब इस समय तुम्हारी कृपासे मैं जैसे भी व्रतरूप रत्नसे विभूषित हो सकूँ वैसा प्रयत्न करो ॥९६॥

इस प्रकार जिसका मिथ्यात्वरूप विष नष्ट हो चुका है ऐसे उस अपने पवनवेग मित्रके उपर्युक्त कथनको सुनकर मनोवेगको बहुत हर्ष हुआ । ठीक है—प्राणीका जब अभीष्ट कार्य सिद्ध हो जाता है तब भला सहसा किसको सन्तोष नहीं हुआ करता है ? अर्थात् अभीष्ट प्रयोजनके सिद्ध हो जानेपर सभीको सन्तोष हुआ करता है ॥९७॥

तब एकमात्र मित्रके हितकार्यमें दत्तचित्त हुए उस मनोवेगने जिसका अन्तःकरण जिनवाणीसे सुसंस्कृत हो चुका था उस मित्र पवनवेगको साथ लेकर शीघ्रतासे उज्जयिनी नगरीके लिए जानेकी तैयारी की । ठीक भी है—मित्रोंके कार्यमें भला कौन-सा बुद्धिमान् आलस्य किया करता है ? अर्थात् सच्चा मित्र अपने मित्रके कार्यमें कभी भी असावधानी नहीं किया करता है ॥९८॥

तत्पश्चात् अन्धकारसमूहको नष्ट करनेवाले आभूषणोंसे विभूषित वे दोनों मित्र मनकी गतिके समान वेगसे संचार करनेवाले विमानपर आरूढ होकर आनन्दपूर्वक उज्जयिनी नगरीके वनमें इस प्रकारसे आ पहुँचे जिस प्रकार कि दो इन्द्र सहर्ष नन्दन वनमें पहुँचते हैं ॥९९॥

९६) अ जिनेशशासनं ; अ ड इ विदध्याद्व्रत° । ९७) इ सहसा प्रजायते । ९९) अ °रलंकृतैः ; अ क आगच्छता ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुदुर्वारं घोरं स्थगितजनतां मोहतिमिरं
मनःसद्मान्तःस्थं क्षपयितुमलं[1] वाक्यकिरणैः ।
ततः स्तुत्वा नत्वामितगतिमितं केवलिरविं[2]
पदाभ्यासे भक्त्या जिनमतियतेस्तौ न्यवसताम्[3] ॥१००

इति धर्मपरीक्षायाममितगतिकृतायामष्टादशः परिच्छेदः ॥१८॥

१००) १. समर्थम् । २. केवलज्ञानिनः । ३. उपाविशताम् । किं कृत्वा । पूर्वम् ।

वहाँ पहुँचकर उन दोनोंने प्रथमतः अपरिमित—अनन्त—विषयोंमें संचार करनेवाली बुद्धिसे—केवलज्ञानसे—सुशोभित उस केवलीरूप सूर्यको स्तुतिपूर्वक नमस्कार किया जो कि अपने वाक्योंरूप किरणोंके द्वारा अन्तःकरण रूप भवनके भीतर अवस्थित, अतिशय दुर्निवार, भयानक एवं आत्मगुणोंको आच्छादित करके उदित हुए ऐसे अज्ञानरूप अन्धकार-के नष्ट करनेमें सर्वथा समर्थ है । तत्पश्चात् वे दोनों जिनमति नामक मुनिके चरणोंके सान्निध्यमें भक्तिपूर्वक जा बैठे ॥१००॥

इस प्रकार आचार्य अमितगतिविरचित धर्मपरीक्षामें अठारहवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ॥१८॥

१००) अ °जनितं ; क ड जनतं ; अ मनःस्वप्नान्तःस्थं ; अ ततः श्रुत्वा ; ब °गतिपतिं ; अ निषदताम् ; क ड न्यविशताम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथो जिनमतिर्योगी मनोवेगमभाषत ।
सो ऽयं पवनवेगस्ते मित्रं भद्र मनःप्रियम् ॥१

यस्यारोपयितुं धर्मं संसारार्णवतारकम् ।
यस्त्वया केवली पृष्टो विधाय परमादरम् ॥२

मनोवेगस्ततो ऽवादीन्मस्तकस्थकरद्वयः ।
एवमेतदसौ साधो प्राप्तो व्रतजिघृक्षया ॥३

मयेत्वा पाटलीपुत्रं दृष्टान्तैर्विविधैरयम् ।
सम्यक्त्वं लम्भितः साधो मुक्तिसद्मप्रवेशकम् ॥४

यथायं वान्तमिथ्यात्वो व्रताभरणभूषितः ।
इदानीं जायते भव्यस्तथा साधो विधीयताम् ॥५

ततः साधुरभाषिष्ट देवात्मगुरुसाक्षिकम् ।
सम्यक्त्वपूर्वकं भद्र गृहाण श्रावकव्रतम् ॥६

पश्चात् वे जिनमति मुनि मनोवेगसे बोले कि हे भद्र ! यह तुम्हारा वही प्यारा मित्र पवनवेग है कि जिसे तुमने संसार-समुद्रसे पार उतारनेवाले धर्ममें स्थिर करनेके लिए विनय-पूर्वक केवली भगवान्‌से पूछा था ? ॥१-२॥

इसपर अपने दोनों हाथोंको मस्तकपर रखकर—उन्हें नमस्कार करते हुए—मनोवेग बोला कि हे मुने ! ऐसा ही है । अब वह व्रतग्रहणकी इच्छासे यहाँ आया है ॥३॥

हे ऋषे ! मैंने पाटलीपुत्रमें जाकर अनेक प्रकारके दृष्टान्तों द्वारा इसे मोक्षरूप महल-में प्रविष्ट करानेवाले सम्यग्दर्शनको ग्रहण करा दिया है ॥४॥

मिथ्यात्वरूप विषका वमन कर देनेवाला यह भव्य पवनवेग अब जिस प्रकारसे व्रतरूप आभूषणोंसे विभूषित हो सके, हे यतिवर ! वैसा आप प्रयत्न करें ॥५॥

इस प्रकार मनोवेगके निवेदन करनेपर मुनिराज बोले कि हे भद्र ! तुम देव व अपने गुरुकी (अथवा आत्मा, गुरु या आत्मारूप गुरुकी) साक्षीमें सम्यग्दर्शनके साथ श्रावकके व्रतको ग्रहण करो ॥६॥

---

४) इ लम्भितम् । ५) क ध्वस्त for वान्त ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साक्षीकृत्य व्रतग्राही व्यभिचारं न गच्छति ।
व्यवहारीव येनेदं तेन ग्राह्यं ससाक्षिकम् ॥७

रोप्यमाणं न जीवेषु सम्यक्त्वेन विना व्रतम् ।
सफलं जायते सस्यं केदारेष्विव वारिणा ॥८

सम्यक्त्वसहिते जीवे निश्चलं भवति व्रतम् ।
सगर्तपूरिते[1] देशे देववेश्मेव दुर्धरम् ॥९

जीवाजीवादितत्त्वानां भाषितानां जिनेशिना ।
श्रद्धानं कथ्यते सद्भिः सम्यक्त्वं व्रतपोषकम्[1] ॥१०

दोषैः शङ्कादिभिर्मुक्तं[1] संवेगाद्यैर्गुणैर्युतम् ।
दधतो दर्शनं पूतं फलवज्जायते व्रतम् ॥११

९) १. पायाविना चैत्यालयं दृढं यथा न भवति ।

१०) १. पुष्टिकरणम् ।

११) १. निःशङ्का १, निकाङ्क्षा २, निर्विचिकित्सा ३, अमूढता ४, स्थितीकरणं ५, वात्सल्यालंकृतम् ६, उपगूहनम् ७, प्रभावना ८ ।

कारण यह कि जिस प्रकार किसीको साक्षी करके व्यवहार करनेवाला (व्यापारी) मनुष्य कभी दूषणको प्राप्त नहीं होता है उसी प्रकार देव-गुरु आदिको साक्षी करके व्रत ग्रहण करनेवाला मनुष्य भी कभी दूषणको प्राप्त नहीं होता है—ग्रहण किये हुए उस व्रतसे भ्रष्ट नहीं होता है । इसीलिए व्रतको साक्षीपूर्वक ही ग्रहण करना चाहिए ॥७॥

प्राणियोंमें यदि सम्यग्दर्शनके बिना व्रतका रोपण किया जाता है तो वह इस प्रकारसे सफल—उत्तम परिणामवाला—नहीं होता है जिस प्रकार कि क्यारियोंमें पानीके बिना रोपित किया गया—बोया गया—धान्य सफल—फलवाला—नहीं होता है ॥८॥

इसके विपरीत जो प्राणी उस सम्यग्दर्शनसे विभूषित है उसमें आरोपित किया गया वही व्रत इस प्रकारसे स्थिर होता है जिस प्रकार कि गड्ढायुक्त परिपूर्ण किये गये देशमें—नींवको खोदकर फिर विधिपूर्वक परिपूर्ण किये गये पृथिवीप्रदेशमें—निर्मापित किया गया देवालय स्थिर होता है ॥९॥

जिन भगवान्‌के द्वारा उपदिष्ट जीव व अजीव आदि तत्त्वोंका जो यथावत् श्रद्धान होता है वह सत्पुरुषोंके द्वारा व्रतोंको पुष्ट करनेवाला सम्यग्दर्शन कहा जाता है ॥१०॥

जो भव्य जीव शंका आदि दोषोंसे रहित और संवेग आदि गुणोंसे सहित पवित्र सम्यग्दर्शनको धारण करता है उसीका व्रत धारण करना सफल होता है ॥११॥

९) अ क ड इ निश्चलीभवति ; ब क सगर्तपूरके । १०) ड सम्यक्त्वव्रत° । ११) ब दधाना ; क संवेगादिगुणै° ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पञ्चधाणुव्रतं तत्र त्रेधा चापि गुणव्रतम् ।
शिक्षाव्रतं चतुर्धेति व्रतं द्वादशधा स्मृतम् ॥१२

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमसंगता ।
पञ्चधाणुव्रतं ज्ञेयं देशतः कुर्वतः सतः ॥१३

सुखतो गृह्यते वत्स पाल्यते दुःखतो व्रतम् ।
वंशस्य सुकरश्छेदो निःकर्षो दुःकरस्ततः ॥१४

परिगृह्य व्रतं रक्षेन्निधाय हृदये सदा ।
मनीषितसुखाधायि निधानमिव सद्मनि ॥१५

प्रमादतो व्रतं नष्टं लभ्यते न भवे पुनः ।
समर्थं चिन्तितं दातुं दिव्यं रत्नमिवाम्बुधौ ॥१६

द्विविधा देहिनः सन्ति त्रसस्थावरभेदतः ।
रक्षणीयास्त्रसास्तत्र गेहिना व्रतमिच्छता ॥१७

वह श्रावकका व्रत पाँच प्रकारका अणुव्रत, तीन प्रकारका गुणव्रत और चार प्रकारका शिक्षाव्रत; इस प्रकारसे बारह प्रकारका माना गया है ॥१२॥

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच व्रतोंका जो एकदेशरूपसे परिपालन किया करता है उसके उपर्युक्त पाँच प्रकारका अणुव्रत—अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत और परिग्रहपरिमाणाणुव्रत—जानना चाहिए ॥१३॥

हे बच्चे ! व्रतको ग्रहण तो सुखपूर्वक कर लिया जाता है, परन्तु उसका परिपालन बहुत कष्टके साथ होता है । ठीक है—बाँसका काटना तो सरल है, परन्तु उसका निष्कर्ष—उसे वंशपुंजसे बाहर निकालना—बहुत कष्टके साथ होता है ॥१४॥

जो अभीष्ट सुखको प्राप्त करना चाहता है उसे व्रतको स्वीकार करके व उसे हृदयमें धारण करके उसकी निरन्तर इस प्रकारसे रक्षा करनी चाहिए जिस प्रकार कि सम्पत्तिसुखका अभिलाषी मनुष्य निधिको प्राप्त करके उसकी अपने घरके भीतर निरन्तर सावधानीपूर्वक रक्षा किया करता है ॥१५॥

कारण यह है कि जो दिव्य रत्न—चिन्तामणि—मनसे चिन्तित सभी अभीष्ट वस्तुओंके देनेमें समर्थ होता है उसके प्राप्त हो जानेपर यदि वह असावधानीसे समुद्रमें गिर जाता है तो जिस प्रकार उसका फिरसे मिलना सम्भव नहीं है उसी प्रकार ग्रहण किये गये व्रतके असावधानीसे नष्ट हो जानेपर उसका भी संसारमें फिरसे मिलना सम्भव नहीं है ॥१६॥

संसारी प्राणी त्रस और स्थावरके भेदसे दो प्रकारके हैं । उनमें व्रतको स्वीकार करनेवाले श्रावकको त्रस जीवोंकी रक्षा सर्वथा करनी चाहिए—त्रस जीवोंका सर्वथा रक्षण करते हुए उसे निरर्थक स्थावर जीवोंका भी विघात नहीं करना चाहिए ॥१७॥

---

१२) अ ब त्रेधावाचि, क त्रेधावापि । १५) क रक्ष्यं निधाय । १६) अ भवेत्पुनः ; ड इ वितत्तं दातुम् ; अ क दिव्यरत्न° ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्रसा द्वित्रिचतुःपञ्चहृषीकाः सन्ति भेदतः ।
चतुर्विधा परिज्ञाय रक्षणीया हितैषिभिः ॥१८
आरम्भजमनारम्भं हिंसनं द्विविधं स्मृतम् ।
अगृहो मुञ्चति द्वेधा द्वितीयं सगृहः पुनः ॥१९
स्थावरेष्वपि जीवेषु न विधेयं निरर्थकम् ।
हिंसनं करुणाधारैर्मोक्षकाङ्क्षैरुपासकैः ॥२०
देवतातिथिभैषज्यपितृमन्त्रादिहेतवे ।
न हिंसनं विधातव्यं सर्वेषामपि देहिनाम् ॥२१
बन्धभेदवधच्छेदगुरुभाराधिरोपणैः ।
विनिर्मलैः परित्यक्तैरहिंसाणुव्रतं स्थिरम् ॥२२
मांसभक्षणलोलेन रसनावशवर्तिना ।
जीवानां भयभीतानां न कार्यं प्राणलोपनम् ॥२३

उक्त त्रस प्राणियोंमें कितने ही दो इन्द्रियोंसे संयुक्त, कितने ही तीन इन्द्रियोंसे संयुक्त, कितने ही चार इन्द्रियोंसे संयुक्त और कितने ही पाँचों इन्द्रियोंसे संयुक्त होते हैं। इस प्रकारसे उनके चार भेदोंको जानकर उनका आत्महितकी अभिलाषा रखनेवाले श्रावकोंको निरन्तर संरक्षण करना चाहिए ॥१८॥

हिंसा दो प्रकारकी मानी गयी है—एक आरम्भजनित और दूसरी अनारम्भरूप (सांकल्पिकी)। इन दोनोंमें-से गृहका परित्याग कर देनेवाला श्रावक तो उक्त दोनों ही प्रकारकी हिंसाको छोड़ देता है, परन्तु जो श्रावक घरमें स्थित है वह आरम्भको न छोड़ सकनेके कारण केवल दूसरी—सांकल्पिकी—हिंसाको ही छोड़ता है ॥१९॥

इसके अतिरिक्त मोक्षके अभिलाषी दयालु श्रावकोंको स्थावर जीवोंके विषयमें भी निष्प्रयोजन हिंसा नहीं करनी चाहिए ॥२०॥

इसी प्रकार देवता—काली व चण्डी आदि, अतिथि, औषध, पिता—श्राद्धादि—और मन्त्रसिद्धि आदिके लिए भी सभी प्राणियोंका—किसी भी जीवका—घात नहीं करना चाहिए ॥२१॥

उक्त अहिंसाणुव्रतको बन्ध—गाय-भैंस आदि पशुओं एवं मनुष्यों आदिको भी रस्सी या साँकल आदिसे बाँधकर रखना, उनके अंगों आदिको खण्डित करना, चाबुक या लाठी आदिसे मारना, नाक आदिका छेदना, तथा असह्य अधिक बोझका लादना; इन पाँच अतिचारोंका निर्मलतापूर्वक परित्याग करनेसे स्थिर रखा जाता है ॥२२॥

अहिंसाणुव्रती श्रावकको रसना इन्द्रियके वशमें होकर मांस खानेकी लोलुपतासे भयभीत प्राणियोंके—दीन मृग आदि पशु-पक्षियोंके—प्राणोंका वियोग नहीं करना चाहिए ॥२३॥

१९) अ इ सगृही । २०) अ विधेयं न । २१) ड देवतादिषु । २२) अ °भेदव्यवच्छेद° ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यः खादति जनो मांसं स्वकलेवरपुष्टये ।
हिंस्रस्य तस्य नोत्तारः श्वभ्रतो ऽनन्तदुःखतः ॥२४

मांसादिनो दया नास्ति कुतो धर्मो ऽस्ति निर्दये ।
सप्तमं व्रजति श्वभ्रं निर्धर्मो भूरिवेदनम् ॥२५

द्रष्टुं स्प्रष्टुं मनो यस्य प्राणिघाते प्रवर्तते ।
प्रयाति सो ऽपि लल्लक्कं वधकारी न किं पुनः ॥२६

आजन्म कुरुते हिंसां यो मांसाशनलालसः ।
न जातु तस्य पश्यामि निर्गमं श्वभ्रकूपतः ॥२७

निर्भिन्नो यः [1]शलाकाभिर्हठाद् वज्रहविर्भुजि ।
क्षिप्यते नारकैः श्वभ्रे वधमांसरतो जनः ॥२८

हन्तुं दृष्ट्वाङ्गिनो बुद्धिः पलाशस्य[2] प्रवर्तते ।
यतः कण्ठीरवस्येव पलं त्याज्यं ततो बुधैः ॥२९

२८) १. लोहमयैः ।

जो प्राणी अपने शरीरको पुष्ट करनेके लिए अन्य प्राणीके मांसको खाया करता है उस पापिष्ठ हिंसक प्राणीका अनन्त दुःखोंसे परिपूर्ण नरकसे उद्धार नहीं हो सकता है—उसे नरकमें पड़कर अपरिमित दुःखोंको सहना ही पड़ेगा ॥२४॥

मांस भक्षण करनेवालेके हृदयमें जब दया ही नहीं रहती है तब भला उस निर्दयीके धर्मकी सम्भावना कहाँसे हो सकती है ? नहीं हो सकती है । क्योंकि धर्मका मूल कारण तो वह दया ही है । अतएव वह धर्मसे रहित—पापी—प्राणी प्रचुर दुःखोंसे परिपूर्ण सातवें नरकमें जाता है ॥२५॥

जिस मनुष्यका मन प्राणियोंके प्राणविघातके समय उसे देखने व छूनेके लिए भी प्रवृत्त होता है वह भी जब लल्लंक नामक छठी पृथिवीके नारकबिलको प्राप्त होता है तब भला जो उस हिंसाको स्वयं कर रहा है वह क्या नरकको नहीं प्राप्त होगा ? अवश्य प्राप्त होगा ॥२६॥

जो प्राणी मांस खानेकी इच्छासे जन्मपर्यन्त—जीवनभर—ही हिंसा करता है वह कभी नरकरूप कुएँसे निकल सकेगा, यह मुझे प्रतीत नहीं होता—वह निरन्तर नरकोंके दुखको सहता रहता है ॥२७॥

प्राणियोंकी हिंसा व उनके मांसके भक्षणमें उद्यत मनुष्य लोहसे निर्मित सलाइयों द्वारा बलपूर्वक छेदा-भेदा जाकर नरकके भीतर नारकियोंके द्वारा वज्रमय अग्निमें फेंका जाता है ॥२८॥

२५) ड मांसाशिनो । २६) ड लल्लक्कम्; अ पुनः for किम् । २७) अ निर्गमः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिव्येषु सत्सु भोज्येषु मांसं खादन्ति ये ऽधमाः ।
श्वभ्रेभ्यो नोरुदुःखेभ्यो निर्यियासन्ति[1] ते ध्रुवम् ॥३०

न भेदं सारमेयेभ्यः पलाशी लभते यतः ।
कालकूटमिव त्याज्यं ततो मांसं हितैषिभिः ॥३१

हन्यते येन मर्यादा वल्लरीव दवाग्निना ।
तन्मद्यं न त्रिधा पेयं धर्मकामार्थसूदनम् ॥३२

मातृस्वसृसुता भोक्तुं मोहतो येन काङ्क्षति ।
न मद्यतस्ततो निन्द्यं दुःखदं विद्यते परम् ॥३३

मूत्रयन्ति मुखे श्वानो वस्त्रं मुष्णन्ति तस्कराः ।
मद्यमूढस्य रथ्यायां[1] पतितस्य विचेतसः ॥३४

२९) १. मांसस्य । २. सिंहस्य ।
३०) १. निःसरितुं न वाञ्छति ।
३४) १. अध्वनि ।

जो प्राणी मांसका भक्षण किया करता है उसकी बुद्धि मांसभक्षी सिंहकी बुद्धिके समान चूँकि प्राणियोंको—मृगादि पशु-पक्षियोंको देखकर उनके घातमें प्रवृत्त होती है, अतएव विवेकी जीवोंको उस मांसका परित्याग करना चाहिए ॥२९॥

खानेके योग्य अन्य उत्तम पदार्थोंके रहनेपर भी जो निकृष्ट प्राणी मांसका भक्षण किया करते हैं वे महादुःखोंसे परिपूर्ण नरकोंमें-से नहीं निकलना चाहते हैं, यह निश्चित है ॥३०॥

मांसभोजी जीव चूँकि कुत्तोंसे भेदको प्राप्त नहीं होता है—वह कुत्तोंसे भी निकृष्ट समझा जाता है—अतएव आत्महितकी अभिलाषा रखनेवाले जीवोंको उस मांसको कालकूट विषके समान घातक समझकर उसका परित्याग करना चाहिए ॥३१॥

जिस प्रकार वनकी अग्निसे वेल नष्ट कर दी जाती है उसी प्रकार जिस मद्यके पानसे मर्यादा—योग्य मार्गमें अवस्थिति (सदाचरण)—नष्ट की जाती है उस मद्यका पान मन, वचन व कायसे नहीं करना चाहिए। कारण यह कि वह मद्य प्राणीके धर्म, काम और अर्थ इन तीनों ही पुरुषार्थोंको नष्ट करनेवाला है ॥३२॥

जिस मद्यके पानसे मोहित होकर—नशेमें चूर होकर—मनुष्य अपनी माता, बहन और पुत्रीका भी सम्भोग करनेके लिए आतुर होता है उस मद्यकी अपेक्षा और कोई दूसरी वस्तु निन्दनीय व दुःखदायक नहीं है—वह मद्य सर्वथा ही घृणास्पद है ॥३३॥

मद्यके पानसे मूर्च्छित होकर गलीमें पड़े हुए उस विवेकहीन प्राणीके मुखके भीतर कुत्ते मूता करते हैं तथा चोर उसके वस्त्रादिका अपहरण किया करते हैं ॥३४॥

३०) ब इ सत्सु भोगेषु; अ ब निर्ययासन्ति । ३२) क ड दह्यते येन । ३३) अ क ड मोहितो ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विवेकः संयमः क्षान्तिः सत्यं शौचं दया दमः ।
सर्वे[1] मद्येन सूद्यन्ते पावकेनेव पादपाः ॥३५
मद्यतो न परं कष्टं मद्यतो न परं तमः ।
मद्यतो न परं निन्द्यं मद्यतो न परं विषम् ॥३६
तं तं नमति निर्लज्जो यं यमग्रे विलोकते ।
रोदिति भ्रमति स्तौति रौति गायति नृत्यति ॥३७
मद्यं मूलमशेषाणां दोषाणां जायते यतः ।
अपथ्यमिव रोगाणां परित्याज्यं ततः सदा ॥३८
अनेकजीवघातोत्थं म्लेच्छलालाविमिश्रितम् ।
स्वाद्यते न मधु त्रेधा पापदायि दयालुभिः ॥३९
यच्चित्रप्राणिसंकीर्णे प्लोषिते ग्रामसप्तके ।
माक्षिकस्य तदेकत्र कल्मषं[1] भक्षिते कणे ॥४०

३५) १. एते सर्वे पदार्थाः ।
४०) १. पापम् ।

जिस प्रकार अग्निके द्वारा वनके सब वृक्ष नष्ट कर दिये जाते हैं उसी प्रकार मद्यके द्वारा आत्माके विवेक, संयम, क्षमा, सत्य, शौच, दया और इन्द्रियनिग्रह आदि सब ही उत्तम गुण नष्ट कर दिये जाते हैं ॥३५॥

मद्यको छोड़कर और दूसरी कोई वस्तु प्राणीके लिए न कष्टदायक है, न अज्ञानरूप अन्धकारको बढ़ानेवाली है, न घृणास्पद है और न प्राणघातक विष है। तात्पर्य यह कि लोकमें प्राणीके लिए मद्य ही एक अधिक दुखदायक, अविवेकका बढ़ानेवाला, निन्दनीय और विषके समान भयंकर है ॥३६॥

मद्यपायी मनुष्य लज्जारहित होकर आगे जिस-जिसको देखता है उस-उसको नमस्कार करता है, रोता है, इधर-उधर घूमता-फिरता है, जिस किसीकी भी स्तुति करता है, शब्द करता है, गाता है और नाचता है ॥३७॥

जिस प्रकार अपथ्य—विरुद्ध पदार्थोंका सेवन—रोगोंका प्रमुख कारण है उसी प्रकार मद्य चूँकि समस्त ही दोषोंका प्रमुख कारण है, अतएव उसका सर्वदाके लिए परित्याग करना चाहिए ॥३८॥

मधु (शहद) चूँकि अनेक जीवोंके—असंख्य मधुमक्खियोंके—घातसे उत्पन्न होकर भील जनोंकी लारसे संयुक्त होता है—उनके द्वारा जूठा किया जाता है—इसीलिए दयालु जन कभी उस पापप्रद मधुका मन, वचन व कायसे स्वाद नहीं लेते हैं—वे उसके सेवनका सर्वथा परित्याग किया करते हैं ॥३९॥

अनेक प्रकारके प्राणियोंसे व्याप्त सात गाँवोंके जलानेपर जो पाप उत्पन्न होता है उतना पाप उस मधुके एक ही कणका भक्षण करनेपर उत्पन्न होता है ॥४०॥

३५) क मद्येन दह्यन्ते । ३८) ब जायते ततः । ३९) अ म्लेच्छम्; ब ड इ खाद्यते । ४०) अ प्लोषते; अ ड इ ये च्चित्र°; अ भक्ष्यते क्षणे ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मक्षिकाभिर्यदादाय रसमेकैकपुष्पतः ।
संचितं तन्मधूत्सृष्टं भक्षयन्ति न धार्मिकाः ॥४१

मांसमद्यमधुस्था ये जन्तवो रसकायिकाः ।
सर्वे तदुपयोगेन भक्ष्यन्ते निःकृपैरिमे ॥४२

फलं खादन्ति ये नीचाः पञ्चोदुम्बरसंभवम् ।
पश्यन्तो ऽङ्गिगणाकीर्णं तेषामस्ति कुतः कृपा ॥४३

मुञ्चद्भिर्जीवविध्वंसं जिनाज्ञापालिभिस्त्रिधा ।
उदुम्बरं फलं भक्ष्यं पञ्चधापि न सात्त्विकैः ॥४४

कन्दं मूलं फलं पुष्पं नवनीतं कृपापरैः ।
अन्नमन्यदपि त्याज्यं प्राणिसंभवकारणम् ॥४५

कामक्रोधमदद्वेषलोभमोहादिसंभवम् ।
परपीडाकरं वाक्यं त्यजनीयं हितार्थिभिः ॥४६

धर्मो निषूद्यते येन लोको येन विरुध्यते ।
विश्वासो हन्यते येन तद्वचो भाष्यते कथम् ॥४७

मधुमक्खियाँ एक-एक पुष्पसे रसको लेकर जिसका संचय किया करती हैं उनके उस उच्छिष्ट मधुका धर्मात्मा जन कभी भक्षण नहीं किया करते हैं ॥४१॥

मांस, मद्य और मधुमें जो रसकायिक—तत्तज्जातीय—क्षुद्र जीव उत्पन्न हुआ करते हैं; उन तीनोंका सेवन करनेवाले निर्दय प्राणी उन सब ही जीवोंको खा डालते हैं ॥४२॥

जो नीच जन ऊमर आदि (बड़, पीपल, काकोदुम्बर और गूलर) पाँच प्रकारके वृक्षोंसे उत्पन्न फलोंको जन्तुसमूहसे व्याप्त देखते हुए भी उनका भक्षण किया करते हैं उनके हृदयमें भला दया कहाँसे हो सकती है ? नहीं हो सकती है ॥४३॥

जिन भगवान्‌की आज्ञाका परिपालन करते हुए जिन सात्त्विक जनोंने—धर्मोत्साही मनुष्योंने—जीववधका परित्याग कर दिया है वे उक्त पाँचों ही प्रकारके उदुम्बर फलोंका मन, वचन व कायसे भक्षण नहीं किया करते हैं ॥४४॥

जो कन्द (सूरन, शकरकन्द व गाजर आदि), जड़, फल, फूल, मक्खन, अन्न एवं अन्य भी वस्तुएँ प्राणियोंकी उत्पत्तिकी कारणभूत हों; दयालु जनोंको उन सबका ही परित्याग कर देना चाहिए ॥४५॥

काम, क्रोध, मद, द्वेष, लोभ और मोह आदिसे उत्पन्न होनेवाला जो वचन दूसरोंको पीड़ा उत्पन्न करनेवाला हो ऐसे वचनका हितैषी जनोंको परित्याग करना चाहिए ॥४६॥

जिस वचनके द्वारा धर्मका विघात होता हो, लोकविरोध होता हो तथा विश्वासघात उत्पन्न होता हो; ऐसे वचनका उच्चारण कैसे किया जाता है, यह विचारणीय है ॥४७॥

---

४२) ब मद्यमांस; अ ब °मधूत्था । ४७) ड विरोध्यते....तद्वचो वाच्यते ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लाघवं जन्यते येन यन्म्लेच्छैरपि गर्ह्यते[1] ।
तदसत्यं वचो वाच्यं न कदाचिदुपासकैः ॥४८

क्षेत्रे ग्रामे खले घोषे पत्तने कानने ऽध्वनि ।
विस्मृतं पतितं नष्टं निहितं स्थापितं स्थितम् ॥४९

अदत्तं न परद्रव्यं स्वीकुर्वन्ति महाधियः ।
निर्माल्यमिव पश्यन्तः परतापविभीरवः ॥५० [युग्मम्]

अर्था बहिश्चराः प्राणाः सर्वव्यापारकारिणः ।
म्रियन्ते सहसा मर्त्यास्तेषां व्यपगमे सति ॥५१

धर्मो बन्धुः पिता पुत्रः कान्तिः कीर्तिर्मतिः प्रिया ।
मुषिता मुष्णता द्रव्यं [1]समस्ताः सन्ति शर्मदाः ॥५२

एकस्यैकक्षणं दुःखं जायते मरणे सति ।
आजन्म सकुटुम्बस्य पुंसो द्रव्यविलोपने ॥५३

४८) १. निन्द्यते ।

५२) १. एते ।

जिस असत्य वचनके भाषणसे लघुता प्रकट होती है तथा जिसकी म्लेच्छ जन भी निन्दा किया करते हैं ऐसे उस निकृष्ट असत्य वचनका भाषण श्रावकोंको कभी भी नहीं करना चाहिए ॥४८॥

जो निर्मल बुद्धिके धारक महापुरुष पापकार्यसे डरते हैं वे खेत, गाँव, खलिहान, गोष्ठ (गायोंके रहनेका स्थान), नगर, वन और मार्गमें भूले हुए, गिरे हुए, नष्ट हुए, रखे हुए, रखवाये हुए अथवा अवस्थानको प्राप्त हुए दूसरेके द्रव्यको—धनादिको—निर्माल्यके समान अग्राह्य जानकर उसे बिना दिये कभी स्वीकार नहीं करते हैं ॥४९-५०॥

सब ही व्यवहारको सिद्ध करनेवाले धन—सुवर्ण, चाँदी, धान्य एवं गवादि—मनुष्योंके बाह्यमें संचार करनेवाले प्राणोंके समान हैं। इसका कारण यह है कि उनका विनाश होनेपर मनुष्य अकस्मात् मरणको प्राप्त हो जाते हैं ॥५१॥

जो दूसरेके धनका अपहरण करता है वह उसके धर्म, बन्धु, पिता, पुत्र, कान्ति, कीर्ति, बुद्धि और प्रिय पत्नीका अपहरण करता है; ऐसा समझना चाहिए। कारण यह कि वे सब उस धनके रहनेपर ही सब कुछ—सब प्रकारके सुखको—दिया करते हैं, बिना धनके वे भी दुखके कारण हो जाते हैं ॥५२॥

मनुष्यको किसी एकका मरण हो जानेपर एक क्षणके लिए—कुछ थोड़े ही कालके लिए—दुख होता है, परन्तु अन्यके द्वारा धनका अपहरण किये जानेपर वह जीवनपर्यन्त सब कुटुम्बके साथ दुखी रहता है ॥५३॥

५०) ब पश्यन्ति । ५२) अ सन्ति सर्वदा ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मत्स्यैशाकुनिकैव्याघ्रपार्पद्धिकैठकादितः ।
ददानः संततं दुःखं पापीयांस्तस्करो मतः ॥५४
इहैव दुःखं नृपादिभ्यः सर्वस्वहरणादिकम् ।
वित्तापहारिणः पुष्पं नारकीयं पुनः फलम् ॥५५
पन्थानः श्वभ्रकूपस्य परिघाः स्वर्गसद्मनः ।
परदाराः सदा त्याज्याः स्वदारव्रतरक्षिणा ॥५६
द्रष्टव्याः सकला रामा मातृस्वसृसुतासमाः ।
स्वर्गापवर्गसौख्यानि लब्धुकामेन धीमता ॥५७
दुःखदा विपुलस्नेहा निर्मलामलकारिणी ।
तृष्णाकरी रसाधारा सजाड्या तापवर्धिनी ॥५८
ददाना निजसर्वस्वं सर्वद्रव्यापहारिणी ।
परस्त्री दूरतस्त्याज्या विरुद्धाचारवर्तिनी ॥५९

५४) १. धीवर । २. कोटपाल । ३. खाटका । ४. एतच्चकारात् तस्करोऽधिकपापी ।
५५) १. लोके ।
५६) १. अर्गलाः ।
५७) १. भगिनी । २. लब्धुम् इच्छुकेन ।

मछली, पक्षिघातक, व्याघ्र, शिकारी और ठग इत्यादि ये सब प्राणिघातक होनेसे यद्यपि पापी माने जाते हैं; परन्तु इन सबकी अपेक्षा भी चोर अधिक पापी माना गया है। कारण कि वह धनका अपहारक होनेसे प्राणीके लिए निरन्तर ही दुखप्रद होता है ॥५४॥

जो मनुष्य दूसरेके धनका अपहरण किया करता है उसे इस लोकमें तो राजा आदिके द्वारा सर्व सम्पत्तिके अपहरणादिजनित दुखको सहना पड़ता है तथा परलोकमें नरकोंके दुखको भोगना पड़ता है ॥५५॥

जिस सत्पुरुषोंने स्वदारसन्तोष—ब्रह्मचर्याणुव्रत—को स्वीकार कर लिया है उसे उक्त व्रतका संरक्षण करनेके लिए निरन्तर परस्त्रियोंका परित्याग करना चाहिए। कारण यह कि नरकरूप कुएँमें पटकनेवाली वे परस्त्रियाँ स्वर्गरूप भवनके बेंडा (अर्गला) के समान हैं—प्राणीको स्वर्गसे वंचित कर वे उसे नरकको ले जानेवाली हैं ॥५६॥

जो विवेकी भव्य जीव स्वर्ग और मोक्षके सुखोंको प्राप्त करना चाहता है उसे समस्त स्त्रियोंको माता, बहन और पुत्रीके समान देखना चाहिए ॥५७॥

परस्त्री अतिशय स्नेह करके भी प्राणीके लिए दुखप्रद है, निर्मल—सुन्दर शरीरको धारण करनेवाली—होकर भी मलको—पापको—उत्पन्न करनेवाली है, रस—आनन्द अथवा शृंगारादि रस (विरोध पक्षमें—जल)—की आधार होकर भी तृष्णाको—अतिशय भोगाकांक्षाको (विरोध पक्षमें—प्यासको)—बढ़ानेवाली है, अज्ञानतासे (विरोध पक्षमें—शीतलतासे) परिपूर्ण होकर भी सन्तापको (विरोध पक्षमें—उष्णताको)—बढ़ानेवाली है, तथा अपना सब कुछ देकरके भी सब द्रव्योंका—वीर्य आदिका (विरोध पक्षमें—धनका) अपहरण

५४) क मात्स्य° । ५५) इ पुंसः for पुष्पम् । ५६) ब इ परिखाः । ५९) अ ब °चारवर्धिनी ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न विशेषोऽस्ति सेवायां स्वदारपरदारयोः ।
परं स्वर्गगतिः पूर्वे परे श्वभ्रगतिः पुनः ॥६०

या विमुच्य स्वभर्तारं परमभ्येति निस्त्रपा ।
विश्वासः कीदृशस्तस्यां जायते परयोषिति ॥६१

दृष्ट्वा परवधूं रम्यां न किंचिल्लभते सुखम् ।
केवलं दारुणं पापं श्वभ्रदायि प्रपद्यते ॥६२

यस्याः संगममात्रेण क्षिप्रं जन्मद्वयक्षतिः ।
हित्वा स्वदारसंतोषं सो ऽन्यस्त्रीं सेवते कुतः ॥६३

यः कामानलसंतप्तां परनारीं निषेवते ।
आश्लिष्यते स लोहस्त्रीं श्वभ्रे वज्राग्नितापिताम् ॥६४

करनेवाली है। इस प्रकारसे जो परस्त्री विरुद्ध व्यवहारको बढ़ानेवाली है उसका दूरसे ही परित्याग करना चाहिए। अभिप्राय यह है कि स्नेही कभी दुखप्रद नहीं होता, निर्मल वस्तु कभी मलको उत्पन्न नहीं करती, जलका आधार कभी प्यासको नहीं बढ़ाता है, शीतल वस्तु कभी उष्णताकी वेदनाको नहीं उत्पन्न करती है तथा जो अपना सब कुछ दे सकता है वह कभी दूसरेके द्रव्यका अपहरण नहीं करता है। परन्तु चूँकि उक्त परस्त्रीमें ये सभी विरुद्ध आचरण पाये जाते हैं, अतएव आत्महितैषी जीवको उस परस्त्रीका सर्वथा ही त्याग करना चाहिए ॥५८-५९॥

स्वकीय पत्नी और दूसरेकी स्त्री इन दोनोंके सेवनमें कोई विशेषता नहीं है—समान सुखलाभ ही होता है; यही नहीं, बल्कि भयभीत रहने आदिके कारण परस्त्रीके सेवनमें वह सुख भी नहीं प्राप्त होता है। फिर भी उन दोनोंमें पूर्वका—अपनी पत्नीका—सेवन करनेपर प्राणीको स्वर्गकी प्राप्ति होती है तथा पिछलीका—परस्त्रीका—सेवन करनेपर उसे नरक-गतिकी प्राप्ति होती है ॥६०॥

जो परकीय स्त्री अपने पतिको छोड़कर निर्लज्जतापूर्वक दूसरेके पास जाती है—उसके साथ रमण करती है—उसके विषयमें भला किस प्रकार विश्वास किया जा सकता है? नहीं किया जा सकता है ॥६१॥

जो नराधम परस्त्रीको रमणीय देखकर उसकी अभिलाषा करता है वह वास्तवमें सुखको नहीं पाता है, किन्तु वह केवल नरकको देनेवाले भयानक पापको स्वीकार करता है—उसको संचित करता है ॥६२॥

जिस परकीय स्त्रीके संयोग मात्रसे दोनों लोकोंकी हानि शीघ्र होती है उस परकीय स्त्रीका सेवन भला स्वकीय पत्नीमें सन्तोष करके कहाँसे करता है—स्वकीय पत्नीके सेवनमें ही सन्तोष-सुखका अनुभव करनेवाला मनुष्य उभय लोकमें दुख देनेवाली उस परस्त्रीकी कभी अभिलाषा नहीं करता है ॥६३॥

जो कामरूप अग्निसे सन्तापको प्राप्त हुई परस्त्रीका सेवन करता है वह नरकमें पड़कर वज्राग्निसे तपायी गयी लोहनिर्मित स्त्रीका आलिंगन किया करता है ॥६४॥

---

६३) अ °क्षितिः; ब कृत्वा for हित्वा; ब ड सान्यस्त्री सेव्यते ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इति ज्ञात्वा बुधैर्हेया परकीया नितम्बिनी ।
क्रुद्धस्येव कृतान्तस्य दृष्टिर्जीवितघातिनी ॥६५

संतोषेण सदा लोभः शमनीयो ऽतिवर्धितः ।
वदानो दुःसहं तापं विभावसुरिवाम्भसा ॥६६

धनं धान्यं गृहं क्षेत्रं द्विपदं च चतुष्पदम् ।
सर्वं परिमितं कार्यं संतोषव्रतवर्तिना ॥६७

धर्मः कषायमोक्षेण नारीसंगेन मन्मथः ।
लाभेन वर्धते लोभः काष्ठक्षेपेण पावकः ॥६८

पुरुषं नयति श्वभ्रं लोभो भीममनिर्जितः ।
वितरन्ति न किं दुःखं वैरिणः प्रभविष्णवः ॥६९

अर्जितं सन्ति भुञ्जाना द्रविणं बहवो जनाः ।
नारकीं सहमानस्य न सहायो ऽस्ति वेदनाम् ॥७०

इस प्रकार परस्त्रीसेवनसे होनेवाले दुखको जानकर बुद्धिमान् मनुष्योंको उस परस्त्रीके सेवनका परित्याग करना चाहिए। कारण यह कि उक्त परकीय स्त्री क्रोधको प्राप्त हुए यमराजकी दृष्टिके समान प्राणीके जीवितको नष्ट करनेवाली है ॥६५॥

जिस प्रकार अतिशय वृद्धिंगत होकर दुःसह सन्तापको उत्पन्न करनेवाली अग्निको जलसे शान्त किया जाता है उसी प्रकार अतिशय वृद्धिको प्राप्त होकर दुःसह मानसिक सन्तापको देनेवाले लोभको निरन्तर सन्तोषके द्वारा शान्त किया जाना चाहिए ॥६६॥

सन्तोषव्रतमें वर्तमान—परिग्रहपरिमाण अणुव्रतके धारक—श्रावकको धन (सुवर्णादि), धान्य (अनाज), गृह, खेत, द्विपद (दासी-दास आदि), तथा चतुष्पद (हाथी, घोड़ा, गाय व भैंस आदि); इन सबका प्रमाण कर लेना चाहिए और फिर उस ग्रहण किये हुए प्रमाणसे अधिककी अभिलाषा नहीं करना चाहिए ॥६७॥

क्रोधादि कषायोंके छोड़नेसे धर्मकी, स्त्रीके संसर्गसे भोगाकांक्षाकी, उत्तरोत्तर होनेवाले लाभसे लोभकी तथा ईंधनके डालनेसे अग्निकी वृद्धि स्वभावतः हुआ करती है ॥६८॥

यदि लोभके ऊपर विजय प्राप्त नहीं की जाती है तो वह मनुष्यको भयानक नरकमें ले जाता है। ठीक है—प्रभावशाली शत्रु भला कौन-से दुखको नहीं दिया करते हैं ? अर्थात् यदि प्रभावशाली शत्रुओंको वशमें नहीं किया जाता है तो वे जिस प्रकार कष्ट दिया करते हैं उसी प्रकार लोभादि आन्तरिक शत्रुओंको भी यदि वशमें नहीं किया गया है तो वे भी प्राणीको नरकादिके दुखको दिया करते हैं ॥६९॥

कमाये हुए धनका उपभोग करनेवाले तो बहुत-से जन—कुटुम्बी आदि—होते हैं, किन्तु उक्त धनके कमानेमें संचित हुए पापके फलस्वरूप नरकके दुखके भोगते समय उनमें-से कोई भी सहायक नहीं होता है—वह उसे स्वयं अकेले ही भोगना पड़ता है ॥७०॥

---

६६) ब क ड इ अस्ति for अति°। ६८) अ ब इ लोभेन। ६९) अ भीमगतिर्जितः। ७०) ड सहायो ऽस्ति न वेदनाम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्रिदशाः किंकरास्तस्य हस्ते तस्यामरद्रुमाः ।
निधयो मन्दिरे तस्य संतोषो यस्य निश्चलः ॥७१
लब्धाशेषनिधानो ऽपि स दरिद्रः स दुःखितः ।
संतोषो हृदये यस्य नास्ति कल्याणकारकः ॥७२
दिग्देशानर्थदण्डेभ्यो विनिवृत्तिर्गुणव्रतम् ।
त्रिविधं श्रावकैस्त्रेधा पालनीयं शिवार्थिभिः ॥७३
यद्दृशस्वपि काष्ठासु विधाय विधिनावधिम् ।
न ततः परतो याति प्रथमं तद् गुणव्रतम् ॥७४
त्रसस्थावरजीवानां निशुम्भननिवृत्तितः ।
तत्र गेहस्थितस्यापि परतो ऽस्ति महाव्रतम् ॥७५
त्रैलोक्यं लङ्घमानस्य तीव्रलोभविभावसोः ।
अकारि स्खलनं तेन येन सा नियता कृता ॥७६

जिसके अन्तःकरणमें अटल सन्तोष अवस्थित है उसके देव सेवक बन जाते हैं, कल्पवृक्ष उसके हाथमें अवस्थितके समान हो जाते हैं तथा निधियाँ उसके भवनमें निवास करने लगती हैं ॥७१॥

इसके विपरीत जिसके हृदयमें वह कल्याणका कारणभूत सन्तोष नहीं है वह समस्त भण्डार (खजाना) को पाकर भी दरिद्र (निर्धन जैसा) व अतिशय दुखी ही बना रहता है ॥७२॥

मोक्षकी इच्छा करनेवाले श्रावकोंको दिशा, देश और अनर्थदण्डसे विरत होने रूप तीन प्रकारके गुणव्रतका तीन प्रकारसे—मन, वचन व कायके द्वारा—पालन करना चाहिए। अभिप्राय यह है कि पूर्वादिक दिशाओंमें जो जीवन पर्यन्त जाने-आनेका नियम किया जाता है कि मैं अमुक दिशामें अमुक स्थान तक ही जाऊँगा, उससे आगे नहीं जाऊँगा; इसका नाम दिग्व्रत है। उक्त दिग्व्रतमें स्वीकार की गयी मर्यादाके भीतर भी उसे संकुचित करके कुछ नियमित समयके लिए जो अल्प प्रमाणमें जाने-आनेका नियम स्वीकार किया जाता है उसे देशव्रतके नामसे कहा जाता है। जिन कार्योंमें निरर्थक प्राणियोंका विघात हुआ करता है उनका परित्याग करना, यह अनर्थदण्डव्रत नामका तीसरा गुणव्रत है। श्रावकोंको पाँच अणुव्रतोंके साथ इन तीन गुणव्रतोंका भी निरतिचार पालन करना चाहिए ॥७३॥

जो पूर्वादिक चार दिशा, ईशानादि चार विदिशा तथा नीचे व ऊपर; इस प्रकार दस दिशाओंमें आगमोक्त विधिके अनुसार मर्यादाको स्वीकार करके उसके आगे नहीं जाता है, यह दिग्व्रत नामका प्रथम गुणव्रत है ॥७४॥

गृहीत मर्यादाके बाहर त्रस और स्थावर जीवोंके घातकी सर्वथा निवृत्ति हो जानेके कारण घरके भीतर स्थित श्रावकके भी वहाँ अहिंसामहाव्रत जैसा हो जाता है ॥७५॥

जिस महापुरुषने आशाको नियन्त्रित कर लिया है उसने तीनों लोकोंको अतिक्रान्त करनेवाली तीव्र लोभरूप अग्निके प्रसारको रोक दिया है, यह समझना चाहिए ॥७६॥

७२) अ कल्याणकारणम् । ७४) अ यो दशस्वपि...विधिना विधिः । ७६) इ येन तेन ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यद्देशस्यावधिं कृत्वा गम्यते न दिवानिशम् ।
ततः परं बुधैरुक्तं द्वितीयं तद् गुणव्रतम् ॥७७
पूर्वोदितं फलं सर्वं ज्ञेयमत्र विशेषतः ।
विशिष्टे कारणे कार्यं विशिष्टं केन वार्यते ॥७८
पञ्चधानर्थदण्डस्य धर्मार्थानुपकारिणः ।
पापोपकारिणस्त्यागो विधेयो ऽनर्थमोचिभिः ॥७९
शिखिमण्डलमार्जारसारिकाशुककुक्कुटाः ।
जीवोपघातिनो धार्याः श्रावकैर्न कृपापरैः ॥८०

८०) १. मयूरः । २. शालिका ।

दिग्व्रतमें जीवनपर्यन्त स्वीकृत देशके भीतर भी कुछ नियत समयके लिए मर्यादा करके तदनुसार दिन-रातमें उस मर्यादाके बाहर नहीं जाना, इसे पण्डित जनोंने दूसरा देशव्रत नामका गुणव्रत कहा है ॥७७॥

पूर्वमें दिग्व्रतका जो फल—महाव्रतादि—कहा गया है उसे यहाँ भी विशेष रूपसे जानना चाहिए । ठीक है—विशिष्ट कारणके होनेपर विशिष्ट कार्यको कौन रोक सकता है ? अर्थात् कारणकी विशेषताके अनुसार कार्यमें भी विशेषता हुआ ही करती है ॥७८॥

जो पाँच प्रकारका अनर्थदण्ड धर्म और अर्थ पुरुषार्थोंका अपकार तथा पापका उपकार करनेवाला है—धर्म व धनको नष्ट करके पापसंचयका कारण है—उसका अनर्थदण्डव्रतकी अभिलाषा करनेवाले श्रावकोंको परित्याग कर देना चाहिए ॥ विशेषार्थ—जिन क्रियाओंके द्वारा बिना किसी प्रकारके प्रयोजनके ही प्राणियोंको पीड़ा उत्पन्न होती है उन्हें अनर्थदण्ड नामसे कहा जाता है । वह अनर्थदण्ड पाँच प्रकारका है—अपध्यान, पापोपदेश, हिंसोपकारिदान, प्रमादचर्या और दुःश्रुति । राग व द्वेषके वशीभूत होकर आत्म-प्रयोजनके बिना दूसरे प्राणियोंके वध-बन्धन और जय-पराजय आदिका विचार करना, यह अपध्यान नामका अनर्थदण्ड कहलाता है । अपना किसी प्रकारका प्रयोजन न होनेपर भी दूसरोंके लिए ऐसा उपदेश देना कि जिसके आश्रयसे वे हिंसाजनक पशु-पक्षियोंके व्यापारादि कार्योंमें प्रवृत्त हो सकते हों उसका नाम पापोपदेश अनर्थदण्ड है । अग्नि, विष एवं शस्त्र आदि जो हिंसाके उपकारक उपकरण हैं उनका अपने प्रयोजनके बिना ही दूसरोंको प्रदान करना; इसे हिंसोपकारिदान नामक अनर्थदण्ड जानना चाहिए । निष्प्रयोजन ही पृथिवीका कुरेदना, जलका बखेरना, अग्निका जलाना और पत्र-पुष्पादिका छेदना; इत्यादिका नाम प्रमादचर्या है । जिन कथाओंसे राग-द्वेषादिके वशीभूत हुए प्राणीका चित्त कलुषित होता हो उनके सुननेको दुःश्रुति अनर्थदण्ड कहा जाता है । श्रावकको उक्त पाँचों अनर्थदण्डोंका परित्याग करके अनर्थदण्डव्रत नामक तृतीय गुणव्रतको स्वीकार करना चाहिए ॥७९॥

इसके साथ ही श्रावकोंको दयार्द्र होकर जीवोंका घात करनेवाले (हिंसक) मयूर, कुत्ता, बिल्ली, मैना, तोता और मुर्गा आदि पशु-पक्षियोंको भी नहीं पालना चाहिए ॥८०॥

७९) धर्मान्धानुप° ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाशं दण्डं विषं शस्त्रं हलं रज्जुं हुताशनम् ।
धात्रीं लाक्षामयो[1] नीलीं[2] नान्येभ्यो ददते बुधाः ॥८१
संधानं पुष्पितं विद्धं क्वथितं जन्तुसंकुलम् ।
वर्जयन्ति सदाहारं करुणापरमानसाः ॥८२
शिक्षाव्रतं चतुर्भेदं सामायिकमुपोषितम्[1] ।
भोगोपभोगसंख्यानं संविभागो ऽशने ऽतिथेः ॥८३
जीविते मरणे सौख्ये दुःखे योगवियोगयोः ।
समानमानसैः कार्यं सामायिकमतन्द्रितैः[1] ॥८४
द्व्यासना[1] द्वादशावर्ता चतुर्विधशिरोन्नतिः ।
त्रिकालवन्दना कार्या परव्यापारवर्जितैः ॥८५
मुक्तभोगोपभोगेन पापकर्मविमोचिना ।
उपवासः सदा भक्त्या कार्यः पर्वचतुष्टये ॥८६

८१) १. धाउडीनां फूल । २. लोह ।
८३) १. उपवास ।
८४) १. पद्मेन्द्रियमनोनिरोधनैः ।
८५) १. पद्मासनम् ।

विद्वान् जन जाल, लाठी, विष, शस्त्र, हल, रस्सी, अग्नि, पृथिवी (अथवा आमलकी—वनस्पतिविशेष), लाख, लोहा और नीली; इत्यादि परबाधाकर वस्तुओंको दूसरोंके लिए नहीं दिया करते हैं ॥८१॥

इसके अतिरिक्त जिनके हृदयमें दयाभाव विद्यमान है वे श्रावक अचार तथा घुने हुए, सड़े-गले एवं जीवोंसे व्याप्त आहारका परित्याग किया करते हैं ॥८२॥

सामायिक, उपोषित (प्रोषधोपवास), भोगोपभोगपरिसंख्यान और भोजनमें अतिथिके लिए संविभाग—अतिथिसंविभाग; इस प्रकार शिक्षाव्रतके चार भेद हैं ॥८३॥

श्रावकोंको आलस्यसे रहित होकर जीवन व मरणमें, सुख व दुखमें तथा संयोग व वियोगमें मनमें समताभावका आश्रय लेते हुए—राग-द्वेषके परित्यागपूर्वक—सामायिकको करना चाहिए ॥८४॥

सामायिकमें दूसरे सब ही व्यापारोंका परित्याग करके पद्मासन अथवा कायोत्सर्ग दोनोंमें-से किसी एक आसनसे अवस्थित होकर प्रत्येक दिशामें तीन-तीनके क्रमसे मन, वचन व कायके संयमनस्वरूप शुभ योगोंकी प्रवृत्तिरूप बारह आवर्त (दोनों हाथोंको जोड़कर अग्रिम भागकी ओरसे चक्राकार घुमाना), चार शिरोनतियाँ (शिरसा नमस्कार) और तीनों सन्ध्याकालोंमें वन्दना करना चाहिए ॥८५॥

भोग और उपभोगके परित्यागपूर्वक सब ही पाप क्रियाओंको छोड़कर श्रावकको दो अष्टमी व दोनों चतुर्दशीरूप चारों पर्वोंमें निरन्तर भक्तिके साथ उपवासको भी करना चाहिए ॥८६॥

८२) अ कुथितम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निवसन्ति हृषीकाणि निवृत्तानि स्वगोचरात् ।
एकीभूयात्मना यस्मिन्नुपवासमिमं विदुः ॥८७

चतुर्विधाशनत्यागं विधाय विजितेन्द्रियैः ।
ध्यानस्वाध्यायतन्निष्ठैरास्यते सकलं दिनम् ॥८८

कृत्यं भोगोपभोगानां परिमाणं विधानतः ।
भोगोपभोगसंख्यानं कुर्वता व्रतमर्चितम् ॥८९

माल्यगन्धान्नताम्बूलभूषारामाम्बरादयः ।
सद्भिः परिमितीकृत्य सेव्यन्ते व्रतकाङ्क्षिभिः ॥९०

आहारपानौषधसंविभागं गृहागतानां विधिना करोतु ।
भक्त्यातिथीनां विजितेन्द्रियाणां व्रतं दधानो ऽतिथिसंविभागम् ॥९१

चतुर्विधं प्रासुकमन्नदानं संघाय भक्तेन चतुर्विधाय ।
दुरन्तसंसारनिरासनार्थं सदा प्रदेयं विनयं विधाय ॥९२

इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयसे विमुख होकर आत्माके साथ एकताको प्राप्त होती हुई जिसमें निवास किया करती हैं उसका नाम उपवास है, यह उपवास शब्दका निरुक्त्यर्थ कहा गया है ॥८७॥

उपवास करनेवाले श्रावक अपनी इन्द्रियोंको वशमें करके अन्न, पान, स्वाद्य और लेह्य इन चारों आहारोंका परित्याग करते हुए दिनभर ध्यान और स्वाध्यायमें तल्लीन रहा करते हैं ॥८८॥

श्रावकको जनोंसे पूजित भोगोपभोगपरिमाणव्रतको करते हुए एक बार भोगनेरूप भोग और अनेक बार भोगनेरूप उपभोग इन दोनों ही प्रकारके पदार्थोंका 'मैं अमुक भोगरूप वस्तुओंको इतने प्रमाणमें तथा अमुक उपभोगरूप वस्तुओंको इतने प्रमाणमें रखूँगा, इससे अधिक नहीं रखूँगा' इस प्रकारका विधिपूर्वक प्रमाण कर लेना चाहिए ॥८९॥

जो सत्पुरुष व्रतके अभिलाषी हैं वे माला, गन्ध (सुगन्धित द्रव्य), अन्न, ताम्बूल (पान), आभूषण, स्त्री और वस्त्र आदि पदार्थोंके प्रमाणको स्वीकार करके ही उनका उपभोग किया करते हैं ॥९०॥

अतिथिसंविभाग व्रतके धारक श्रावकको अपनी इन्द्रियोंको जीत लेनेवाले अतिथि—साधु जनोंके—घरपर आनेपर उन्हें भक्तिके साथ विधिपूर्वक आहार-पान और औषधका दान देना चाहिए ॥९१॥

मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका; इस चार प्रकारके संघमें भक्ति रखनेवाले श्रावकको उसके लिए विनयके साथ चार प्रकारके प्रासुक आहारका खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेयका—निरन्तर दान करना चाहिए। इससे अनन्त संसारका विनाश होता है ॥९२॥

---

८७) क निविशन्ति । ८९) अ क ड इ °संख्यानाम् । ९२) क इ विनाशनार्थं; ड इ विनयं वहद्भिः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रियेण दानं ददता यतीनां विधाय चित्तें नवधा[1] विधानम् ।
श्रद्धादयः[2] सप्त गुणा विधेयाः साम्ना[3] विना दत्तमनर्थकारि[4] ॥९३

पञ्चत्वमागच्छदवारणीयं विलोक्य पृष्ट्वा निजबन्धुवर्गम् ।
सल्लेखना बुद्धिमता विधेया कालानुरूपं रचयन्ति सन्तः ॥९४

आलोच्य दोषं सकलं गुरूणां संज्ञानसम्यक्त्वचरित्रशोधी ।
प्राणप्रयाणे विदधातु दक्षश्चतुर्विधाहारशरीरमुक्तिम् ॥९५

निदानमिथ्यात्वकषायहीनः करोति संन्यासविधिं सुधीर्यः ।
सुखानि लब्ध्वा स नरामराणां सिद्धिं त्रिसप्तेषु भवेषु याति ॥९६

९३) १. स्थापनमुच्चैःस्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामश्च । वाक्कायहृदयएषणाशुद्धय इति नवविधं पुण्यम् । २. श्रद्धा भक्तिस्तुष्टिर्विज्ञानमलुब्धता क्षमा सत्त्वम् । यत्रैते सप्तगुणास्तं दातारं प्रशंसन्ति । ३. नवधा विना । ४. कंडणा पेषणी चुल्ली उदकुम्भः प्रमार्जनी । पञ्चसूना गृहस्थस्य तेन मोक्षं न गच्छति ॥ गृहकर्मणापि निचितं कर्म विमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानाम् । अतिथीनां प्रतिपूजा रुधिरमलौ धावने वारि ॥

घरपर आये हुए मुनिजनोंको देखकर जिसके अन्तःकरणमें अतिशय प्रीति उत्पन्न हुआ करती है ऐसे श्रावकको उन मुनिजनोंके लिए दान देते समय मनमें नौ प्रकारकी विधिको करके दाताके श्रद्धा आदि सात गुणोंको भी करना चाहिए । कारण यह कि सद्व्यवहारके बिना—श्रद्धा व भक्ति आदिके बिना—दिया हुआ दान अनर्थको उत्पन्न करनेवाला होता है—विधिके बिना दिया गया दान फलप्रद नहीं होता । उपर्युक्त नौ प्रकारकी विधि यह है—१. मुनिजनको आते देखकर उन्हें 'हे स्वामिन् अत्र तिष्ठ तिष्ठ' कहते हुए स्थापित करना, २. बैठने के लिए ऊँचा स्थान देना, ३. पैरोंको धोकर गन्धोदक लेना, ४. अष्टद्रव्यसे पूजा करना, ५. फिर प्रणाम करना; ६-९. पश्चात् मन, वचन और कायकी शुद्धिको प्रकट करके भोजन-विषयक शुद्धिको प्रकट करना । इसके अतिरिक्त जिन सात गुणोंके आश्रयसे दिया गया दान फलवत् होता है वे गुण ये हैं—१. श्रद्धा, २. अनुराग, ३. हर्ष, ४. दानकी विधि आदिका परिज्ञान, ५. लोभका अभाव, ६. क्षमा और ७. सत्त्व ॥९३॥

अन्तमें जब अनिवार्य मरणका समय निकट आ जाये तब उसे देखकर बुद्धिमान् श्रावकको अपने कौटुम्बिक जनोंकी अनुमतिपूर्वक सल्लेखनाको—समाधिमरणको—स्वीकार करना चाहिए । कारण यह कि सत्पुरुष समयके अनुसार ही कार्य किया करते हैं ॥९४॥

मरणके समय चतुर श्रावक सम्यग्ज्ञानके साथ सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रको विशुद्ध करनेकी इच्छासे गुरुजनके समक्ष सब दोषोंकी आलोचना करता है—वह उनको निष्कपट भावसे प्रकट करता है—तथा क्रमसे चार प्रकारके आहारको व अन्तमें शरीरको भी समताभावके साथ छोड़ देता है ॥९५॥

जो विवेकी गृहस्थ निदान—आगामी भवमें भोगाकांक्षा, मिथ्यात्व और कषायसे रहित होकर उस संन्यासकी विधिको—विधिपूर्वक सल्लेखनाको—स्वीकार करता है वह

९३) अ ड इ ददताम् । ९६) अ करोतु; क लब्ध्वा नृसुराधिपानाम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इदं व्रतं द्वादशभेदभिन्नं यः श्रावकीयं जिननाथदृष्टम् ।
करोति संसारनिपातभीतः प्रयाति कल्याणमसौ समस्तम् ॥९७

भ्रूनेत्रहुंकारकराङ्गुलीभिर्गृद्धिं प्रवृत्तां परिवर्ज्य संज्ञाम् ।
विधाय मौनं व्रतवृद्धिकारि करोति भुक्तिं विजिताक्षवृत्तिः ॥९८

ये देवमर्त्यार्चितपादपद्माः पञ्चानवद्याः परमेष्ठिनस्ते ।
नैवेद्यगन्धाक्षतधूपदीपप्रसूनमालादिभिरर्चनीयाः ॥९९

इदं प्रयत्नान्निहितातिचारं ये पालयन्ते व्रतमर्चनीयम् ।
निर्विश्य लक्ष्मीं मनुजामराणां ते यान्ति निर्वाणमपास्तपापाः ॥१००

९७) १. पतनात् ।
९९) १. निष्पापाः ।
१००) १. भुक्त्वा ।

मनुष्य—चक्रवर्ती आदि—और देवोंके सुखोंको भोगकर त्रिगुणित सात (७×३=२१) भवोंके भीतर मुक्तिको प्राप्त कर लेता है ॥९६॥

जो गृहस्थ संसारपरिभ्रमणसे भयभीत होकर जिनेन्द्रके द्वारा प्रत्यक्ष देखे गये—उनके द्वारा उपदिष्ट—श्रावक सम्बन्धी इस बारह प्रकारके व्रतका परिपालन करता है वह सब प्रकारके कल्याणको प्राप्त होता है—वह विविध प्रकारके सांसारिक सुखको भोगकर अन्तमें मुक्तिसुखको भी प्राप्त कर लेता है ॥९७॥

अपने व्रतोंकी वृद्धिको करनेवाला गृहस्थ इन्द्रियोंके व्यापारको जीतकर भ्रुकुटि, नेत्र, हुंकार—हूं-हूं शब्द—और हाथकी अँगुलिके द्वारा लोलुपतासे प्रवृत्त होनेवाले संकेतको छोड़ता हुआ मौनपूर्वक भोजनको करता है ॥९८॥

जिनके चरणकमल देवों व मनुष्योंके द्वारा पूजे गये हैं ऐसे जो निर्दोष अर्हदादि पाँच परमेष्ठी हैं उनकी श्रावकको नैवेद्य, गन्ध, अक्षत, दीप, धूप और पुष्पमाला आदिके द्वारा पूजा करनी चाहिए ॥९९॥

जो गृहस्थ प्रयत्नपूर्वक निरतिचार इस पूजनीय देशव्रतका—श्रावकधर्मका—परिपालन करते हैं वे मनुष्यों व देवोंके वैभवको भोगकर अन्तमें समस्त पापमलसे रहित होते हुए मुक्तिको प्राप्त करते हैं ॥१००॥

९८) अ गृद्धिप्रवृत्ताम्....परिचर्य ; ब ड इ विहाय मौनम् ; इ मुक्तिम् । ९९) अ क ड °दीपधूप° ।
१००) अ ब क इ सयत्नान्नि° ; अ विभाति for ते यान्ति ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रुत्वा वाचमशेषकल्मषमुषां साधोर्गुणाशंसिनीं
नत्वा केवलिपादपङ्कजयुगं मर्त्यामरेन्द्रार्चितम् ।
आत्मानं व्रतरत्नभूषितमसौ चक्रे विशुद्धाशयो
भव्याः प्राप्य यतेर्गिरो ऽमितगतेर्व्यर्थाः कथं कुर्वते ॥१०१

इति धर्मपरीक्षायाममितगतिकृतायामेकोनविंशतितमः परिच्छेदः ॥१९॥

इस प्रकार विशुद्ध अभिप्रायवाले उस पवनवेगने समस्त पापमलको दूर करनेवाले उन जिनमति मुनिके व्रतविषयक उपदेशको सुनकर मनुष्यों व देवोंसे पूजित केवली जिनके दोनों चरणकमलोंको नमस्कार करते हुए अपनेको व्रतरूप रत्नसे विभूषित कर लिया—श्रावकके व्रतोंको ग्रहण कर लिया। ठीक है—भव्य जन अपरिमित ज्ञानके धारक मुनिके उपदेशको पाकर भला उसे व्यर्थ कैसे कर सकते हैं ? नहीं कर सकते—वे उसे सफल ही किया करते हैं ॥१०१॥

इस प्रकार आचार्य अमितगति विरचित धर्मपरीक्षामें उन्नीसवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ॥१९॥

---

१०१) अ कल्मषमुषं, ब °मुषः ; ब क साधोर्व्रता° ; अ °शंसिनीनंत्वा ; ड इ भव्यः ; ब प्रार्थयते for प्राप्य यते° ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथोवाच पुनर्योगी विद्याधरशरीरजम्[1] ।
परे ऽपि नियमाः कार्याः श्रावकैर्भद्र भक्तितः ॥१
संचारो यत्र भूतानां नागमो यत्र योगिनाम् ।
यत्र भक्ष्यमभक्ष्यं वा वस्तु किंचिन्न बुध्यते ॥२
यत्राहारगताः सूक्ष्मा दृश्यन्ते न शरीरिणः ।
तत्र रात्रौ न भोक्तव्यं कदाचन दयालुभिः ॥३
यो वल्भते त्रियामायां[1] जिह्वेन्द्रियवशीकृतः ।
अहिंसाणुव्रतं तस्य निहीनस्य कुतस्तनम् ॥४
सर्वधर्मक्रियाहीनो यः खादति दिवानिशम् ।
पशुतो विद्यते तस्य न भेदः शृङ्गतः परः ॥५
शूकरः शंबरः कङ्को मार्जारस्तित्तिरो बकः ।
मण्डलः सारसः श्येनः काको भेको भुजङ्गमः ॥६

१) १. प्रति ।
४) १. निशायाम् ।

तत्पश्चात् वे मुनिराज विद्याधरके पुत्रसे बोले कि हे भद्र ! इनके अतिरिक्त दूसरे भी कुछ नियम हैं जिनका परिपालन श्रावकोंको भक्तिपूर्वक करना चाहिए ॥१॥

यथा—जिस रात्रिमें प्राणियोंका इधर-उधर संचार होता है, जिसमें मुनियोंका आगमन नहीं होता है, जिसमें भक्ष्य व अभक्ष्य वस्तुका कुछ भी परिज्ञान नहीं हो सकता है, तथा जिसमें आहारमें रहनेवाले सूक्ष्म प्राणियोंका दर्शन नहीं होता है; उस रात्रिमें दयालु श्रावकोंको कभी भी भोजन नहीं करना चाहिए ॥२-३॥

जो रसना इन्द्रियके वशीभूत होकर रात्रिमें भोजन करता है उस निकृष्ट मनुष्यके अहिंसाणुव्रत कहाँसे हो सकता है ? नहीं हो सकता है ॥४॥

जो समस्त धार्मिक क्रियाओंसे रहित होकर दिन-रात खाया करता है उसके पशुसे कोई भेद नहीं है—वह पशुके समान है । यदि पशुकी अपेक्षा कोई विशेषता है तो वह इतनी मात्र है कि पशुके सींग होते हैं, पर उसके सींग नहीं हैं ॥५॥

मनुष्य रातमें भोजन करनेसे अगले भवमें शूकर, साँभर (एक विशेष जातिका मृग), कंक (पक्षी विशेष), बिलाव, तीतर, बगुला, कुत्ता, सारस पक्षी, श्येन पक्षी, कौवा, मेंढक,

४) ब विहीनस्य । ५) ब क परम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वामनः पामनो[1] मूको रोमशः कर्कशः शठः ।
दुर्भगो दुर्जनः कुष्टी जायते रात्रिभुक्तितः ॥७
कोविदः कोमलालापो नीरोगः सज्जनः शमी ।
त्यागी भोगी यशोभागी सागरान्तमहीपतिः ॥८
आदेयः सुभगो[1] वाग्मी मन्मथोपमविग्रहः ।
निशाभुक्तिपरित्यागी मर्त्यो भवति पूजितः ॥९ [युग्मम्]
यामिनीभुक्तितो दुःखं सर्वत्र लभते यतः ।
दिवाभोजनतः सौख्यं दिनभुक्तिस्ततो हिता[1] ॥१०
यो भुङ्क्ते दिवसस्यान्ते विवर्ज्य घटिकाद्वयम् ।
तं वदन्ति महाभागमनस्तमितभोजनम् ॥११
भुङ्क्ते नालीद्वयं हित्वा यो दिनाद्यन्तभागयोः ।
उपवासद्वयं तस्य मासेनैकेन जायते ॥१२
पञ्चम्यामुपवासं यः शुक्लायां कुरुते सुधीः ।
नरामरश्रियं भुक्त्वा यात्यसौ पदमव्ययम् ॥१३

७) १. कण्डूयमान ।
९) १. प्रीतिकरः ।
१०) १. समीचीना ।

सर्प, बौना (कदमें छोटा), खुजली रोगवाला, गूँगा, अधिक रोमोंवाला, कठोर, मूर्ख, भाग्यहीन (घृणास्पद), दुष्ट और कोढ़से संयुक्त होता है ॥६-७॥

इसके विपरीत उस रात्रिभोजनका परित्याग कर देनेवाला मनुष्य विद्वान्, कोमल भाषण करनेवाला, रोगसे रहित, सज्जन, शान्त, दानी, भोगोंसे संयुक्त, यशस्वी, समुद्रपर्यन्त समस्त पृथिवीका स्वामी, उपादेय (प्रशंसनीय), सुन्दर, सुयोग्य वक्ता और कामदेवके समान रमणीय शरीरवाला होता हुआ पूजाका पात्र होता है ॥८-९॥

चूँकि प्राणी रात्रिभोजनसे सर्वत्र दुखको और दिनमें भोजन करनेसे सर्वत्र सुखको प्राप्त होता है, इसीलिए दिनमें भोजन करना हितकर है ॥१०॥

जो सत्पुरुष दिनके अन्तमें दो घटिकाओंको छोड़कर—सूर्यके अस्त होनेसे दो घटिका (४८ मिनट) पूर्व ही—भोजन कर लेता है उस अतिशय पुण्यशाली पुरुषको अनस्तमितभोजी कहा जाता है ॥११॥

जो व्यक्ति दिनके प्रारम्भमें और अन्तमें दो नालियों (७७ लव) को छोड़कर शेष दिनमें भोजन करता है उसके इस प्रकारसे एक मासमें दो उपवास हो जाते हैं ॥१२॥

जो बुद्धिमान् शुक्ल पंचमीके दिन उपवासको करता है वह मनुष्यों व देवोंकी लक्ष्मीको भोगकर शाश्वतिक (अविनश्वर) पदको—मोक्षको—प्राप्त होता है ॥१३॥

८) ब °रान्तर्महीपतिः । १०) अ सुखं for यतः । ११) अ विपर्य for विवर्ज्य ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आषाढे कार्तिके मासे फाल्गुने वादितः[1] सुधीः ।
गृहीत्वासौ[2] गुरोरन्ते क्रियते विधिना विधिः ॥१४
पञ्चमाससमेतानि पञ्चवर्षाणि भक्तितः ।
उपवासो विधातव्यो मासे मासे मनीषिभिः ॥१५
उपवासेन शोष्यन्ते यथा गात्राणि देहिनः ।
कर्माण्यपि तथा क्षिप्रं संचितानि विसंशयम् ॥१६
विशोषयति पापानि संभृतानि शरीरिणाम् ।
उपवासस्तडागानां जलानीव दिवाकरः ॥१७
उपवासं विना जेतुं शक्या नेन्द्रियमन्मथाः ।
सिंहेनैव विदार्यन्ते कुञ्जरा मदमन्थराः ॥१८
रोहिणीचन्द्रयोर्योगः[1] पञ्चवर्षाण्युपोष्यते[2] ।
भक्त्या सपञ्चमासानि येनासौ[3] सिद्धिमश्नुते ॥१९
विमुक्तिकामिनी येन[1] तृतीये दीयते भवे ।
विधानद्वितयस्यास्य किं परं कथ्यते फलम् ॥२०

१४) १. प्रथमारम्भे । २. पञ्चमीउपवासविधिम् ।
१९) १. दिवसः । २. अपोष्येण । ३. व्रती ।
२०) १. विधानेन व्रतेन ।

यह पंचमी-उपवासकी विधि गुरुके निकटमें ग्रहण करके प्रथमतः आषाढ़, कार्तिक अथवा फाल्गुन मासमें विधिपूर्वक प्रारम्भ की जाती है ॥१४॥

इस विधिमें बुद्धिमान् जनोंको पाँच मास अधिक पाँच वर्ष तक प्रत्येक मासमें उपवास करना चाहिए ॥१५॥

कारण यह कि उपवाससे प्राणीका जिस प्रकार शरीर सूखता है—कृश हुआ करता है—उसी प्रकार उसके पूर्वसंचित कर्म भी शीघ्र सूखते हैं—निर्जीर्ण हो जाते हैं, इसमें सन्देह नहीं है ॥१६॥

जिस प्रकार सूर्य तालाबोंके संचित जलको सुखा डालता है उसी प्रकार उपवास प्राणियोंके संचित पाप कर्मोंको सुखा डालता है—उन्हें क्षीण कर देता है ॥१७॥

उपवासके विना इन्द्रियों और कामका जीतना शक्य नहीं है। ठीक भी है—मदसे मन्द गतिवाले हाथियोंको एक मात्र सिंह ही विदीर्ण कर सकता है, सिंहको छोड़कर दूसरा कोई भी उन्हें परास्त नहीं कर सकता है ॥१८॥

जिस दिन रोहिणी नक्षत्र और चन्द्रमाका योग हो उस दिन सात मास अधिक पाँच वर्ष तक भक्तिपूर्वक उपवास किया जाता है। इससे उपवास करनेवाला मुक्तिको प्राप्त करता है ॥१९॥

जो उपर्युक्त दोनों विधान—पंचमीव्रत व रोहिणीव्रत—तीसरे भवमें मुक्तिरूप वल्लभा-

१७) अ संभूतानि । १८) अ न शक्येन्द्रिय° । १९) अ सप्त for पञ्च । २०) अ विधानविलयस्यास्य ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फलं वदन्ति सर्वत्र[1] प्रधानं[2] नानुषङ्गिकम्[3] ।
बुधैः स्मृतं[4] फलं धान्यं पलालं न हि कर्षणे ॥२१
स्वविभूत्यनुसारेण पूर्णे सति विधिद्वये ।
उद्द्योतनं विधातव्यं संपूर्णफलकाङ्क्षिभिः ॥२२
बुधैरुद्द्योतनाभावे कर्तव्यो द्विगुणो विधिः[1] ।
विधानापूर्णतायां हि विधेयं पूर्यते कुतः ॥२३
अभयाहारभैषज्यशास्त्रदानविभेदतः ।
दानं चतुर्विधं ज्ञेयं संसारोन्मूलनक्षमम् ॥२४
सर्वो ऽपि दृश्यते प्राणी नित्यं प्राणप्रियो यतः ।
प्राणत्राणं ततः श्रेष्ठं जायते ऽखिलदानतः ॥२५

२१) १. विधानकार्येषु । २. मोक्षम् । ३. अमुख्यम्, अहो लौकिक । ४. कथितम् ।
२३) १. व्रत ।

को प्रदान करते हैं उनका और दूसरा कौन-सा फल कहा जा सकता है ? अर्थात् उनका वह सर्वोत्कृष्ट फल है, स्वर्गादिरूप फल तो आनुषंगिक है जिनका निर्देश नहीं किया गया है ॥२०॥

सर्वत्र व्रतादिकका जो फल कहा जाता है वह प्रधान फल ही कहा जाता है, उनका आनुषंगिक फल नहीं कहा जाता है । उदाहरणस्वरूप विद्वान् जन कृषिका फल धान्यकी प्राप्ति ही मानते हैं, पलाल (धान्यकणसे रहित उसके सूखे तृण) को वे उस कृषिका फल नहीं मानते हैं ॥२१॥

उक्त दोनों विधियोंके पूर्ण हो जानेपर जो जन उनके सम्पूर्ण फलकी अभिलाषा रखते हैं उन्हें अपने वैभवके अनुसार उनका उद्यापन करना चाहिए ॥२२॥

जो उनका उद्यापन करनेमें असमर्थ होते हैं उन विद्वानोंको उनका परिपालन निर्दिष्ट समयसे दूने समय तक करना चाहिए । तभी उनकी विधि पूर्णताको प्राप्त हो सकती है । विधिकी पूर्णता न होनेपर विधेय (व्रत) की पूर्णता कहाँसे हो सकती है ? नहीं हो सकती ॥२३॥

जो दान अभयदान, आहारदान, औषधदान और शास्त्रदानके भेदसे चार प्रकारका है उसे भी देना चाहिए । क्योंकि, वह जन्म-मरणरूप संसारके नष्ट करनेमें सर्वथा समर्थ है ॥२४॥

लोकमें देखा जाता है कि सब ही प्राणी अपने प्राणोंसे सदा अनुराग करते हैं—वे उन्हें कभी भी नष्ट नहीं होने देना चाहते हैं । इसीलिए सब दानोंमें प्राणियोंके प्राणोंका संरक्षण—अभयदान—श्रेष्ठ है ॥२५॥

२१) ड सर्वेषां for सर्वत्र, अ पललम् । २२) अ विधिव्यये । २४) अ क ड इ देयं for ज्ञेयम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आरम्भाः प्राणिनां सर्वे प्राणत्राणाय सर्वदा ।
यतस्ततः परं श्रेष्ठं न प्राणित्राणदानतः ॥२६
धर्मार्थकाममोक्षाणां जीवितं कारणं यतः ।
ततो दाने[1] न किं दत्तं तस्य मोक्षे[2] न किं हृतम् ॥२७
न मृत्युभीतितो भीतिर्दृश्यते भुवने ऽधिका ।
यतस्ततः सदा कार्यं देहिनां रक्षणं बुधैः ॥२८
धर्मस्य कारणं गात्रं तस्य[1] रक्षा यतो ऽन्नतः ।
अन्नदानं ततो देयं जन्मिनां धर्मसंगिनाम्[2] ॥२९
विक्रीय येन दुर्भिक्षे तनुजानपि वल्लभान् ।
आहारं गृह्णते पुंसामाहारस्तेन वल्लभः ॥३०
क्षुद्दुःखतो देहवतां न दुःखं परं यतः सर्वशरीरनाशि ।
आहारदानं ददता प्रदत्तं हृतं न किं तस्य विनाशनेन[1] ॥३१

२७) १. जीवितव्यस्य दाने दत्ते सति । २. मुष स्तेये ।
२९) १. गात्रस्य । २. धर्मिणाम् ।
३१) १. आहारविनाशनेन ।

प्राणियोंके द्वारा जो भी सब आरम्भ किये जाते हैं वे सब चूँकि निरन्तर अपने प्राण-रक्षणके लिए ही किये जाते हैं, अतएव प्राणत्राणदानसे—अभयदानसे—श्रेष्ठ दूसरा कोई भी दान नहीं है ॥२६॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंका कारण चूँकि जीवितका बना रहना है, अतएव उक्त जीवितके प्रदान करनेपर क्या नहीं दिया ? अर्थात् सब कुछ ही दे दिया। इसके विपरीत उक्त जीवितका अपहरण करनेपर—घात करनेपर—अन्य किसका अपहरण नहीं किया ? अर्थात् धर्म, अर्थ व काम आदिरूप सबका ही अपहरण कर लिया। कारण कि उनका अनुष्ठान जीवितके शेष रहनेपर हो सकता है ॥२७॥

चूँकि लोकमें मरणके भयसे और दूसरा कोई भी भय अधिक नहीं देखा जाता है; अतएव विद्वानोंको सर्वदा प्राणियोंके प्राणोंका संरक्षण करना चाहिए ॥२८॥

धर्मका कारण शरीर है, और चूँकि उसका संरक्षण अन्न (भोजन) से ही होता है; इसलिए धर्मात्मा जनोंके लिए उस अन्नका दान अवश्य करना चाहिए ॥२९॥

दुष्कालके पड़नेपर चूँकि मनुष्य अपने अतिशय प्रिय पुत्रोंको भी बेचकर भोजनको ग्रहण किया करते हैं, अतएव उन्हें सबसे प्यारा वह आहार ही है ॥३०॥

प्राणीके भूखके दुखसे अधिक अन्य कोई भी दुख नहीं है। कारण यह कि वह भूखका दुख सब ही शरीरको नष्ट करनेवाला है। इसीलिए जो आहारदानको देता है उसने उक्त भूखके दुखको नष्ट करके क्या नहीं दिया है ? अर्थात् वह प्राणीके क्षुधाजनित दुखको दूर करके सब कुछ ही दे देता है ॥३१॥

२७) ब तस्या मोक्षे न किं हृतम् । २९) ड इ धर्मसंज्ञिनाम् । ३०) अ तनूजानपि ; ड तनयानपि ।
३१) ब क देहवतो; अ ब ततो for हृतम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कान्तिकीर्तिबलवीर्ययशःश्रीसिद्धिबुद्धिशमसंयमधर्माः ।
देहिनां वितरताशनदानं शर्मदा जगति सन्ति वितीर्णाः ॥३२

याशने ऽस्ति तनुरक्षणशक्तिः सा न हेममणिरत्नगणानाम् ।
येन तेन वितरन्ति यतिभ्यस्तानपास्य कृतिनो ऽशनदानम् ॥३३

शक्नोति कर्तुं न तपस्तपस्वी विद्धो यतो व्याधिभिरुग्रदोषैः ।
भैषज्यदानं विधिना वितीर्यं ततः सदा व्याधिविघातकारि ॥३४

यो भैषज्यं व्याधिविध्वंसि दत्ते व्याध्यार्तानां योगिनां भक्तियुक्तः ।
नासौ पीड्यः श्लेष्मपित्तानिलोत्थैर्व्याधिव्रातैः पावकैर्वाम्बुमग्नः ॥३५

द्वेषरागमदमत्सरमूर्च्छाक्रोधलोभभयनाशसमर्थम् ।
सिद्धिसद्मपथदर्शि वितीर्यं शास्त्रमव्ययसुखाय यतिभ्यः ॥३६

---

३३) १. हेमादीन् । २. विहाय ।

३४) १. व्याप्तपीडितः ।

३६) १. परिग्रह ।

जो सत्पुरुष प्राणियोंको भोजन देता है वह लोकमें जो कान्ति, कीर्ति, बल, वीर्य, यश, लक्ष्मी, सिद्धि, बुद्धि, शान्ति, संयम और धर्म आदि सुखप्रद पदार्थ हैं उन सभीको देता है; ऐसा समझना चाहिए ॥३२॥

जो शरीरसंरक्षणकी शक्ति भोजनमें है वह सुवर्ण, मणि और रत्नसमूहमें सम्भव नहीं है। इसीलिए दूरदर्शी विद्वज्जन मुनियोंके लिए उपर्युक्त सुवर्णादिको न देकर आहार-दानको दिया करते हैं ॥३३॥

तीव्र दोषोंसे परिपूर्ण रोगोंसे बेधा गया—खेदको प्राप्त हुआ—साधु चूँकि तप करनेमें समर्थ नहीं होता है, अतएव उसे उन रोगोंको नष्ट करनेवाले औषधदानको विधिपूर्वक निरन्तर देना चाहिए ॥३४॥

जो श्रावक रोगसे पीड़ित मुनिजनोंको भक्तिपूर्वक उस रोगकी नाशक औषधिको देता है वह कभी कफ, पित्त और वात दोषसे उत्पन्न होनेवाले रोगसमूहसे इस प्रकार पीड़ित नहीं होता जिस प्रकार कि जलमें डूबा हुआ व्यक्ति कभी अग्निके सन्तापसे पीड़ित नहीं होता है ॥३५॥

जो शास्त्र द्वेष, राग, मद, मात्सर्य, ममता, क्रोध, लोभ और भयके नष्ट करनेमें समर्थ होकर मोक्षरूप महलके मार्गको दिखलाता है उसे अविनश्वर सुखकी प्राप्तिके निमित्त मुनिजनोंको प्रदान करना चाहिए ॥३६॥

---

३२) अ °शनं सता शर्मदा । ३४) क इ विद्धस्ततो । ३५) अ वह्निभिर्वाप्यमग्नः ; ब वह्निभिर्वा° ।
३६) अ ब वितार्यम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञातेन शास्त्रेण यतो विवेको विवेकतो दुष्कृतकर्महानिः ।
तस्याः[1] पदं याति यतिः पवित्रं देयं ततः शास्त्रमनर्थघाति ॥३७
भवति यत्र[1] न जीवगणव्यथा विषयवैरिवशो न यतो यतिः ।
भजति पापविघाति यतस्तपस्तदिह दानमुशन्ति[2] सुखप्रदम् ॥३८
दानमन्यदपि देयमनिन्द्यं ज्ञानदर्शनचरित्रविवर्धि ।
वीक्ष्य पात्रमपहस्तितसंगं[1] शीलसंयमदयादमगेहम् ॥३९
दायकाय न ददाति निवृत्तिं काङ्क्षितां गृहकलत्रवर्तिने ।
ग्राहको[1] गृहकलत्रदूषितस्तार्यते न शिलया शिलाम्बुधौ ॥४०
चेतसि दुष्टा[1] वचसि विशिष्टा सर्वनिकृष्टा विटशतघृष्टा ।
दूरमपास्या[2] पटुभिरुपास्या जातु न वेश्या हतशुभलेश्या ॥४१

३७) १. हान्याः ।
३८) १. दाने । २. कथयन्ति ।
३९) १. हतसंगं, त्यक्तसंगम् ।
४०) १. पात्र ।
४१) १. नीचा । २. त्याज्या ।

चूँकि शास्त्रके परिज्ञानसे विवेक—हेय-उपादेयका विचार, उस विवेकसे पाप कर्मकी निर्जरा और उस कर्मनिर्जरासे यतिको पवित्र पदकी—मोक्षकी—प्राप्ति होती है—इसीलिए सब अनर्थोंके विघातक उस शास्त्रको अवश्य देना चाहिए ॥३७॥

जिस दानमें प्राणिसमूहको किसी प्रकारकी पीड़ा न होती हो, जिसके प्रभावसे मुनि विषयरूप शत्रुके अधीन नहीं होता है, तथा जिस दानके आश्रयसे वह पापके विघातक तपका आराधन करता है; वही दान यहाँ सुखप्रद माना जाता है ॥३८॥

परिग्रहसे रहित एवं शील, संयम, दया व दमके स्थानभूत पात्रको देखकर उसे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन एवं सम्यक्चारित्रके बढ़ानेवाले अन्य भी निर्दोष दानको देना चाहिए ॥३९॥

जो दानका ग्राहक घर एवं स्त्री आदिमें अनुरक्त होता है वह उसीके समान घर व स्त्री आदिके मध्यमें रहनेवाले दाताके लिए अभीष्ट मुक्तिको नहीं दे सकता है । सो ठीक भी है, क्योंकि, समुद्रमें एक चट्टान दूसरी चट्टानको पार नहीं कर सकती है । अभिप्राय यह है कि गृहस्थ चूँकि घरमें स्थित होकर स्त्री व पुत्रादिमें अनुरक्त होता हुआ जिस आरम्भजनित पापको उत्पन्न करता है उसको नष्ट करनेके लिए उसे उस घर आदिके मोहसे रहित निर्ग्रन्थ मुनिके लिए ही दान देना चाहिए, न कि अपने समान घर आदिमें मुग्ध रहनेवाले अन्य रागी जनको ॥४०॥

जो अतिशय हीन वेश्या मनमें घृणित विचारोंको रखती हुई सम्भाषणमें चतुर होती है, जिसका सैकड़ों जार पुरुष घर्षण—चुम्बन आदि—किया करते हैं, तथा जो शुभ लेश्यासे

३७) अ विचित्रदेयं for यतिः पवित्रम् । ३९) क °चारित्र° । ४०) अ ब ड इ निवृत्तिम्; क ड शिलाम्बुधेः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भजते वपुषैकमसौ[1] पुरुषं वचसा कुरुते परमस्तरुषम्[3] ।
मनसा परमाश्रयते तरसा[4] विदधाति कथं सुखमन्यरसा ॥४२

मद्यमांसकलितं मुखमस्या[1] यो निरस्तशमसंयमयोगः ।
चुम्बति स्म रतिमोहितचेतास्तस्य तिष्ठति कथं व्रतरत्नम् ॥४३

नीचाचारैः सर्वदा वर्तमानः पुत्रं मित्रं बान्धवं सूरिवर्गम् ।
वेश्यावश्यो मन्यते यो न मूढः शान्ताराध्यस्तस्य धर्मः कुतस्यः ॥४४

निषेविता शर्मकरी प्रसक्त्या निजापि भार्या विदधाति दुःखम् ।
स्पृष्टा हि चित्रांशुशिखा हिमार्तैः[1] प्रप्लोषते किं न हिमार्तिहन्त्री[2] ॥४५

४२) १. वेश्या । २. अन्यपुरुषम् । ३. कामासक्तम् । ४, शीघ्रेण ।
४३) १. वेश्यायाः ।
४४) १. सत्पुरुषेण एते ।
४५) १. हिमपीडितैः मर्त्यैः । २. हिमपीडाहन्त्री—हरति ।

—उत्तम विचारोंसे—रहित होती है; उसका बुद्धिमान् जनोंको दूरसे ही परित्याग करना चाहिए । उसका सेवन उन्हें कभी भी नहीं करना चाहिए ॥४१॥

वह वेश्या शरीरसे किसी एक पुरुषका सेवन करती है, वचनसे किसी दूसरेको क्रोधसे रहित—सन्तुष्ट—करती है, तथा मनसे अन्य ही किसीका शीघ्र आश्रयण करती है—उसे फाँसनेका विचार करती है । इस प्रकार विविध पुरुषोंमें उपयोग लगानीवाली वह वेश्या भला कैसे सुख दे सकती है ? नहीं दे सकती है ॥४२॥

जो वेश्याके अनुरागमें चित्तको लगाकर शान्ति व संयमसे भ्रष्ट होता हुआ उसके मद्य व मांससे संयुक्त मुखका चुम्बन करता है उसके व्रतरूप रत्न भला कैसे रह सकता है ? अर्थात् इस प्रकारकी वेश्यासे अनुराग करनेवाले व्यक्तिके कभी किसी भी प्रकारके व्रतकी सम्भावना नहीं की जा सकती है ॥४३॥

जो मूर्ख वेश्याके वश होकर नीच कृत्योंमें प्रवृत्त होता हुआ पुत्र, मित्र, बन्धु और आचार्यको नहीं मानता है—उनका तिरस्कार किया करता है—उसके भला शान्त पुरुषोंके द्वारा आराधनीय धर्मका सद्भाव कहाँसे हो सकता है ? नहीं हो सकता है ॥४४॥

अपनी स्त्री यद्यपि सुखको उत्पन्न करनेवाली है, तथापि यदि उसका अतिशय आसक्तिके साथ अधिक मात्रामें उपभोग किया जाता है तो वह भी दुखको—दौर्बल्य या क्षयादि रोगजनित पीड़ाको उत्पन्न करती है । ठीक है—यदि शीतसे पीड़ित प्राणी उस शीतको दूर करनेवाली अग्निकी ज्वालाका स्पर्श करते हैं तो क्या वह शरीरको नहीं जलाती है ? अवश्य जलाती है । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार शैत्यकी बाधाको नष्ट करनेवाली अग्निकी ज्वालाका यदि दूरसे सेवन किया जाता है तो वह प्राणीकी उस शैत्यजनित बाधाको दूर किया करती है, परन्तु यदि उसका अतिशय निकट स्थित होकर स्पर्श किया जाता है तो वह केवल दाहजनित सन्तापको ही बढ़ाती है; ठीक इसी प्रकारसे यदि अपनी स्त्रीका भी अनासक्तिपूर्वक अल्प मात्रामें उपभोग किया जाता है तो वह प्राणीकी कामबाधाको दूर कर उसे

४२) इ सुखं कथं° । ४४) अ क ड इ शूरिवर्गं; ब सूरिमार्यम् । ४५) इ प्रप्लोषिता ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यो विजिताक्षस्त्यजति महात्मा पर्वणि नित्यं निधुवनकर्म[1] ।
ध्वंसिततीव्रस्मरशरगर्वः सर्वसुराच्यों भवति स शक्रः[2] ॥४६
निरस्य भूरिद्रविणं पुरातनं विधीयते येन निकेतने[1] नवम् ।
क्षणेन दारिद्र्यमवार्यमूर्जितं विचक्षणैर्द्यूतमिदं निरस्यते[2] ॥४७
बान्धवैस्त्यज्यते कोविदैर्निन्द्यते दुर्जनैर्हस्यते सज्जनैः शोच्यते ।
बध्यते रुध्यते ताड्यते पीड्यते द्यूतकारः परैर्द्यूतकारैर्नरैः ॥४८
धर्मकामधननाशपटिष्ठं कृष्णकर्मपरिवर्धननिष्ठम् ।
द्यूततो न परमस्ति निकृष्टं[1] शीलशौचसमधीभिरनिष्टम् ॥४९
मातुरपास्यति[1] वस्त्रमधीर्यो[2] पूज्यतमं सकलस्य जनस्य ।
कर्म करोति निराकृतलज्जः किं कितवो[3] न परं स विनिन्द्यः ॥५०

४६) १. मैथुनकर्म । २. इन्द्रः ।
४७) १. गृहे । २. त्यज्यते ।
४९) १. दुष्टम् ।
५०) १. मुष्णाति । २. द्यूतकारः । ३. द्यूतकारः ।

सुख उत्पन्न करती है, परन्तु यदि मूर्खतावश उसका अतिशय आसक्तिपूर्वक निरन्तर सेवन किया जाता है तो वह क्षयादि रोगोंसे उत्पन्न होनेवाली पीड़ाका भी कारण होती है ॥४५॥

जो जितेन्द्रिय महापुरुष अष्टमी व चतुर्दशी आदि पर्वके समय सदा मैथुन क्रियाका परित्याग करता है वह कामदेवके बाणोंकी तीक्ष्णताके प्रभावको नष्ट कर देनेके कारण इन्द्र होकर सब देवों द्वारा पूजा जाता है ॥४६॥

जो जुआका व्यसन पूर्वके बहुत-से धनको नष्ट करके घरमें अनिवार्य नवीन प्रबल दरिद्रताको क्षण-भरमें लाकर उपस्थित कर देता है उसका विचारशील मनुष्य सदाके लिए परित्याग किया करते हैं ॥४७॥

जुवारी मनुष्यका बन्धुजन परित्याग किया करते हैं, विद्वान् जन उसकी निन्दा किया करते हैं, दुष्ट जन उसका परिहास किया करते हैं, सत्पुरुषोंको उसके विषयमें पश्चात्ताप हुआ करता है; तथा अन्य जुवारी जन उसको बाँधते, रोकते, मारते और पीड़ित किया करते हैं ॥४८॥

जुआ चूँकि धर्म, काम और धनके नष्ट करनेमें दक्ष होकर समस्त कष्टोंके बढ़ानेमें तत्पर रहता है; तथा शील, शौच व शान्तिमें बुद्धि रखनेवाले सत्पुरुषोंके लिए वह अभीष्ट नहीं है; इसीलिए जुआसे निकृष्ट (घृणास्पद) अन्य कोई वस्तु नहीं है ॥४९॥

जो निर्बुद्ध जुवारी मनुष्य समस्त जनोंको अत्यन्त पूज्य माताके वस्त्रका अपहरण करता है वह भला निर्लज्ज होकर और कौन-से दूसरे निन्द्य कार्यको नहीं कर सकता है ? अर्थात् वह अनेक निन्द्य कार्योंको किया करता है ॥५०॥

४७) अ निधीयते । ४८) ड बध्यते ताड्यते पीड्यते ऽहर्निशम् । ४९) अ ब कृत्स्नकष्टपरि° । ५०) अ इ दुष्ट for पूज्य; ड इ सविनिन्द्यम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मद्यं मांसं द्यूतं स्तेयं पापर्द्धीहान्यस्त्रीक्रीडा ।
वेश्यासंगः सप्ताप्येते नीचाचारा [1]वयँस्त्याज्याः ॥५१
एकादशस्थानविवर्तकारो यः श्रावको ऽसौ कथितः प्रकृष्टः ।
संसारविध्वंसनशक्तिभागी चतुर्दशस्थानगमी च योगी ॥५२
हारयष्टिरिव तापहारिणी यस्य दृष्टिरवतिष्ठते हृदि ।
यामिनीपतिमरीचिनिर्मला दर्शनीभवति सो ऽनघद्युतिः ॥५३
यो व्रतानि [1]हृदये महामना निर्मलानि विदधाति सर्वदा ।
दुर्लभानि भुवने [2] धनानि वा स व्रती व्रतिभिरीरितः सुधीः ॥५४
प्रिये ऽप्रिये विद्विषि बन्धुलोके समानभावो दमितेन्द्रियाश्वः ।
सामायिकं यः कुरुते त्रिकालं सामायिकी स प्रथितः प्रवीणैः ॥५५
सदोपवासं निरवद्यवृत्तिः करोति यः पर्वचतुष्टये ऽपि ।
भोगोपभोगादिनिवृत्तचित्तः स प्रोषधी बुद्धिमतामभीष्टः ॥५६

५१) १. महद्भिः ।
५४) १. अणुगुणशिक्षाव्रतानि । २. गृहे ।

मद्य, मांस, जुआ, चोरी, पापर्धि (शिकार), परस्त्री-सेवन और वेश्याकी संगति; ये सात नीच आचरण (दुर्व्यसन) हैं। उत्तम जनोंको इन सबका परित्याग करना चाहिए ॥५१॥

जो श्रावक—पंचम गुणस्थानवर्ती—है वह उत्कृष्ट रूपसे ग्यारह प्रतिमाओंका धारक तथा संसारकी नाशक शक्तिसे संयुक्त साधु चौदहवें गुणस्थान तकको प्राप्त करनेवाला कहा गया है ॥५२॥

जिसके अन्तःकरणमें चन्द्रमाकी किरणके समान निर्मल व हारलताके समान सन्ताप-को दूर करनेवाली दृष्टि—सम्यग्दर्शन—अवस्थित है वह निर्मल दीप्तिसे संयुक्त श्रावक दर्शनी—प्रथम दर्शन प्रतिमाका धारक—होता है ॥५३॥

जिस प्रकार मनुष्य अपने घरमें दुर्लभ धनको धारण किया करता है उसी प्रकार जो महामनस्वी श्रावक अपने हृदयमें सदा दुर्लभ निर्मल व्रतोंको—अणुव्रत, गुणव्रत एवं शिक्षाव्रतोंको—धारण किया करता है व्रती जन उस निर्मलबुद्धि श्रावकको व्रती-द्वितीय व्रत प्रतिमाका धारक—कहते हैं ॥५४॥

जो श्रावक अपनी इन्द्रियोंरूप घोड़ोंको स्वाधीन करके इष्ट और अनिष्ट वस्तु तथा शत्रु व मित्र जनके विषयमें समताभावको धारण करता हुआ तीनों सन्ध्यासमयोंमें सामायिकको करता है वह प्रवीण गणधरादिकोंके द्वारा सामायिकी—तृतीय सामायिक प्रतिमाका धारक—प्रसिद्ध किया गया है ॥५५॥

जो निर्दोष आचरण करनेवाला श्रावक भोग व उपभोगरूप वस्तुओंकी इच्छा न

५१) अ चयँस्त्याज्याः; ड वर्ज्यँस्त्याज्याः । ५२) अ क इ °कारि; अ प्रविष्टः for प्रकृष्टः; अ वि for च।
५३) अ °नघद्युतिः । ५४) अ ड इ भवने । ५५) अ इ °न्द्रियाश्वम् । ५६) अ °मभीष्टम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वजीवकरुणापरचित्तो यो न खादति सचित्तमशेषम् ।
प्रासुकाशनपरं यतिनाथास्तं सचित्तविरतं निगदन्ति ॥५७

धर्ममना दिवसे गतरागो यो न करोति वधूजनसेवाम् ।
तं दिनमैथुनसंगनिवृत्तं धन्यतमं निगदन्ति महिष्ठाः ॥५८

यः कटाक्षविशिखैर्न[1] वधूनां जीयते जितनरामरवर्गैः ।
मर्दितस्मरमहारिपुदर्पो ब्रह्मचारिणममुं कथयन्ति ॥५९

सर्वप्राणिध्वंसहेतुं विदित्वा योऽनारम्भं धर्मचित्तः करोति ।
मन्दीभूतद्वेषरागादिवृत्तिः सो ऽनारम्भः कथ्यते तथ्यबोधैः ॥६०

विज्ञाय जन्तुक्षपणंप्रवीणं परिग्रहं यस्तृणवज्जहाति ।
विमर्दितोद्दामकषायशत्रुः प्रोक्तो मुनीन्द्रैरपरिग्रहो ऽसौ ॥६१

५९) १. बाणैः ।
६१) १. हिंसन । २. उत्कट ।

करता हुआ चारों ही पर्वोंमें—दोनों अष्टमी व दोनों चतुर्दशियोंको—निरन्तर उपवास करता है उसे बुद्धिमान् प्रोषधी—चतुर्थ प्रतिमाका धारक—मानते हैं ॥५६॥

जो श्रावक सब ही प्राणियोंके संरक्षणमें दत्तचित्त होकर समस्त सचित्तको—सजीव वस्तुको—नहीं खाता है उसे प्रासुक भोजनमें तत्पर रहनेवाले गणधरादि सचित्तविरत—पाँचवीं प्रतिमाका धारक—कहते हैं ॥५७॥

जो धर्ममें मन लगाकर रागसे रहित होता हुआ दिनमें स्त्रीजनका सेवन नहीं करता है उसे महापुरुष दिनमैथुनसंगसे रहित—छठी प्रतिमाका धारक—कहते हैं जो अतिशय प्रशंसाका पात्र है ॥५८॥

जो मनुष्य व देवसमूहको जीतनेवाले स्त्रियोंके कटाक्षरूप बाणोंके द्वारा नहीं जीता जाता है—उनके वशीभूत नहीं होता है तथा जो कामदेवरूप प्रबल शत्रुके अभिमानको नष्ट कर चुका है—विषयभोगसे सर्वथा विरक्त हो चुका है—उसे ब्रह्मचारी—सप्तम प्रतिमाका धारक—कहा जाता है ॥५९॥

जो धर्मात्मा श्रावक आरम्भको प्राणिहिंसाका कारण जानकर उसे नहीं करता है तथा जिसकी राग-द्वेषरूप प्रवृत्तियाँ मन्दताको प्राप्त हो चुकी हैं उसे ज्ञानीजन आरम्भरहित—आठवीं प्रतिमाका धारक—कहते हैं ॥६०॥

जो परिग्रहको प्राणिविघातक जानकर उसे तृणके समान छोड़ देता है तथा जिसने प्रबल कषाय रूप शत्रुको नष्ट कर दिया है वह गणधरादि महापुरुषोंके द्वारा परिग्रहरहित—नौवीं प्रतिमाका धारक—कहा गया है ॥६१॥

५७) अ °काशनपरो । ५८) क इ संगविरक्तम् । ५९) क मर्दिते । ६०) अ ड तत्त्वबोधैः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्यजति यो ऽनुमतिं सकले विधौ[1] विविधजन्तुनिकायवितापिनि ।
हुतभुजीव विबोधपरायणा[2] विगलितानुमतिं निगदन्ति तम् ॥६२
न वल्भते यो विजितेन्द्रियो ऽशनं मनोवचःकायनियोगकल्पितम्[1] ।
महान्तमुद्दिष्टनिवृत्तचेतसं वदन्ति तं प्रासुकभोजनोद्यतम् ॥६३
एकादशश्रावकवृत्तमित्थं करोति यः पूतमतन्द्रितात्मा[1] ।
नरामरश्रीसुखतृप्तचित्तः सिद्धास्पदं याति स कर्ममुक्तः ॥६४
व्रतेषु सर्वेषु मतं प्रधानं सम्यक्त्वमृक्षेष्विव[1] चन्द्रबिम्बम् ।
समस्ततापव्यपघातशक्तं विभास्वरं भासितसर्वतत्त्वम् ॥६५
द्वेधा निसर्गाधिगमप्रसूतं सम्यक्त्वमिष्टं भववृक्षशस्त्रम् ।
तत्त्वोपदेशव्यतिरिक्तमाद्यं जिनागमाभ्यासभवं द्वितीयम् ॥६६
क्षायिकं शामिकं वेदकं देहिनां दर्शनं ज्ञानचारित्रशुद्धिप्रदम् ।
जायते त्रिप्रकारं भवध्वंसकं[1] चिन्तिताशेषशर्मप्रदानक्षमम् ॥६७

६२) १. कार्ये । २. कार्ये ।
६३) १. निर्मितम् ।
६४) १. आलशवर्जित ।
६५) १. नक्षत्रेषु ।
६७) १. उपशमिकम् ।

जो विवेकी श्रावक अग्निके समान अनेक प्रकारके प्राणिसमूहको सन्तप्त करनेवाले कार्यमें अनुमतिको छोड़ता है—उसकी अनुमोदना नहीं करता है—उसे अनुमतिविरत—दसवीं प्रतिमाका धारक—कहा जाता है ॥६२॥

जो जितेन्द्रिय श्रावक मन, वचन व कायसे अपने लिए निर्मित भोजनको नहीं करता है उस प्रासुक भोजनके करनेमें उद्यत महापुरुषको उद्दिष्टविरत—ग्यारहवीं प्रतिमाका धारक—कहते हैं ॥६३॥

इस प्रकारसे जो आलस्यसे रहित होकर ग्यारह प्रकारके पवित्र श्रावकचारित्रका परिपालन करता है वह मनुष्यों और देवोंकी लक्ष्मीसे सन्तुष्ट होकर—उसे भोगकर—अन्तमें कर्मबन्धसे रहित होता हुआ मोक्ष पदको प्राप्त कर लेता है ॥६४॥

जिस प्रकार नक्षत्रोंमें चन्द्रमा प्रधान माना जाता है उसी प्रकार सब व्रतोंमें सम्यग्दर्शन प्रधान माना गया है। वह सम्यग्दर्शन उक्त चन्द्रमाके ही समान समस्त सन्तापके नष्ट करनेमें समर्थ, देदीप्यमान और सब तत्त्वोंको प्रकट दिखलानेवाला है ॥६५॥

संसाररूप वृक्षके काटनेके लिए शस्त्रके समान वह सम्यग्दर्शन निसर्ग और अधिगमसे उत्पन्न होनेके कारण दो प्रकारका माना गया है। उनमें प्रथम—निसर्गज सम्यग्दर्शन—बाह्य तत्त्वोपदेशसे रहित और द्वितीय—अधिगमज सम्यग्दर्शन—जिनागमके अभ्यासके आश्रयसे उत्पन्न होनेवाला है ॥६६॥

चिन्तित समस्त सुखके देनेमें समर्थ वह सम्यग्दर्शन प्राणियोंके ज्ञान और चारित्रको

६२) ब ड °परायणे, अ इ °परायणो । ६४) इ शिवास्पदम् । ६५) अ °घातशक्ति विभासुरे । ६६) ब तत्रोपदेश ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चत्वार उक्ता[1]ः प्रथमाः कषाया मिथ्यात्वसम्यक्त्व[2]विमिश्रयुक्ताः।
सम्यक्त्वरत्नव्यवहारसक्ता धर्मद्रुमं कर्तयितुं कुठाराः ॥६८

तेषां[1] व्यपाये प्रतिबन्धकानां सम्यक्त्वमाविर्भवति प्रशस्तम्।
शुद्धं घनानामिव भानुबिम्बं विच्छिन्ननिःशेषतमःप्रचारम् ॥६९

व्रजन्ति सप्ताद्यकला यदा क्षयं तदाङ्गिनां क्षायिक[1]मक्षयं मतम्।
यदा शमं यान्ति तदास्ति शामिकं द्वयं यदा यान्ति तदानुवेदिकम् ॥७०

जहाति शङ्कां न करोति काङ्क्षां तत्त्वे चिकित्सां[1] न दधाति जैने।
धीरः कुदेवे कुयतौ कुधर्मे विशुद्धबुद्धिर्न तनोति मोहम् ॥७१

पिधाय दोषं यमिनां स्थिरत्वं चित्ते पवित्रे कुरुते विचित्रे।
पुष्णाति वात्सल्यमपास्तशल्यं धर्मं विहिंसं नयते प्रकाशम् ॥७२

६८) १. प्रकृतयः। २. सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्वावेदक।
६९) १. कषायानां सप्तप्रकृतीनाम्।
७०) १. क्षयोपशमम्।
७१) १. अप्रीतिम्।

शुद्ध करके उनके संसारपरिभ्रमणको नष्ट करनेवाला है। वह तीन प्रकारका है—क्षायिक, औपशमिक और वेदक ॥६७॥

मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्वसे संयुक्त प्रथम चार कषाय—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया व लोभ—सम्यग्दर्शनरूप रत्नके नष्ट करनेमें समर्थ होकर धर्मरूप वृक्षके काटनेके लिए कुठारके समान कहे गये हैं ॥६८॥

जिस प्रकार बादलोंके अभावमें समस्त अन्धकारके संचारको नष्ट करनेवाला निर्मल सूर्यका बिम्ब आविर्भूत होता है उसी प्रकार उक्त सम्यग्दर्शनको आच्छादित करनेवाली उपर्युक्त सात कर्म-प्रकृतियोंके उदयाभावमें वह निर्मल सम्यग्दर्शन आविर्भूत होता है ॥६९॥

उपर्युक्त सात प्रकृतियाँ जब क्षयको प्राप्त हो जाती हैं तब प्राणियोंके क्षायिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है और वह अविनश्वर माना गया है। वे ही प्रकृतियाँ जब उपशम अवस्थाको प्राप्त होती हैं तब औपशमिक सम्यग्दर्शन और जब वे दोनों ही अवस्थाओंको—क्षय व उपशमभाव (क्षयोपशम) को—प्राप्त होती हैं तब वेदकसम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है ॥७०॥

निर्मल बुद्धिसे संयुक्त धीर सम्यग्दृष्टि जीव जिन भगवान्‌के द्वारा निरूपित वस्तुरूपके विषयमें शंकाको छोड़ता है—उसके विषयमें निःशंक होकर दृढ़ श्रद्धान करता है, वह सांसारिक सुखकी इच्छा नहीं करता है, अपवित्र दिखनेवाले साधुके शरीरको देखकर घृणा नहीं करता है; कुदेव, कुगुरु और कुधर्मके विषयमें मूढ़ताको—अविवेक बुद्धिको—नहीं करता है, संयमी जनोंके दोषोंको आच्छादित करके अपने निर्मल अन्तःकरणमें उनको विविध प्रकारके चारित्रमें स्थिर करनेका विचार करता है, साधर्मी जनके प्रति वात्सल्य-

६८) ब क ड इ °व्यपहार°। ७०) ड इ °द्यकलम्; ब इ यांति....तदा तु वेदिकम्। ७१) अ ददाति। ७२) इ विहंसम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संवेगनिर्वेदपरो ऽकषायः स्वं गर्हते निन्दति दोषजातम्।
नित्यं विधत्ते परमेष्ठिभक्तिं कृपाङ्गनालिङ्गितचित्तवृत्तिः ॥७३
सर्वत्र मैत्रीं कुरुते ऽङ्गिवर्गे पवित्रचारित्रधरे प्रमोदम्।
मध्यस्थतां यो विपरीतचेष्टे सांसारिकाचारविरक्तचित्तः ॥७४
दीनैर्दुरापं व्रतसस्यबीजं[1] मनीषिताशेषसुखप्रदायि।
स श्लाघ्यजन्मा बुधपूजनीयं सम्यक्त्वरत्नं विमलीकरोति ॥७५
सम्यक्त्वतो नास्ति परं जनीनं[1] सम्यक्त्वतो नास्ति परं स्वकीयम्।
सम्यक्त्वतो नास्ति परं पवित्रं सम्यक्त्वतो नास्ति परं चरित्रम् ॥७६
यस्यास्ति सम्यक्त्वमसौ पटिष्ठो यस्यास्ति सम्यक्त्वमसौ वरिष्ठः।
यस्यास्ति सम्यक्त्वमसौ कुलीनो यस्यास्ति सम्यक्त्वमसौ न दीनः ॥७७

७३) १. समूहम्।
७५) १. धाना।
७६) १. जनानां हितम्।

भावको पुष्ट करता है, तथा माया आदि शल्योंसे रहित अहिंसा धर्मको प्रकाशमें लाता है। तात्पर्य यह कि उक्त सम्यग्दर्शनको निर्मल रखनेके लिए सम्यग्दृष्टि जीवको निःशंकित आदि आठ अंगोंका परिपालन करना चाहिए ॥७१-७२॥

उक्त सम्यग्दृष्टि क्रोधादि कषायोंसे रहित होकर संवेग (धर्मानुराग) और निर्वेद (संसार व भोगोंसे विरक्ति) में तत्पर होता हुआ अपनी निन्दा करता है, अज्ञानता व प्रमादसे किये गये दोषसमूहपर पश्चात्ताप करता है, अर्हदादि परमेष्ठियोंकी निरन्तर भक्ति करता है, दयारूप स्त्रीके आलिंगनका मनमें विचार रखता है— प्राणियोंके विषयमें अन्तःकरणसे दयालु रहता है, समस्त प्राणिसमूहमें मित्रताका भाव करता है, निर्मल चारित्रके धारक संयमीजनको देखकर हर्षित होता है तथा अपनेसे विरुद्ध आचरण करनेवाले प्राणीके विषयमें मध्यस्थ—राग-द्वेषबुद्धिसे रहित—होता है। इस प्रकार मनमें सांसारिक प्रवृत्तियोंसे विरक्त होता हुआ वह जो सम्यग्दर्शन दीन (कातर) जनोंको दुर्लभ, व्रतरूप धान्यांकुरोंका बीजभूत, अभीष्ट सब प्रकारके सुखको देनेवाला और विद्वानोंसे पूजनीय है; उसे निर्मल करके अपने जन्मको सफल करता है ॥७३-७५॥

उस सम्यग्दर्शनको छोड़कर दूसरा कोई भी प्राणियोंका हितकारक नहीं है, सम्यक्त्वके बिना अन्य कुछ भी अपना नहीं है, सम्यक्त्वके सिवाय दूसरा कोई भी पवित्र नहीं है तथा उस सम्यक्त्वको छोड़कर और दूसरा कोई चारित्र नहीं है ॥७६॥

जिसके पास वह सम्यक्त्व है वही अतिशय पटु है, वही सर्वश्रेष्ठ है, वही कुलीन है और वही दीनतासे रहित—महान् है ॥७७॥

७४) अ मध्यस्थितो, ब मध्यस्थिताम्। ७६) ब जनीयम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भूरिकान्तिमतिकीर्तितेजसः कल्पवासिविबुधानपास्य[1] नो ।
याति दर्शनधरो महामना हीनभूतिषु परेषु नाकिषु ॥७८

नाद्यां हित्वा[1] नारकभूमिं गच्छत्यन्यां दर्शनधारी ।
सर्वस्त्रैणं[2] नापि कदाचित्पूज्यो ऽपूज्ये याति न भव्यः [?] ॥७९

यो ऽन्तर्मुहूर्तं प्रतिपद्य भव्यः सम्यक्त्वरत्नं विजहाति[1] सो ऽपि ।
न याति संसारमनन्तपारं विलङ्घते ऽन्यः क्षणतः समस्तम् ॥८०

चेतसि कृत्वा गिरमनवद्यां सूचिततत्त्वामिति बुधवन्द्याम् ।
खेचरपुत्रो जिनमतिसाधोस्तोषमयासीत्त्रिभुवनबन्धोः ॥८१

सूनावसूनुर्विरही कलत्रे नेत्रे विनेत्रः सगदो[2] ऽगदत्वे ।
प्राप्ते निधाने च यथा दरिद्रस्तथा व्रते ऽसौ प्रमदं प्रपेदे ॥८२

७८) १. विहाय ।
७९) १. विना । २. स्त्रीसमूहम् ।
८०) १. त्यजति ।
८२) १. अपुत्रीयकः । २. रोगी ।

सम्यग्दर्शनका धारक उदारचेता प्राणी अत्यधिक कान्ति, बुद्धि, कीर्ति और तेजके धारक कल्पवासी (वैमानिक) देवोंको छोड़कर हीन विभूतिवाले अन्य देवोंमें—भवनत्रिक-में—उत्पन्न नहीं होता है ॥७८॥

सम्यग्दर्शनका धारक प्रथम नारक पृथिवीको छोड़कर द्वितीयादि अन्य नारक पृथिवियोंमें उत्पन्न नहीं होता, वह सब प्रकारकी स्त्री पर्यायको प्राप्त नहीं होता तथा स्वयं पूज्य वह भव्य जीव अपूज्य पर्यायमें—नपुंसक वेदियोंमें—नहीं जाता है ॥७९॥

जो भव्य जीव अन्तर्मुहूर्त मात्र काल तक भी सम्यग्दर्शनरूप रत्नको पाकर उसे छोड़ देता है वह भी अपार संसारको नहीं प्राप्त होता है—वह अनन्त संसारको अर्ध पुद्गल परिवर्तन मात्र कर देता है—व अन्य कोई भव्य उस सम्यग्दर्शनको पाकर समस्त संसारको क्षण-भरमें ही लाँघ जाता है—थोड़े ही समयमें मुक्त हो जाता है ॥८०॥

इस प्रकार वह पवनवेग तीनों लोकोंके हितैषी उन जिनमति मुनिके वस्तुस्वरूपको सूचित करनेके कारण विद्वानों द्वारा वन्दनीय उस उपदेशको मनमें अवस्थित करके अतिशय सन्तुष्ट हुआ ॥८१॥

जिस प्रकार पुत्रसे रहित मनुष्य पुत्रको पाकर, वियोगी मनुष्य स्त्रीको पाकर, नेत्रसे रहित (अन्धा) मनुष्य नेत्रको पाकर, रोगी मनुष्य नीरोगताको पाकर और निर्धन मनुष्य निधिको पाकर हर्षको प्राप्त होता है उसी प्रकार वह व्रतसे रहित पवनवेग उस व्रतको पाकर अतिशय हर्षको प्राप्त हुआ ॥८२॥

७९) अ ब ड इ नातिकदाचित् । ८०) ड ताः for अन्य ; अ विलक्ष्यते for विलङ्घते....पुनस्तम् for समस्तम् । ८१) अ गिरिमनविद्यां । ८२) अ निधाने ऽपि ; इ प्रमुदम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नत्वा स साधुं निजगाद दिष्ट्या मुनेः समानो न मयास्ति धन्यः ।
आलम्बनं येन वचस्त्वदीयं श्वभ्रान्धकूपे पतताद्य लब्धम् ॥८३
यस्त्वदीयवचनं शृणोति[1] ना सो ऽपि गच्छति मनोषितं फलम् ।
यः करोति पुनरेकमानसं तस्य कः फलनिवेदने क्षमः ॥८४
प्राप्य ये तव वचो न कुर्वते ते भवन्ति मनुजा न निश्चितम् ।
रत्नभूमिमुपगम्य मुच्यते रत्नमत्र पशुभिर्न मानवैः ॥८५
इति वचनमनिन्द्यं खेटपुत्रो[1] निगद्य
व्रतसमितिसमेतैः साधुवर्गैः समेतम् ।
सविनयमवनम्य प्रीतितः केवलीन्द्रं[2]
रजतगिरिवरेन्द्रं मित्रयुक्तः प्रपेदे ॥८६
तं[1] विलोक्य जिनधर्मभावितं[2] तुष्यति स्म जितशत्रुदेहजः ।
स्वश्रमे हि फलिते विलोकिते संमदो[3] हृदि न कस्य जायते ॥८७

८३) १. हर्षेण ।
८४) १. प्रतिपालयति ।
८६) १. मनोवेगः । २. केवलज्ञानिनम् ।
८७) १. मित्रम् । २. संयुक्तम् । ३. हर्षं ।

फिर वह उन मुनिराजसे बोला कि हे साधो ! मेरे समान धन्य और दूसरा कोई नहीं है—मैं आज धन्य हुआ हूँ। कारण कि मैंने नरकरूप अन्धकूपमें गिरते हुए आज आपकी वाणीका सहारा पा लिया है ॥८३॥

जो मनुष्य केवल आपके उपदेशको सुनता ही है वह भी अभीष्ट फलको प्राप्त करता है। फिर भला जो एकाग्रचित्त होकर तदनुसार प्रवृत्ति भी करता है उसके फलके कहनेमें कौन समर्थ है ? अर्थात् वह अवर्णनीय फलको प्राप्त करता है ॥८४॥

जो जन आपके सदुपदेशको पाकर तदनुसार आचरण नहीं करते हैं वे मनुष्य नहीं हैं—पशु तुल्य ही हैं, यह निश्चित है। उदाहरणके रूपमें रत्नोंकी पृथिवीको पाकर यहाँ पशु ही रत्नको छोड़ते हैं—उसे ग्रहण नहीं करते हैं, मनुष्य वहाँ कभी भी रत्नको नहीं छोड़ते हैं ॥८५॥

इस प्रकार निर्दोष वचन कहकर उस विद्याधरके पुत्र पवनवेगने व्रत और समितियोंसे संयुक्त ऐसे साधुसमूहोंसे वेष्टित केवली जिनको विनयके साथ हर्षपूर्वक नमस्कार किया। तत्पश्चात् वह मित्र मनोवेगके साथ विजयार्ध पर्वतपर जा पहुँचा ॥८६॥

पवनवेगको जैन धर्मसे संस्कृत देखकर राजा जितशत्रुके पुत्र उस मनोवेगको अतिशय सन्तोष हुआ। ठीक है—अपने परिश्रमको सफल देखकर किसके अन्तःकरणमें हर्ष नहीं उत्पन्न होता है ? अर्थात् परिश्रम सफल हो जानेपर सभीको हर्ष हुआ करता है ॥८७॥

८३) ड पतताथ; ब दीप्त्या for दिष्ट्या । ८४) क मानसस्तस्य । ८६) क इ °समितिगतैस्तैः । ८७) अ कस्य न ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्विधं श्रावकधर्ममुज्ज्वलं मुदा दधानौ कमनीयभूषणौ ।
विनिन्यतुः[1] कालममू खगाङ्गजौ परस्परप्रेमनिबद्धमानसौ ॥८८
आरुह्यानेकभूषौ स्फुरितमणिगणभ्राजमानं विमानं
मर्त्यक्षेत्रस्थसर्वप्रथितजिनगृहान्तर्निविष्टार्हदर्चाः ।
क्षित्यां तौ वन्दमानौ सततमचरतां देवराजाधिपार्च्याः
कुर्वाणाः शुद्धबोधा निजहितचरितं न प्रमाद्यन्ति सन्तः ॥८९
अकृत पवनवेगो दर्शनं चन्द्रशुभ्रं
दिविजमनुजपूज्यं लीलयाहर्द्वयेन ।
अमितगतिरिवेदं स्वस्य मासद्वयेन[1]
प्रथितविशदकीर्तिः काव्य[2]मुद्धूतदोषम् ॥९०

इति धर्मपरीक्षायाममितगतिकृतायां विंशः परिच्छेदः ॥२०॥

८८) १. निर्जग्मतुः ।
८९) १. प्रतिमा ।
९०) १. अकृत । २. ग्रन्थम् ।

तत्पश्चात् रमणीय आभूषणोंसे विभूषित वे दोनों विद्याधरपुत्र मनको परस्परके स्नेहमें बाँधकर हर्षपूर्वक सम्यक्त्व, अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतके भेदसे (अथवा सल्लेखनाके साथ अणुव्रत, गुणव्रत व शिक्षाव्रत रूप) चार प्रकारके निर्मल श्रावकधर्मको धारण करते हुए कालको बिताने लगे ॥८८॥

अनेक आभूषणोंसे अलंकृत वे दोनों विद्याधरपुत्र चमकते हुए मणिसमूहसे सुशोभित सुन्दर विमानके ऊपर चढ़कर पृथिवीपर मनुष्यलोकमें स्थित समस्त जिनालयोंके भीतर विराजमान जिनप्रतिमाओंकी निरन्तर वन्दना करते हुए गमन करने लगे। वे जिनप्रतिमाएँ श्रेष्ठ इन्द्रोंके द्वारा पूजी जाती थीं (अथवा 'देवराजा विवार्च्यौ' ऐसे पाठकी सम्भावनापर 'इन्द्रके समान पूजनीय वे दोनों' ऐसा भी अर्थ हो सकता है)। ठीक है—निर्मल ज्ञानसे संयुक्त—विवेकी—जीव आत्महितरूप आचरण करते हुए कभी उसमें प्रमाद नहीं किया करते हैं ॥८९॥

विस्तारको प्राप्त हुई निर्मल कीर्तिसे संयुक्त उस पवनवेगने देवों व मनुष्योंके द्वारा पूजनीय अपने सम्यग्दर्शनको अनायास दो दिनमें ही इस प्रकार चन्द्रमाके समान धवल—निर्मल—कर लिया जिस प्रकार कि विस्तृत कीर्तिसे सुशोभित अमितगति [आचार्य] ने अपने इस निर्दोष काव्यको—धर्मपरीक्षा ग्रन्थको—अनायास दो महीनेमें कर लिया ॥९०॥

इस प्रकार आचार्य अमितगति विरचित धर्मपरीक्षामें बीसवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ॥२०॥

८८) अ कालमिमौ....परस्परं प्रेम । ८९) अ देवराजादिवा° । ९०) अ °गतिविरचितायां; अ विंशतितमः परिच्छेदः समाप्तः; ब क ड विंशतिमः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[प्रशस्तिः]

सिद्धान्तपाथोनिधिपारगामी श्रीवीरसेनो ऽजनि सूरिवर्यः ।
श्रीमाथुराणां यमिनां वरिष्ठः कषायविध्वंसविधौ पटिष्ठः ॥१
ध्वस्ताशेषध्वान्तवृत्तिर्मनस्वी तस्मात्सूरिर्देवसेनो ऽजनिष्ट ।
लोकोद्द्योती पूर्वशैलादिवार्कः शिष्टाभीष्टः स्थेयसो ऽपास्तदोषः ॥२
भासिताखिलपदार्थसमूहो निर्मलो ऽमितगतिर्गणनाथः ।
वासरो दिनमणेरिव तस्माज्जायते स्म कमलाकरबोधी ॥३
नेमिषेणगणनायकस्ततः पावनं वृषमधिष्ठितो विभुः ।
पार्वतीपतिरिवास्तमन्मथो योगगोपनपरो गणार्चितः ॥४

आगमरूप समुद्रके पारगामी, माथुर संघके मुनिजनोंमें श्रेष्ठ एवं क्रोधादिक कषायोंके नष्ट करनेमें अतिशय पटु ऐसे श्री वीरसेन नामके एक श्रेष्ठ आचार्य हुए ॥१॥

उनके पश्चात् समस्त अज्ञानरूप अन्धकारकी स्थितिको नष्ट करनेवाले देवसेन सूरि उनसे इस प्रकार आविर्भूत हुए जिस प्रकार कि स्थिर पूर्व शैलसे—उदयाचलसे—सूर्य आविर्भूत होता है। उक्त सूर्य यदि समस्त बाह्य अन्धकारको नष्ट करता है तो वे देवसेन सूरि प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित अज्ञानरूप अन्धकारके नष्ट करनेवाले थे, सूर्य यदि बाह्य तेजसे परिपूर्ण होता है तो वे तपके प्रखर तेजसे संयुक्त थे, जिस प्रकार लोकको प्रकाश सूर्य दिया करता है उसी प्रकार वे भी जनोंको प्रकाश—ज्ञान—देते थे, सूर्य जहाँ दोषाको—रात्रिको—नष्ट करनेके कारण अपास्तदोष कहा जाता है वहाँ वे समस्त दोषोंको नष्ट कर देनेके कारण अपास्तदोष विख्यात थे, तथा जैसे सूर्य शिष्ट—प्रतिष्ठित—व लोगोंको प्रिय है वैसे ही वे भी शिष्ट—प्रतिष्ठित सत्पुरुष व लोगोंको प्रिय थे; इस प्रकार वे सर्वथा सूर्यकी समानताको प्राप्त थे ॥२॥

उक्त देवसेन सूरिसे उनके शिष्यभूत अमितगति आचार्य (प्रथम) इस प्रकारसे प्रादुर्भूत हुए जिस प्रकार कि सूर्यसे दिन प्रादुर्भूत होता है—जिस प्रकार दिन समस्त पदार्थोंके समूहको प्रकट दिखलाता है उसी प्रकार वे अमितगति आचार्य भी अपने निर्मल ज्ञानके द्वारा समस्त पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको प्रकट करते थे, दिन यदि बाह्य मलसे रहित होता है तो वे पापमलसे रहित थे, तथा दिन जहाँ कमलसमूहको विकसित किया करता है वहाँ वे अपने सदुपदेशके द्वारा समस्त भव्य जीवरूप कमलसमूहको प्रफुल्लित करते थे ॥३॥

अमितगतिसे उनके शिष्यभूत नेमिषेण आचार्य शंकरके समान प्रादुर्भूत हुए—जिस प्रकार शंकर (महादेव) प्रमथादि गणोंके नायक हैं उसी प्रकार वे नेमिषेण अपने मुनिसंघके नायक थे, शंकर यदि पवित्र वृष—बैल—के ऊपर अधिष्ठित हैं तो वे पवित्र वृष—धर्म—के ऊपर अधिष्ठित थे, शंकरने यदि अपने तीसरे नेत्रसे प्रादुर्भूत अग्निके द्वारा कामदेवको नष्ट

---

२) इ महस्वी....जनिष्टः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोपनिवारी शमदमधारी माधवसेनः प्रणतरसेनः ।
सो ऽभवदस्मादगलितमदोष्मा यो यतिसारः प्रशमितमारः ॥५
धर्मपरीक्षामकृत वरेण्यां धर्मपरीक्षामखिलशरण्याम् ।
शिष्यवरिष्ठो ऽमितगतिनामा तस्य पटिष्ठो ऽनघगतिधामा ॥६
बद्धं मया जडधियात्र विरोधि यत्तद्
गृह्णन्त्विदं स्वपरशास्त्रविदो विशोध्य ।
गृह्णन्ति किं तुषमपास्य न सस्यजातं
सारं न सारमिदमुद्धधियो विबुध्य ॥७
कृतिः पुराणा सुखदा न नूतना न भाषणीयं वचनं बुधैरिदम् ।
भवन्ति भव्यानि फलानि भूरिशो न भूरुहां किं प्रसवप्रसूतितः ॥८
पुराणसंभूतमिदं न गृह्यते पुराणमत्यस्य न सुन्दरेति गीः ।
सुवर्णपाषाणविनिर्गतं जने न कांचनं गच्छति किं महार्घताम् ॥९

किया था तो उन्होंने आत्म-परके विवेक द्वारा उस कामदेवको—विषयवासनाको—सर्वथा नष्ट कर दिया था, समाधिके संरक्षणमें जैसे शंकर तत्पर रहते थे वैसे वे भी उस समाधिके संरक्षणमें तत्पर रहते थे, तथा शंकर जहाँ प्रमथादिगणोंके द्वारा पूजे जाते थे वहाँ वे मुनिगणोंके द्वारा पूजे जाते थे ॥४॥

उनके जो माधवसेन शिष्य हुए वे क्रोधका निरोध करनेवाले, शम—राग-द्वेषकी उपशान्ति—और दम (इन्द्रियनिग्रह) के धारक,...., गर्वरूप पाषाणके भेत्ता, मुनियोंमें श्रेष्ठ व कामके घातक थे ॥५॥

उनके शिष्योंमें श्रेष्ठ अमितगति आचार्य (द्वितीय) हुए जो अतिशय पटु होकर अपनी बुद्धिके तेजको नयोंमें प्रवृत्त करते थे। उन्होंने पापसे पूर्णतया रक्षा करनेवाली धर्मकी परीक्षास्वरूप इस प्रमुख धर्म परीक्षा नामक ग्रन्थको रचा है ॥६॥

आचार्य अमितगति कहते हैं कि मैंने यदि अज्ञानतासे इसमें किसी विरोधी तत्त्वको निबद्ध किया है तो अपने व दूसरोंके आगमोंके ज्ञाता जन उसे शुद्ध करके ग्रहण करें। कारण कि लोकमें जो तीव्र-बुद्धि होते हैं वे क्या 'यह श्रेष्ठ है और यह श्रेष्ठ नहीं है' ऐसा जानकर छिलकेको दूर करते हुए ही धान्यको नहीं ग्रहण किया करते हैं ? अर्थात् वे छिलकेको दूर करके ही उस धान्यको ग्रहण करते देखे जाते हैं ॥७॥

पुरानी रचना सुखप्रद होती है और नवीन रचना सुखप्रद नहीं होती है, इस प्रकार विद्वानोंको कभी नहीं कहना चाहिए। कारण कि लोकमें फलोंकी उत्पत्तिमें वृक्षोंके फल क्या अधिक रमणीय नहीं होते हैं ? अर्थात् उत्तरोत्तर उत्पन्न होनेवाले वे फल अधिक रुचिकर ही होते हैं ॥८॥

चूँकि यह ग्रन्थ पुराणोंसे—महाभारत आदि पुराणग्रन्थोंके आश्रयसे—उत्पन्न हुआ है, अतः पुराणको छोड़कर इसे ग्रहण करना योग्य नहीं है; यह कहना भी समुचित नहीं है। देखो, सुवर्णपाषाणसे निकला हुआ सुवर्ण क्या मनुष्यके लिए अतिशय मूल्यवान् नहीं प्रतीत होता है ? अर्थात् वह उस सुवर्णपाषाणसे अधिक मूल्यवाला ही होता है ॥९॥

---

७) इ यद्यद्; क ड स्वरशास्त्रविदोविप शोध्या; इ °मुद्यधियो । ९) इ महर्घताम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न बुद्धिगर्वेण न पक्षपाततो मयान्यशास्त्रार्थविवेचनं कृतम् ।
ममैष धर्मं शिवशर्मदायकं परीक्षितुं केवलमुत्थितः श्रमः ॥१०

अहारि किं केशवशंकरादिभिर्व्यंतारि किं वस्तु जिनेन मे ऽर्थिनः ।
स्तुवे जिनं येन निषिध्य तानहं बुधा न कुर्वन्ति निरर्थकां क्रियाम् ॥११

विमुच्य मार्गं कुगतिप्रवर्तकं श्रयन्तु सन्तः सुगतिप्रवर्तकम् ।
चिराय मा भूदखिलाङ्गतापकः परोपतापो नरकादिगामिनाम् ॥१२

न गृह्णते ये विनिवेदितं हितं व्रजन्ति ते दुःखमनेकधाग्रतः ।
कुमार्गलग्नो व्यवतिष्ठते न यो निवारितो ऽसौ पुरतो विषीदति ॥१३

विनिष्ठुरं वाक्यमिदं ममोदितं सुखं परं दास्यति नूनमग्रतः ।
निषेव्यमानं कटुकं किमौषधं सुखं विपाके न ददाति काङ्क्षितम् ॥१४

इस ग्रन्थमें जो मैंने अन्य शास्त्रोंके अभिप्रायका विचार किया है वह न तो अपनी बुद्धिके अभिमानवश किया है और न पक्षपातके वश होकर भी किया है। मेरा यह परिश्रम तो केवल मोक्ष सुखके दाता यथार्थ धर्मकी परीक्षा करनेके लिए उदित हुआ है ॥१०॥

विष्णु और शंकर आदिने न कुछ अपहरण किया है और न जिन भगवान्‌ने प्रार्थी जनोंको कुछ दे भी दिया है, जिससे कि मैं उक्त विष्णु आदिकोंका निषेध करके जिन भगवान्‌की स्तुति कर रहा हूँ। अर्थात् विष्णु आदिने न मेरा कुछ अपहरण किया और न जिन भगवान्‌ने मुझे कुछ दिया भी है। फिर भी मैंने जो विष्णु आदिका निषेध करके जिन भगवान्‌की स्तुति की है वह भव्य जीवोंको समीचीन धर्ममें प्रवृत्त करानेकी इच्छासे ही की है। सो ठीक भी है, कारण कि विद्वान् जन निरर्थक कार्यको नहीं किया करते हैं ॥११॥

जो सत्पुरुष आत्मकल्याणके इच्छुक हैं वे नरकादि दुर्गतिमें प्रवृत्त करानेवाले मार्गको छोड़कर उत्तम देवादि गतिमें प्रवृत्त करानेवाले सन्मार्गका आश्रय लें। परिणाम इसका यह होगा कि नरकादि दुर्गतिमें जानेवाले प्राणियोंको जो वहाँ समस्त शरीरको सन्तप्त करनेवाला महान् दुख दीर्घ काल तक—कई सागरोपम पर्यन्त—हुआ करता है वह उनको नहीं हो सकेगा ॥१२॥

जो प्राणी हितकर मार्गके दिखलानेपर भी उसे नहीं ग्रहण करते हैं वे आगे—भविष्यमें—अनेक प्रकारके दुखको प्राप्त करते हैं। जो कुमार्गमें स्थित हुआ प्राणी रोकनेपर भी व्यवस्थित नहीं होता है—उसे नहीं छोड़ता है—वह भविष्यमें खेदको प्राप्त होता है (अथवा जो कुमार्गस्थ प्राणी रोकनेपर उसमें स्थित नहीं रहता है वह भविष्यमें खेदको नहीं प्राप्त होता है) ॥१३॥

आचार्य अमितगति कहते हैं कि मेरा यह कथन यद्यपि प्रारम्भमें कठोर प्रतीत होगा, फिर भी वह भविष्यमें निश्चित ही उत्कृष्ट सुख देगा। ठीक भी है—कड़ुवी औषधका सेवन करनेपर क्या वह परिपाक समयमें अभीष्ट सुखको—नीरोगताजनित आनन्दको—नहीं दिया करती है? अवश्य दिया करती है ॥१४॥

---

१०) इ शिवसौख्यदायिकं; क ड °मुत्थितश्रमः । ११) इ जिनेन चार्थिनः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विबुध्य गृह्णीथ बुधा ममोदितं शुभाशुभं ज्ञास्यथ निश्चितं स्वयम् ।
निवेद्यमानं शतशो ऽपि जानते स्फुटं रसं नानुभवन्ति तं जनाः ॥१५
क्षतसकलकलङ्का प्राप्यते तेन कीर्तिर्बुधमतमनवद्यं बुध्यते तेन तत्त्वम् ।
हृदयसदनमध्ये धूतमिथ्यान्धकारो जिनपतिमतदीपो दीप्यते यस्य दीप्रः ॥१६
वदति पठति भक्त्या यः शृणोत्येकचित्तः स्वपरसमयतत्त्वावेदि शास्त्रं पवित्रम् ।
विदितसकलतत्त्वः केवलालोकनेत्रस्त्रिदशमहितपादो यात्यसौ मोक्षलक्ष्मीम् ॥१७
धर्मो जैनो ऽविघ्नं प्रभवतु भुवने सर्वदा शर्मदायी
शान्तिं प्राप्नोतु लोको धरणिमवनिपा न्यायतः पालयन्तु ।
हत्वा कर्मारिवर्गं यमनियमशरैः साधवो यान्तु सिद्धिं
विध्वस्ताशुद्धबोधा निजहितनिरता जन्तवः सन्तु सर्वे ॥१८
यावत्सागरयोषितो जलनिधिं श्लिष्यन्ति वीचीभुजै-
र्भर्तारं सुपयोधराः कृतरवा मीनेक्षणा वाङ्गनाः ।
तावत्तिष्ठतु शास्त्रमेतदनघं क्षोणीतले कोविदै-
र्धर्माधर्मविचारकैरनुदिनं व्याख्यायमानं मुदा ॥१९

हे विद्वज्जनो ! मैंने जो यह कहा है उसे जानकर आप लोग ग्रहण कर लें, ग्रहण कर लेनेके पश्चात् उसकी उत्तमता या अनुत्तमताको आप स्वयं निश्चित जान लेंगे। जैसे—मिश्री आदि किसी वस्तुके रसका बोध करानेपर उसे मनुष्य सैकड़ों प्रकारसे जान तो लेते हैं, परन्तु प्रत्यक्षमें उन्हें उसका अनुभव नहीं होता है—वह अनुभव उन्हें उसको ग्रहण करके चखनेपर ही प्राप्त होता है ॥१५॥

जिसके अन्तःकरणरूप भवनके भीतर मिथ्यात्वरूप अन्धकारको नष्ट करनेवाला जिनेन्द्रका मतरूप भास्वर दीपक जलता रहता है वह समस्त कलंकसे रहित—निर्मल—कीर्तिको प्राप्त करता है तथा विद्वानोंको सम्मत निर्दोष वस्तुस्वरूपको जान लेता है ॥१६॥

जो भव्य प्राणी अपने और दूसरोंके आगममें प्ररूपित वस्तुस्वरूपके ज्ञापक इस पवित्र शास्त्रको भक्तिपूर्वक वाचन करता है, पढ़ता है और एकाग्रचित्त होकर सुनता है वह केवल-ज्ञानरूप नेत्रसे संयुक्त होकर समस्त तत्त्वका ज्ञाता-द्रष्टा होता हुआ देवोंके द्वारा पूजा जाता है और अन्तमें मोक्षलक्ष्मीको प्राप्त कर लेता है ॥१७॥

अन्तमें आचार्य अमितगति आशीर्वादके रूपमें कहते हैं कि निर्बाध सुखको देनेवाला जैन धर्म लोकमें सब विघ्न-बाधाओंसे रहित होता हुआ निरन्तर प्रभावशाली बना रहे, जन समुदाय शान्तिको प्राप्त हो, राजा लोग नीतिपूर्वक पृथिवीका पालन करें, मुनिजन संयम व नियमरूप बाणोंके द्वारा कर्मरूप शत्रुसमूहको नष्ट करके मुक्तिको प्राप्त हों, तथा सब ही प्राणी अज्ञानभावको नष्ट कर अपने हितमें तत्पर होवें ॥१८॥

जिस प्रकार उत्तम स्तनोंकी धारक व मछलीके समान नेत्रोंवाली स्त्रियाँ मधुर सम्भाषण-पूर्वक भुजाओंसे पतिका आलिंगन किया करती हैं उसी प्रकार उत्तम जलकी धारक व मछलियोंरूप नेत्रोंसे संयुक्त समुद्रकी स्त्रियाँ—नदियाँ—जबतक कोलाहलपूर्वक अपनी लहरों-रूप भुजाओंके द्वारा समुद्रका आलिंगन करती रहेंगी—उसमें प्रविष्ट होती रहेंगी—तबतक

---

१८) इ °पविघ्नो ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संवत्सराणां विगते सहस्रे ससप्ततौ विक्रमपार्थिवस्य ।
इदं निषिद्धान्यमतं समाप्तं जिनेन्द्रधर्मामृतयुक्तशास्त्रम् ॥२०

इत्यमितगतिकृता धर्मपरीक्षा समाप्ता ।

यह निर्मल शास्त्र पृथिवीपर अवस्थित रहे व धर्म-अधर्मका विचार करनेवाले विद्वान् उसका हर्षपूर्वक निरन्तर व्याख्यान करते रहें ॥१९॥

अन्य मतोंका निषेध करके जैन धर्मका प्रतिपादन करनेवाला यह धर्मपरीक्षा नामक शास्त्र विक्रम राजाकी मृत्युसे सत्तर अधिक एक हजार वर्ष (वि. सं. १०७०) में समाप्त हुआ ॥२०॥

●

---

२०) इ निषिध्यान्य°.... °मृतयुक्तिशास्त्रम् ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्मपरीक्षाकथा

प्रणिपत्य जिनं भक्त्या स्याद्वादवरनायकम् ।
कथां धर्मपरीक्षाख्यामभिधास्ये यथागमम् ॥

तद्यथा—विपुलगिरौ धीरनाथसमवसरणे इन्द्रभूतिगणिना यथा श्रेणिकाय कथिता तथाचार्यपरंपरयागता संक्षेपेण मया निगद्यते ।

तद्यथा—जम्बूद्वीपभरतविजयार्धदक्षिणश्रेणौ वैजयन्तीपुरीनाथजितारिवायुराज्ञीवेगयोरपत्यं मनोवेगः । तत्रैवोत्तरश्रेणौ विजयपुराधीशप्रभाशङ्खविपुलमत्योरपत्यं पवनवेगः । तौ परस्परं सखित्वं गतौ । पुष्पदन्तोपाध्यायसमीपे शास्त्रास्त्रज्ञौ जातौ । तदनु गौरीगान्धारीमनोहरीशीघ्रप्रज्ञप्तिप्रभृतिविद्याः साधितवन्तौ । तयोरेकस्वभावयोरपि मध्ये मनोवेगः सद्दृष्टिः सम्यग्दृष्टिरितरो विपरीतः ।

एकदा मनोवेगो भरते आर्यखण्डस्थितान् जिनालयान् पूजयितुं गतः । अत्र कथान्तरम्—सुकोशलदेशे अयोध्यायां राजा वासुपूज्यः । तन्मण्डलिकजयंधरसुन्दर्योः पुत्रो सुमतिः । भीत्या वासुपूज्याय दत्ता । जयंधरस्य भागिनेयः पिङ्गलाख्यो रूपदरिद्रः । मह्यं स्थिता कन्यानेन परिणीता । सांप्रतं मयास्य किंचित्कर्तुं न शक्यते । भवान्तरे ऽस्य विनाशहेतुर्भवामीति तापसो भूत्वा मृतो राक्षसकुले धूमकेतुर्नाम देवो जातः । इतो ऽयोध्यायां वासुपूज्यसुमत्योर्ब्रह्मदत्ताख्यः पुत्रो जातः । एकदोज्जयिनीबाह्योद्याने ध्यानेन स्थितः । धूमकेतुना च दृष्टः । तद्वैरं स्मृत्वा तेन मुनेर्दुर्धरोपसर्गः कृतः । ततः स्वसंवेदनाख्यशुक्लध्यानबलात् समुत्पन्ने केवले देवागमो जातः । धनदेवेन तद्योग्या सभवसृतिः कृता । सर्वान् जिनालयान् पूजयित्वा स्वपुरं गच्छतो मनोवेगस्य तदुपर्याकाशे विमानागतिरभूत् । किमित्यधोऽवलोक्य दृष्टे तस्मिन् हृष्टः खगः । तत्र गत्वा तं स्तुत्वा स्वकोष्ठे उपविष्टः । धर्मश्रवणानन्तरं समुद्रदत्तवणिजा संसारिजीवसुखदुःखप्रमाणे पृष्टे दिव्यध्वनिना भगवान् दृष्टान्तद्वारेणाह ।

कश्चित्पुरुषो नगरमार्गेण गच्छन् सार्थमध्ये हीनो ऽटवीमध्ये गच्छन् विन्ध्यहस्तिना दृष्टः । तद्भयान्नश्यन्नन्धकूपे पतितः । तन्मध्यस्थकाशमूलं धृत्वा स्थितः । करिणा तमप्राप्य तत्तटस्थवृक्षो दन्ताभ्यां हतः । तत्र स्थितमधुच्छत्रे कम्पिते तद्बिन्दुपतनावसरे ऊर्ध्वमवलोकितम् । तेन तद्बिन्दास्वादने कृते तन्मक्षिकाभिर्भक्ष्यमाणो ऽवलोकयन् तत्र काशमूलाग्रे मूषिकाभ्यां श्वेतकृष्णाभ्यां खण्ड्यमाने ऽधो ऽजगरं चतसृषु दिक्षु सर्पचतुष्टयं दृष्टवान् । तत्सर्वमवगण्यापरो ऽपि बिन्दुः पतितश्चेत् समीचीनं मन्यते । तत्र नगरमार्गो मुक्तिमार्गः सम्यक्त्वम् । तत्परित्यागो ऽटवीमार्गः संसारमार्गो मिथ्यात्वम् । तत्राटवी संसारः । हस्ती मृत्युः । कूपः शरीरम् । वृक्षः कर्मबन्धः । मूलम् आयुः । मूषिकौ शुक्लकृष्णपक्षौ । अजगरो दुर्गतिः । सर्पाः कषायाः । मक्षिका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याधयः। मधुबिन्दवः सुखमिति। यथैतत्सुखं तथा संसारिजीवस्येति। तन्निरूपणानन्तरं मनोवेगेन पृष्टो भगवानाह। पवनवेगधर्मग्रहणकारणम्।

पाटलिपुत्रे पुरे परपुराणप्रतिव्यूहवेषेण गत्वा तत्पुराणासारदर्शनं कथितं भगवता। श्रवणानन्तरं हृष्टो मनोवेगः। तं प्रणम्य स्वपुरं गच्छन् सन् सुखमागच्छता पवनवेगेन दृष्टः। तदनु हे मित्र, मां विहाय क्व गतो ऽसि। सर्वत्रावलोकितो ऽसि। दर्शनाभावे ऽत्राहमागतः। इति भणिते मनोवेगेनोक्तम्। भरतस्थानजिनालयान् पूजयितुं गतः। पूजयित्वा गमनसमये बहुशिवालयविष्णुगृहब्रह्मशालाद्यलंकृतं, एकदण्डित्रिदण्डिहंसपरमहंसशैवपाशुपतभौतिकादिलिङ्गिप्रचुरं, ब्राह्मणवेदघोषपूर्णायमानं, पाटलिपुत्राख्यं नगरं दृष्ट्वा भ्रान्त्यावलोकयन् स्थितः। ततो ऽत्रागत इति। तेनोक्तम्—विरूपकं कृतम्। मां विहाय क्व गतो ऽसीति, तन्मे दर्शनीयम्। प्रातः प्रदर्श्यते यदि मम भणितं करोषि। तत्किम्। तत्र गते न विचारयित्वा मौनेन स्थातव्यम्। इति क्रियत एव। तर्ह्येवं भवत्विति स्वपुरं गतौ।

ततो ऽपरदिने तन्नगरं गत्वा तदुद्याने स्वविमानं गुप्तं विधाय तृणकाष्ठभाराक्रान्तौ सालंकारौ तन्नगरपूर्वगोपुरस्थितब्रह्मशालां वितण्डावादपूर्वकं धर्मपरीक्षार्थं गत्वा भेरीरवपूर्वकं मनोवेगः सिंहासने उपविष्टः। भेरीरवेणागतैर्विप्रैर्विष्ण्वादिविकल्पेन नमस्कारपूर्वकं, कस्मादागतौ, कस्मिन् शास्त्रे परिचयो ऽस्तीत्युक्ते, न कस्मिंश्चिदित्युक्ते, तर्हि भेरीरवः सिंहासनोपवेशनं वा किमर्थम्। वादार्थिना हि भेरीरवः कार्यः। वादे जित्वा सिंहासने उपवेश्यम्। अस्मत्पुरे एवं रीतिः। एवं भवत्विति। तदा तस्मिन् भूमौ उपविष्टौ अकिंचित्करं मत्वा। भवादृशां नीचाचरणं किमिति तैरुक्ते, एतदन्यत्रापि समानम्। कथम्। बिभेमि कथयितुम्। मा भैषीः। तर्हि भवतां मनसि दूषको भविष्यामि। ननु भोः कथं दूषकता। यतः—

निन्द्ये वस्तुनि का निन्दा स्वभावगुणकीर्तनम्।
अनिन्द्यं निन्द्यते यत्तु सा निन्दा [दूष्यतां] नयेत् ॥१

पुनरुक्तं तेन। किं षोडशमुष्टिकथाकारको नरो ऽत्र न विद्यते। स कीदृशः।

मलयदेशे शूलगलग्रामे भ्रमरस्य पुत्रो मधुकरगतिः। कोपान्निर्गत्य परिभ्रमन् आभीरदेशं गतः। तत्र चणकराशीन् दृष्ट्वास्मद्देशमरीचराशय इवेत्युक्ते तत्रान्यैरस्मद्देशमुपहसत्ययम्। दुष्टो निगृहीतव्यः, इत्यष्टमुष्टीन् गृहीतः [ग्राहितः]। स तान् लब्ध्वा परिभ्रमणं विरूपमिति पुनः स्वदेशं गतः। तत्र मरीचराशीनवलोक्याभीरदेशे चणकराशय इव, इत्युक्ते तत्रापि तथा लब्धवानिति। नैको ऽपि ईदृशो ऽस्ति, कथय। पुनरुक्तं तेन। अत्यासक्तकथा न क्रियते। तैरुक्तम्। सा किंविधा। स प्राह।

रेवानदीदक्षिणतटस्थां सामंतग्रामे ग्रामकूटकस्य बहुधनिनो द्वे भार्ये। सुन्दरी कुरङ्गी च। सुन्दरी पुत्रमाता। दुर्भगा विभिन्नगृहे तिष्ठति। स राजवचनेनैकदा मान्याखेटं पुरं गतः। इतः कुरङ्ग्याः सर्वद्रव्यं जारैर्भक्षितम्। गृहे तन्नास्ति यद् भुज्यते। कियति काले गते आगतेन बहुधनिना कुरङ्गीगृहं पुरुषः प्रेषितः। प्रभुरागतो मज्जनभोजनादिसामग्री विधातव्येति। तया चिन्तितम्। अत्र किंचिन्नास्ति। किं क्रियते। इति पर्यालोच्य सुन्दरीगृहं गत्वा भणति। हे अक्क, प्रभुरागतः। त्वया तद्भोजनादिसामग्री विधातव्येति। तयोक्तम्—स किं मम गृहे भुङ्क्ते। कुरङ्गी भणति। मम भणितं करोति। एवं भवत्वित्यभ्युपगतं तया। स आगत्य कुरङ्गीगृहं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रविष्टः। तयोदितम्—अत्र किमित्यागतो ऽसि। गच्छ, यत्र प्रतिपाद्य प्रेषितम्। स कथमपि न गच्छति। तदा निर्भर्त्सितः। ततो गत्वा तत्र भोजनावसरे तेनोक्तम्—कुरङ्गीगृहात् शाकं गृहीत्वा-गच्छेति। सा [तया] तद्गृहं गत्वा द्वितीयवारे तया दत्तं क्षीणबलीवर्दार्धचणकमिश्रितगोमय-मानीतम्। तदुक्तं तेन समीचीनं जातमिति। ततो भुक्त्वा तद्गृहमागतः। बहुबुद्धिमनुष्येण कुरङ्गीवृत्तान्ते सर्वस्मिन् कथिते ऽपि मम वल्लभा किमेवं करोतीति तेन स एव निर्घाटित इति। तैरुक्तम्—न तथा कोऽपि विद्यते, कथय। स आह।

नारायणो नन्दगृहे गां रक्षितवान्, सारथिश्चाभूत्। युधिष्ठिरपक्षेण दुर्योधननिकटे दूतत्वं गतः। तथा नित्यो ऽपि जननजरामरणान्वितः। तथा चोक्तम्—

मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नारसिंहो ऽथ वामनः।
रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्की च ते दश॥

किं तस्य तत्क्रीडनमनुष्ठानं वा। यथा तस्य तथावयोरपीति। निरुत्तरं जित्वा उद्यानं गत्वा समये वासुदेवोत्पत्ति निरूपितवान्। तदा समये हरिवंशो निरूप्यते। इह न निरूपितो ग्रन्थगौरवभयात्।

द्वितीयदिने किरातवेषेण शतच्छिद्रघटस्थं मार्जारं गृहीत्वागत्योत्तरगोपुरे तत्क्रमेणोपविष्टौ। द्विजैस्तत्क्रमेण वचनं कृतम्। बिडालविक्रयणार्थमागतौ। किं मूल्यम्। द्वादशसहस्रद्रविणम्। द्विजैरुक्तम्—एतत्सामर्थ्यं किम्। तेनोक्तम्—द्वादशयोजनमूषिकानागमनम्। दत्ते द्रव्ये तेनोक्तम्—परीक्ष्यताम्। तैरुक्तम्—कर्णरुधिरं किम्। मार्गे एकस्मिन् गृहे आवां पथश्रान्तौ सुप्तौ। तत्रास्य कर्णं आखुभिर्भक्षितः। विप्रैरुक्तम्—अहो असत्यमेतत्सामर्थ्यम्। तेनोक्तम्—किमेकेन दोषेण बहुगुणविनाशो भवति। तैरभाणि—नो चेद् गुणान् प्रतिष्ठापय। स बभाण—किमत्रागडदर्दुरसमो नरो न विद्यते कोऽपि। तैरुक्तम्—स कीदृशः। तेन अगडददुर्दुरराजहंसवृत्तान्तः कथितः। कथम्।

एकस्मिन् कूपे मण्डूकस्तिष्ठति। तत्र राजहंसः समायातः। तेनागमनेन [गडेन] पृष्टे समुद्रादागतो ऽहमिति निरूपितं हंसेन। तत्प्रमाणे पृष्टे महानिति निरूपितम्। किं कूपादपि महानित्युपहसितं भेकेनेति। न को ऽपि तत्समो ऽत्र विद्यते, कथय। पुनस्तेनोक्तम्—तर्हि दुष्ट-कथाविधायको नास्ति। तैरभाणि—स कीदृक्षः। स आह।

सौराष्ट्रे कोटिकग्रामे स्कन्धबन्धौ [कौ] ग्रामण्यौ अन्योन्यं न सहेते। बंकस्य व्याधिना कण्ठगतप्राणावसरे पुत्रेणोक्तम्—हे पितः, धर्मं कुरु। तेनोक्तम्—अयमेव धर्मः। मयि मृते मृतकं गृहीत्वा गच्छ। स्कन्धगन्धशालिक्षेत्रे मक्षिकास्तम्भावष्टब्धं तद्विधाय गोधनं प्रवेशय। स मां गोपालं मत्वा यदा हन्ति तदा त्वया मम पिता हत इति कोलाहलो विधेयः। तथा कृते स्कन्धो राज्ञा सर्वं दण्डित इति। द्विजैरभाणि—किमीदृग्विधः को ऽपि विद्यते। कथय। स बभाण—कथ्यते यदि मूढसदृशो नरो ऽत्र न विद्यते। तैः स कथमिति पृष्टे आह।

कोष्टोष्टनगरे भूतमतिनामा विप्रो व्रतारोपणानन्तरं त्रिंशद्वर्षाणि वेदाध्ययनं कृत्वा प्रपठ्य यज्ञां नाम कन्यां परिणीतवान्। अतिशयेन तदासक्तो बभूव। एकदा पोतनाधिपेन यज्ञकृतौ स आहूतः सन् तस्या निकटं यज्ञनामानं विद्यार्थिनं प्रतिष्ठाप्य गतः। इतस्तया यज्ञो भणितः। किमिति मनुष्यजन्म निःफलीक्रियते। मामिच्छ। बहुवचनैरिष्टा तेन। तत उभौ यथेष्टं स्थितौ। तदागमनं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञात्वा सचिन्तो यज्ञस्तदुपदेशेन मृतकद्वयम् उभयशयनस्थाने निक्षिप्य गृहं प्रज्वाल्य यज्ञां गृहीत्वा गतः। एकस्मिन् ग्रामे स्थितः। आगतो विप्रः शोकं विधाय सूत्रस्यार्थमवधार्य, किं तत्सूत्रम्—

यावदस्थि मनुष्याणां गङ्गातोयेषु तिष्ठति।
तावद्वर्षसहस्राणि स च स्वर्गे महीयते॥

इत्युभयास्थीनि तुम्बयोर्निक्षिप्य गङ्गां चलितः। ताभ्यामावासितग्रामसमीपं गच्छन्नुभाभ्यां दृष्टः। तदनु पादयोः पतितौ। युवां काविति पृष्टे अहं यज्ञः इयं यज्ञेति निरूपिते विजानातीति। नेदृशः को ऽपि विद्यते, कथय। स आह।

एकस्मिन् ग्रामे केनचिद्यजमानेन भौतिका आमन्त्रिताः। ते च माण्डव्यं नाम ऋषिं दृष्ट्वा कोपात् सर्वे निर्गताः। यजमानेन किमित्युक्ते, अयमपुत्रको निःकृष्टः। अस्य पङ्क्तौ भोक्तुं न यातीति तैरुक्ते माण्डव्येनोक्तम्—अपुत्रस्य को दोषः। तैरुक्तम्—

अपुत्रस्य गतिर्नास्ति स्वर्गो नैव च नैव च।
तस्मात् पुत्रमुखं दृष्ट्वा पश्चाद्धर्मं समाचरेत्॥

इति वचनान्महादोषः। पुनस्तेनोक्तम्—अहं वृद्धः। तपसा क्षीणविग्रहः। इदानीं मह्यं कः कन्यां प्रयच्छतीति। तैरुक्तम्—त्वयेदं वेदवाक्यं न श्रुतम्? किं तत्।

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥
अहिवीचीपिबत्तीया यदि पूर्वं वरो मृतः।
सा चेदक्षतयोनिश्च पुनः संस्कारमर्हति॥
अष्टौ वर्षाण्युदीक्षेत ब्राह्मणी प्रोषितं वरम्।
अप्रसूता च चत्वारि परतो ऽन्यं समाचरेत्॥ इति।
मात्रा पुत्र्या भगिन्यापि पुत्रार्थं प्रार्थ्यते नरः।
यो ऋतौ न भजेत्पुमान् स भवेद् ब्रह्महा पुनः॥

तद्वचनेन तेन स्वभगिनी डंडिमा नाम रण्डा परिणीता। तयोः पुत्री छाया जाता। शैशवावसाने तीर्थस्नानार्थं गच्छद्भ्यां पुत्री क्व म्रियते इति पर्यालोच्य मात्रोक्तम्—महादेवनिकटम्। तेनोक्तम्—नोचितम्। किमिति। स तद्वृत्तान्तमाह।

पूर्वंमिहलोके वनितारूपमपि नास्ति। सर्वे देवा मदनाग्निना[त]प्ता बभूवुः। ब्रह्मैकदा देवारण्यं वनं प्रविष्टः। तत्र च विशिष्टफलाहारेणातिकामोद्रेके सति एकस्मिन् देशे शुक्रपातो बभूव। तत्तु परीवाहरूपेण वोढुं लग्नम्। तत्र त्रयस्त्रिंशत्कोटिसतीप्रभृतयो देव्य उत्पन्नाः। सतो शिवाय अन्या अन्येभ्यो देवेभ्यो दत्ताः। प्रजापतिरेकदा मांसादौ लोलुपो भूत्वा चिन्तयति स्म। यदि मयैतद्भक्षणं विधीयते तर्हि सर्वैर्हंस्ये। तद् यथा सर्वे ऽपि भक्षयन्ति तथोपायं करोमीति यज्ञं प्रारब्धवान् सूत्राणि विधाय। कथम्।

गोसवित्रं प्रवक्ष्यामि सर्वपापविनाशकम्।
दन्ताग्रेषु मरुद्देवो जिह्वाग्रे च सरस्वती॥१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्णयोरश्विनीदेवौ चक्षुषोः शशिभास्करौ ।
गवां शृङ्गाग्रे भ्रुवोश्च सुरेन्द्रविष्णुभ्यां स्थितम् ॥२
मुखे ब्रह्मोरसि स्कन्दो ललाटे च महेश्वरः ।
ककुदे च जगत्सर्वं नक्षत्रग्रहतारकाः ॥३
ऋषयो रोमकूपेषु तपः कुर्वन्ति सर्वदा ।
अपाने सर्वतीर्थानि प्रश्रवणे च जाह्नवी ॥४
गोमये तु श्रिया देवी रामो लाङ्गूलमाश्रितः ।
चत्वारः सागराः पूर्णाः गवाङ्गेषु पयोधराः ॥५
खुरेषु जम्बुको देवः खुराग्रेषु च पन्नगाः ।
जठरे पृथिवी सर्वा सशैलवनकानना ॥६

इति गोशरीरे सर्वमध्यारोप्य तस्या हननार्थं तेन सूत्रमकारि ।

तद्यथा—श्रोत्रयज्ञे सुरापानं गोसवे गव्यसंगमम् ।
गवां महे पशुं हन्यात् राजसूये च भूभुजम् ॥ इति ।

अग्निष्टोमाय पशुमालभेत । श्वेतगजमालभेत भूरिकामः । ब्राह्मणो ब्राह्मणमालभेत क्षत्रियो राजन्यं मरुद्वैश्यं तपसे शूद्रं तपसे तस्करं नरकाय वैरहणं पाप्मने क्लीबम् आकल्ययो रङ्काय पुंशूलम् । तरति लोकः । कं तरति पापं तरति ब्रह्महत्याम् । यो ऽश्वमेधेन युध्येत न कुलौतव्यौ विधिः । अनुक्रमेण कुर्यात् । इत्यादयश्चतुरशीतिर्महायज्ञाः उदिताः क्षुल्लकयज्ञाश्च । तथा

इदमपि—अब्रह्मणे मृगशावे च प्रत्यक्षमृतदर्शने ।
तत्क्षणे खादयेत्पुण्यं त्यक्तं चेन्नरकं व्रजेत् ॥ इत्यादि ।

तत्र च सर्वे देवा आहूताः । गमने नृत्यन्महेश्वरः सतीसमन्वितो यावदागच्छति तावद्देवैः सतीदेहस्थितान् नखक्षतादीन् दृष्ट्वा उपहसितम् । अहो प्रजापतेः पुत्रीसौख्यमिति । ब्रह्मा दृष्ट्वा लज्जितः । तथा सूत्रं कृतवान् । कीदृशम् ।

विद्यावृत्तविहीना ये शूद्रकर्मोपजीविनः ।
ते सन्ति दूषकाः श्राद्धे नाङ्गहीना गुणान्विताः ॥

इति स शूद्रकर्मोपजीवीति तेन अवज्ञातः । सती च स्वावज्ञां दृष्ट्वा कोपेन जिह्वामुन्मूल्य ब्रह्मण उपरि निक्षिप्य होमकुण्डं प्रविश्य मृता । महेश्वरः कोपेन तदग्निकुण्डस्य विध्यापनं कृत्वा तद्वियोगेन ग्रहिलो भूत्वा हा सती महासती केन नीतेति शोकं कृतवान् । तदनु तद्भस्मोद्धूलिताङ्गः तत्स्थीनि मस्तकललाटकर्णकण्ठादिप्रदेशेषु बन्धयित्वा तत्कपालार्पितहस्तो महेश्वरो देवारण्यं प्रविष्टः । तत्र तं भ्रमन्तं दृष्ट्वा कामदेवो हसितुं लग्नः । कथम् ।

अयं स भुवनत्रयप्रथितसंयमः शंकरो
बिभर्ति वपुषाधुना विरहकातरः कामिनीम् ।
अनेन खलु निर्जिता वयमिति प्रियायाः करं
करेण परिताडयन् जयति जातहासः स्मरः ॥ इति ।

ततस्तापसैर्दृष्ट्वा चिन्तितम्–को ऽयमिति । कैश्चिदुक्तम्—कश्चित्सिद्ध इति । कैश्चिदुक्तम्—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपूर्वदर्शनमस्माकं केन दृष्टमिदं भुवि ।
उन्मत्तो वा पिशाचो वा इति तेषां विचारणा ॥

कैश्चिदुक्तम्—अयमीश्वरो मुक्तिं गन्तुमुद्यतो ऽभूदिति । कैश्चिदुक्तम्—यद्येवंविधो मुक्तिं गच्छति नरकं को गच्छेदिति । तथा चोक्तम्—

रज्ज्वा बध्नाति वायुं मृगयति स जले मत्स्यकानां विमार्गं
बन्ध्यस्त्रीषण्डकानामभिलषति सुतं वालुकाभ्यश्च तैलम् ।
दोर्भ्यां गन्तुं पयोधिं झषकुलकलिताङ्गो विषाणे ऽपि दुग्धं
सर्वारम्भप्रवृत्तौ नरपशुरिह यो मोक्षमिच्छेत् सुखानि ॥

कैश्चिदुक्तम्—शिवो ऽयं कृतकृत्य इति । कैश्चिदुक्तम्—यद्येवं शिवः तर्हि शैवसिद्धान्तस्य विरोधो भवति । सिद्धान्तः कः ।

पाताले चान्तरिक्षे दश दिशि भवने सर्वशैले समुद्रे
काष्ठे लोष्टेष्टिकाभस्मसु जलपवने स्थावरे जङ्गमे वा ।
बीजे सर्वौषधीनामसुरसुरपुरे पत्रपुष्पे तृणाग्रे
सर्वव्यापी शिवो ऽयं त्रिभुवनभवने नास्ति चेदन्य एव ॥ इत्यादि ।

सर्वव्यापिनो गमनागमनसंभवश्चेत्यादिविकल्पानुत्पादयन् हिमवद्गिरिसमीपं गतः । तद्गिरेर्या पूर्वं मृता सती गौरी नाम्नी पुत्री बभूव । पर्वतस्य कथं दुहितेति चेदाह । पूर्वं सर्वेषां पर्वतानां पक्षाः सन्ति । पक्षिण इव खे चरन्तः एकदा अमरावतीं गताः । तत्र चेन्द्रवनं भक्षित्वा रोमन्थं वर्तयन्तः स्थिताः । इन्द्रेण दृष्ट्वा कोपेन वज्रायुधेनाहत्य पातिताः । हिमवद्गिरिर्मेना नाम स्त्रीगिरेरुपरि पतितः । तदेवावसरे तस्याः जीवो मध्ये ऽभूत् । तयोः संघट्टनेन पुत्री बभूवेति । स्फुलिङ्गमध्ये उत्पन्नेति तस्याः कामाग्नेः उपशान्तिर्नास्तीति तेन दृष्ट्वा च याचिता च प्राप्य विवाहिता । तया सह कैलासे तिष्ठन् एकस्मिन् दिने बहिर्गत्वागत्य द्वारे स्थित्वा प्रिये द्वारमुद्घाटयेत्युक्ते तयोक्तं वक्रोक्त्या ।

को ऽयं द्वाराग्रतो ऽस्थाद्वदति पशुपतिः किं वृषो नो ऽर्धनारी,
किं पिण्डो नैव शूली किमपि च सरुजो न प्रिये नीलकण्ठः ।
ब्रूहि त्वं किं मयूरो न हि विदितशिवः किं पुराणः शृगालः
इत्येवं हैमवत्या चतुरनिगदितः शंकरः पातु युष्मान् ॥

इति कैलासे गौरीसमेतः शंकरस्तिष्ठति । प्रतिदिनं गङ्गायां स्नानार्थं गच्छति । एकस्मिन् दिने गङ्गाकुमारीं सुरूपां दृष्ट्वा विशिष्टरूपेण तन्निकटं गत्वोक्तवान् का त्वमिति । तयोक्तम्—गङ्गा । तेनोदितम्—को भर्ता । तयोक्तम्—यो ऽद्वितीयः स मे भर्ता । न तादृशः को ऽप्यस्ति । स बभाण—अहमेव तथा । इति भणित्वा परिणीता । तया सह कामक्रीडां करोति । शिवाभीत्या तां तत्रैव निधाय कैलासं गतः । साप्यवलोकयन्ती तत्रागता । तया गौर्या सह सारैः क्रीडन्नीश्वरो दृष्टः । तां दृष्ट्वा गौर्योक्तम्—

का त्वं सुन्दरि जाह्नवी किमिह ते भर्ता हरो नन्वयम्
अम्भस्त्वं किल वेत्सि मन्मथरसं जानात्ययं त्वत्पतिः ।
स्वामिन् सत्यमिदं न हि प्रियतमे सत्यं कुतः कामिनी-
मित्येवं हरजाह्नवीगिरिसुतासंजल्पनं पातु वः ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तदनु गौरी रुष्टा। गाहा।

ता गउरी तोसविया पाए पडिऊण परमदेवेण।
सो तुम्हं देउ सिवं परमप्पो विग्घविलयेण॥

तदनु गौर्या चिन्त्यते—

सन्ध्या रागवती स्वभावचपला गङ्गा द्विजिह्वः फणी
चन्द्रो लाञ्छनवक्त्र एव मलिनो जात्यैव मूर्खो वृषः।
कष्टं दुर्जनसंकटे पतिगृहे वस्तव्यमेतत्कथं
देवी व्यस्तकपोलपाणितलका चिन्तान्विता पातु वः॥

तदनु शंकरेण गङ्गा मस्तके ऽर्धाङ्गे गौरी धृता। ततो ऽतीव संतुष्टा। तदुक्तम्—

अलिनीलालकमुग्रभासुरजटं लोलाक्षमुग्रेक्षणं
तिलकार्धं नयनार्धमुन्नतकुचं रम्योरुवक्षःस्थलम्।
खट्वाङ्गं फणिकङ्कणं सुवसनं व्याघ्राजिनं लीलया
शान्तं भीषणमर्धनारिघटितं रूपं शिवं पातु वः॥

इति अदत्तां स्वीकुरुते यो गंगा दत्तां छायां त्यजतीति। पुनस्तयोक्तम्—तर्हि ब्रह्मणः पार्श्वे स्थाप्यते। तेनोक्तम्—नोचितम्। किमिति। किं त्वया पुष्करब्रह्माण्डजपुराणानि न श्रुतानि। तर्हि निरूप्यते मया।

महेश्वरस्य गौर्या विवाहकाले ब्रह्मा पुरोहितो ऽभूत्। अग्निकुण्डप्रदक्षिणीकरणकाले गौर्याः जङ्घाप्रदेशं दृष्ट्वा ब्रह्मणः शुक्रक्षरणे जाते कियत् कलशमध्ये पतितम्। तत्र द्रोणाचार्योऽभूत्। वृषभपादगर्तस्थितोदके कियत् पतितम्। तत्र वालखिल्यादयः सप्तकोटिऋषयो जाताः। तदनु लज्जया गच्छतः कियद् वल्मीकस्योपरि पतितम्। तत्र वाल्मीकिनामा ऋषिरुत्पन्नः। तदन्वग्रे गच्छतः भस्मनि कियत्पतितम्। तत्र भूरिश्रवा जातः। ततो ऽग्रे गच्छतो ऽस्थिन कियत्पतितम्। तत्र शल्यो जातः। तदन्वग्रे गच्छतः कियत् स्थले पतितम्। तत्रोर्वशी जाता। तदन्वग्रे लिङ्गं वामकरेण धृत्वा गच्छत उपरि धारा उच्छलिताः। तत्र शक्तिना कियद्गिलितः [तम्]। तत्र शक्तिनामा क्षत्रियो जातः। ततो गच्छन्नेकस्मिन् प्रदेशे लिङ्गं धृत्वा तथापि शुक्रं तिष्ठति नो चेति कम्पितवान्। तत्र कियत् पतितम्। तत्र पद्मा नाम कन्या जाता। सुरूपां तां दृष्ट्वा गृहीत्वा स्वावासं गतः। कालेन सयौवनामभिवीक्ष्यासक्तः सन् भणति। हे पुत्रि मामिच्छ। तयोक्तम्—त्वं पिता। किमेवमुचितम्। तयोक्तम्—किं त्वया वेदो न श्रुतः। न। तर्हि शृणु। मातरमुपैति स्वसारमुपैति पुत्रार्थी, न च कामार्थी। तथापरमपि—नापुत्रस्य लोको ऽस्ति तत्तवं पशवो विदुः। तस्मात् पुत्रार्थं मातरं स्वसारं वाधिरोहति। संतानवृद्धयर्थं त्वयाभ्युपगन्तव्यम्। इत्यादिवचनालापेन स्ववशीकृता। तदनु तव चित्ते मम चित्तं संदधामि, तव हृदये मम हृदयं संदधामि, तवास्थिषु ममास्थीनि संदधामि, तव प्राणे मम प्राणमिति स्वाहा। त्र्यम्बक मन्त्रः। इमं मन्त्रमुच्चार्य सेवितुं लग्नः यावद्दिव्यषण्मासान् तदनु सर्वैर्देवैर्ज्ञात्वा भणितम्—निकृष्टो ब्रह्मा पुत्रीं कामयते। अत्र पर्यालोच्य तैर्गन्धर्वदेवाः प्रेषिताः ब्रह्मणः संयोगं विनाशाय ते इति [विनाशयतेति]। तैरागत्य सुरतगृहनिकटे चिन्तितम्। कथम्। यदि सहसास्यान्तरायो विधीयते तदा कुपितः सन् अनर्थं करिष्यति। इति पर्यालोच्य तैर्गीतम्। कथम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ॐ भूर्भुवःस्वस्तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयादिति ।

अतश्चास्या गायत्री नाम जातम् । तच्छ्रुत्वा लज्जितः प्रजापतिः । ततो निर्गच्छन् तस्या गर्भ ऽण्डमुत्पन्नं ज्ञात्वास्य श्लोकस्यार्थं च स्मृत्वा, को ऽसौ श्लोकः ।

पुस्तकप्रत्ययाधीतं नाधीतं गुरुसंनिधौ ।
न शोभन्ते सभामध्ये जारगर्भा इव स्त्रियः ॥

इति लोकापवादभयेन तच्च लिङ्गाग्रेणाकृष्यान्तर्मुष्कप्रदेशे स्थापितम् । ततो वातवृषाणी जातः । स एकदा भ्रमन्निन्द्रपुरीं दृष्टवान् । तत्र रम्भाप्रभृतीर्दृष्ट्वा कामाग्नितप्तचित्तः युद्धे इन्द्रपदवीं ग्रहीतुं न शक्यते । प्रार्थने किं कलत्रदानमस्ति, वृथावचनं भविष्यतीति तपसा सर्वं साध्यं भवति । तथा चोक्तम्—

यद्दूरं यद्दुराराध्यं यच्च दूरे व्यवस्थितम् ।
तत्सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥

इति पर्यालोच्य इन्द्रपदव्यर्थं सार्धं दिव्यवर्षसहस्रत्रयं तपः कर्तुं लग्नो ब्रह्मा । तं ज्ञात्वा सचिन्तः शचीपतिर्बृहस्पतिना भणितः । किमिति सचिन्तः । तेन सर्वस्मिन् कथिते बृहस्पतिर्बभाण—

तावत्तपो वपुषि चेतसि तत्त्वचिन्ता कामं हृषीकविजयः परमः शमश्च ।
यावन्न पश्यति मुखं मृगलोचनानां भ्रूभङ्गारवृत्तिभिरुदाहृतकामसूत्रम् ॥

इति तत्र तत्तपोविनाशाय वनिता प्रस्थापनीया । तद्वचनेनेन्द्रेण स्वदेवीनां रम्यप्रदेशं तिलप्रमाणं गृहीत्वा तिलोत्तमानाम्नी वनिता कृता । प्रेषिता च तत्र तया गत्वा नृत्ये क्रियमाणे स उद्घाटितदृष्टिः त्यक्ताक्षमालिको भूत्वा द्रष्टुं लग्नः । तं ज्ञात्वा तया दक्षिणस्यां दिशि नृत्ये कृते, यदि तन्मुखो भूत्वावलोकयामि तर्हि सर्वैर्हास्य इति मत्वा दिव्यवर्षसहस्रतपश्चरणफलेन अपरं मुखं कृत्वावलोकितवान् । तथा पश्चिमोत्तरयोरपि । उपरि नर्तने सति पञ्चशतवर्षतपःफलेन गर्दभशिरो निर्गतम् । तच्च गगनतलं व्याप्नुवत् सुरविद्याधरादीन् गिलितुं लग्नम् । तदिन्द्रादिदेवोपरोधेन हरेण नखैश्छिन्नम् ।

तस्य भिन्ना कथा । एकस्मिन् ग्रामे गङ्गामार्गे धवलवत्सः अवशोषितस्तेन तद्ब्राह्मणी हता । ब्रह्महत्यातः कृष्णो जातः । ततो भणितम्—तव स्वामिनीहत्यया पापं जातम् । तत्परिहारार्थं प्रातर्गङ्गां गच्छेति श्रुत्वा चलितः । महादेवेनाकर्ण्य भणितम् । तथा करिष्यामि पापपरिहारार्थम् । एवं पञ्चमहापातकानि तत्प्रसादाद् गतम् [गतानि] ततः प्रभृति वृषभवाहनः । सा स्वर्गं गता । स संयुक्षितकामाग्निकः तामपश्यन् अच्छभल्लीमनुभुक्तवान् । तया तच्छरीरं नखैर्विदारितम् । तत्प्रभृति मनुजाः तथा प्रवर्तितुं लग्नाः । तस्या जाम्बूनदो नाम पुत्रो जातः । ततो देवैर्हसितो लज्जितः सन् भ्रमितुं लग्नः ।

एकदामरावतीबाह्ये उर्वशीं नाम वेश्यां दृष्ट्वा स्ववचनकौशलेन स्वानुरक्तां कृत्वा तया सह क्रीडासमये तदण्डं स्वलिङ्गाग्रेणाकृष्य तद्गर्भे निक्षिप्तम् । सा च वसिष्ठं नाम पुत्रं प्रसूता । ब्रह्मा स्वपदवीं तस्मै दत्त्वा तपोऽर्थी गतः । इतः सर्वशास्त्रकुशलेन वसिष्ठेनैकदा द्विजेभ्यो नमस्कारश्चक्रे । न च तैः प्रत्यभिवादितः । तेनोक्तम्—किमिति न प्रत्यभिवादितोऽहम् । तैरुक्तम्—एवंविधो ऽसीति । ततो ऽसौ लज्जया वेदपर्वते तपः कर्तुं लग्नः । वृद्धो भूत्वा इदानीं मम तपोविघ्नं नास्तीति भ्रमितुं लग्नः । एकदा एकस्मिन् ग्रामे अक्षमालिकानाम्नीं चाण्डालीं दृष्ट्वा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निजवचनालापेन स्ववशीकृत्वा क्रीडितवान्। तयोरपत्यं शक्तिर्जातः। सो ऽपि तथा तपः कर्तुं लग्नः। वृद्धत्वे तथा च भ्रमितुं लग्नः। गौतमग्रामे श्वपाकीं दृष्ट्वा तदासक्तचित्तेन हस्तेन धृता। तयोक्तम्—किमिति। तेनोक्तम्—मामिच्छ। पुनस्तयोक्तम्—अनामिकाहम्। पुनस्तेनोक्तम्—तथापि न दोषः। वेदे प्रतिपादितत्वात्। कथम्।

अजाश्वा मुखतो मेध्या गावो मेध्याश्च पृष्ठतः।
ब्राह्मणाः पादतो मेध्याः स्त्रियो मेध्यास्तु सर्वतः॥

अपरं च।

कामं पुण्यवशाज्जाता कामिनी पुण्यप्रेरिता।
सेव्या सेव्या न संकल्पा स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि॥

इत्यादिवचनेन स्वाधीना कृता। तयोरपत्यं पाराशरो जातः। स च वन्ध्यगिरौ तपः कर्तुं लग्नः। अन्यदा गङ्गातरणसमये मत्स्यगन्धां सेवितवान्। तयोरपत्यं व्यासो ऽभूत्। तेन मत्स्यगन्धिनोभ्रातुः पुत्र्यः अम्बा अम्बाला अम्बिकाः परिणीताः। तासां पुत्रा धृतराष्ट्रपाण्डुविदुरा बभूवुः। इति पुष्करब्रह्माण्डज-पुराणानि। एवम् अच्छभल्लीं पुनः स्वपुत्रीं यो गृह्णाति स किं छायां त्यजति। पुनरभाणि तापसपत्न्या—एवं तर्हि विष्णोर्निकटं म्रियते। तेनोक्तम्—प्रिये, नोचितम्। किमिति। स तद्वृत्तान्तमाह।

द्वारवत्यां षोडशसहस्रगोपिकाभिः सह विष्णुः सुखेन तिष्ठति। विष्णुनैकदाटव्यां भ्रमता राजिकां नाम गोपिकां दृष्ट्वा तेन वचनेन स्वतन्त्रा कृता। उभयोः संयोगो ऽजनि। संकेताद्रात्रौ तस्या गृहं गत्वाङ्गुल्या कपाटं ताडितवान्। तयोक्तम्—

अङ्गुल्या कः कपाटं प्रहरति कुटिलो माधवः किं वसन्तो
नो चक्री किं कुलालो न हि धरणिधरः किं द्विजिह्वः फणीन्द्रः।
नाहं घोराहिमर्दी किमु स खगपतिर्नो हरिः किं कपीन्द्रः
इत्येवं गोपवध्वां प्रतिवचनजडः पातु वश्चक्रपाणिः॥

एवंविधो ऽपि यो गृह्णाति गोपिकां स किं छायां त्यजति। पुनस्तयोक्तम्—तर्हि चन्द्रस्य समीपे म्रियते। तेनोक्तम्—न तत्र। को दोषः। स आह।

सो ऽप्येकदा विश्वामित्रतापसभार्यां दृष्ट्वा विशिष्टमात्मीयं रूपं प्रदर्श्य स्वासक्तां कृत्वा क्रीडासमये भर्तारं बहिरागतं ज्ञात्वा मध्ये कः इत्युक्ते मार्जार इत्युक्ते स मार्जारवेषेण निर्गतः। तपस्विना दृष्ट्वानेनान्यायः कृतः इति मत्वा स मृगचर्ममयाधारेणाहतः कलङ्काङ्कितो ऽभूत्। रोहिणीप्रभृतिदेवाङ्गनानामपि स्वामी तापसीं गृह्णाति। स किं छायां त्यजति। पुनरवादि तया। तर्हीन्द्रसमीपं म्रियते। प्रिये, न। किं कारणम्।

तेनैकदा वने परिभ्रमता गौतमर्षिभार्यामहिल्यां दृष्ट्वा सातिशयरूपेण तत्समीपं गत्वा अनुकूलिता च। तया क्रीडन् मुनिना दृष्टः भणितश्च। निःकृष्टो ऽसि योग्यर्थी। तव सर्वाङ्गे योनयो भवन्तु इति शप्तः। ततः सहस्रभगो ऽभूत्। तान् दृष्ट्वा लज्जितः शचीपतिः। तदनु पादयोः पतितः क्षन्तव्यमिति। तदनु करुणया तेन सहस्रलोचनः कृतः। एवं सुरीसमन्वितो ऽपि यः सेवते तापसीं स किं छायां त्यजति। पुनरभाणि तया—तर्हि मार्तण्डसमीपं म्रियते। स उवाच—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तेनैकदा सौरीपुराधीशान्धकवृष्णेः पुत्रीं कुन्तीं स्नान्तीं दृष्ट्वा सेविता। यो ऽदत्तां कुन्तीं गृह्णाति स किं दत्तां छायां त्यजति। पुनरभाणि—एवं चेद्यमसमीपं म्रियते। तेनोक्तम्—एवमस्तु। स नैष्ठिकः ब्रह्मचारीति। यमपुरीं गत्वा तत्समीपे तां धृत्वा तीर्थयात्रां गतौ मातापितरौ।

इतः छाया सयौवना जाता। तद्रूपं दृष्ट्वा यमो ऽस्य सूत्रस्यार्थं सत्यं कृतवान्।

संसर्गाद् दुर्बलां जीर्णां भ्रश्यन्तीमप्यनिच्छतीम्।
कुष्ठिनीं रोगिणीं काणां विरूपां क्षीणविग्रहाम्॥
निन्दितां निन्द्यजातीयां स्वजातीयां तपस्विनीम्।
बालामपि तिरश्चीं स्त्रीं कामी भोक्तुं प्रवर्तते॥ इति।

तदनु तेनासक्तचित्तेन सा स्वभार्या कृता। स ब्रह्मचारीति प्रसिद्धः। जनापवादभयेन तां दिवा गिलित्वा रात्रौ उद्गील्य तया सह भोगान् सेवते। स दिनं प्रति गङ्गां स्नानार्थं गच्छति। तत्र तां लतागृहे निधाय स्नातुं प्रविष्टः। अत्रान्तरे सा पवनेन अग्निना च दृष्टा। तदनु पवनो ऽग्निना भणितः। यथास्या मम च मेलापको भवति तथा कुरु। तेनोक्तम्—किमेवं शक्यते। यमः प्रचण्डः। अग्निर्बभाण—दृष्टे सति प्रचण्डो ऽन्यथा किम्? पवनेन तथा तयोः संयोगो ऽकारि। रत्यवसाने तयोक्तम्—हे अग्ने, यमस्य निर्गमनवेला बभूव। गच्छ स्वस्थानम्। तेनोक्तम्—त्वां विहाय गन्तुं न शक्नोमि। तया स गिलितः। तदनु यमेन निर्गत्य सा गिलिता। सा उदरमध्ये उद्गील्य तेन सह क्रीडां करोति। ततो ऽग्न्यभावे द्विजानां होमादिकं नष्टम्। तदभावे त्रैलोक्यस्य संतापो ऽभूत्। देवैः ध्यानेनावलोकिते सति कारणं ज्ञातं संतापस्य। तदनु पवनः पृष्टः। तेनाभाणि। मयाग्निशुद्धिर्नावगम्यते। तथापि सर्वे आमन्त्रिताः। सर्वे ऽपि तद्गृहं गताः। तेन चोपवेशिताः। पादप्रक्षालनादिके कृते सर्वेभ्य एकैकम् आसनं दत्तम्। यमायासनत्रयम्। तेन कारणे पृष्टे पवनेनोक्तम्—छायामुद्गिल। तत उद्गिलिता। तस्या अप्युक्तम्—अनलमुद्गिलेति। तया सो ऽप्युद्गिलितः। ततस्तस्याः कूर्चश्मश्रुकेशा उपप्लुष्टाः। तेन तत्प्रभृति वनितास्तद्रहिता बभूवुः। अग्निं दृष्ट्वा गदां गृहीत्वा तं मारयितुमुत्थितो यमः। स भयान्नश्यन् सन् सर्वगतो ऽभूत्। एवं सर्वं विद्यते न वा। तैरुक्तम्—सत्यं विद्यते। यमेनाग्निर्न ज्ञातः। किं तस्य सर्ववेदित्वं नष्टम्। द्विजैरुक्तम्—न। तर्ह्यस्यापि गुणा मा नश्यन्त्वित्यति जिते भवतु मार्जारस्तथाविधः, गृहीतो ऽस्माभिः। इदं धनुरिमे गदे विक्रीयन्ते नो वा। किरातेनोक्तम्—विक्रीयन्ते। धनुषः किं मूल्यं तथा गदायाश्चेत्युक्तम्। किरातेनोक्तम् प्रत्येकं सुवर्णद्वादशसहस्रमिति। किमेतेषां सामर्थ्यम्। कथ्यते मया। अनेन धनुषा इमे बाणा विसर्जिताः सन्त शतयोजनानि गत्वा शत्रुं निर्मूलयन्ति। इमे गदे महापर्वतान् चूर्णयत इति। द्विजैर्भण्यते—एवं सामर्थ्योपेताः पदार्थाः कस्य विकाराः। किरातेन भण्यते—मया मार्गे गच्छता अरण्ये स्वयमेव मृतो महामूषिको दृष्टः। तयोरस्थ्नामिमे विकारा इति। केनचिद् द्विजेन भणितम्—स्वदीयं वस्त्रं गतं, येन कौपीनं परिधायागतो ऽसि। तेनोद्यते—अहं कोटीभटो ऽमीषां विक्रयणार्थमागच्छन् मार्गे चौरैर्मुषितः। इति श्रवणादनु सर्वैरुपहसितम्—एवंविधाः पदार्थाः स्वनिकटे सन्ति स्वयं कोटीभटस्तथापि मुषितः इति। स बभाण—किमिति हसनं विधीयते। तैरभाणि—मूषिकयोरस्थ्नामायुधानि किं भवन्ति। कोटीभटः किं चौरैर्मुष्यते। स बभाण—किमिदमेव कौतुकम्। भवत्पुराणे किमेवंविधं कौतुकं नास्ति। किमेवमस्ति। यद्यस्ति तर्हि ब्रूहि। एवमस्तु। प्रोच्यते। शृणुत।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

युष्मत्पुराणे शतबलीति प्रसिद्धो राक्षसः। स स्वपुत्रं सहस्रबलिं स्वपदे निधाय स्वयमेकस्मिन् पर्वते तपः कर्तुं लग्नः। तत्पुत्रप्रतापं दृष्ट्वा देवकोटिभिश्चिन्तितम्—अयमस्मान्निर्मूलयिष्यति। यावत्प्रौढो न भवति तावद् विनाश्यत इति। तन्मारणार्थमिच्छद्भिः शतबलिर्दृष्टः। भणितं च। यावदयं न मार्यते तावत् सहस्रबलेर्मारणं दुर्घटम्। अयं च तपस्वी शस्त्रेण मारयितुमस्माकं न युक्तम्। इत्यादि पर्यालोच्य वज्रकण्टकवज्जिह्वैर्गवयैर्लेहयित्वा मारितः। तस्य शिरो द्विभागीकृतम्। एकस्यांशस्य इन्द्रेण वज्रायुधं कृतम्। अपरस्य विष्णुना चक्रे कृते महेश्वरेण तस्य पृष्ठास्थि गृहीत्वा द्वौ अंशौ छेदयित्वा मध्यमांशस्य पिनाकं नाम धनुः कृतम्। इतरांशयोर्गाण्डीवं नाम धनुः। तच्च वरुणाय दत्तम्। तेनाप्यग्नये तेन चार्जुनाय दत्तम्। कुक्षिप्रदेश-स्थितान्यस्थीनि त्रयस्त्रिंशद्देवानां धनूंषि बभूवुः। नलकजङ्घाबाह्वस्थनां सप्तशतगदा बभूवुः। तत्र रुधिरमुखो भीमाय नीलमुखो दुर्योधनाय यमाय यमदण्डः। अन्या अन्येभ्यो देवेभ्यो दत्ताः। अपरास्थनां त्रयस्त्रिंशत्कोटिदेवानामायुधानि जातानि। स्नायवः ब्रह्मपाशा अजनिषत। तेन धनुषा महेश्वरेण देवासुरा निर्जिताः। अर्जुनेन इन्द्रवनं दग्धम्। अग्निबाणैः सैन्धवस्य शिरो गृहीतम्। युधिष्ठिरस्य यज्ञविधानार्थं लङ्कायाः स्वर्णं, तैरेवानीतम्। तद्बाणेन भूमिं विदार्य पातालं प्रविष्टो ऽर्जुनः। तत्र नागराजेन युद्धं कृत्वा जित्वा च नागदत्तां तत्पुत्रीं परिणीय तया तेन सहागत्य यज्ञमण्डपं प्रविष्टः। भीमसेनः प्रतिसन्धि सिंहसहस्रबलान्वितः मल्लविद्यया नारायणस्यापि दुर्जयः। तथापि कुलनामराक्षसेन धृतः। अर्जुनेन इन्द्रकीलस्योपरि मायाशूकरनिमित्तं महेश्वरो निर्जितः। यमेन सोमिनी नाम ब्राह्मणी यमपुरीं नीता। तद्ब्राह्मणाक्रोशवशेनार्जुनेन यमपुरीं गत्वा युद्धे तं बद्ध्वा विमुच्य सा आनीता। तथा तेन स्वबाणपिच्छाथिना गरुडपक्षपिच्छग्रहणे युद्धे जाते नारायणो ऽपि बद्धः। तथा सप्त दिनानि भूमिमुद्धृत्य स्थितः। पार्थः एवंविधायुधालङ्कृतः तथाविधसामर्थ्यान्वितो ऽपि मार्गे गच्छन् केनचिद् भिल्लेन मुषितः। इति सर्वं विद्यते नो वा। सत्यम्, विद्यते। तर्हि तत्र भवतां किमिति विस्मयो नास्ति। अत्रैव संजातः। इति बहुधा जित्वोद्यानं गत्वा मनोवेगेन भण्यते। हे मित्र, अपरमपि पुराणं शृणु। तथाहि।

ईश्वर एकदा नृत्यन् दारुकवनं प्रविष्टः। तत्र तापसवनितास्तं दृष्ट्वा मोहिता बभूवुः। तथा सो ऽपि। तेन सर्वाभिः क्रीडितम्। तास्तस्यैवासक्ता जाताः। तापसानां पादप्रक्षालनमपि न कुर्वन्ति। तापसैर्गूढवेषैरवलोकयद्भिः ताभिः सह क्रीडन् दृष्टः। शापेन तस्य लिङ्गं पातितम्। तेनापि तत्सर्वेषां ललाटे लग्नं कृतम्। तदनु तैरीश्वरं ज्ञात्वा पादयोः पतितं भणितं च—वारमेकं क्षन्तव्यं, ललाटस्थं लिङ्गं स्फेटनीयम्। तेनोक्तम्—मदीयं लिङ्गं गृहीत्वा कैलासमागच्छन्तु। एवं कुर्महे इति यावत् तदुत्पाट्य स्कन्धे निक्षिपन्ति तावद् वर्तितुं लग्नम्। इत्यपरापरतापसैर्गृहीत्वा महता कष्टेन कैलासमानीतम्। तदनु गौरी हसिता तुष्टा च भणति महेश्वराय। यथामीषां ललाटस्थं लिङ्गं गच्छति तथा कर्तव्यमिति महेश्वरेणोक्तम्—इदं योनिस्थं लिङ्गं यदा पूजयन्तु [न्ति] तदा ललाटस्थं लिङ्गं याति नान्यथा। इति ते ऽपि पूजयितुं लग्ना इति। तथापरमपि शृणु। हे मित्र तद्यथा—

पूर्वमत्र सचराचरलोको नास्ति। बहुकालेनैकदाकस्मादण्डमुत्पन्नम्। तत् कियत्स्वहस्सु स्फुटितम्। तस्याधस्तनभागः सप्तनरकाः। मध्यभागः उर्वीमकरपर्वताकरादिर्बभूव। उपरितनभागः स्वर्गादिरूर्ध्वलोको ऽजनि। मध्ये शंकरः स्थितः। स शङ्कया दिगवलोकनं किल यदा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करोति, तावत्किमपि नश्यति। भयचकितचित्तेन दक्षिणभुजे ऽवलोकिते ब्रह्मा उत्थितः। वाम-भुजावलोकनेन वासुदेवो जातः। त्रयो ऽपि कियत्कालं यावत्तिष्ठन्ति स्त्रीरूपाभावे ऽनङ्गाग्निना संतप्ता बभूवुः। ततो वासुदेवेन स्त्रीरूपं खटिकया लिखितम्। तस्यां ब्रह्मणा चैतन्यं प्रापितम्। तदनु सा नग्नरूपेणोत्थिता। महेश्वरेण वस्त्रं दत्तम्। हस्तश्च धृतः। ततो वासुदेवेन भणितम्—मया लिखिता। अहं स्वामी। ब्रह्मणोदितम्—मया चैतन्यं प्रापिता। अहं स्वामी। इति झगडके सति त्रिभिरितस्तत आकृष्टा। त्रयस्त्रिंशत्कोटिदेवैर्भणितम्—विचार्य एकेन स्त्री कर्तव्येति। कथं विचारः। सुरैरभाणि—येन प्रथममुत्पादिता स पिता। येन चैतन्यं प्रापिता स माता। वस्त्रदाता वल्लभ इति शिवाय दत्ता। तया सह सुखेन स्थितं शङ्करं दृष्ट्वा पुनरितराभ्याम् अमर्षात् युद्धे कृते सा लज्जया जलं बभूव। नदीरूपेण वोढुं लग्ना। सा नदी गङ्गा जाता। पुनस्ते मैत्रीं गताः। तस्या विस्तारं दृष्ट्वा त्रयो ऽपि तदनुभवनार्थं पूर्ववद् विष्णू रूपं, ब्रह्मा चैतन्यं, महेश्वरो वस्त्रादिकं करोति। तत इदं सूत्रम्—

कार्यं विष्णुः क्रिया ब्रह्मा कारणं तु महेश्वरः।
एकमूर्तित्रयो भागा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः॥

ततो बहुजनसंपूर्णो जातो लोकः। एवं लोकोत्पत्तिं कृत्वा बहुकाले गते हरिब्रह्मणोर्झगडको जातः। अह (ह) महं महानिति। ततो महेश्वरेणोक्तम्—कोलाहलो न विधेयः। एको मम शिरो ऽवलोक्यापरः पादावलोक्य प्रथममागच्छति स महानिति। तदनु शंकरः ऊर्ध्वलोके शिरः, मध्य-लोके लिङ्गम्, अधोलोके पादौ विधाय स्थित्वा मूषिकप्रमाणतनुः स्थूलपुच्छः पृष्ठे रेखात्रयालङ्कृतः खडिहलकरूपेणोपरि गतः। महता कष्टेन यावन्नाभिप्रदेशं गच्छति तावत्केतकीमागच्छन्तीं दृष्ट्वा कस्मादागतासीति ब्रह्मणा तयोक्तम्—महेश्वरमस्तकस्थितपिङ्गलजटायाः सकाशात्। कियत्कालं निर्गता। दिव्यषण्मासान्। ततस्तेन प्रार्थिता। अहमनेन पिङ्गलजटायाः सकाशादानीतेति भणितव्यम्। एवमस्त्वित्यभ्युपगतं तया। ततो व्याघुटितो ब्रह्मा आगत्य भणति—तव शिरो दृष्ट्वा तत्र पिङ्गलजटायां स्थिता केतकी आनीतेति पृष्टया तयाप्येवमित्युक्तम्। ततः शिवो ज्ञात्वा मौनेन स्थितः। हरिर्वराहरूपेण जङ्घप्रदेशं गतो ऽग्रे गन्तुमशक्तः सन्नागत्य भणति—शिव, तव जङ्घपर्यन्तं गतो ऽहमिति। ततस्तुष्टेन शङ्करेण भणितं वासुदेवाय त्वं राजपूज्यो भव श्रिया-लंकृतश्च। ब्रह्मणः प्रतिपादयति—त्वं मृषाभाषी सूत्रमिदमसत्यं कृतवान्। तच्च किम्—

सत्यादुत्पद्यते धर्मो दयादानेन वर्धते।
क्षमया स्थाप्यते धर्मः क्रोधलोभाद्विनश्यति॥

अतस्त्वं भिक्षाभाजनं पूजारहितश्च भवेति शापितः। केतक्यपि मृषाभाषिणीति मम मस्तकारोहणं मा करोदिति निषिद्धा किल लिङ्गपुराणे। अतो महेश्वरस्योर्ध्वलोके शिरः मध्यलोके लिङ्गम् अधोलोके पादौ किल पूज्यौ। हे मित्र, यद्येते सर्वज्ञा महेश्वरस्तयोर्गुरुलघुत्वं कुतो न जानाति। तावप्यात्मनोर्गमनाशक्तित्वं न जानीतः इत्येतेषां विरुद्धम्। अनेन निरूपितम्—अतो मया एतेषां नमनं विहाय एवंविधस्य नतिः क्रियते। किंविशिष्टस्य।

पातालं येन सर्वं त्रिभुवनसहितं सासुरेन्द्रामरेन्द्रं
भग्नं स्वैः पुष्पबाणैः भयचकितबलं स्त्रीशरण्यैकनिष्ठम्।
सो ऽयं त्रैलोक्यधीरः प्रहृतरिपुबलो मन्मथो येन भग्न-
स्तं वन्दे देवदेवं वृषभहरिहरं शङ्करं लोकनाथम्॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इत्येवमादिना वचनालापेन मित्रस्य चित्तं मृदुतामानीतम् ॥छ॥

ततो ऽपरदिने ऋषी भूत्वा पश्चिमगोपुरे तत्क्रमेणोपविष्टौ। द्विजैस्तत्क्रमेण संभाषणादिके कृते न किंचिद्विरुद्धम् इति प्रतिपाद्य तथैव भूमावुपविष्टे विप्रैर्गुरौ तपश्चरणकारणे च पृष्टे नावयोर्गुरुरस्ति, तर्हि कथं तपः। कथयितुं बिभेमि। मा भैषीः। गुणवर्मणः कथा किं न क्रियते। सा किंरूपा। प्रतिपादयति खगः। चम्पापुरे राजा गुणवर्मा, मन्त्री हरिः, तेनैकदा बहिर्गतेन सरोवरे शिला प्लवन्ती दृष्टा। राज्ञे कथितम्। राज्ञा ग्रहो लग्न इति प्रतिनिगृहीतः। तेनोक्तम्—ब्रह्मराक्षसोऽहम्। गच्छामीति विसर्जितः। स मन्त्रिणा स्वहृदये वैरं स्मरता स्वोद्याने मर्कटाः संगीतकं कर्तुं शिक्षिताः। कथम्। यदैव मनुष्यमवलोकयन्ति तदैव नृत्यन्ति यथा सुशिक्षितेषु। मन्त्रिणा राजा उद्यानं नीतः। तस्यैव तन्नृत्यं दर्शितम्। दृष्ट्वा राज्ञोक्तम्—अहो विचित्रं मर्कटानां संगीतकम् इति। तदनु मन्त्रिणा धूत्वा राजभवनं नीतः ग्रहो लग्न इति धूपः प्रदर्शितः। राज्ञोक्तम्—झोटिंगोऽहं गच्छामि। तदनु विसर्जितः। स्वस्थेन राज्ञोक्तम्—सम्यग्मया दृष्टम्। किमर्थमेतत् कृतम्। मन्त्रिणोक्तम्—अश्रेद्धं [अश्रद्धेयं] न वक्तव्यं प्रत्यक्षमपि यद्भवेत्।

यथा वानरसंगीतं यथा सा प्लवते शिला ॥

इति श्रुत्वा द्विजैरुक्तम्—न तादृशः को ऽपि। कथय। एकान्तग्राहिणः कथा किं न विधीयते। किंविशिष्टा सा। स आह। वन्दुरवारे पुरे राज्ञो दुर्धरस्य पुत्रो जात्यन्धः। स च केनचित् प्रशंसितः सन् स्वान्याभरणानि ददाति। बहुकालेन पुत्रो ऽपोमयैराभरणैर्विभूषितः कृतः। उक्तं च तस्य। हे पुत्र, इमान्याम्नायागतानि देवताधिष्ठानि विभूषणानि। यो यो ऽयोमयानीति भणति स अनेन लकुटेन हन्तव्य इति निरूपिते स तथा करोति। न तादृशः को ऽपि। निवेदय। कथ्यते। अयोध्यापुरे वणिक्-समुद्रदत्तस्य पुत्रावावां वसतो ऋषिपार्श्वे पठावः। चतुर्दशीदिने गुरोः कुण्डिकां भर्तुं यावद् गच्छावः, तावद्राजहस्ती स्तम्भमुन्मूल्य सर्वान् मारयन्नावयोर्मारणार्थमागतः। आवां पलाय्य नगरबहिरेरण्डशाखायां कुण्डिकामवलम्ब्य झम्पनमपसार्य तत्र प्रविश्य झम्पने दत्ते पिप्पलिकां दातुं विस्मृतौ। तद्द्वारेण हस्ती प्रविष्टः। तद्भयादावां तन्मध्ये नश्यावः। स च पृष्ठे लगति। यावत् षण्मासान् तत्र स्थातुमशक्तौ तद्द्वारेण निर्गतावावाम्। गजो ऽपि तेनैव निर्गतः। पुच्छबाल एको न निर्गच्छतीति हस्ती स्थितः। आवामृषी भूत्वा यात्रागताविति तपश्चरणकारणं भणितम्। श्रुत्वा विप्रैर्भणितम्। अहो दिगम्बरस्य वचनमसत्यम्। तेनोक्तम्—कथमसत्यम्। कुण्डिकायां प्रवेशः, तद्भारेण शाखायाः अभङ्गो गजस्यापि प्रवेशः, उभयोः पलायनं, गजस्य पृष्ठतः प्रायणं, षण्मासान् उभयोर्निर्गमनं, गजबालस्यानिर्गमः, सर्वं विरुद्धम्। भवत्पुराणे किमीदृशं नास्ति। नास्ति, यद्यस्ति तर्हि कथय। कथ्यते। तद्यथा—

ब्रह्मा लोकं कृत्वा नारायणस्य हस्ते रक्षणार्थं प्रतिष्ठाप्य भिक्षार्थं गतः। विष्णुना हरभयाद् गिलितो लोको ऽनुगत्वातसीझाडावस्थितागस्त्यं दृष्ट्वोक्तम्। लोकरक्षणार्थं मया क्व प्रविश्यते। मुनिनोक्तम्—अतसीशाखामवलम्ब्य कुण्डिका तिष्ठति। तत्र प्रविश। प्रविष्टः। तत्र सप्तसागरान् दृष्टवान्। क्षीरसागरमध्यस्थितद्वादशयोजनमध्यस्थितविस्तारवटवृक्षपत्रसंपुटमध्ये सुप्तः। भिक्षां गृहीत्वा आगतो ब्रह्मा तमपश्यन्नितस्ततो ऽवलोकयन् अगस्त्यं दृष्ट्वा पृष्टवान्—'भगवता हरिर्दृष्ट इति'। मुनिनोक्तम्—कमण्डलुमध्ये ऽवलोकय। ततः षण्मासान् विलोक्य तत्र सुप्तो दृष्टः। तदुदरे तिष्ठतीति ज्ञात्वा कथं प्रविश्यत इति यावच्चिन्तयति तावत्तेन जृम्भः कृतः। तदवसरे प्रविश्य हरिर्नाभौ स्थितः। कमलनालच्छिद्रेण लोकं निःसार्य स्वस्य निर्गमने सर्वाङ्गं निर्गतम्। मुष्ककोशो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न निर्गतः इति कमलासनो ऽभूदिति विद्यते नो वा। तैरुक्तम्—सत्यं, विद्यते। तर्हि तद्भूवतामसत्यमिति न प्रतिभासते, इदं तु तथा भासते इति कथं शोभते। इति निरुत्तरं जित्वा मनोवेगेनोक्तम्—तथापरापि कथा भवन्मते विद्यते।

कुरुजाङ्गलदेशे हस्तिनागपुरेशयुधिष्ठिरेण यज्ञं कारयितुं प्रारब्धम्। कथम्। 'अश्वमेधे हयं हन्यात् पौण्डरीके च दन्तिनम्।' इति वेदोक्तक्रमेण। तथापि पुण्यं न लभते। पृष्टेन केनचिन्नैमित्तिकेनोक्तम्—असुराः फलं गृह्णन्ति, कथं निवार्यन्ते। तेनोक्तम्—ऋषिनाथः अगस्तिः पाताले तिष्ठति। स धरणेन्द्रेण सहानीय यज्ञमण्डपे उपवेशितश्चेन्न हरन्ति। कथमानीयते इति सचिन्तो राजा अर्जुनेन भणितः। मया आनीयते, प्रेषणं प्रयच्छ। इति दत्ते तस्मिन् अर्जुनो बाणेन भूमिं विद्ध्वा तच्छुषिरेण पातालं प्रविश्य धरणेन्द्रेण युद्धं कृत्वा तं बद्ध्वा विमुच्य तत्पुत्रीं नागदत्तां परिणीय अर्जुनः ऋषिनाथं धरणेन्द्रेण दशकोटिबलेन सहानीतवान्। इति अस्ति नो वा। नास्तीति केन भण्यते। तस्य सूक्ष्मच्छिद्रेण प्रवेष्टुमुचितं, नावयोरिति कथं युक्तम्। तैरुक्तम्—भजतु प्रवेशः। कथं तत्रावगाहः। तेनोक्तम्—अङ्गुष्ठपर्वमात्रोत्सेधधारिणागस्त्येन समुद्रः शोषितः। तदुदरे मकराकरस्यावगाहो भवति। नास्माकं कुण्डकाभ्यन्तर इति केषां वाचोयुक्तिरिति। स तथा जित्वोद्यानं गतवान्। मनोवेगो भणति स्म मित्राय। यदा ब्रह्मणा लोको विहितः क्व स्थित्वा विहितः। विष्णुना गिलिते तस्मिन् क्व भिक्षां याचितवान्। क्षातसीक्षेत्रं स्थितम् इति विचारासहत्वादेतद्विरुद्धम्। पवनवेगेन भणितम्—तर्हि लोकः कथमुत्पन्नः। स आह—"कालः सर्वज्ञनाथश्च जीवलोकस्तथागमः। अनादि-निधना ह्येते द्रव्यरूपेण संस्थिताः" इति लोको ऽनाद्यनिधनः। जीवादि-पदार्थाधिकरणभूतः समन्तादनन्तानन्ताकाशबहुमध्यप्रदेशस्थिततनुवातघनानिलघनोदधिनामभिर्वातैर्वेष्टितः। अधःसमचतुरस्रसप्तरज्जुविस्तृतः चतुर्दशरज्जूत्सेधवान् पूर्वापरदिग्विभागयोर्हानिविस्तारवान्। कथम्। पूर्वापरदिग्भागयोः समः। तन्मध्ये समचतुरस्रैकरज्जुविस्तारेण चतुर्दशरज्जूत्सेधवती त्रसनाडिः। तन्मध्ये महामेरुः। तस्याधःस्थिता नरकाः सप्त। ते च के। रत्नप्रभा १ शर्कराप्रभा २ बालुकाप्रभा ३ पङ्कप्रभा ४ धूम्रप्रभा ५ तमःप्रभा ६ महातमःप्रभा ७ इति। मेरुपरिवृताः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः। ते च के। जम्बूद्वीपः लवणसमुद्रः। धातकीखण्डद्वीपः कालोदकसमुद्रः। पुष्करद्वीपः पुष्करसमुद्रः। वारुणीद्वीपः वारुणीसमुद्रः। क्षीरद्वीपसमुद्रः। क्षौद्रद्वीपसमुद्रः। इत्यादि असंख्यात द्वीपसमुद्राः। द्विगुणद्विगुणविस्ताराः मेरोरुपरि स्वर्गाः। ते च सौधर्म १ ईशान २ सनत्कुमार ३ माहेन्द्र ४ ब्रह्म ५ ब्रह्मोत्तर ६ लोकान्त ७ काम्पिष्ट ८ शुक्र ९ महाशुक्र १० शतार ११ सहस्रार १२ आनत १३ प्राणत १४ आरण १५ अच्युता १६ इति षोडश स्वर्गाः। तेषामुपरि नव ग्रैवेयकाः। तेषामुपरि नवानुदिशाः। तेषामुपरि विजय १ वैजयन्त २ जयन्त ३ अपराजित ४ सर्वार्थसिद्धि ५ इति पञ्चानुत्तराः। तेषामुपरि सिद्धक्षेत्रम्। इति लोकस्वरूपं विस्तरतः करणानुयोगाद् ज्ञातव्यम्। इति वचनामृतसहस्रेण मित्राय लोकस्थितिं प्रतिपाद्य ततो ऽन्येद्युः भौतिको भूत्वा दक्षिणगोपुरे तत्क्रमेणोपवेशने संभाषणे च जाते द्विजैः को गुरुः, किं कारणं तपसः इति पृष्टे तेनोक्तम्—नावयोर्गुरुरस्ति। गुरुं विना किं तपो ऽस्ति, कथ्यताम्। बिभेमि। मा भैषीः। पित्तज्वरगृहीतस्य कथा किं न विधीयते। कथम्। पित्तज्वरगृहीतस्य मधुरं नावभासते तथा युष्माकं सत्यमप्यस्मद्वचः इति। कथ्यते, यथोक्तं विद्यार्यते। कथय। आम्रस्य कथा न किं विधीयते? कीदृशी सा। निगद्यते तेन। तथा हि।

अङ्गदेशे चम्पापुरे नृपशेखराय केनचिद्वणिजा पलितवलिस्तम्भकारि आम्रस्य बीजं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दत्तम्। भूपेन वनपालस्यास्य वृक्षं कृत्वा यदा पक्वफलमानयसि तदा तुष्टिर्दीयते इति समर्पितम्। तेन उग्रम्। तद्वृक्षे फलमायाते एकदा गृध्रे सर्पं गृहीत्वा खे गच्छति सति विषबिन्दुः फलस्योपरि पतितः। तद्भक्षणात्पक्वं फलं वनपालेनानीय राज्ञे समर्पितम्। तेन च युवराजाय दत्तम्। तद्भक्षणान्मृतः। राज्ञा कोपात् स वृक्षः सत्फलः छेदितः। अत्र सर्वे विचारका एव। प्रतिपादय। एवंविधो ऽस्ति। नास्ति को ऽपि। कथय।

अयोध्यायां वणिक्धनदत्तस्य पुत्री देवदत्ता वसुदेवाय दत्ता। पाणिग्रहणार्थं वेदिकायाम् उभयोर्भध्ये ऽन्तःपटो धृतः। तदवसरे राजहस्तो बन्धनानि त्रोटयित्वा निर्गतः तद्भयान्नश्यतो वसुदत्तस्य पाणिर्देवदत्ताया लग्नः। तत्स्पर्शमात्रेण तस्याः गर्भः स्थितः। नवमे मासे बहवो भौलिका धनदत्तेन गृहमानीताः। देवदत्तया कस्मात् किमर्थमागता इति संभाषणे कृते दक्षिणापथादागताः, द्वादशवर्षदुर्भिक्षभयादिति कथितम्। मया गर्भस्थेन श्रुत्वा चिन्तितम्। बहिर्दुर्भिक्षकालः प्रवर्तते। अतो ऽत्रैव तिष्ठामीति स्थितो ऽहम्। तत्र द्वादश वर्षेषु गतेषु पुनस्तैरागत्य दुर्भिक्षो गतः, स्वदेशं गम्यते इति प्रतिपादितम्। श्रुत्वाहं मम मातुर्मुखान्निर्गतः। तदा मन्माता चुल्लीसमीपे स्थितेति अहं तत्र पतितः। उत्थाय मया मन्मातुश्चीरं धृत्वा भोजने याचिते सा राक्षसो ऽयमिति भणित्वा पलायिता। सर्वैर्विचार्य निर्धारितो ऽहं जटाधरो जातः। एकदायोध्यायां गत्वा मातृपित्रोर्विवाहं दृष्टवान् विहरन्तत्र समायातः। इति तपश्चरणकारणं भणितं श्रुत्वा तैरुक्तम्। अहो विस्मयकारि तपस्विनो वचनम्। तद्यथा—पुरुषबाहुस्पर्शनमात्रेण गर्भसंभूतिः। गर्भे स्थित्वा श्रवणम्। द्वादश वर्षाणि तत्र स्थितिः। मुखान्निर्गमनम्। उत्पन्नसमय एव भोजनं याचितम्। त्वयि पुत्रे तव मातुः कन्यात्वं च विरुद्धम्। न विरुद्धं भवन्मते ऽपि सद्भावात्। अस्मन्मते किमेवं विद्यते, किं न विद्यते। यद्यस्ति तर्हि कथय। कथ्यते—

अयोध्यायां तृतीयारथ्याख्ये क्षत्रियपुत्र्यौ कृतचतुर्थस्नाने एकस्मिन् शयनतले सुप्ते। परस्परस्पर्शनेन एकस्या गर्भे भगीरथ उत्पन्नः इति। तथा सौरीपुरेशान्धकवृष्णिः। तस्य भ्रातुर्नरवृष्णेः पुत्री गान्धारी। हस्तिनागपुरेशव्यासपुत्रजात्यन्धकधृतराष्ट्राय दास्यामीति पित्रा प्रतिपन्नम्। तया एकदा चतुर्थस्नानं कृत्वा धृतराष्ट्रो ऽयमिति पनसवृक्ष आलिङ्गितः। ततो गर्भसंभूतौ नवमासावसाने पनसफलं निर्गतम्। तत्र दुर्योधनादि पुत्रशतं स्थितमिति विद्यते नो वा। भवतु। कथं गर्भस्थ श्रवणमिति। किं भवन्मते प्रसिद्धं न विद्यते। किमेवं विद्यते। कथ्यते।

द्वारवत्यां विष्णोर्भगिनी सुभद्रा पाण्डुपुत्रायार्जुनाय दत्ता। गर्भसंभूतौ प्रसूत्यर्थं स्वभ्रातुर्गृहमागता। तस्या रात्रौ नारायणः कथां कथयति। चक्रव्यूहकथने क्रियमाणे निद्रिता सा। प्रतिध्वन्यभावे तूष्णीं स्थिते वासुदेवे गर्भस्थेन भणिते वासुदेवेन ध्यातम्। अहो कश्चिदसुरो भविष्यति। तत उत्पन्नो ऽभिमन्युः। किं सत्यमसत्यं वा। नासत्यम्। तर्हि तस्य श्रवणमुचितं न ममेति को ऽयं पक्षपातः। भवतु श्रवणं, कथं द्वादशवर्षाणि गर्भस्थितिः। किं युष्मन्मते नास्ति। नास्ति। यद्यस्ति तर्हि कथय। कथ्यते। एकस्मिन्नरण्ये मुनिस्तपः करोति। एकस्यां रात्रौ इन्द्रियक्षरणे जाते सरसि कौपीनं प्रक्षाल्य कमल-कर्णिकायां निक्षिप्योत्तितम्। तत्र स्थितमिन्द्रियरजः मण्डूकया गिलितम्। तदनु गर्भो जातः। प्रसूता पुत्री। अहो अज्ञातौ किं मानुषी देवी वेयं जाता। तत्कर्णिकायाम् उपवेश्य सर्वा अवलोकयन्त्यः स्थिताः। मयेन संध्यावन्दनार्थमागतेन दृष्ट्वा मत्पुत्रीयमिति ज्ञात्वा स्वावासं नीता। मन्दोदरीसंज्ञापोषिता वृद्धिं गता। एकस्मिन् दिने सा तत्र कौपीनं गृहीत्वा स्नातुं गता। तत्र लग्नमिन्द्रियमार्दीभूय तत्प्रजनेन प्रविष्टम्। तदनु गर्भः स्थितः। ऋषिरुदरवृद्धिं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दृष्ट्वा विस्मितः। ज्ञानेन ज्ञात्वा यावत्ते पतिर्भवति तावद् गर्भः स्थिरो भवत्विति स्तम्भितः। ततः सप्तशतवर्षेषु गतेषु लंकायां रावण उत्पन्नो राज्ये स्थितः। एकदा पार्पधि गतः। मन्दोदरीं दृष्ट्वा-सक्तो जातः। अनुयाचिता ऋषिणा दत्ता। तां परिणीय स्वपुरं गतः। तस्याः पुत्र इन्द्रजिज्जातः। एतद्भवति नो वा। भवत्येव।

एवं तर्हि तस्या गर्भे सप्तशतवर्षाणि स्थातुमुचितम्। न ममेति को ऽयं नियमः। भवतु तत्र स्थितिः। कथं मुखनिर्गमनम्। कथं कर्णस्य कर्णनिर्गमनम्। भवतु मुखनिर्गमनम्। कथं तदैव भोजनयाचनम्। किं भवद्भिः स्वमतं न ज्ञातम्। त्वया ज्ञातं चेत् ब्रूहि। प्रोच्यते।

पाराशरो नाम प्रसिद्ध ऋषिः गङ्गायाः परतीरगमनार्थं तारकमपश्यन् तत्पुत्रीं योजनगन्धां दृष्ट्वा मामुत्तारयेत्युक्तवान्। तयोक्तम्। त्वं देवर्षिः। अहं निकृष्टा। उभयोः कथं सह यानम्। तयोक्तम्। तेनोक्तम्। न दोषः इति। नावं चटयित्वा याने नदीमध्ये आसक्तचित्तेनोक्तम्। मामिच्छ। नोचितम्। तेनोक्तम्। भणितं कुरु। तव शरीरे सौगन्ध्यं करोमीति। कृते तस्मिन् पुनस्तयोक्तम्। जनाः पश्यन्ति। तेन नीहारः कृतः। पुनस्तयोक्तम्। नौर्न तिष्ठति। कथं सौख्यम्। तेन द्वीपाः कृताः। एकस्मिन् द्वीपे तया सह क्रीडितवान्। एवंविधस्य कथमेतज्जातम्। संगात्। तथा चोक्तम्।

ब्रह्मचर्यविशुद्धचर्थं त्यागः स्त्रीणां न केवलम्।
त्याज्यः पुंसामपि प्रायो विटविद्यावलम्बिनाम् ॥इति।

तपोग्निना दग्धकामेन्धनस्य कथमेतत्संभाव्यते। स्त्रीमुखावलोकनात्। तथा चोक्तम्।

क्षीणस्तपोभिः क्षपितः प्रवासैर्विध्यापितश्चारु समाधितो यैः।
तथापि चित्रं ज्वलति स्मराग्निः कान्ताजनापाङ्गविलोकनेन ॥इति।

क्रीडावसाने परतीरं गतः तदैव तस्या गर्भसंभूतौ सत्यां जटाजूटधरो लाकुटकौपीनसमन्वितो व्यास उत्पन्नः। तदैव तेनोक्तम्। मया कथं क्व तपः क्रियते। इति पृष्टे पाराशरेणोक्तम्। त्वयात्रैव तपः कर्तव्यमिति प्रतिपाद्य गतः। एतत् किं परमार्थभूतं नो वा। नेति केन भण्यते। तर्हि तदैव व्यासस्य तपःशिक्षां प्रष्टुमुचितम्। न मम भोजनयाचनमिति कथं प्रतिपाद्यते। भवतु तद्याचनम्। त्वयि पुत्रे जाते तव माता कथं कुमारी। किं न ज्ञायते भवद्भिः। न ज्ञायते। यदि त्वया ज्ञायते तर्हि कथय। कथ्यते।

कौन्त्याः सूर्येण गर्भो जातः। तदनु कर्णः पुत्रो जातः। तथापि सा कन्या। तथापरापि कथा।

उद्दालको नामर्षिः। स चैकदा गङ्गायां कृतस्नानः अनुकौपीनं प्रक्षाल्य कमलकर्णिकायां निपीडितवान्। तत्कमल-मयोध्याधिपरद्युपतिसुता चन्द्रमती तत्र स्नातुं गता। तया समीचीनं दृष्ट्वाध्मातम्। तदनु सा गृहमागता गर्भचिह्ने जाते मातापितृभ्यां पृष्टा। पुत्रि, कस्यायं गर्भः। तयोक्तम्। मया न ज्ञायते। नवमासावसाने तृणबिन्दुनामानं पुत्रं प्रसूता। स च जारपुत्र इति जनर्भण्यते। सापि केनापि परिणीयते। एकदा भिक्षार्थमागतेनोद्दालकेन तृणबिन्दुं दृष्ट्वायं मम पुत्र इति ज्ञातम्। सा च राजसमीपे याचित्वा परिणीता। एतत् किं विद्यते नो वा। एवं तर्हि ताभ्यां पुत्रमातृभ्यां कन्यात्वं घटते। न मम मातुरिति कथं विचार्यते। इति हेतुनय-दृष्टान्तैरनेकधा जित्वोद्यानं गतौ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तदनु पवनवेगेन भणितम्। हे मित्र, यदि कर्णः कर्णेन निर्गतश्च न भवति, तर्हि तस्योत्पत्तिं ब्रूहि। मनोवेगः प्राह।

अत्रैवार्यखण्डे कुरुजाङ्गलदेशे हस्तिनागपुरेशो विचित्रः। तस्य तिस्रो देव्यः, अम्बा, अम्बाला, अम्बिका चेति। तासां क्रमेण पुत्रा धृतराष्ट्रपाण्डुविदुराः। सूर्यपुराधिपान्धकवृष्णिभ्राता नरवृष्णिः। तत्पुत्री गान्धारी जात्यन्धकधृतराष्ट्राय दत्ता। अन्धकवृष्णिना भणितम्। मम पुत्र्यौ कौन्तीमाद्रच्यौ पाण्डवे दास्यामीति। तच्छ्रुत्वा पाण्डुर्हृष्टः। पाण्डोः पाण्डुरोगपीडां श्रुत्वा राज्ञा मत्पुत्र्यौ अन्यस्मै दास्यामीत्युक्तम्। तच्छ्रुत्वा पाण्डुर्दुःखितः चिन्ताग्निना संतप्तगात्रः एकदोद्यानं गतः। तत्र लतागृहनिकटे मुद्रिका दृष्टा गृहीता च। तदवसरे व्याकुलीकृतान्तरङ्गश्चिन्तागतिर्नामा विद्याधरः समायातः। इतस्ततोऽवलोकितवांश्च। पाण्डुना दृष्ट्वोक्तम्। किं भवदीयेयं मुद्रिका। दृष्ट्वा तेनोक्तम्। भवत्येव। दत्ता। तेन खगेनोक्तम्। त्वत्प्रसादाज्जीवितोऽहम्। त्वं किमिति कृशः। कथिते वृत्तान्ते वियच्चरेणोक्तम्। इयं काममुद्रिकाभीष्टं रूपं प्रयच्छति। एतन्माहात्म्यादभिलषितसुखानुभवनं कुरु। पश्चान्मया गृह्यते इति दत्ता तेन। पाण्डुस्तां गृहीत्वा सूर्यपुरीं गतः। कुन्त्या जलक्रीडावसरे तदुद्यानं प्रविष्टः। काममुद्रिकाप्रभावेण विशिष्टं रूपमात्मीयं तस्या दर्शितम्। तेन सा चासक्ता बभूव। स च स्त्रीरूपेण तद्गृहं प्रविष्टः। अष्टादशदिनानि तया सह स्थित्वा स्वपुरं गतः। इतस्तस्या गर्भे जाते मातापितृभ्यां पृष्टा। तया सर्वं कथितम्। गूढगर्भेण पुत्रं प्रसूता। स च मञ्जूषायां निक्षिप्य स्ववंशावल्या सह यमुनायां प्रवाहितः। अङ्गदेशे चम्पापुरेशसूर्येण तं दृष्ट्वा स्वदेव्या राधायाः समर्पितः। स च मञ्जूषायां कर्णौ धृत्वा स्थित इति कर्णनाम्ना वृद्धिं गतः। इति निरूपिते हृष्टः पवनवेगः।

ततोऽन्यस्मिन् दिने बौद्धवेषेण गत्वा दक्षिणपूर्वस्यां दिशि स्थितगोपुरे तत्क्रमेणोपविष्टौ। तथैव संभाषणे कृते विप्रैः को गुरुः, किं तपश्चरणकारणमिति पृष्टे, नावयोर्गुरुर्विद्यते। गुरुं विना कथं तपः। कथयितुं नायाति। किमिति। क्षीरकथाकरणभयात्। सा कीदृक्षा।

सागरदत्तो नाम वणिक् नालिकेरद्वीपं व्यवहारार्थं गतः। सह नीताया गोर्दधि तदधीशतोमराय दत्तम्। तेन चोक्तम्। किमर्थमिदम्। वणिजोक्तम्। भोजनार्थम्। भुक्ते तस्मिन् तोमरेणोक्तम्। कस्मादिदं रसायनमानीतं त्वया। वणिजोक्तम्। मम कुलदेवतया दीयते। सा मह्यं दातव्या। वणिजोक्तम्। न। पुनस्तोमरेणोक्तम्। यत्त्वया प्रार्थ्यते तन्मया दीयते इति। महताग्रहेण याचिता गौर्यावदिष्टं तावद् द्रव्यं गृहीत्वा दत्ता। तेन स्थापिता स्वगृहे। भोजनवेलायां तस्या भाण्डं प्रदर्श्य याचितं रसायनम्। सा मौनेन स्थिता। एवं द्वितीयदिने तृतीयेऽपि याचिते अदाने सति तद्गुणमजानता संकुप्य निःसारिता। एवमेव तु यो यद्गुणं न जानाति स तेन किं करिष्यति। तदुक्तम्।

गुणा गुणज्ञेषु गुणीभवन्ति ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः।
सुस्वादु तोयं प्रवतीह नद्याः समुद्रमासाद्य भवन्त्यपेयम्॥

एवंविधः कोऽपि न विद्यते। कथय। अगुरुकथाकरणे बिभेमि। सा किंलक्षणा। मगधदेशे राजगृहे राजा गजरथः। तत्रैकः कुटुम्बी हरिमेधहरः। तदपत्यं हलिः। मृते पितरि हलिना धावनेऽभ्यासः कृतः। जिताभ्यासो भूत्वा सिंहद्वारे राजसेवां करोति। एकदा राजा बाह्याल्यर्थं गतः दुष्टाश्वेन वनं नीतः। स्थिते परिजने हलिः सहगतः। राज्ञा दृष्ट्वा पृष्टः। कस्त्वमिति। तेनोक्तम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तव भृत्यो ऽहम्। तदनु शुश्रूषां कुर्वन् स्थितः। अश्वमार्गेणागते परिजने राजा विभूत्या पुरं प्रविष्टः। तदनु हलियोग्यम् उक्तं राज्ञा। रे पञ्चशतग्रामान् गृहाण। तेनोक्तम्। मातरं पृष्ट्वा गृह्यते। तदनु पृष्टया मात्रा गदितम्। हे पुत्र, त्वमहं चोभौ। एवं गृहीतेषु ग्रामेषु चिन्तां कः करिष्यति। यदि राजा तुष्टस्तर्हि सुभूमिक्षेत्रमेकं गृहाण। एवं करोमीति राजसमीपं गत्वा याचिते क्षेत्रे राज्ञोक्तम्। हे अकृतपुण्य, ग्रामान् गृहाण। तेनोक्तम् परिचिन्ताकारकाभावात् न गृह्यन्ते। सति द्रव्ये सर्वं भविष्यति। गृहाण। न। सर्वैर्भणितम्। पुण्यहीनस्य संतुष्टो राजा किं करोति। तथा चोक्तम्।

न हि भवति यन्न भाव्यं भवति च भाव्यं विनापि यत्नेन।
करतलगतमपि नश्यति यस्य च भवितव्यता नास्ति॥ इति।

तथापि राज्ञा करुणया तस्या अगुरुचन्दनं दत्तम्। तेन चिन्तितम्। अहो, यो राजा सुक्षेत्रं दातुमसमर्थः स किं पञ्चशतग्रामान् दास्यति इति। तेन तद्वनं सर्वं छेदयित्वा संशोष्य प्रज्वालितम्। कियत्सु दिनेषु राज्ञा तद्वनं किं कृतमिति पृष्टः। तेनोक्तम्। छेदयित्वा दग्धमिति। पुनरुक्तं राज्ञा। तत्र किंचिदुद्वृतं विद्यते नो वा। तेनाभाणि। अर्धदग्धानि काष्ठानि सन्तीति। राज्ञोक्तम्। एकमानय। आनीतम्। इदानीं त्वापणे विक्रीणीथाः। तथा कृते बहु द्रव्यं दृष्ट्वा कृतः पश्चात्ताप इति। न तथा को ऽपि। मा भैषीः। कथय।

विकमंपुरे वणिक्पुत्रावावाम्। आवयोः पिता बौद्धभक्तः। आवां बौद्धनिकटे पठावः। एकस्मिन् दिने अकालवृष्टिर्जाता। गुरोः संस्तरस्योपरि उदकस्रवणे जाते तच्छोषणार्थं समीपस्थपर्वतस्योपरि गतौ। शोषणसमये द्वाभ्यां शृगालाभ्यां पर्वतमुत्सार्यान्यत्र द्वादशयोजने नीत्वा स्थापितः सः। गतयोस्तयोरावां तदुपकरणानि गृहीत्वा बौद्धवेषेण भ्रमन्तावत्रागतौ इति तपोनुष्ठानकारणं भणितम्। अहो वैचित्र्यं रक्ताम्बरवचसः कथम्। अल्पसत्त्वाभ्यां किं पर्वतमुत्सार्यं द्वादशयोजनेषु निक्षिप्यते। किं भवत्पुराणे प्रसिद्धमिदं न भवति। यदि भवति, कथय। कथ्यते।

रामायणे सीताहरणे जाते शुद्धौ च सत्यां लङ्कागमनोपायः क इति सचिन्तो रामः। मर्कटैर्भणितः। मा चिन्तां कुरु। सर्वमस्माभिः क्रियत इति। पर्वतानुत्सार्यानीय तैः सेतुर्बद्ध इति। उक्तं च।

एते ते मम बाहवः सुरपतेर्दोर्दण्डकण्डूपहाः
सो ऽयं सर्वजगत्पराभवकरो लङ्केश्वरो रावणः।
सेतुं बद्धमिमं शृणोमि कपिभिः पश्यामि लङ्कां वृतां
जीवद्भिस्तु न दृश्यते किमथवा किं वा न वा श्रूयते॥

इति सत्यं विद्यते नो वा। न विद्यते इति केन भण्यते। यद्येवं तर्हि वानराणां भूधरोद्धरणमुचितं न शृगालयोरिति कथं श्लाघ्यम्। इति बहुधा जित्वोद्यानं गतौ। पवनवेगेन पृष्टो मनोवेगः। कथं रामलक्ष्मीधरयोर्लङ्कागमनमिति। स आह। हे मित्र, अस्मिन् भरते उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ समे प्रवर्तेते। तयोः प्रत्येकं षट्कालाः प्रवर्तन्ते। तत्रेयमवसर्पिणी। अस्यां षट्कालाः सन्ति। ते च के। सुषमः, सुषमसुषमः सुषमदुष्षमः, दुष्षमसुषमः, दुःष्षमः, अतिदुष्षमश्चेति। तत्र चतुर्थकाले त्रिषष्टिशलाकापुरुषाः स्युः। ते च के। चतुर्विंशतितीर्थंकराः। किंनामानः। वृषभः, अजितः, संभवः,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभिनन्दनः, सुमतिः, पद्मप्रभः, सुपार्श्वः, चन्द्रप्रभः, पुष्पदन्तः, शीतलः, श्रेयान्, वासुपूज्यः, विमलः, अनन्तः, धर्मः, शान्तिः, कुन्थुः, अरः, मल्लिः, मुनिसुव्रतः, नमिः, नेमिः, पार्श्वः, वर्धमानश्चेति। एते सर्वे मुक्तिगामिनः। द्वादश चक्रवर्तिनः। ते च के। भरतः, सगरः, मघवा, सनत्कुमारः, शान्तिः, कुन्थुः, अरः, सुभौमः, पद्मः, हरिषेणः, जयसेनः, ब्रह्मदत्तश्चेति। एषां मध्ये अष्टौ मुक्तिं गताः। ब्रह्मदत्तसुभौमौ सप्तमनरकं गतौ। मघवासनत्कुमारौ स्वर्गं गतौ। नव बलदेवाः। विजयः, अबलः, सुधर्मः, सुप्रभः, सुदर्शनः, नन्दी, नन्दिमित्रः, रामः, पद्मश्चेति। अष्टौ मुक्तिगामिनः। पद्मः ब्रह्मस्वर्गं गतः। नव वासुदेवाः। त्रिपिष्टः, द्विपिष्टः, स्वयंभूः, पुरुषोत्तमः, पुरुषसिंहः, पुण्डरीकः, दत्तः, नारायणः, कृष्णश्च। तेषां मध्ये एकः सप्तमं नरकं, पञ्च षष्ठं नरकं गताः। एकः पञ्चमनरकं गतः। एकश्चतुर्थम् अपरस्तृतीयम्। एते कथमाराध्याः। नव प्रतिवासुदेवाः। अश्वग्रीवस्तारकः, मेढको, मधुकैटभः, निशुम्भः, बलिः, प्रहरणः, रावणः, जरासन्धश्चेति। एते स्वकालवासुदेवाः यत्र नरके गताः इति त्रिषष्टिशलाकाः पुरुषाः। एकादश रुद्रा भवन्ति। के ते। भीमः, बलिः, जितशत्रुः, रुद्रः, वैश्वानरः, सुप्रतिष्ठः, अजितारिः, पुण्डरीकः, अजितधरः, अजितनाभिः, प्रतालः, सात्यकिः, पुत्रश्चेति। एते निर्ग्रन्थलिङ्गधारिणः। दशमपूर्वाध्ययने भग्ना भवन्ति। एतेषां मध्ये द्वौ सप्तमनरकं गतौ। पञ्च षष्ठं, एकः पञ्चमं, द्वौ चतुर्थम् अपरः तृतीयं गतः। इति कथमेते वन्द्याः। तत्राजितनाथकाले भरतक्षेत्रविजयार्धपर्वतदक्षिणश्रेणौ रथनूपुरचक्रवालपुराधीशपूर्णधनस्य पुत्रस्तोयदवाहनः। तस्मै पूर्वभवस्नेहेन भीमराक्षसनामव्यन्तरदेवेन लङ्काद्वीपमध्ये स्थितं लङ्कापुरं, राक्षसी विद्या, नवमुखकण्ठाभरणं च दत्तम्। ततस्तस्य तोयदवाहनस्य कुलं राक्षसकुलं जातम्। तत्संताने बहु गतेषु उत्पन्नो धवलकीर्तिः। तेन विजयार्धपर्वतदक्षिणश्रेणिमेघपुराधीशातीदूयस्य पुत्रः श्रीकण्ठः। तनुजा देविला परिणीता। तेन च श्रीकण्ठाय वानरद्वीपो दत्तः वानरी विद्या च। ततस्तस्य श्रीकण्ठस्य श्रीकुलं वानरकुलं जातम्। रावणो राक्षसकुले उत्पन्न इति राक्षसो भण्यते। न निशाचरः। सुग्रीवादयस्तु वानरकुलोद्भवाः। न तु स्वयं वानराः। ते च आकाशगामिनीप्रभावेण लङ्कां गताः। न तु सेतुं बन्धयित्वेति। अन्यत् सर्वं पद्मचरित्रे ज्ञातव्यम्।

इति स्वसमयप्रसिद्धरामायणनिरूपणप्रवणैर्वचनैस्तद्वंशोत्पत्तिं प्रतिपाद्य मित्रस्य चित्तं प्रह्लाद्य परस्मिन् दिने श्वेताम्बरवेषेण गत्वा ऐशान्यां दिशि गोपुरे द्वारेण तत्क्रमेणोपवेशने संभाषणे च जाते सूत्रकण्ठैरुक्तम्। को गुरुः। किं तपश्चरणकारणम्। श्वेतपटैनोक्तम्—नावयोर्गुरुरस्ति। तद्विना कथं तपः। किं रजकचन्दनकथा न विधीयते। सा किरूपा। स आह।

उज्जयिन्यां राजा शान्तनामा। तस्य महान् दाहज्वरो जातः। वैद्यप्रतिकारे उल्लंघिते राज्ञा यो मदीयं ज्वरमपहरति तस्मै अभीष्टं दीयते। आज्ञा दत्ता वणिजैकेन धृता। तदनु वणिक् शीतलद्रव्यावलोकनार्थं प्रदेशं गतः। तत्र वस्त्राणि प्रक्षालयता रजकेन नदीरयेणागतं गोशीर्षचन्दनकाष्ठमिन्धनार्थमाकृष्य तटे निक्षिप्तम्। भ्रमता तेन वणिजा दृष्टम्। ज्ञात्वा तस्मै काष्ठभारमेकं दत्त्वा संगृह्य तत्तामर्थ्येन राज्ञो ज्वरमपसार्य राज्ञो ऽभीष्टं गृहीतमिति। किमीदृशः को ऽपि विद्यते। कथय। किं मूर्खचतुष्टयकथाकारको नरो न विद्यते। तत् कीदृशं मूर्खचतुष्टयम्। कथ्यते मया।

चतुर्भिः पुरुषैर्मार्गे गच्छद्भिः संमुखमागच्छन् मुनिर्दृष्टः। तदनु नमस्कारे कृते मुनिना वारमेकं धर्मवृद्धिरस्त्विति युक्तम्। चतुर्भिरपि कियदन्तरं गत्वा चिन्तितम्। अहो, अस्माभिः सर्वैर्नमस्कारे कृते मुनिना एकैव धर्मवृद्धिर्दत्ता। सा कस्यात्र भवति। मम ममेति झगटके कृते सर्वैः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर्यालोचितम् । मुनिः प्रष्टव्यः । तेन यस्मै दत्ता तस्मै भवत्विति । मुनिं पृष्टवन्तः कस्मै धर्मवृद्धिर्दत्तेति । मुनिनात्मनो रक्षणार्थं योऽतिमूर्खः तस्मै दत्तेति भणित्वा गतम् । ते ऽप्यहमहं मूर्ख इति वादेन नगरमागताः । तत्र सभां मेलयित्वा अस्माकं विवादः स्फेटनीय इति मुद्रापणे दत्ते सभास्थैः को विवाद इति पृष्टाः । कथिते स्वरूपे मध्यस्थैरुक्तम्—आत्मीयमात्मीयं मूर्खत्वं प्रतिपादयत । तत्रैकेनाभाणि ।

एकस्मिन् ग्रामे ऽहं ग्रामकूटकः । मम द्वे भार्ये स्तः । एकस्यां रात्रौ एकस्मिन् एव शयनतले भार्ययोर्मध्ये उत्तान उभयोरुपरि हस्तौ निधाय सुप्तः । तावदाखुना वर्तिं गृहीत्वा गच्छता मम लोचनस्योपरि पातिता वर्तिः । तच्छिखया दह्यमाने ऽपि लोचने उभयोर्मध्ये कस्यांचिदुपरि स्थितं हस्तम् आकृष्यापसार्यते चेत् प्रेमभङ्गो भविष्यतीति मत्वा सहमानः स्थितः । दुर्गन्धात् ज्ञात्वा ताभ्यां स्फेटिता । तदनु स्फुटिते लोचने । सर्वेविषमलोचन इति नाम कृतम् । एतन्मे मूर्खत्वम् । परः प्राह । तन्मौर्ख्यं शृण्वन्तु ।

एकस्मिन् ग्रामे अहं मुख्यभूतपुरुषः । ममापि द्वे भार्ये । खरी रिंछी च । ताभ्यां यथाक्रमं मम दक्षिणवामपादयोर्नवनीतेन मर्दनं विधीयते । एकस्मिन् दिने खरी दक्षिणपादमर्दनं कृत्वा जलानयनार्थं गता प्रविष्टा । अनु रिंछया वामपादं दक्षिणस्योपरि निधाय गता । आगतया खर्या दृष्ट्वा मम पादस्योपरि स्वकीयं पादं निक्षिप्य निकृष्टा गतेति कोपात् मुसलेनाहत्य मोटितः पादः । तत्रागतया रिंछया द्वितीयोऽपि भग्नः । तदनु सर्वैः खञ्ज इति नाम कृतम् । तृतीयो ब्रूते । मम मूर्खत्वमवधारयन्तु ।

एकस्मिन् ग्रामे कूटकपुत्रो ऽहम् अपरस्मिन् ग्रामे ग्रामकूटपुत्री परिणीता मया । एकदा स्वग्रामात् श्वशुरग्रामं गच्छतो मे माता बुद्धिर्ददौ । कथं तत्राभिमानित्वमवलम्बनीयम् । हे पुत्र, भोक्तुमागच्छेत्युक्ते वचनेनैकेन न भोक्तव्यम् । भोजने च स्तोकं भोक्तव्यं स्तोकं त्यजनीयमिति । एवं करोमीति गतो ऽहं श्वशुरग्रामम् । सन्मानपूर्वकं गृहं प्रविष्टः । अपराह्णवेलायां श्वश्रा भोक्तुमाहूतः । मयोक्तम् । क्षुधा नास्ति । द्वितीये दिने तथा चोक्ते महत्याग्रहे कृते । क्षुधा नास्तीति स्थितः । जामाता न भुङ्क्त इति श्वश्रूः सचिन्ताभूत् । अनु शालितण्डुलान् पिठरकस्थितोदकमध्ये निक्षिप्य मम भार्यायाः तथा प्रतिपादितम् । यदैव तव भर्तुः क्षुधा भवति रात्रौ तदैव रन्धित्वा भोजनं प्रयच्छेरिति । एवं करोमीति तया मे मञ्चकस्याधो निक्षिप्ता पिठरी । रात्रौ क्षुधया मे प्राणेषु गच्छत्सु सत्सु प्रिया प्रस्रवणं कर्तुं बहिर्गता । तदैव मया तण्डुलान् गृहीत्वा मुखं भृतम् । चर्वणे क्रियमाणे आगतया भार्यया भणितं किं कुर्वन् तिष्ठसीति । गदितो ऽपि तदाहं वक्तुं नायातीति तूष्णीं स्थितः । तदनु तया मे मुखं दृष्ट्वोक्तम् । नष्टाहं, भर्तुर्व्याधिरभूत् । मात्रे निरूपितम् । महाकोलाहलो ऽभूत् । तदा लज्जया तण्डुला मया न गिलिताः । प्रातरहं कस्मैचिद् वैद्याय दर्शितः । श्वश्रूया तस्य दर्शितो ऽहम् । तेन मे ओष्ठयोः पिष्टमवलोक्य तण्डुलचर्वणं जानतापि भणितम् । विषमो व्याधिः । एतत्पुण्यादहमागत इति यथेष्टं द्रव्यं गृहीत्वा मे कपोलौ भेदयित्वा तण्डुलानाकृष्य जनानां प्रदर्शिताः । भणति च । अयं तण्डुलव्याधिः । तदनु अहं गल्लस्फोटको जातः । इति मदीयं मूर्खत्वम् । चतुर्थो बभाण । इदानीं मे मूर्खतामवधारयन्तु ।

एकस्मिन् ग्रामे अहं पामरः सुखेन स्थितः । एकस्यां रात्रौ भार्यया सह जल्पन् स्थितः । तदवसरे ऽन्तश्चौरः प्रविष्टः । स यावदावां निद्रां कुर्वस्तावदसंबलः स्थितः । वचने जातालस्येन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मया भार्यया सह भणितम्। आवयोर्मध्ये यो भणति स पञ्चापूपान् सघृतशर्करान् ददाति इति। प्रतिपन्नमुभाभ्याम्। तदनु चौरो दम्पती दुराग्रहग्रस्ताविति संचिन्त्य वस्त्राभरणादिकमाकृष्य मम भार्याकटिस्थं वासः यावद् गृह्णाति तावत्तयोक्तम्। चौर सर्वं गृहीत्वा यास्यति। किं मौनेन तिष्ठसि। मयोक्तम्। जल्पितं त्वया। पञ्चापूपान् देहीति हस्ते धृता। तदनु स गतः। सर्वैः भणितम्। ग्रहिलो ऽयम्। चौरबन्धुरिति। चतुर्णां मूर्खत्वमवधार्य सर्वैरुक्तम्।

'आहारनिद्राभयमैथुनानि समानमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
ज्ञानं नराणामधिको विशेषः ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः॥'

इति वचनाद्यूयं पशवः। युष्माकं जयपराजयव्यवस्थाम् इन्द्रो ऽपि कर्तुमसमर्थः। कुतो वयमिति श्रुत्वा द्विजैर्भणितम्। किमीदृग्विधाः सन्त्यत्र। सर्वे विचारका एव। कथयात्मीयं वृत्तान्तम्। स प्राह।

गुर्जरदेशे वंशद्रुहनगरे आविको मोहूणः। तत्पत्ये आवाम्। एकस्मिन् दिने अजारक्षणे गतौ। अटव्यां पक्वफलसंभृतो वृक्षः कपित्थो दृष्टः। तत्फलास्वादनलम्पटावावां चटितुमसमर्थौ। मयोक्तम्। हे भ्रातः, त्वमजा गृहीत्वा गच्छ। अहं फलानि गृहीत्वागच्छामि। ततो गते तस्मिन् मया स्वशिरश्छेदनं कृत्वा वृक्षस्योपरि निक्षिप्तम्। तत् फलानि भक्षयति। अधः स्थितमुदरं तृप्तिं बिभर्ति। उदरपूर्तौ सत्यां कियन्ति तानि भूमौ निक्षिप्य कबन्धस्योपरि पातितं शिरः लग्नं च। फलानि गृहीत्वा यावद्गच्छामि तावदयमेकस्मिंस्तरुतले सुप्तो दृष्टः। उत्थापितः पृष्टश्च। क्वाजा इति। अहं निद्राभिभूतः सन् सुप्तः कथं जानामि। मयोक्तम्। तर्हि फलानि भक्षय। पश्चादवलोक्यन्ते। तथा कृते दर्शनाभावाद् गृहं गन्तुं भीतौ श्वेताम्बरवेषान्वितौ देशान्तरं गच्छावः इति पर्यालोच्य भ्रमितुं लग्नाविदानीमत्र समायातौ। तपोहेतुर्भणितः। श्रुत्वा द्विजैरुक्तम्। अहो विचित्रं तपस्विनो वचनमसत्यम्। कृतकतपस्विनोक्तम्। कथमसत्यम्। शिरश्छेदने जीवनम्। तथा शिरसा तेषु भक्षितेषु उदरपूर्तिः पुनस्तत्संधानं च विरुद्धम्। किं भवन्मते एवंविधं नास्ति। अस्ति चेद् ब्रूहि। तत्कथ्यते। कैलासे महेश्वरस्याराधनं तपश्चरणपूर्वकं रावणेन कृतम्। तथापि हर्षं न गच्छति। तदनु नर्तनं कुर्वन् मध्ये मध्ये एकमेकं शिरश्छित्त्वा तत्पादावर्चयति स्म। एवं सर्वेष्वपि तेषु ढौकितेषु तुष्टः शङ्करः याचितं दत्तवान्। रावणः स्वशिरसां संधानं कृत्वा स्वपुरं गत इति। किमेतत्सत्यमसत्यं वा। सत्यम्। एवं तर्हि रामबाणेन मरणं कथं जातम्। तर्हि तस्य दशानां शिरसां संधानमुचितम्। अस्मदीयस्यैकस्येति कथं श्लाघ्यम्। तथा चापरा कथा।

कस्मिंश्चिद् ग्रामे कश्चिद् ब्राह्मणः। तत्पुत्रः शिरोमात्रं दधिमुखः। पित्रैकदा द्विजाः आमन्त्रिताः। तैश्च भुक्त्वा गच्छद्भिः दधिमुखस्याशीर्वादो दत्तः। तेनोक्तम्। धन्यो ऽहम्। मम गृहे विप्रैर्भुक्तमिति। तैरुक्तम्। तव गृहं नास्ति। कथं धन्यो ऽसि। तेनोक्तम्। धन्यो ऽहम् पितृगृहं पुत्रस्य किं न भवति। तैरुक्तम्। न। 'गेहिनी गृहमुच्यते' इति वचनात्। तदनु दधिमुखेन पिता भणितः। मम विवाहं कुर्विति। महत्याग्रहे कृते पित्रा विवाहितः। तदनु भोगवान् जातो द्रव्यक्षयं करोतीति पित्रा निर्घाटितः। स चात्मानं शिक्ये निक्षेपयित्वा स्वब्राह्मण्या ग्राहयित्वा देशान्तरं गतः। स चैकदैकं पुरं प्रविश्य द्यूतस्थानं दृष्ट्वा हृष्टः। आत्मानं तत्रैव निधाप्यावलोकयन् स्थितः। सा क्वापि गता। तदवसरे उभयोर्द्यूतकरयोः कलहो जातः। एकेनैकस्य शिरः खड्गेनाहतं पतितम्। तदनु कबन्धे दधिमुखेनात्मीयं शिरः संघितमिति। तथापरापि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजगृहे राजा चन्द्ररथः। तस्य द्वे भार्ये। तयोः पुत्राभावादीश्वराराधनं कृतम्। तेन च तुष्टेन तस्मा औषधगुटिका एका दत्ता। या इमां भक्षयति तस्याः पुत्रो भविष्यति इति। तां गृहीत्वागतेन राज्ञा चिन्तितम्। यद्येकस्यै दीयते अपरा दुःखिनी भाविनी इति द्वावंशौ कृत्वा उभाभ्यां दत्तवान्। तयोर्गर्भे स्थिते नवमासावसाने प्रसूतौ सत्याम् उभयोः पुत्रस्यार्धद्वयं जातम्। महेश्वरेण दत्तोऽप्येवंविधः पुत्रः किं क्रियते। अप्रयोजकत्वात् अर्धद्वयं श्मशाने निक्षिप्तम्। तत्र गोमयं गृह्णन्त्या जरासंज्ञया वनितया मेलापितम्। ततो जरासन्धनामासुरो जात इति।

तथान्यापि—ईश्वरस्य गौर्या सह दिव्यवर्षसहस्राननवरतं क्रीडाकरणे देवा यद्येवंविधायां क्रीडायां पुत्रो भविष्यति, स महानसुरो भविष्यतीति सचिन्ता बभूवुः। इति सर्वैः पर्यालोच्य गौरीभ्रातारग्निः प्रार्थितः। त्वं महेश्वरसुरतगृहं गच्छ, येन सा लज्जयोत्थाय गच्छतीति प्रार्थनावशात् स गतः। सा तं दृष्ट्वोत्थिता। तदनु कुपितो हरः भणति। हे निकृष्टवीर्य, क्षरणावसरे किमित्यागतोऽसि। इदानीं किं भूमौ पातो विधीयते। स्वमुखं प्रसारय। नो चेत् त्वं जानासीति तर्जिते प्रसारितं तेन। तत्र तत्पातयति स्म। तदुक्तम्।

रेतसा यदि रुद्रेण तर्पितो हव्यवाहकः।
मानवैस्तन्न कर्तव्यं न दैवचरितं चरेत्॥ इति।

तत्सामर्थ्यमसहमानः कुष्ठी जातोऽनलः। एकस्मिन् ग्रामे गङ्गादयः षड् ब्राह्मणपुत्र्यो ऽग्नेरुपासनं कुर्वन्त्यः स्थिताः। तासामङ्गं दृष्ट्वा तत्र क्षिप्तम्। षण्णां षडंशा उत्पन्नाः। तत उद्याने निक्षिप्ताः केनचिन्मेलापिताः। ततः षण्मुखः संजात इति। एताः सर्वाः कथाः सन्ति नो वा। सत्यं सन्ति। तर्हि शिरस्सु छिन्नेष्वपि रावणस्य जीवनम्। भिन्नपुरुषकबन्धे दधिमुखशिरस्संधानम्। अन्यत्रोत्पन्नानामंशानां संधानं चोचितं न मम जीवनं संधानं चेति कथमुचितम्॥

भवत्वेतत्सर्वम्। कथं दूरस्थेन शिरसा भक्षितेषु फलेषु उदरं तृप्यति। किं भवदागमे नास्ति। नास्ति। त्वया ज्ञायते चेत् कथय। कथयामि।

मत्स्यः प्रीणाति द्वौ मासौ त्रीन् मासान् हरिणो मृगः।
शकुनिश्चतुरो मासान् पञ्च मासांश्च हूरवः॥
शशः प्रीणाति षण्मासानभ्वः सप्त तु एव च।
अष्ट मासान् वराहेण मेषो मासान्नवैव च॥
महिषो दश मासांश्च पशुरेकादशः स्मृतः।
संवत्सरं तु गर्भिण्यां पशूनां पायसेन वा॥

इति वचनात्। इह मत्स्यादिमांसे ब्राह्मणेभ्यो दत्ते सति स्वर्गस्थाः पितरः कथं तृप्यन्ति। तैरवादि। ब्राह्मणानां मुखमाहात्म्यात्। तेनोक्तम्। कोऽयं ब्राह्मणो नाम। किं शरीरम्। किं जातिः। किं जीवः। किं कुलम्। किं योनिः। किं ज्ञानम्। किं शौचाचारः। किं तपः। किं संस्कारः। इति गत्यन्तराभावात्। न तावत् शरीरम्। क्षत्रियादीनां साधारणत्वात्। किं च मृतस्य ब्राह्मणस्य शरीरदहने बन्धूनां ब्रह्महत्यादिरपि स्यात्। तथा जातिरपि ब्राह्मणो न भवति। तस्या अपि साधारणत्वात्। सा साधारणेति कथं ज्ञायते। यथा गोमहिष्यादीनां परस्परं गमने ऽपत्यादर्शनात्तद्भेदो ज्ञायते। न तथा चाण्डालब्राह्मणादीनां भेदः। परस्परं गमने गर्भदर्शनात्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किं च यदि जातिः ब्राह्मणः सा च नित्या ब्राह्मणैरभ्युपगता। न च ब्राह्मणस्य ब्राह्मणत्वं नित्यम्। उक्तं च मानवे धर्मशास्त्रे।

सद्यः पतति मांसेन लाक्षया लवणेन च।
त्र्यहेण शूद्रो भवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयी॥
इतरेषां तु पुण्यानां विक्रयादिविकल्पनात्।
ब्राह्मणस्त्वेकरात्रेण वैश्यभावं तु गच्छति॥
वृषलीफेनपीतस्य निःश्वासोपहतस्य च।
तत्रैव प्रसुप्तस्य निष्कृतिर्नोपलभ्यते॥
ऋतुकालमतिक्रम्य यो ऽभिगच्छति मैथुनम्।
स भवेद् ब्रह्महा नाम हतस्तेन निजात्मकम्॥
ऋतुकाले व्यतिक्रान्ते यस्तु सेवेत मैथुनम्।
ब्रह्महत्याफलं तस्य सूतकं च दिने दिने॥

इति वचनात् ज्ञायते जातिः ब्राह्मणो न भवतीति। जीवो ऽपि ब्राह्मणो न भवति। स्मृतिवचनप्रामाण्यात्। किं तद्वचनम्।

अधीत्य चतुरो वेदान् साङ्गोपाङ्गान् सलक्षणान्।
शूद्रात् प्रतिग्रहं कृत्वा खरो भवति ब्राह्मणः॥
खरो द्वादश जन्मानि षष्टिजन्मानि सूकरः।
श्वानः सप्ततिजन्मानि इत्येवं मनुरब्रवीत्॥

इति वचनात् जीवो ऽपि न ब्राह्मणः। कुलमपि ब्राह्मणो न भवति। मुनीनां कुलस्य दोषप्रसंगात्। तद्यथा।

हस्तिन्यामचलो जातः उलूक्यां केशकम्बलः।
अगस्त्यो ऽगस्त्यपुष्पाच्च कौशिकः कुशसंस्तरात्॥
कठिनात् कठिनो जातः शरगुल्माच्च गौतमः।
द्रोणाचार्यस्तु कलशात् तित्तिरस्तित्तिरीसुतः॥
रेणुकाजनयद्रामं ऋष्यशृङ्गं वने मृगी।
कैवर्ती जनयेद् व्यासं कपिलं चैव शूद्रिका॥
विश्वामित्रं च चाण्डाली वसिष्ठं चैव उर्वशी। श्वपाकी पारासरम्।
न तेषां ब्राह्मणी माता ते ऽपि लोकस्य ब्राह्मणाः॥

इति वचनात् न कुलं ब्राह्मणः। ब्राह्मणानां प्रादुर्भविका योनिरपि न ब्राह्मणः। तत्कथम्—

जन्मना जायते शूद्रः क्रियया द्विज उच्यते।
श्रुतेन श्रोत्रियो ज्ञेयो ब्रह्मचर्येण ब्राह्मणः॥

तथा उक्तं च वेदे।

मुखतो ब्राह्मणा जाता बाहुभ्यां क्षत्रियास्तथा।
ऊरुभ्यां वैश्यजातिश्च पादाभ्यां शूद्रजातयः॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं भगिनीसंसर्गो ऽपि भवेत् ब्राह्मणानामेकपुरुषसंभवत्वात् ब्राह्मण्या इति। ततो ऽपि ज्ञायते योनिरपि न ब्राह्मण इति। अन्यच्च। शूद्रा एव नमस्करणीया न च ब्राह्मणाः। कुतः। पादयोर्नं क्षरणात्। ज्ञानम् अपि न ब्राह्मणः। तस्य क्षत्रियादिष्वपि दर्शनात्। शौचाचारो ऽपि न ब्राह्मणः। स्मृतेः प्रामाण्यात्।

आरम्भे वर्तमानस्य ब्राह्मणस्य युधिष्ठिरः।
हिंसकस्य कुतः शौचं मैथुनाभिरतस्य च॥

इति वचनात् ज्ञायते शौचाचारो ऽपि न ब्राह्मण इति। किं च तस्य साधारणत्वात् सर्वे ऽपि ब्राह्मणाः स्युः। तपो ब्राह्मणश्चेत् सिद्धसाधनम्। कुतः तपोमूलत्वादिष्टार्थसिद्धेः। संस्कारो ऽपि न ब्राह्मणः। गर्भाधानं मासे भवति। पुंसवनं चतुर्मासेषु, उत्पन्ने नवमे मासे जातकर्मादि प्रसिद्धम्। उत्तानं दशमे दिने नामकरणं प्रसिद्धम्। परिनिष्क्रमणं गृहाद्बहिर्निष्कासनम्। आयुष्म वयः (?) मासे अन्नप्राशनं प्रसिद्धम्। चौलोपः मुण्डनम्। उपनयनं विदितम्। समावर्तनम् अध्ययनादि शिक्षा। पाणिग्रहणं प्रतीतम्। यज्ञो विदित एव। दहनं मृते सति शरीरप्रज्वलनम्। एतेषां षोडशसंस्काराणां साधारणत्वात्। तथा चोक्तम्।

न शौचादिशरीरेण जातिजीवकुलेन च।
तपसा ज्ञानयोन्या च संस्कारैर्न द्विजो भवेत्॥

तस्मात्—

ब्राह्मणो ब्रह्मचर्येण यथा शल्येन शाल्यिकः।
अन्यथा नाममात्रं स्यात् इन्द्रगोपककीटवत्॥ इति।

ब्राह्मणजातेरभावात् कथं तन्मुखेन पितरस्तृप्यन्ति। अनेकात्मकत्वात्। व्यवधानाच्च। इति शतधा जित्वा प्रतिभाभासुरः स प्रविकसितमुखकमलः मनोवेगः तिष्ठन् ब्राह्मणानां पुरतः पवनवेगेन भणितः। हे मित्र, तव प्रसादेन संसारसमुद्रस्तीर्णः। स मम त्वमेव परमबन्धुः। इदानीं जैनव्रतानि प्रयच्छ। तेनोक्तम्। अहमसमर्थः। मदीयो गुरुस्तिष्ठति उज्जयिन्याम्। तत्र गच्छाव इति कटककटिसूत्रकुण्डलाद्यलङ्कृतौ निजवेषेण स्थितौ खगौ द्विजादिभिर्भणितौ। कौ युवामिति। ताभ्यां स्वस्वरूपं प्रतिपादितम्। तदनु तत्रत्यैर्द्विजादिभिः सार्धं समवसृतिं गतौ। जिनं दृष्ट्वा स्तुत्वोपविष्टौ। तदनु द्विजादिभिः कैश्चित्तपश्चरणं केश्चिद् व्रतानि गृहीतानि। तदनु पवनवेगेन अष्टाङ्गविशिष्टसम्यक्त्वस्य पञ्चाणुव्रतानां त्रयाणां गुणव्रतानां चतुर्णां शिक्षाव्रतानां एकादशश्रावकनिलयानां चतुर्णां ब्रह्मचर्याद्याश्रमाणां निःशङ्काद्यष्टकथानां पञ्च व्रतकथानां चतुर्विधश्रावकधर्मस्य तत्कथानां च स्वरूपं ज्ञात्वा नक्तभोजनविरामस्वरूपं तत्फलेनात्रैव केनचित् फलं च प्राप्तमिति पृष्टो मुनिः प्राह।

अत्रैव भारते मेवाडदेशे मध्यचित्रकूटपुराधीशो नरेश्वरः। तन्मन्त्री श्रीपालः अधिगतसम्यग्दृष्टिः। तदङ्गना धनवती। सापि तथा। एवं सुखेन तिष्ठतोस्तयोरेकस्मिन् दिने ऽस्तमनवेलायां तद्गृहजागरिकचाण्डालपत्नी ग्रासार्थमागता। तस्मिन्नेवावसरे श्रेष्ठिपुत्रेणागत्य माता भोजनं याचिता। तयोक्तम्। पुत्र रात्रौ नोचितम्। महताग्रहेण याचिते ऽपि न दत्तम्। तदनु चाण्डालवनितया पृष्टा। स्वामिनि, किमित्यस्य भोजनं न दत्तम्। तयोक्तम्। अनेन संसारे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिभ्रमता महता कष्टेन मनुष्यत्वं प्राप्त जैनधर्मश्च। रात्रौ द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियमिश्रिताश्न-पानखाद्यलेह्यलक्षणं चतुर्विधाहारं भुक्त्वा नरकं गच्छेत् पुनः दुष्प्राप्यम्। कथमपि लब्धमपि रूपादिहीनं स्यात्। तदुक्तम्—

विरूपो विकलाङ्गः स्यात् अल्पायू रोगपीडितः।
दुर्भगो दुष्कुलश्चैव नक्तभोजी सदा नरः॥

इति श्रुत्वा तयानस्तमितफलं दृष्टम्। सा प्राह। यो ऽनस्तमितं पालयति देवलोके सुरवरो भूत्वा तस्मादागत्यात्रेक्ष्वाक्वादिक्षत्रियवंशेषु वैश्यवंशेषु च उत्पद्य दिव्यभोगानुभवनं कृत्वा पश्चात्तपोनुष्ठानेन सर्वज्ञपदवीपूर्वकं सिद्धपदवीं गच्छति। तथा चोक्तम्—

निजकुलैकमण्डनं त्रिजगदीशसंपदम्।
भजति यः स्वभावतः त्यजति नक्तभोजनम्॥

इति श्रुत्वा चाण्डाल्यानस्तमितं गृहीतम्। तदनु गृहं गता। रात्रौ चाण्डालेन सहभोक्तु-माहूता। तयोक्तम्। मया रात्रावभुक्तिव्रतं गृहीतमिति न भुज्यते। तेन पुनराहूता। यदा कथमपि न भुङ्क्ते तदा छुरिकयात्मानं विदार्य मारिता सा। निदानेन धनवत्या गर्भमाश्रिता। नवमा-सावसाने नागश्रीर्नाम पुत्री बभूव। सो ऽपि छुरिकया आत्मानं विदार्य मृतः। तत्रैव श्वाजनि। तत्रापरः श्रीधरनामा वणिगाहारदाने रतः। स एकदा स्वभार्यां श्रियं त्वं दानं कुर्विति नियोज्य परतीरं गतः। अतस्तयाहारदानं निवार्यं संचयः कृतः। गतेन श्रीधरेण सर्वं ज्ञात्वा कूटलेखक्रिया कृता। पुरुषस्यैकस्य हस्ते तत्पत्रं दत्तम्। यदाहं श्रीश्चैकत्र तिष्ठावः तदा तव श्वशुरेण प्रस्थापितो ऽयं लेख इति भण त्वमिति। तथैव तेन दत्तो लेखो वाचितः श्रीधरेण। तव श्वशुरस्य महानिष्टं वर्तते। त्वया शीघ्रमागन्तव्यम्। नो चेन्न पश्यसि। तत् श्रुत्वा श्रीः दुःखिता बभूव। भणितं च तया। हे नाथ, त्वं क्रियाणकं सर्वं गृहे सुविधानेन निधाय पश्चादागच्छ। अहं तावद्गच्छामि। गच्छेति प्रेषिता। गतायां तस्यां श्रीधरेण नागश्रीः परिणीता। श्रीर्गत्वा पितरं दृष्ट्वा आत्मीयं दुष्कृतं ज्ञात्वा स्थिता। कियत्सु दिवसेष्वागता। भर्तुः पादयोः पतिता। तेन च विभिन्नगृहे स्थापिता। कियत्सु वर्षेषु पुनः श्रेष्ठी जलयात्रां गतः। इतो नागश्रीः सातिशयं दानं ददाति। एकदा श्रिया भणिता। हे भगिनि स्थितेषु मुनिषु मामाह्वय। येनाहं पादस्थानिकादिकं स्फोट-यित्वा पुण्यमुपार्जयामि। एवं भवत्विति। सा दिनं प्रत्याह्वयति। एकस्मिन् दिने नागश्रिया श्रियमाहूता। को ऽपि नास्तीत्युक्तं श्रुत्वाह्वातुं गतः। तया तं दृष्ट्वा तस्योपरि कोपादतिशयेनोष्णं तैलं निक्षिप्तम्। शरणेनागत्य नागश्रीगृहद्वारे पतितः। तया तस्य पञ्च नमस्कारा दत्ताः आहार-दानं च। तत्फलेन स व्यन्तरदेवो जातः। इतः श्रेष्ठिना बहुद्रव्येण गच्छता दुर्वातेन जलयानपात्रे आवर्ते निक्षिप्तम्। तेन देवेनासनकम्पात् ज्ञात्वागत्य जलयानपात्रं सुपथे निक्षिप्य प्रणम्योक्तम्। हे वणिगीश, तव गृहे यः कृष्णः श्वा स्थितः सोऽहम्। एवं विधानुष्ठाने जाते नागश्रिया दत्तपञ्च-नमस्कारदानफलेनाहं देवो जातः। तस्यात्मस्वरूपं प्रतिपाद्य दिव्यवस्त्राभरणादिभिः पूजयित्वा तदनु दिव्याहारं दत्त्वा भणति स्म। इमं नागश्रियै प्रयच्छेति। तदनु स्वलोकं गतः।

अतिसन्तुष्टः श्रेष्ठी सुखेनागतः। महोत्साहेन राजानं दृष्टवान्। अनु सुखेन स्थितः। केनचिद्दुष्टेन श्रेष्ठिन्याः स्वकण्ठे निक्षिप्तं हारं दृष्ट्वा राज्ञः कथितम्। तया च राज्ञे भाषितम्। तेन च याचितः। श्रेष्ठिना दत्तः। राज्ञा च राज्ञ्यै दत्तः। तया स्वकण्ठे निक्षिप्तः। तदनु सर्पो जातः। भीतया तया हा नष्टाहमित्युक्तः। तदनु राज्ञा श्रीधरो वृत्तान्तं पृष्टः। श्रुत्वा राज्ञोक्तम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्वा किल देवो ऽभूदित्यसत्यमेतत्। अयं निगृह्यतामिति। तस्य निग्रहकरणे आसनकम्पेन ज्ञात्वागत्य तेन देवेन राज्ञस्ताडनादिरूपसर्गः कृतः। तदनु राज्ञा पादयोः पतित्वा रक्ष रक्षेत्युक्ते ऽहमसमर्थः श्रेष्ठी समर्थ इति भणितेन राजा श्रेष्ठिसमीपमागत्य क्षन्तव्यमित्युक्तवान्। श्रेष्ठिना देवो निवारितः। स चात्मस्वरूपं प्रतिपाद्य स्वावासं गतः। राजादयस्तमतिशयं दृष्ट्वा धर्मनिरता बभूवुः। श्रेष्ठी च श्रियान्नदानं निवार्य संचितद्रव्येण कुक्कुरवसतिं कृत्वा सुखेन स्थितः। इत्यनस्तमितधर्मकथां श्रुत्वा पवनवेगो हृष्टः। सकलश्रावकव्रतानि गृहीतवान्। तदनु तौ वसुपूज्यकेवलिनं स्तुत्वा स्वावासं गतौ। सुखेन स्थितौ।

इति श्रीरामचन्द्रेण मुनिना गुणशालिना।
ख्याता धर्मपरीक्षा सा कृताकृतरियं ततः॥
श्रीपूज्यपादसद्वंशे जातो ऽसौ मुनिपुङ्गवः।
पद्मनन्दी इति ख्यातो भव्यव्यूहप्रवन्दितः॥
तच्छिष्यो देवचन्द्राख्यो भद्रश्चारुगुणान्वितः।
वेदिता सर्वशास्त्राणां ख्यातो धर्मरताशयः॥
स च शुद्धव्रतोपेतः समयादिविवर्जितः।
समयः सर्वसत्त्वानां तत्प्रार्थनवशाद् वरः॥
यावद् व्योम्नि प्रवर्तन्ते शशाङ्करवितारकाः।
तावद् धर्मपरीक्षेयं वर्तिषीष्ट सदाशये॥
पद्मनिवासभूता हि कथा पद्मायनीं वराम्।
तथा धर्मपरीक्षां च मिथ्यात्वाज्ञानध्वंसिनीम्॥

इति धर्मपरीक्षाकथा समाप्ताः॥छ॥ शुभं भवतु लेखकपाठकयोः।
ग्रं २००। श्रीसरस्वत्यै नमः।

श्रीदेशीयगणाग्रगण्यसकलसंयमगुणाम्भोधि-श्रीपार्श्वकीर्तिमुनिराजस्य धर्मपरीक्षा ग्रन्थस्य शुभमस्तु। कल्याणमस्तु।

□

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्लोकानुक्रमणिका

अ

अकरिष्यमहं ८।४३
अकृत पवनवेगः २०।९०
अकृत्रिमः कथं १७।८
अकृत्रिमा यत्र १।२६
अक्षार्थसुखतः २।६८
अगस्त्यजठरे १३।१९
अगस्त्यमुनिना १३।२२
अगस्त्यस्तमभाषिष्ट १६।६२
अगस्त्येनोदितः १३।२४
अग्निहोत्रादि ३।२९
अङ्गदेशे ऽभवत् ७।२९
अचर्वितं मुखे ९।८०
अजनिष्ट नरः ७।२०
अजल्पदेकः किं ८।९१
अज्ञानान्धः शुभं ७।१६
अत्र न्यायपटीयांसः ४।३७
अत्रैव वत्स तिष्ठ १४।८७
अथ चन्द्रमती १५।१
अथ तस्येदृशी १०।२८
अथ ते पत्तनं ९।१
अथ प्राहुरिमं ११।१
अथ यावन्मनोवेगः ३।१
अथ षड्वदनः १६।८८
अथासौ नन्दुर- ७।२
अथेदं कथितं ८।१
अथो जिनमतिः १९।१
अथोवाच पुनः २०।१
अदत्तं न पर १९।५०
अदर्शयत्ततो मन्त्री ८।२५
अदायकं दुष्ट १०।९९
अदृष्टपूर्वकं १६।२५
अधःकृत्य मुखं १२।४५
अधस्तात्सिन्धुरात् २।९
अध्वर्युभिः कृता १७।१९
अनन्तसत्त्व २।५
अनर्थानां निधिः ५।५७
अनात्मनीनं २।७४
अनादिकालमिथ्यात्व १३।५१
अनादिकालसंसिद्धं १७।५९
अनादिनिधनः १३।९२
अनीक्षमाणः शरणं १२।८३
अनुभूतं श्रुतं ४।३१
अनेकजीवघातोत्थं १९।३९
अनेकभव २।७३
अनेन हेतुना १५।२८
अन्तर्वत्नी कथं १५।५
अन्धस्य नृत्यं ७।९०
अन्धो ऽन्यनारीः १।३४
अन्यच्च श्रूयतां १६।५९
अन्यायानामशेषाणां ५।७१
अन्याय्यं मन्यते ७।२७
अन्येद्युरविपालस्य १६।२९
अन्येद्युः पायसीं ७।६७
अन्ये ऽवदन्नयं ३।७९
अन्ये ऽवोचन्नहो ३।५८
अन्योन्यमुन्मुच्य १।४९
अपतत् तत्फलं ७।४२
अपत्यं जायते १५।४
अपरे बभणुः ३।७२
अपुत्रस्य गतिः ११।८
अप्रशस्तं विरक्तस्य ५।४७
अप्रसिद्धिकरीं १५।५८
अबलीकुरुते लोकं ६।१९
अभणीदपरा ९।७४
अभयाहारभैषज्य २०।२४
अभाणिषुस्ततः १२।६१
अभाषि तापसैः ११।७
अभाषि विष्णुना १३।२७
अभाषिष्ट ततः १०।५, १२।७६
१३।११, १५।२५
१६।४५
अभूद् भूतमतिः ६।३
अभ्रंकषानेक १।६१
अम्भोधिरिव ८।७९
अमत्राणि विचित्राणि ५।३०
अमरा वानरीभूय १६।१४
अमितगतिविकल्पैः १।७०
अमुष्य बन्धुरा ११।१८
अमुष्यासहमानाः १२।३९
अयं धर्मः ४।७३
अयन्त्रिता स्त्री ११।८४
अयासीन्निर्वृतः १५।३५
अर्ककीर्तिरभूत् १८।६७
अर्जितं सन्ति १९।७०
अर्जुनेन ततः १३।८
अर्था बहिश्चराः १९।५१
अलब्धपूर्वकं ७।६९
अवगमविकलः ६।९५
अवज्ञाय जरां ४।५६
अवतीर्णौ तदुद्याने ३।४६
अवदन्ती पुनः ७।७७
अवाचि वह्निना ११।८०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवादि वेधसा १३।२६
अवादि वैदिकैः १४।५२
अवादिषुस्ततः ९।३, १०।४
अवादीदेकदा ६।३६, ११।१९
अवाप्य शोभनं १८।६३
अविचारितरम्याणि १५।१४
अविचार्य जनः ७।५७
अविचार्य फलं ७।५४
अविचिन्त्यैव ताः २।१७
अवीवृधदसौ १५।४१
अवोचदेको मम ८।९०
अवोचन्नमराः ११।५०
अवोचन्नवनीदेवाः १३।३८
अश्रद्धेयं न १२।७३
अष्टादशपुराणानि ३।३१
अष्टौ तस्य बलीवर्दाः ४।५२
असत्यभाषाकुशलाः १२।९३
असत्यमपि मन्यन्ते ४।२८
असत्यं गदितं १२।६६
असावुत्तरितुं १४।८२
असिनोत्क्षिप्यमाणेन १६।७५
असूचि चूतघाती ७।६२
असृजा पुण्डरीकाक्षः ११।५४
अस्त्युत्तरस्यां दिशि १।६४
अस्पृश्या सारमेयीव ५।६०
अस्य गन्धेन १०।७६
अहल्यया दूषित १६।१००
अहल्ययामराधीशः १२।३२
अहल्यां चित्तभू ११।६१
अहारि किं प्र. ११
अहिंसा सत्यमस्तेयं १९।१३
अहो लोकपुराणानि १५।३

आ

आकर्ण्य कल्यतां ७।५१
आकर्ण्य भारतीं १८।३
आकर्ण्येति वचः ४।६४
आकृष्टे मे ऽन्तरीये ९।५१
आक्रष्टुं यः क्षमः १३।४५
आखुभ्यां शुक्ल २।१०
आख्यत् खेटो द्विजाः १४।४७
आख्यादेष न १५।७१
आगच्छ भुङ्क्ष्व ५।२७
आगत्य ज्ञायमानेन ८।६६
आगत्य ब्राह्मणैः १६।२३
आगतास्तापसाः १४।१८
आगत्य कान्तां स ११।८३
आघ्राते कमले १५।९
आघ्रायमाणे कमले १४।९४
आचक्ष्व त्वं पुराणार्थं १४।५४
आचचक्ष ततः १४।४३
आचारमात्रभेदेन १७।२४
आचष्टे स्म ततः १४।४५
आजग्मुस्तापसाः १४।२४
आजन्म कुरुते १९।२७
आजन्मापूर्वं १२।५९
आत्मकार्यमपाकृत्य २।७२
आत्मनः सह देहेन २।६१
आत्मना विहितं १७।६७
आत्मनो ऽपि न यः १०।४७
आत्मा प्रवर्तमानः १७।५१
आत्मासंभाविनीं १३।६७
आदित्यसंगेन १४।९१
आदित्येन यतः १५।४३
आदिभूतस्य धर्मस्य १८।८४
आदेयः सुभगः २०।९
आदेशं कुरुते १३।६४
आदेशं तनुते १०।३८
आनन्दयन्तं सुजनं १।८
आनिनाय त्रियामायां ६।४५
आनीय तत्तया ५।४५
आनीय वनपालेन ७।४३
आपगानां भुजङ्गीनां ६।२२
आभीरतनयौ १६।२६
आभीरविषये तुङ्गाः ४।१०
आभीरसदृशान् ४।३६
आरम्भजमनारम्भं १९।१९
आरम्भाः प्राणिनां २०।२६
आराध्य देवतां १६।८१
आराध्यमानो ऽपि खलः १।११
आरामे नगरे ३।६
आरुह्यानेकभूषौ २०।८९
आरूढः शिबिकां १८।३८
आरोहतु धराधीशं २।४८
आर्जवं मार्दवं १८।७५
आर्यमाह्वयते १८।१४
आर्यो मम ततः १४।२९
आलापिता खला ५।२५
आलिङ्गितस्तया ६।२९
आलिङ्ग्य पीनस्तन ११।८७
आलोच्य दोषं १९।९५
आवयो रक्षितोः १५।७७
आवयोः स्थितयोः ९।४८
आवाभ्यामित्थं १५।८६
आशंसिषुर्द्विजाः १६।७८
आशंसिषुस्ततः १२।१५
आश्चर्ये कथिते १२।६४
आश्वासयन्ते वचनैः १।२७
आषाढे कार्तिके २०।१४
आसाद्य तरसा ११।५९
आसाद्य सुन्दराकारां ४।५४
आसीनौ पादपस्य १७।२
आहारपानौषध १९।९१
आहारेण विना १८।६१
आहारः क्रमतः १८।१०
आहूय त्वरया ९।७८

इ

इक्ष्वाकुनाथभोजोग्र १८।६५
इति ज्ञात्वा बुधैः १९।६५
इति ज्ञात्वा स्वयं १६।४३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इति निगद्य ६।८६, ६।९०
इति निशम्य ६।८९
इति वचनमनिन्द्यं २०।८६
इति वचः ६।९२
इति विप्रवचः श्रुत्वा ४।३९
इत्थममुं निगदन्तं ५।९२
इत्थमेकेन ६।६१
इत्थं कामेन ११।६४
इत्थं तया समं ११।७१
इत्थं तयोर्महा ९।३२
इत्थं तासु वदन्तीषु ९।७७
इत्थं धराधिपाः १८।६०
इत्थं न यः सत्यं १०।९७
इत्थं नरो भवेत् ७।२३
इत्थं निरुत्तरीकृत्य १५।२
इत्थं नैको ऽपि १२।३३
इत्थं महान्तः १६।९३
इत्थं रक्तो मया ५।७६
इत्थं वज्रानलेनेव ७।५५
इत्थं शोकेन ८।६८
इत्थं स हालिकः ८।४४
इत्थं सुचन्दन ८।७३
इत्यन्यथा पुराणार्थः १५।४६
इत्यादिजनवाक्यानि ३।६५
इत्यादिसकलं ६।२०
इत्युक्तः खेचरः १०।५०
इत्युक्त्वावसिते ४।३४
इदं कथं सिध्यति ७।८४
इदं पश्यत मूर्खत्वं ९।५४
इदं प्रयत्नान्निहिता- १९।१००
इदं मया वः १२।९२
इदं वचनं १५।८९
इदं वचस्तस्य ८।९२
इदं व्रतं द्वादश १९।९७
इदानीं तन्वि ६।३८
इदानीं मानसे १०।३०
इदानीं श्रूयतां १०।५२,१२।३४
इन्द्राभिधाने विजिते १६।१०२
इभारातिरिव ८।८०
इमामनीक्षमाणः ११।४८
इयं कथं दास्यति ७।९१
इह ददासि ६।९३
इह दुःखं नृपादिभ्यः १९।५५
इहास्ति पुण्डरीकाक्षः १०।११
इहाहिते हितं ९।९५

ई

ईक्षमाणः पुरः ५।३५
ईदृक्कर्मकरे १०।३४
ईदृशस्य कथं ११।२८
ईदृशं हृदि १७।८९
ईदृशः प्रक्रमः १२।५२
ईदृशो ऽयं पुराणार्थः १५।५७
ईदृशो वः १३।३७
ईदृश्यः सन्ति ५।२६

उ

उक्तं पवनवेगेन ३।३७
उक्तो मन्त्री ततः ८।२४
उक्त्वेति मस्तक २।८४
उक्त्वेति वायुः ११।९४
उत्क्षिप्तां पार्थिवैः १८।३९
उत्क्षिप्यन्ते कथं १६।१२
उत्तीर्य सागरं ७।६४
उत्थाय पात्रमादाय १४।२८
उत्थाप्य स मया १६।३८
उत्फुल्लगल्लमालोक्य ९।६९
उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ १८।४
उदक्यया तया १४।७३
उदरान्तःस्थिते १०।३६
उद्दालकर्षिः सुर १४।९२
उपवासं विना २०।१८
उपवासेन शोष्यन्ते २०।१६
उपविष्टस्तरोः १३।२१
उपसर्गे महारोगे १३।६६
उपाध्यायपदारूढः ६।६
उपायैर्विविधैः १४।७२
उपेत्य ते योजन ८।८९
उपेत्योपवनं १०।५१
उपेन्द्रेण ततः १३।३१
उरगांश्चतुरः २।११
उष्णमरीचौ तिमिर ७।८८

ऊ

ऊचुस्ततो द्विजाः १६।४६
ऊचे चरेण्युः ११।९३
ऊचे पवनवेगः १७।३, १८।८६
ऊर्ध्वाधोद्वार १७।७०
ऊर्ध्वीकृतकरं २।६
ऊर्ध्वीकृतमुखस्य २।१५
ऊर्ध्वीकृतमुखः ५।३८

ऋ

ऋक्षी खरीति ९।२५
ऋक्षी निगदिता ९।३०
ऋक्ष्या खरी ततः ९।२८
ऋषिरूपधरः १३।३
ऋषीणां वचसा १४।४१

ए

एक एव यमः ११।६५
एकत्र वासरे १०।७९
एकत्र सुप्तयोः १४।५६
एकत्रावसिते ९।२०
एकदर्क्षी निचिक्षेप ९।२६
एकदा जनकस्यासौ ४।९
एकदा दुर्निवारेण ८।५१
एकदा धर्मपुत्रेण १३।७
एकदा परिणीतापि १४।३८
एकदा यतिना १४।७१
एकदा रक्षणाय १५।७६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकदा विष्टर ११।३०
एकदा श्वाशुरं ९।४५
एकदा स तया १२।४१
एकदोपवने १५।१९
एकमाम्रफलं ७।३३
एकस्य निम्ब ८।६९
एकस्यापि शरीरस्य १३।८२
एकस्यैकक्षणं १९।५३
एकं सा मृतकं ६।४६
एकाकिनी स्थिता ११।७९
एकाकिनीं यौवन ११।८१
एकाकिनीं स्थितां ४।६७
एका जगाद मातृणां ९।७३
एकादशश्रावक २०।६४
एकादशस्थान २०।५२
एकास्यो द्विभुजः १३।९१
एकीकृत्य कथं १६।८७
एकीकृत्य ध्रुवं १५।९०
एकीकृत्य समस्तानि ९।२१
एकीभूय ततः ३।४२
एकेन मन्ये विहिताः १।१२
एकेनानेन लोकस्य ७।३५
एकैकस्यात्र षड् १८।५
एकैको वानरः १६।१
एको मनोनिवासी ३।६१
एतदुक्तमनुष्ठानं १६।१०
एतयोः कान्तयोः १८।२५
एते जातिस्मराः १८।२१
एते नष्टा यतः १३।७८
एते पार्श्वद्वये ९।८
एतैर्निवेदितं १४।१९
एते यैः पीडिताः १३।७५
एत्य छात्रैरहं १२।७९
एभिस्तुल्या विगत १०।१००
एवमादीनि ३।७३, १०।२६
एवमेव गतः ३।७१
एवं तयोर्दृढ ६।३५
एवं वः कथितः ७।१
एष द्वारेण षष्ठेन १६।२२
एष यथा क्षयं ५।८८
एषु सर्वेषु लब्धेषु १८।८१

ऐ

ऐदंयुगीनगोत्रर्षि १७।१४

ओ

ओतोः किमस्य १०।७५

क

कटकं मम ४।६३
कण्ठाभरणमुत्कृष्टं ८।५७
कण्ठौष्ठे नगरे ६।६३
कथं च भक्षयेत् १०।४४
कथं तस्यार्पयामि ११।२५
कथं निर्बुद्धिकः १७।५२
कथं पृच्छति १०।३९
कथं मित्रं कथं १३।६२
कथं मे जायते ११।७६
कथं विज्ञाय १५।१०
कथं विधीयते १३।८३
कथं सुवर्ण ६।७२
कदर्थिताशेष १।५
कन्थां क्षिप्त्वा पुरः १४।२७
कन्दं मूलं फलं १९।४५
कन्ये नन्दासुनन्दाख्ये १८।२४
कपर्दकद्विजे ९।२२
करणस्येति वाक्येन ४।१८
करणेन ततः ४।१४
करोम्यहं द्विजाः १०।९२
कर्णे ऽग्राहि यतः १५।४०
कर्तव्यावज्ञया ९।५६
कर्मक्षयानन्तरं १।२
कर्मभिर्बध्यते १७।४८
कलयति सकलः १२।९७
कल्पिते सर्वशून्यत्व १७।७४
कल्मषैरपरामृष्टः १०।४२
कल्याणाङ्गो महा १८।४२
कश्चनेति निजगाद ३।८१
कषाययति सा ५।२१
कषायैरर्जितं १७।३८
काचन श्लैष्मिकं ९।७६
काञ्चनासनमवेक्ष्य ३।९२
काञ्चने स्थितवता ३।९५
कान्ता मे मे सुता १३।५९
कान्तिकीर्तिबल २०।३२
कान्तेयं तनुभूः ६।७८
कापथैर्भवसमुद्र १३।९८
कामक्रोधमद १९।४६
कामबाणपरि ४।८२
कामभोगवश १३।९७
कामेन येन निर्जित्य १७।८५
कायं कृमिकुलाकीर्णं १७।७२
कार्यमुद्दिश्य निःशेषाः २।६२
कालकूटोपमं ७।२५
कालानुरूपाणि ९।९४
कालेनानादिना १७।१७
काष्ठप्रसादतः ८।६५
कासशोषजरा ७।४८
किमाश्चर्यं त्वया ४।१२
किमीदृशः पुराणार्थः १६।५३
किमेतदद्भुतं ५।४६
कियन्तस्तव १८।७१
किलात्र चणकाः ४।१६
किं जायते न वा १६।७७
किं त्वं व्याकरणं १४।४
किं द्विजा भवतां १०।१७
किं पुनर्बटुकः ६।३४
किं प्रेयसी मम ५।५०
किं बलिर्याचितः १०।२४
किं मित्रासत्प्रलापेन १५।१७
किं वैरिणा मे १।५६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किं हित्वा भ्रमसि ३।९
कीदृशाः सन्ति ते ४।४६
कीदृशी संगतिः ३।१२
कीदृशो ऽसौ महा ४।७
कुण्टहंसगतेः ९।४२
कुन्तीशरीरजाः १५।५५
कुरङ्गि तिष्ठ गेहे ४।६२
कुरङ्गीमुख ५।३
कुरङ्गीवदनाम्भोज ४।५९
कुरङ्गीं तरुणीं ४।४९
कुरुष्वानुग्रहं ११।५३
कुर्वहे सफलं ६।४२
कुलकीर्तिसुख ९।४०
कुलीनः पण्डितः ८।१६
कुलीना भाक्तिका ९।३९
कुलेन सितवस्त्राणां १६।४२
कृतकृत्यस्य शुद्धस्य १३।८५
कृतिः पुराणा प्र. ८
कृत्यं भोगोपभोगानां १९।८९
कृत्रिमाकृत्रिमाः ३।१७
कृत्रिमेभ्यो न १७।११
कृत्वा दोषं ५।१७
कृत्वा पटलिका १८।४३
कृत्वैकत्रानृतं १४।४४
कृषिकर्मोचितं ८।३२
कृष्ट्वा कृष्ट्वा तया ११।७०
केचित्तत्र वदन्ति ३।६९
केचिद्वुचुर्नराः ३।५६
केनापि करुणार्द्रेण ४।१९
केवलेन गलिता १७।९१
कैलासशैलोद्धरणं १६।९९
कोटीकोट्यो दश १८।६
कोटीकोट्यो ऽम्बु- १८।७
कोपनिवारी शम प्र. ५
को ऽपि परो न ५।८४
को ऽपि याति न ३।८८
कोविदः कोमलालापः २०।८
कौस्तुभो भासते १०।१६
क्रीडतो मे समं ९।७
क्रीडया विपुल ८।३
क्रुद्धो ऽनलं यमः १२।७
क्रोधलोभभय १७।९७
क्रोधे मानमवज्ञां ५।१९
क्वचन तस्य ६।८७
क्व स्थितो भुवनं १३।४२
क्षणमेकमसौ ५।१३
क्षणरोचिरिवास्थेया ५।६२
क्षणिके हन्तृहन्तव्य १७।७६
क्षतसकलकलङ्का प्र. १६
क्षायिकं शामिकं २०।६७
क्षितिं विभिद्योज्ज्वल १।५९
क्षितौ व्यवस्थिते १३।४३
क्षिप्रं गत्वा तस्य ९।८९
क्षीणो ऽपि वर्धते १८।३१
क्षुद्दुःखतो देह २०।३१
क्षुधाग्निज्वालया १३।५४
क्षुधा तृषा भयं १३।५२
क्षुभ्यन्ति स्म द्विजाः ३।६७
क्षेत्रकालबल ७।६०
क्षेत्रममुष्य विनीय ५।८९
क्षेत्रे ग्रामे खले १९।४९
क्षेमेण तिष्ठति २।८२

ख

खगाङ्गभूरुवाचातः १२।६२
खगेन्द्रनन्दनः १०।८३
खगो ऽगदत्ततः १०।८९
खटिका पुस्तिका ११।७२
खट्वाधःस्थं भाजनं ९।८१
खण्डैरखण्डैर्जन १।१९
खरवक्त्रेण देवानां ११।४९
खलाः सत्यमपि ४।६
खलूक्त्वा त्वं ततः १०।४८
खेचरेण ततः १३।६,१४।७
खेटकन्याः स १२।३८
खेटस्येति वचः १०।२९
खेटः प्राह किमीदृक्षः १४।६२
खेटेनावाचि तस्य १६।७९

ग

गगने प्रसरन् ३।२१
गङ्गया नीयमानां १५।३८
गजो ऽपि तेनैव १२।८७
गते भर्तरि ६।२५
गतो ऽहमेकदा ९।६०
गत्वा तत्र तपोधनः १४।१०१
गत्वा त्वं तपसा ११।३५
गत्वा द्वीपपतिः ७।६६
गर्भादिमृत्युपर्यन्तं १७।४०
गवेषय स्वं पितरं १४।९७
गान्धारीतनयाः १५।५३
गीयन्ते पुण्यतः २।३८
गुडेन सर्पिषा ९।५३
गुणशीलकला ६।५६
गुणावनद्धौ पद ८।८७
गुणैः संपद्यते १७।३४
गुरूणां वचसा १७।६६
गृहप्रियापुत्र १८।९४
गृहाण त्वमिदं ५।४४
गृहाण त्वमिमां १५।३०
गृहीतो ब्राह्मणः १२।६५
गृहीत्वा तृण ३।५३
गृहीत्वा पुष्कलं ६।४१
गृहीत्वा स्वयं १८।४९
गृह्णाति यो भाण्डं ७।९२
गृह्णामीदमपि ८।२८
गोपीनिषेवते ११।२७
गोमयं केवलं ५।४९
गोशीर्षचन्दनस्य ८।५९
गौतमेन क्रुधा ११।६२
गौतमेन यथा १६।२०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गौरीवदनविन्यस्तां १६।५१
गौरीव शम्भोः १।३९
ग्रहीतुं तस्य ८।१३
ग्रामकूटस्ततः ४।६९
ग्रामकूटावभूतां ५।७७
ग्रामकूटो ऽथ ५।१
ग्रामेभ्यो जायते ८।१५
ग्रामेयकवधूः ९।६३
ग्राहं ग्राहमसौ ११।३४

घ

घनं कलापीव १।६८
घ्नन्ति ये विपदं १३।९४

च

चकमे सापि तं १४।८४
चकर्त मस्तकं ११।११
चकार यो विश्व ८।८५
चक्रिणः केशवाः ८।२१
चक्रिणो द्वादशार्हन्तः १०।५५
चक्रिणस्तीर्थं २।३९
चक्षुषा वीक्षते १७।४४
चतुर्थे वासरे १४।५९
चतुर्विधं प्रासुक १९।९२
चतुर्विधं श्रावक २०।८८
चतुर्विधाशन १९।८८
चतुर्वेदध्वनिं ३।२२
चत्वार उक्ताः प्रथमाः २०।६८
चत्वारो ऽथ महा ८।७४
चत्वार्यमासहस्राणि १८।४५
चन्द्रमूर्तिरिव ५।३६
चन्द्रः कलङ्को १।३५
चन्द्राभो मरुदेवः १८।२०
चम्पायां सोऽभवत् १५।४२
चरित्रं दुष्ट ५।७५
चलिताः सर्वतः २।१३
चार्वाकदर्शनं १८।५९
चिकित्सामष्टधा ८।५४
चिक्रीड सा विटैः ४।७८
चित्तेन वीक्षते ८।७१
चिन्तयित्वेति वर्षाणि १४।२३
चित्राङ्गदस्ततः १५।२९
चेतसि कृत्वा गिरं २०।८१
चेतसि दुष्टा वचसि २०।४१
चौरीव स्वार्थ ५।५९

छ

छद्मना निजगृहं ४।९४
छिन्ने ऽपि मूपकैः १२।१४
छेदतापननिघर्ष १३।९९
छोहारविषये ख्याते ७।६३

ज

जगाद खेचरः १४।६६
जगाद खेटः स्फुटं १२।९६
जगाद धिषणः ११।३१
जगाम यः सिद्धि १६।९६
जग्राह विद्या १।४५
जजल्पुर्याज्ञिकाः १४।७९
जजल्पुरपरे ३।५७
जन्ममृत्युजरा १०।४९
जन्ममृत्युबहु १७।९९
जरासन्धं रणे १५।५४
जरासन्धाङ्गदौ १६।८६
जलं हुताशे कमलं १२।९५
जल्पति स्म सः ३।९१
जल्पेन कोकिलालापं ६।६१
जहर्ष धरणी ७।३४
जहाति शङ्कां न २०।७१
जातं खण्डद्वयं १६।८३
जातं तस्यास्ततः १४।७४
जातिमात्रमदः १७।३३
जिनः कल्पद्रुमापाये १८।२६
जिनाङ्घ्रिपङ्केरुह १६।९४
जिनाङ्घ्रिस्पर्श १२।५१
जिनेन्द्रचन्द्रायतनानि १।५४
जिनेन्द्रवचनं १८।८३
जिनेन्द्रसौध १६।९८
जीवाजीवादि १९।१०
जीविते मरणे २।५८, १९।८४

ज्ञ

ज्ञातेन शास्त्रेण २०।३७
ज्ञात्वा गर्भवती १५।३६
ज्ञानजातिकुलैश्वर्य १३।६०
ज्ञानसम्यक्त्व १७।५८
ज्ञेया गोष्ठी ६।१२
ज्येष्ठागर्भभवः १२।३५
ज्वलन्तं दुरन्तं ५।९६
ज्वलित्वा स्फुटिते ९।१४

त

ततस्तद्दर्शितं १२।६८
ततः खेटो ऽवदत् १३।१२
ततः पतिव्रता १६।७०
ततः पद्मासनः १३।३६
ततः पलायितः १४।१३
ततः पवनवेगो ऽपि ३।४९
ततः पवनवेगः १०।६७
ततः पार्षदिकैः १५।८२
ततः पालयितुं १६।३२
ततः पुष्पपुरं १४।२
ततः प्रसाद इत्युक्त्वा ८।२९
ततः शाखामृगाः १६।१९
ततः साधुरभाषिष्ट १९।६
ततः स्वपरशास्त्रज्ञः १४।५५
ततो गाण्डीवमारोप्य १३।९
ततो जगाद १०।८७
ततो ऽजल्पीदसौ ८।२२
ततो दधिमुखः १६।७६
ततो दधिमुखेन १६।६९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ततो देवतया १८।४८
ततो ऽध्यासीत् ८।२६
ततो ऽध्यासीन्नृपः ८।२३
ततो नीलञ्जसां १८।२७
ततो बभाषे १६।९१
ततो ऽभणीत्खगाधीशः ११।२
ततो भार्याभय ९।१३
ततो ऽभाष्यत १४।४६
ततो भूतमतिः ६।८०
ततो भूपतिना ८।१०
ततो ऽमुनावाचि ८।९३
ततो रक्तपटः १५।७५,१६।४
ततो लोहमयं ७।११
ततो ऽवतीर्येषः १।६९
ततो वल्लभया ९।४७
ततो ऽवादि मया १६।३१
ततो ऽवादीद्यतिः २।३
ततो ऽवादीन्नृपः ७।५
ततो विमलवाहः १८।१९
ततो ऽवोचदसौ १०।७०
ततो ऽवोचन्मनोवेगः ३।१६
ततो ऽहं गदितः १४।३१
ततो ऽहं भस्मना १४।३३
तत्कर्तव्यं बुधैः ३।१३
तत्र केचिदभाषन्त ३।७७
तत्र जातो जरासंधः १६।८४
तत्र तेन तदेवोक्तम् ४।२५
तत्र द्वेधा कृते १३।८०
तत्र स्थित्वा चिरं १३।३३
तत्रागतां चन्द्रमतीं १४।९९
तत्रायाते ऽमित १५।९८
तत्रास्ति शैलः १।२१
तत्रैको बटुकः ६।८
तत्प्रविश्य ततः १३।३२
तथा पतिव्रता १६।७२
तथा विचिन्त्य ५।१८
तदन्तरस्थं तं ११।९०
तदानीं न कथं १३।१३
तदान्यः कृपणः २।५३
तदा बोडमिति ९।५५
तदाश्रावि कथं १४।६७
तदास्वादनमात्रेण ७।५०
तदीयपानतः १४।६९
तदीयं वचनं ९।५२,१४।१०
तदीयं सिकता १५।६१
तदेव कमलं १३।३५
तदेव भाषते १२।७१
तद्भारतं क्षेत्रं १।१८
तन्नास्ति भुवने ५।४८
तन्नेह विद्यते ९।१७
तन्माकन्दफलं ७।४४
तन्वी मनोवेगं १।४३
तपःप्रभावतः १४।८५
तपांसि भेजे न ८।८४
तपो वर्षसहस्रोत्थं ११।४३
तप्तचामीकर ११।१६
तमवादीत्ततः ६।४०
तमाचष्ट ततः १५।२३
तमालोक्य ४।१
तमुवाच मनोवेगः १७।४
तयोद्गीर्णे ततः १२।५
तरुणीतः परं ४।५७
तरुणीसंगपर्यन्ता ४।५८
तरुपाषाण १२।९
तर्कं व्याकरणं ३।३२
तव धनं ६।९१
तव या हरते ५।६५
तव राज्यक्रमायातं ७।८
तवान्यदपि मित्राहं १४।१
तस्मिन्नेव क्षणे ९।६८
तस्य तां सेवमानस्य ११।१४
तस्य प्रदर्शितं ७।२४
तस्य वाक्यमवधार्य ४।८९
तस्य शर्करया ७।२१
तस्य स्पर्शेन ८।६३
तस्य सा पाण्डुना १५।२१
तस्या मध्ये ददर्श १५।३९
तस्यालोक्य ७।४
तस्यास्ति सुन्दरा १५।२६
तस्यास्तेनेति ५।७२
तस्याः समस्त ७।४१
तस्येति वचनं ४।२१
तस्योपचर्यमाणः ८।५३
तं जगाद ३।८५
तं तं नमति १९।३७
तं निजगाद ५।८२
तं वर्धमानं ८।५५
तं विलोक्य जिन २०।८७
तानवेक्ष्य विमुग्धेन ४।११
तापसस्तपसां ११।३
तापसः पितुरादेशात् १४।८९
तापसीयं वचः १४।६५
ताभ्यामुक्तं स ते १६।६६
ताभ्यामेष ततः १६।६८
तामुपेत्य निजगाद ४।८८
तामेष भोक्तुं १४।८३
तारुण्यं जरसा २।४७
तार्णदारविक ३।९३
ताल्वादिकारणं १७।९
तावस्मद्भक्षणं १५।८१
तावालोक्य स्फुरत्कान्ती ३।६०
तिग्मेतरांशाविव १।१४
तिष्ठतोर्नौ वियोगे ३।१०
तीव्रेण तेन ८।५२
तूर्यस्वने श्रुते १०।६९
तृणकाष्ठं यथा दत्तः ३।६४
तृतीये वासरे ९।६४
ते ऽजल्पिषुस्ततः १२।७५
तेन गत्वा ततः ११।९
तेन तां सेवमानेन १५।३४
तेनागद्यत किम् १६।६३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तेनागस्त्यो मुनिः १६।६१
तेनातो विधवा ११।१३
तेनाराधयता १६।४८
तेनावादि मया ८।६०
तेनेति भाषिता ७।७६
तेनैका सा वधूः ११।७४
तेनैव तापसाः ११।६
तेनोक्तमहं १४।५
तेनोक्तं वेद्मि नो १६।२४
ते प्राहुर्न बिभेषि १६।४४
ते प्रोचुर्मुञ्च १५।७२
ते ऽभाषन्त कुतः १६।२७
ते मया भक्तितः ३।१८
ते ऽवादिषुस्त्वं १५।७४
ते ऽवोचन्नीदृशं १६।३
ते व्याचक्षिरे १६।५४
तेषामन्ते तृतीयाब्दे १८।८
तेषामिति वचः १२।१७
तेषां व्यपाये प्रति २०।६९
ते सर्वे ऽपि व्यतिक्रान्ताः १०।५६
तैरुक्तमयमुत्पातः १४।३०
तैरुक्तं विधवां ११।११
तोमरेणोदिता ७।७५
तोषतो दर्शितं ८।३३
त्रसस्थावरजीवानां १९।७५
त्रसा द्वित्रिचतुः १९।१८
त्रस्तावावां ततः १५।७८
त्रस्तो ऽतो ऽग्रीकृतः २।७
त्रिदशाः किंकराः १९।७१
त्रिद्व्येकका मता १८।९
त्रिमोहमिथ्यात्व १८।९२
त्रैलोक्यं लङ्घमानस्य १९।७६
त्यक्तबाह्यान्तर १८।७६
त्यक्त्वा जिनवचोरत्नं १८।८७
त्यजति यो ऽनुमतिं २०।६२
त्वदीयहस्ततः ११।५२
त्वमप्येहि सह १४।२०
त्वमसि कः ६।८८
त्वमेव बन्धुः १८।९०
त्वया दत्तं मया १८।८८
त्वया समेतां यदि ११।८६
त्वादृशीं विभ्रमाधारां ४।७१

द

दग्धा विपन्नाश्चिर १६।९२
दण्डपाणि यमं १२।८
ददति पुत्र ६।८३
ददाति धेनुः ७।८३
ददाति या निजं ४।८०
ददाना निजसर्वस्वं १९।५९
दर्शनेषु न ३।८३
दर्शनैः स्पर्शनैः ६।२६
दर्शनं स्पर्शनं ६।६२
दर्शयस्व ममापीदं ३।३८
दर्शयामि पुराणं १५।६८
दर्शयाम्यधुना १२।५३
दवीयसो ऽपि १२।१२
दशाङ्गो दीयते १८।१५
दह्यन्ते पर्वताः २।५५
दानपूजामिताहार २।५१
दानमन्यदपि २०।३९
दानयोग्यो गृहस्थः १६।६४
दानवा येन हन्यन्ते १०।१४
दायकाय न ददाति २०।४०
दार्वर्थं चन्दनस्य ८।५८
दाहं नाशयते ८।५६
दिग्देशानर्थ १९।७३
दिव्येषु सत्सु भोगेषु १९।३०
दीनैर्दुरापं व्रत २०।७५
दीप्रो द्वितीयः १।२२
दुःखदं सुखदं २।२७, २।६४
दुःखदा विपुल १९।५८
दुःखपावकपर्जन्यः १०।१९
दुखं मेरूपमं २।२३
दुःखं वैषयिकं २।२६
दुःखे दुरन्ते १।५२
दुग्धाम्भसोर्यथा १७।४६
दुरन्तमिथ्यात्व १।५०
दुरापागुरुविच्छेदी ८।४९
दुरापा द्रव्यदाः ८।३१
दुर्निवारं तयोः ५।७९
दुर्निवारैः शरैः ५।९
दुर्भेद्यदर्पाद्रि ७।९५
दुर्योधनस्य १०।२२
दुर्योधनादयः पुत्राः १५।५२
दुर्योधनादयः सर्वे १५।५६
दुर्लभे रज्यते ५।६१
दुर्वारैर्मार्गणैः १२।२३
दुश्छेद्यं सूर्यरश्मीनां ८।७०
दुःशीलानां विरूपाणां ९।३७
दुःसहासुख २।४५
दृश्यन्ते परितः ३।२४
दृष्टिविश्रम्य ११।३९
दृष्ट्वा तरन्तीं १४।९८
दृष्ट्वा तौ तादृशौ ३।५४
दृष्ट्वा दिव्यवधू १२।२२
दृष्ट्वानुसारिभिः १५।६४
दृष्ट्वा परवधूं १९।६२
दृष्ट्वा योजनगन्धादि १७।३०
दृष्ट्वा वाचंयमीभूतां ७।८०
दृष्ट्वा वृषणवालाग्रं १३।३४
दृष्ट्वेति गदितः १३।८८
दृष्ट्वैकमग्रतः ८।४
दूरीकृतविचारेण ७।९३
देवकीयक्रमाम्भोज ८।६
देवतागमचरित्र १३।१००
देवतातिथिभैषज्य १९।२१
देवता विविध १७।९८
देवस्य काञ्चन ११।२०
देवानां यदि १५।१२
देवास्तपोधनाः १५।१५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देवीव देवीभिः १४।९३
देवे कुर्वति १०।३३
देवेन देवो हित १३।१०१
देवो रागी यतिः १७।८८
देवो विध्वस्तकर्मा १३।१०२
देव्यो ऽङ्गनाभिः १।३१
देशो जातिः कुलं १८।८०
देशो मलय ४।८
देहस्थां पार्वतीं ११।२३
देहिनो रक्षतः २।७७
देहे ऽवतिष्ठमानः १७।५७
देहो विघटते ६।७९
दैवात्समुत्पन्न १२।८४
दोषं गृह्णाति १३।५७
दोषं परेषां १५।९२
दोषाणां भ्रमतां ५।५६
दोषैः शङ्कादिभिः १९।११
दोषं परेषां १५।९२
द्रव्येण भूरिणा १६।६७
द्रष्टव्याः सकलाः १९।५७
द्रष्टुं स्प्रष्टुं मनः १९।२६
द्रौपद्याः पञ्च भर्तारः १४।३७
द्वाभ्यां चकितचित्तः ९।३४
द्वारेण पञ्चमेन १५।६९
द्विजा जजल्पुरत्र १०।९१
द्विजा प्राहुस्त्वया १२।५८
द्विजिह्वसेवितः ११।२२
द्विजैरवाचि १०।८८
द्विजैरुक्तमिदं १६।९०
द्वितीये वासरे ७।७९
द्विधाकृत्य तया १६।८२
द्विविधा देहिनः १९।१७
द्विष्टो निवेदितः ६।१
द्वीपेशेन ततः ७।७३
द्वीपो ऽथ जम्बूद्रुम १।१७
द्वेधा निसर्गाधिगम २०।६६
द्वे भार्ये पिठरोदर्ये ९।४
द्वेषरागमद १३।९६, १७।९१, २०।३६
द्व्यासना द्वादशावर्ता १९।८५

ध

धनं धान्यं गृहं १९।६७
धनुःशङ्खगदा १०।१३
धर्मकामधन २०।४९
धर्मतो ददते २।३४
धर्मपरीक्षामकृत प्र.६
धर्ममना दिवसे २०।५८
धर्ममार्गमपहाय ४।९५
धर्मस्य कारणं २०।२९
धर्मार्थकाममोक्षाणां २०।२७
धर्मः कषायमोक्षेण १९।६८
धर्मः कामार्थ २।४१
धर्मो गणेशेन १।१५
धर्मो जैनो ऽपविघ्नं प्र.१८
धर्मो निषूद्यते १९।४७
धर्मोपदेशनिरतः २।८१
धर्मो बन्धुः पिता १९।५२
धर्मो ऽस्ति क्षान्तितः २।७५
धार्मिका वसते २।३७
धार्मिकाः कान्तया २।३५
धीरस्य त्यजतः २।७८
धीवरी जायते १४।९०
धृतग्रन्थो ऽपि ८।७६
धृतराष्ट्राय गान्धारी १४।५८
धृतराष्ट्राय सा १४।६०
ध्यानं श्वासनिरोधेन १७।५६
ध्यानाध्ययन ३।२७
ध्वस्ताशेष प्र. २

न

न किंचनात्र १८।३६
न किंचिद्विद्यते २।४६
न किंचनेदं ५।५
न कीर्तिर्न कान्तिः ९।९२
न को ऽपि कुरुते २।६३
न को ऽपि विद्यते ६।३०
न को ऽपि सह २।६७
न क्वापि दृश्यते २।६६
न गृह्णते ये प्र. १३
न जातिमात्रतः १७।२३
न जात्वहं त्वया ३।१९
न जातेरस्मदीयायाः १४।७०
न जानाति नरः ५।६
न तया दीयमाने ११।७५
न तेन किञ्चन ९।४९
नत्वा स साधुं २०।८३
नत्वोक्तैवं ७।३८
न दन्तिनो निर्गमन १२।९४
न दीक्षामात्रतः १७।६०
न देवा लिङ्गिनः १७।८७
न पादुकायुगं १०।७
न बभूव तपः ११।४६
त बुद्धिगर्वेण प्र. १०
नभश्चरस्ततः १०।८१
नभश्चराणां नगराणि १।२४
नभश्चरेशः १।३२
नभश्चरो ऽवदत् १४।८१
न भुङ्क्ते न शेते ५।९५
न भेदं सारमेयेभ्यः १९।३१
न मृत्युभीतितः २०।२८
नरको ऽजगरः २।२०
नरामरव्योमचरैः १।६६
नर्तनप्रक्रमे १२।३१
न लज्जां वहमानेन ९।६२
न वल्भ्यते यो २०।६३
न विप्राविप्रयोः १७।२८
न विशेषो ऽस्ति १९।६०
न शक्नोम्यहं १६।३३
न शक्यते विना १८।३०
नष्टः क्षिप्रं वस्त्र ९।८४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नष्टामेकार्णवे १३।२०
न सत्यमपि वक्तव्यं ४।२७
न सो ऽस्ति विष्टपे ५।५२
नाजन्ममृत्यु ३।११
नात्मनः किञ्चन २।६०
नात्मनः साध्यते १७।५५
नादरं कुरुते १०।८
नाद्यां हित्वा नारक २०।७९
नापौरुषेयता १७।७,१७।१८
नाभिलक्ष्म्या ६।५९
नामाप्याकर्णितं १३।६५
नायान्ति प्रार्थिताः २।७०
नारायणश्चतुर्बाहुः १३।९०
नार्थः परपुराणेषु १६।१६
नार्हत्वं यदि १०।७३
नारी हेतुरकीर्तीनां ५।५८
नाशे त्रिशूल १२।४२
नाश्यन्ते दीक्षया १७।६५
नासनं पेशलं १०।६
नास्ति स्वस्वामि १८।११
नास्माकं युज्यते १६।८
निगद्यते गते १६।६५
निगद्येति नमन्ति ३।७६
निगद्येति निजां ९।४३
निजगादापरा ३।६२
निजानि दश १३।४९
निजेन बाहुना १६।५०
नित्यो निरञ्जनः १०।६४
निदानमिथ्यात्व १९।९६
निद्रया ऽधोक्षजः १३।७३
निद्रया मोहितः १३।७१
निधानसदृशं ८।४२
निधाय प्रतिमां १२।४३
निपात्य कामिनी ६।७४
निम्नगापर्वत १३।८१
निम्बमुक्त्वा गृहीतं ८।६७
निरर्थकं कृतं १५।५९
निरस्तमिथ्यात्व १८।९७
निरस्ताशेषरक्तादि १६।८९
निरस्य भूरिद्रविणं २०।४७
निरीक्ष्य ते १०।८२
निरीक्ष्य नागं १२।८८
निरुत्तरांस्तथा १७।१
निर्गता माहनाः १२।५६
निर्गत्य वसतेः ६।४७
निर्धातुकेन देवेन १५।४४
निर्भिन्नो यः १९।२८
निर्मलं दधतः २।७६
निर्वाणनगर १८।७७
निर्विचारस्य ७।५८
निर्विवेकस्य विज्ञाय ७।५९
निवर्तमानस्य १।५५
निवसन्ति हृषीकाणि १९।८७
निवारिताक्षप्रसरः ८।८६
निवार्यमाणेन मया १८।८९
निशम्य तेषां ८।९४,१५।९१
निशम्य विषमाकन्दं ७।४९
निशम्येति वचस्तस्य ५।६९
निशम्येति वचः १८।५१
निशातकामेषु ११।८२
निषेविता शर्मकरी २०।४५
निहत्य रामस्त्रिशिरः १५।९५
निहत्य वालि १५।९७
निःपीडिताशेष ८।८१
निःशङ्का मदना ६।३१
निःसन्धिर्योजिता १६।५२
नीचः कलेवरं ४।७५
नीचा एकभवस्य २।४४
नीचाचारैः सर्वदा २०।४४
नूनं मां वेश्यया ५।३७
नूनं विष्णुरयं ३।७५
नृत्यदर्शनमात्रेण ११।२९
नृपं मन्त्री ततः ७।६
नेन्द्रियाणां जयः १७।६९
नेमिषेणगणः प्र.।४
नैवमालोचयन्तः ३।८०
नोपायो विद्यते २।५६
न्यगदीदपरा ९।७५

प

पक्षिणा नीयमानस्य ७।४०
पञ्चत्वमागच्छत् १९।९४
पञ्चधाणुव्रतं १९।१२
पञ्चधानर्थदण्डस्य १९।७९
पञ्चभिर्मुष्टिभिः १८।४१
पञ्चमाससमेतानि २०।१५
पञ्चम्यामुपवासं २०।१३
पञ्चवर्षशतोत्थस्य ११।४५
पञ्च स्वेषु गृहीतेषु १४।४०
पञ्चाक्षविषयासक्तः १३।५८
पञ्चाशत्तस्य ६।४
पतिव्रतायसे ९।२९
पत्युरागममवेत्य ४।८४
पत्यौ प्रव्रजिते ११।१२
पदार्ति क्लिष्टमविलष्टं ८।८
पनसालिङ्गने १४।६३
पन्थानः श्वभ्रकूपस्य १९।५६
पयो ददाना ७।८२
परकीयमिमं १५।८३
परकीयं परं १६।२१
परच्छिद्रनिविष्टानां ५।५४
परप्रेष्यकराः ४।२
परमां वृद्धिमायाता ५।५५
परस्परविरुद्धानि १८।२
परस्परं महायुद्धे १६।७४
परस्त्रीलोलुपः ४।७०
परं गतौ मरिष्यावः १६।४०
परः पाराशरः १५।५१
परापहारभीतेन ११।६९
परिगृह्य व्रतं १९।१५
परिणीता ततः १४।७६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिणीताभवत्	१४।८०	पुलिनव्यापकं	१५।६३	प्ररूढपापाद्रि	८।८८
परिवर्तसमः	८।७२	पुष्टिदं विपुल	५।३४	प्रलयस्थितिसर्गाणां	१७।८२
परे प्राहुरयं	३।७८	पुंसा सत्यमपि	४।३०	प्रविश्य पत्तनं	१०।६८
पर्वते जायते	४।४५	पुंसा सत्यमसत्यं	४।२९	प्रविष्टो ऽत्र ततः	१३।२५
पल्यस्याथाष्टमे	१८।१७	पूजितो वाणिजः	८।६४	प्रशस्तं धर्मतः	२।४२
पवनेनैकदा	११।७३	पूर्वमिन्द्रजिते	१४।७७	प्रसाद इति	७।४५
पश्यन्तः पापतः	२।२९	पूर्वापरविचारज्ञाः	४।४३	प्रसार्य बाहू	१०।९६
पश्चाद् गर्भवतीं	१५।३१	पूर्वापरविचारेण	४।४१	प्रसार्य हस्तं	१२।८२
प्रपञ्चो विद्यते	६।५१	पूर्वापरविरुद्धानि	१३।८७	प्रत्यक्षतः पर	२।९२
पाखण्डं किं त्वया	५।२८	पूर्वापरविरोधाढ्यं	१०।६५	प्रत्यक्षमीक्षमाणेषु	१७।४५
पाखण्डाः समये	१८।७२	पूर्वापरेण कार्याणि	७।५६	प्रत्यक्षमिति विज्ञाय	२।४३
पाखण्डानां विचित्राणां	१८।५८	पूर्वोदितं फलं	१९।७८	प्रस्तावे ऽत्रास्य	२।१८
पाणिपात्रे परैः	१८।५०	पृष्ट्वेति तत्र विरते	२।९०	प्राज्ञैर्मुनीन्द्रैः	१।१६
पातयित्वा वधूं	१४।१५	पैत्तिको विपरीतात्मा	१०।२	प्राणेभ्यो ऽपि प्रिये	९।५
पादयोर्जङ्घयोः	११।३८	पौरैरुक्ता जडा	९।२	प्राणप्रियो मम	२।८५
पादाभ्यां तन्वि	६।५८	पौलस्त्यमञ्जन	८।२७	प्राणिपालदृढ	१७।९४
पादाः सदा विदधते	२।८३	प्रकृष्टो ऽत्र कृतः	१८।४४	प्रातर्विमानमारुह्य	३।४४
पारम्पर्येण सः	१७।१५	प्रक्रमं बलिबन्धस्य	१०।६१	प्राप्य ये तव	२०।८५
पार्वतीस्पर्शतः	१२।३०	प्रगृह्य मित्रं	१८।९८	प्रियापुरीनाथ	१।४८
पालयन्ती गृहं	६।२४	प्रज्वलन्त्यूर्ध्वं	९।१०	प्रियायाः क्रष्टुं	९।५०
पालयन्तीमिमां	१६।७१	प्रणम्य तापसाः	१४।२५	प्रियेण दानं	१९।९३
पाशं दण्डं विषं	१९।८१	प्रताड्य खेचरः	१२।५५	प्रिये ऽप्रिये विद्विषि	२०।५५
पिता पितामहः	३।७	प्रतिपद्य वचः	११।५५	प्रेक्षकैर्वेष्टितौ	३।५५
पितामहस्ततः	१३।२९	प्रतिपन्नं कुमारेण	७।१०	प्रेतभर्ता ततः	१२।४
पिधाय दोषं	२०।७२	प्रतिश्रुत्यादिमः	१८।१८	प्रेम्णो विघटने	५।२२
पीतमङ्गुष्ठमात्रेण	१३।१८	प्रतीक्षेताष्टवर्षाणि	१४।३९	प्रेरिताः स्वकृत	१३।९३
पुण्डरीकं महायज्ञं	६।२३	प्रत्येष्यथ यतः	१२।७४	प्रेषितो जलमानेतुं	१३।७८
पुत्रकलत्रधनादिषु	५।८३	प्रथीयो ऽस्ति	६।२		
पुत्रमित्रगृह	१८।३३	प्रदर्श्य वाक्यं	१८।९१	**फ**	
पुत्रमित्रशरीरार्थं	२।६५	प्रदायाभरणं	७।७	फलं खादन्ति ये	१९।४३
पुरन्दरब्रह्म	८।८२	प्रपद्यते सदा	७।१७	फलं निर्व्रत	१७।६३
पुराकरग्राम	१२।९१	प्रपेदे स वचः	६।४४	फलं वदन्ति	२०।२१
पुराणमीदृशं	१२।११	प्रबोधितास्त्वया	१०।३१	फलान्यत्तुं प्रवृत्ताः	१८।४७
पुराणसंभूतं	प्र.।९	प्रभाते स जिनं	१२।५०	फुल्लाधरदलैः	१६।४९
पुराणं मानवः	१४।४९	प्रभो तपःप्रभावेण	११।३२		
पुरुषं नयति	१९।६९	प्रमाणबाधितः	१७।७७	**ब**	
पुरे सन्ति परत्रापि	१२।८०	प्रमादतो व्रतं	१९।१६	बद्धं मया	प्र. ७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बद्धो विष्णुकुमारेण १०।६२
बन्धभेदवध १९।२२
बन्धमोक्षविधयः १७।९५
बन्धमोक्षादि १७।४७
बन्धूनामिह १८।३२
बभाषिरे ततः १०।१८,१०।८५
बभाषिरे परे ३।५९
बभाषिरे वेद १५।९३
बलाहकैरिव ५।२
बहिरन्तरयोः ६।६९
बहुनात्र किमुक्तेन ५।६३
बहुशाखोपशाखाढ्यः १६।३०
बान्धवा विधिना ६।५
बान्धवैस्त्यज्यते २०।४८
बालिशं शंसति ८।२०
बालेयकशिरः १२।४६
बाह्याभ्यन्तरयोः ६।५०
बिडौजसावाचि ११।९२
बिभेद हृदयं ११।४०
बिभेम्यहं तरां ९।६
बुधैरुद्द्योतना २०।२३
बुभुजे तामविश्रामं ६।२८
ब्रूयाल्लौहमिदं ७।९
बृहत्कुमारिका १४।११
बोडेन सदृशा ९।५८
बोडे रक्षतु ते ९।३३
ब्रवीमि केवलं ४।५
ब्रह्मचारी शुचिः ६।५४
ब्रह्मणा यज्जलस्य १३।७९
ब्रह्महत्यानिरासाय ११।५६
ब्रह्मा मृगगणाकीर्णं ११।५७
ब्राह्मणक्षत्रियादीनां १७।२५
ब्राह्मणो ऽवाचि १७।२७

भ

भगवन्नत्र २।२
भजते वपुषैकं २०।४२
भज्यते नातसी १३।४०
भट्टा यदीदृशः १०।२०
भणितो म्लेच्छनाथेन ७।७१
भद्र चिन्तयतां १०।४६
भवतामागमः १३।१४
भवति मूढ ६।८४
भवति यत्र न २०।३८
भवदीयमिदं १६।६
भवान्तकजरोज्झिताः १७।१००
भवे बंभ्रम्यमाणानां २।२२
भव्यत्वमस्ति जिन २।८९
भारतादिषु कथासु ३।९४
भारतीमिति निशम्य ३।८४
भावा भद्रानुभूयन्ते ३।३५
भाषते स्म तमसौ ३।८६
भाषिताखिल प्र. ३
भिन्नप्रकृतिकाः २।५९
भिल्लवर्त्म मतं २।१९
भुङ्क्ते नालीद्वयं २०।१२
भुजङ्गी तस्करी ५।६८
भुञ्जते मिष्टं २।३६
भुञ्जानयोस्तयोः ५।७८
भुञ्जानः काङ्क्षितं ४।५३
भूमिदेवैस्ततः १३।१५
भूयो ऽपि तापसाः ११।१०
भूयो योजनगन्धाख्यां १४।८८
भूरिकान्तिमति २०।७८
भूरि द्रव्यं काङ्क्षितं ९।८२
भेदे जायेत विप्रायां १७।२६
भोजनानि विचित्राणि ४।७९
भ्रमता भरत ३।२०
भ्रमन्तौ धरणीं १५।८७
भ्राता ततो मया १६।३९
भूनेत्रहुङ्कार १९।९८
भृशं सक्तदृशं ११।४४

म

मक्षिकाभिर्यदादाय १९।४१
मक्षिकाभिरसौ २।१४
मगधे विषये ८।२
मञ्जूषायां विनिक्षिप्य १५।३७
मत्वेति दूषणं ५।११
मण्डलो मण्डलीं ४।७४
मण्डूकी मानुषं १५।६
मत्स्यशाकुनिक १९।५४
मदाम्बुधारार्द्रित १२।८१
मद्यतूर्यग्रह १८।१६
मद्यतो न परं १९।३६
मद्यमांसकलितं २०।४३
मद्यमांसवनिता १७।९६
मद्यं मांसं द्यूतं २०।५१
मद्यं मूलमशेषाणां १९।३८
मधुसूक्ष्मकणास्वादः २।२१
मध्यदेशे सुखाधारे ८।५०
मध्यमं जायते १७।४२
मध्यस्थितामुज्जयिनीं १।५८
मन्मथाकुलिता ३।६३
मन्यन्ते स्नातः १७।३४
मनीषितप्राप्त १।२९
मनीषितं ततः ७।७४
मनुष्यासवसिक्तानां १४।५०
मनुष्याणां तिरश्चां ४।४२
मनुष्याणां पशूनां ७।६१
मनोभुवतरु ११।६८
मनो मोहयितुं ११।३६
मनोरमं तत्र १३।८९
मनोरमा पल्लविता १।४१
मनोवृत्तिरिव ६।२१
मनोवेगस्ततः ३।४०,१९।१०, १३।३९,१९।३
मनोवेगेन तत्र ३।४८
मन्त्रिणा गदिते १२।७०
मन्त्री ततो ऽवदत् ८।५
मन्त्री भूपतिना ८।७
मम त्वया विहीनस्य ६।६४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मम पश्यत	९।३६
ममानिष्टं करोति	५।३२
ममापि निर्विचाराणां	४।३२
ममाम्बरं दास्यति	१२।९०
ममोत्सुकमिमां	१३।३०
मया गतवता	१४।३५
मया त्रिधा ग्राहि	१८।९६
मया त्वं यत्नतः	३।५
मया निदर्शनं	२।४
मयालोक्य गृह	९।६७
मयावाचि ततः	१४।३२
मया श्रुत्वा वचः	१४।२१
मया हि सदृशः	९।१५
मयि श्रुत्वा वचः	१४।२६
मयेत्वा पाटलीपुत्रं	१९।४
मयेन मुनिना	१४।६८
मरीचिराशयः	४।१५
मरुदेव्यां महादेव्यां	१८।२२
मलो विशोध्यते	१७।३६
महारम्भेण यः	८।४५
महाव्रतनिविष्टः	८।७७
महीमटाट्यमानः	१४।४२
महोच्छ्रयं स्फाटिकं	१।६७
मा ज्ञासीरविचाराणां	४।३५
मातुरपास्यति	२०।५०
मातृस्वसृसुतां	१९।३३
मात्रा पृष्टा ततः	१४।१७
मानसमोह	१६।१०४
मानं निराकृत्य	७।९३
माममुना निहतं	५।९१
माल्यगन्धान्न	१९।९०
मांसभक्षणलोलेन	१९।२३
मांसमद्यमधुस्थाः	१९।४२
मांसस्य भक्षणे	१७।७१
मांसादिनो दया	१९।२५
मित्रागच्छ पुनः	३।३९
मिथ्यात्वग्रन्थिः	१८।८५
मिथ्याज्ञानतमः	१५।६५
मिथ्यात्वतो न	२।८८
मिथ्यात्वमुत्सार्य	१।५३
मिथ्यात्वयुक्तं	१।५१
मिथ्यात्वशल्यं	२।९१
मिथ्यात्वाव्रत	१७।६२
मिथ्यात्वासंयमाज्ञानैः	१७।३७
मिथ्यापथे	२।८७
मिलितौ शयितौ	३।४३
मिलित्वा ब्राह्मणाः	१०।७८
मीनः कूर्मः पृथु	१०।५९
मीमांसां यत्र	३।३०
मीलयित्वा ततः	१०।८०
मुक्तभोगोपभोगेन	१९।८६
मुक्त्यङ्गनालिङ्गन	१६।९५
मुक्त्वात्र तृण	३।६६
मुक्त्वा रक्तपटाकारं	१६।९
मुक्त्वा स्तूपमिमौ	१५।८०
मुखीभूतो ऽपि	१२।२५
मुच्यमानं नव	१०।४१
मुञ्चद्भिर्जीव	१९।४४
मुण्डयित्वा शिरः	९।३१
मुनीन्द्रपादाम्बुज	१।४६
मुने ऽनुगृह्यतां	११।६३
मुनेर्निवासे तृण	१४।९६
मुष्टिषोडशकं	४।२६
मूकीभूयावतिष्ठन्ते	९।१८
मूकीं दृष्ट्वामुना	७।७८
मूत्रयन्ति मुखे	१९।३४
मूर्खत्वं प्रतिपाद्य	९।५९
मूल्यं पलानि	१०।७७
मृग्यमाणं हिमं	२।२५
मृत्युबुद्धिमकुर्वाणः	१७।५३
मोहमपास्य सुहृत्	५।८५
मौर्ख्यसमानं भवति	७।८७
म्लेच्छनरेन्द्रो	७।८६

य

यच्छुभं दृश्यते	१८।८२
यज्जाह्नवी सिन्धु	१।२०
यतो जोषयते	६।१६
यतो भार्याविभीतेन	९।३५
यतो मारयते	६।१७
यत्राम्बुवाहिनीः	३।२८
यत्स्यक्तो वर्तुलैः	४।२२
यत्र निर्वाणसंसारौ	१८।७४
यत्राहारगताः	२०।३
यत्त्वं मदीय	६।५७
यत्त्वां धर्ममिव	३।३६
यथा कुम्भादयः	१७।१०
यथादिमेन चित्तेन	१७।४१
यथा भवति भद्रायं	७।३७
यथा भवन्ति	७।३६
यथा यथा कपित्थानि	१६।३५
यथा यथा मम	९।७१
यथा वानरसंगीतं	१२।७२
यथायं वान्तमिथ्यात्वः	१९।५
यथैषा पश्यतः	१८।२८
यदर्थमर्ज्यते	१८।३४
यदाश्चर्यं मया	३।३४
यदि गच्छसि	४।६८
यदि भवति मनुष्यः	१०।९३
यदि मे ऽन्तर्गता	१२।२
यदि यामो गृहं	१८।५३
यदि रामायणे	४।४
यदि विध्यापयाम्यग्निं	९।१२
यदि शोधयितुं	१७।३९
यदि सर्वविदां	१७।८०
यदि स्त्रीस्पर्श	१४।५७
यदि वल्भिष्यते	५।४२
यदीदृक्कुरुते	१०।३२
यदीदृशानि कृत्यानि	१०।२७
यदीयगन्ध	१०।८६
यदीयलक्ष्मीं	१।६३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदीयल्लभ्यते ८।४१
यदूढया तया १४।६१
यद्दृशस्वपि १९।७४
यद्देशस्यावधि १९।७७
यद्यात्मा सर्वथा १७।५४
यद्युक्त्या घटते ४।३८
यद्येकमूर्तयः १३।७७
यद्येवं त्वं कथं १०।७१
यमुक्त्वा निष्कलं १०।६०
यष्टिकम्बल १६।४१
यस्त्वदीयवचनं २०।८४
यस्य ज्वलति ११।२४
यस्य प्रसादतः १०।१२
यस्य स्मरण १३।४८
यस्यास्ति सम्यक्त्वं २०।७७
यस्यारोपयितुं १९।२
यस्यैवैषार्प्यते ११।२१
यस्याः प्रसादेन १।६
यस्याः संगम १९।६३
यः कटाक्षविशिखैः २०।५९
यः करोति गृहे ६।१४
यः कामानलसंतप्तां १९।६४
यः कामार्त ११।६०
यः क्षीणे क्षीयते ३।१५
यः खादति जनः १९।२४
यः पार्थिवो ऽप्युत्तम १।३६
यः प्रविष्टस्तदा १२।१०
यः सेवनीयो भुवनस्य १६।१०३
यादृङ्मौख्यं तस्य ९।८६
यादृशा विषये ४।१३
या धर्मनियम १७।२१
यामिनीभुक्तितः २०।१०
यावज्जिनेन्द्र २।९३
यावत्ततो व्रजामि १६।३७
यावत्तिष्ठति तत्रासौ १५।२०
यावद्दर्शयते १२।६९
यावत्सागर प्र. १९
यावत्स्नानं १५।६२
या विमुच्य १९।६१
याशने ऽस्ति तनु २०।३३
युक्तं भद्र ८।११
युक्तितो घटते १५।४७
युक्ते ऽपि भाषिते १४।८
युवती राजते ४।५५
युष्मदीयमिदं १६।५६
युष्माकमीदृशे १६।७
युष्माभिर्निर्जिताः ३।७
ये चित्रप्राणि १९।४०
ये ज्ञात्वा प्रलये १३।४६
ये ऽणुमात्रसुखस्य २।२४
ये दीक्षणेन १७।६१
ये देवमर्त्यार्चित १९।९९
ये पारदारिकीभूय १५।१६
ये यच्छन्ति महा २।६९, १७।८३
ये रागद्वेष १७।८६
येषां वेदपुराणेषु १४।४८
योगिनो वचसा २।८०
योगिनो वाग्मिनः ८।१७
यो जल्पत्यावयोः ९।४६
यो जात्यन्धसमः ७।१४
यो न त्वया ३।४
यो न विचारं ७।८५
यो ऽन्तर्मुहूर्तं २०।८०
यो भावयति २।७९
यो भुङ्क्ते दिवसस्य २०।११
यो भैषज्यं व्याधि २०।३५
यो मोहयति १३।४७
यो ऽवदद्भूषणं ७।१२
यो वल्भते २०।४
यो विजिताक्षः २०।४६
यो विभावसु १३।९५
यो विश्वसिति ५।६७
यो विहाय वचनं ५।९७
यो विंशतिमहाबाहुः १६।४७
यो व्रतानि हृदये २०।५४
योषा गिलति या १२।६
योषया वर्ज्यते ५।२०

र

रक्षको ऽप्यङ्गि ८।७८
रक्ष्यमाणामुना ११।७७
रक्तं विज्ञाय ११।४१
रक्तानि सन्ति १५।८५
रक्तो द्विष्टः ४।४०
रक्तो यो यत्र ४।७६
रतकर्मक्षमा १२।४०
रविधर्मानिलेन्द्राणां १५।११
रसातलं ततः १३।१०
रसासृङ्मांस ६।६८
रंरम्यमाणः कुलिशी १।४२
रागतो द्वेषतः ७।९४
रागाक्रान्तो नरः ५।८
रागान्धलोचनः १०।१
राजीवपाणिपादास्या १३।५०
रामाभिर्मोहितः ६।७७
रामायणाभिधे १६।२
रामा विदग्धा १।६२
रामा सूचयते १३।७४
रासभीं शूकरीं ९।२३
रुधिरप्रस्रवद्वारं ६।७०
रुदन्तीं मे ९।७२
रुष्टः श्रीवीरनाथस्य १८।६८
रुष्टेन गज २।१२
रूपगन्धरस ७।३२
रेतःस्पर्शन १५।८
रे मयि जीवति ५।८७
रोप्यमाणं न १९।८
रोहिणीचन्द्रयोः २०।१९

ल

लगित्वा तत् १२।४७
लज्जमानः स ११।४१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लज्जा मानः पौरुषं	९।८७
लब्धाशेषनिधानः	१९।७२
लभन्ते वल्लभाः	२।३३
लङ्काधिनाथो गति	१६।९७
लाघवं जन्यते	१९।४८
लालानिष्ठीवन	६।७१
लावण्योदकवेलाभिः	१२।१८
लाङ्गलीवास्ति	८।४८
लीलया भवन	५।१२
लोकानन्दकरी	१०।१५
लोकेन प्रेषितं	६।५२

व

वक्त्रेण चन्द्रमोबिम्बं	६।६०
वक्रकेशमहा	१०।६६
वक्रः करोति	५।८०
वक्रदासतनयस्य	५।९४
वचनोच्चारमात्रेण	१४।५३
वचोभिर्वादिनः	३।२५
वचों ऽशुभिर्भव्यमनः	१।३
वज्राशुशुक्षणि	२।८६
वञ्च्यते सकलः	७।१८
वणिक्पते त्वया	७।७०
वणिजागत्य	८।६२
वणिजोक्तं तदात्मीयां	७।७२
वदति पठति	प्र.१७
वदति स्म ततः	१२।३
वदतु को ऽपि	६।८५
वदन्तमित्थं रभसा	११।८९
वधूः पलायमानेन	१४।१४
वयं दरिद्रनन्दना	१०।९०
वरप्रसादतः	१६।१३
वरमत्र स्थिताः	१८।५४
वरं कुलागतं	१५।८४
वरं तवाग्रे दयिते	११।८८
वरं मृता तव	४।६६
वर्तमाना मम	६।५५
वर्तुला वर्तुले	४।२०
वर्धमानं जिनं	१२।४९
वसारुधिरमांसास्थि	१०।४५
वसिष्ठव्यास	३।२३
वहन्ती परमां	९।२४
वहमानो ऽखिलं	१०।२५
वन्ध्यास्तनंधय	१७।९०
वाक्यमेतत्	४।९३
वाचमिमां स	५।८६
वाचंयमो यः	१।३३
वाणारसीनिवासस्य	१७।७८
वाणी जिनेश्वरस्य	७।६५
वातकी किमु	३।८९
वातेनेव हतं	१३।५६
वादनं नर्तनं	१२।४४
वादं करोषि किं	१२।५७
वादिनिर्जय	३।८२
वानरै राक्षसाः	१६।११
वामनः पामनः	२०।७
वामनाः पामनाः	२।४०
वार्तामलभमानेन	३।८
वासरैर्नवदशैः	४।८१
विक्रीणीष्वेदमट्टे	८।३७
विक्रीतचन्दनः	१०।३
विक्रीय येन	२०।३०
विचारयति यः	४।३३
विचित्रपत्रसंकीर्णः	७।५२
विचित्रपत्रैः कटकैः	१।२५
विचित्रवर्णसंकीर्णं	९।६१
विचित्रवाद्य	१२।६७
विचिन्तयितुमारब्धं	९।११
विचिन्त्येति जिनः	१८।३७, १८।६२
विचिन्त्येति तदादाय	५।४३
विचिन्त्येति पुनः	४।२३
विजित्य सकला	११।१७
विज्ञाय जन्तु	२०।६१
विज्ञायेत्थं पुराणानि	१५।६७
विज्ञायेत्थयं	४।१७
विटेभ्यो निखिलं	५।६४
वितीर्णं तस्य	५।३१
वितीर्णा पाण्डवे	१५।४५
विदधानो मम	६।५३
विदूयमानोऽपि	१।१३
विदूषितो येन	१८।९५
विद्धसर्वनर	१७।९३
विद्यादर्पहुताशेन	३।६८
विद्याधरैरुत्तर	१।२३
विद्याविभव	१६।१८
विधाय तां नूनं	१।४०
विधाय दर्शनं	१८।५६
विधाय दानवाः	१०।४३
विधाय भुवनं	१३।८४
विधाय भोजनं	३।४१
विधाय संगं	११।८५
विध्यन्तीभिर्जनं	१२।१९
विनम्रमौलिभिः	७।३०
विना यो ऽभिमानं	९।९३
विनाश्य करणीयस्य	१३।८६
विनिवेद्य स्वसंबन्धं	१४।३६
विनिश्चयो यस्य	६।९४
विष्ठुरं वाक्यं	प्रा।१४
विनीतः पटुधीः	६।९
विपत्तिर्महती	६।३९
विपन्नं वीक्ष्य	७।४७
विपरीताशयः	७।२८
विप्राणां पुरतः	१२।२७
विप्रास्ततो वदन्ति	१०।९
विप्राः प्राहुर्वद	१४।६
विप्रैः पृष्टो गुरुः	१२।६०
विप्रैरुक्तं किमायातः	१०।७४
विबुध्य गृह्णीथ	प्रा।१५
विबोद्धुकामः	१।५७
विभागेन कृताः	४।२४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विमानमारुह्य १८।९९
विमानवर्तिना ३।२
विमुक्तिकामिनी २०।२०
विमुच्य मार्गं प्र।१२
विमुच्य व्याकुलीभावं ६।४३
विमोह्य पुरुषान् ६।७५
विरक्तो जायते ५।३३
विरागः केवलालोक १८।७३
विरुद्धमपि मे १५।६६
विरूपा दुर्भगाः २।३१
विलासाय मम ९।९
विलासो विभ्रमः १३।५५
विलीयते नरः ६।३२
विलीयते यतः ६।१८
विलोक्य जठरं १६।३६
विलोक्य तत्पाटन १२।८६
विलोक्य तां गर्भवतीं १४।१५
विलोक्य दुर्मतिं ८।३५
विलोक्यर्तुमतीं ११।५८
विलोक्य वेगतः ९।२७
विवर्धमानस्मर १।३७
विवेकः संयमः १९।१५
विशालं कोमलं ५।२९
विशालं भाजनं ९।६६
विशीर्णाङ्घ्रिकर ८।१८
विशुद्धपक्षी १०।९५
विशुद्धविग्रहैः ११।४
विशोषयति पापानि २०।१७
विश्वं सर्षपमात्रे १३।४१
विषण्णो दृश्यसे १५।२४
विषमेक्षणतुल्यः ९।१९
विषयस्वामिना ४।६०
विष्णुना कुर्वता १२।२१
विष्णुना वामनीभूय १०।९३
विष्णूनां योऽन्तिमः १०।५७
विहाय पावनम् १२।२०
विहाय मार्गं १८।९३
विहितविनयाः ७।९६
वीक्षध्वमस्य मूढत्वं ७।८१
वीक्ष्य परं सुखयुक्तं ५।९३
वीरनाथो ऽप्यनिर्स्त्रिंशः ८।७५
वृक्षतृणान्तरितः ५।९०
वेगेन तौ ततः ३।४५
वेदे निगदिता १७।६
वेला मे महती ३।३३
वेश्या लज्जामीश्वरः ९।९१
वैदिकानां वचः १७।२२
वैरिव्याघ्रभुजङ्गेभ्यः ९।४१
व्यज्यन्ते व्यापकाः १७।१२
व्यर्थीकृत्य गता १२।४८
व्याकृष्टभृङ्गसौरभ्य ८।३०
व्याधिमवाप ५।८१
व्याधिवृद्धिरिव ६।१५
व्यापको यद्यसौ १०।३७
व्यापारं कुर्वतः १३।६९
व्यापिनं निष्कलं १०।५८
व्यासस्य भूभृतः १५।१८
व्यासो योजन १५।५०
व्युद्ग्राही कथितः ७।१९
व्रजन्ति सप्ताद्यकला २०।७०
व्रजन्ति सिन्धुरारूढाः २।३२
व्रतं कच्छमहा १८।५५
व्रतिनो ब्राह्मणाः १८।६६
व्रतेषु सर्वेषु २०।६५

श

शकटीव भराक्रान्ता ६।१०
शकलद्वितयं १६।८५
शक्तिरस्ति यदि ३।८७
शक्नोति कर्तुं न २०।३४
शक्यते परिमा ५।५३
शक्यते मन्दरः ७।१५
शक्यते सुखतः ४।६५
शतधा नो विशीर्यन्ते १२।१६
शतानि पञ्च १२।३६
शयनाधस्तनः ९।६५
शरस्तम्बं पतन् २।८
शरीरजानामिव १।४
शरीरावयवा ११।३७
शरीरे दृश्यमाने १७।४३
शरीरे निर्गते १३।१६
शलाकापुरुषाः १०।५४
शशाम दहनः ६।४८
शस्त्रेणातः पाटयित्वा ९।८३
शङ्के भुजङ्गः १।१०
शङ्खध्मस्येव मे ९।७९
शंसनीया तयोः ३।१४
शाखामृगा भवन्ति १६।१७
शाखाव्याप्तहरिः १३।२८
शासिताशेषदोषेण १२।२४
शिक्षाव्रतं चतुर्भेदं १९।८३
शिखिपिच्छधरः १०।२१
शिखिमण्डलमार्जार १९।८०
शितेन करवालेन १६।८०
शिष्टाय दुष्टः १।९
शीलवन्तो गताः १७।३१
शुक्रभक्षणमात्रेण १५।७
शुक्रशोणित १७।३५
शुद्धैरभव्य २।९४
शुद्धोदनसुतं १८।६९
शूकरः शम्बरः २०।६
शृगालस्तूपकोत्क्षेपं १५।८८
शृगालौ द्वौ तदा १६।५
श्रद्दध्महे वचः १३।१७
श्रमेण दुर्निवारेण १३।७०
श्रावकाः पूजिताः १८।६४
श्रावको मुनिदत्तः १२।७७
श्रीमान्नभस्वत्त्रय १।१
श्रुतयः स्मृतयः १६।६०
श्रुतं न सत्यं १०।९४
श्रुतो देवविशेषः १३।८९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रुतो मित्र त्वया १२।२८
श्रुत्वा तूर्यरवं १४।१२
श्रुत्वा पवनवेगः १८।१
श्रुत्वाययोः स्वनं १५।७९
श्रुत्वा वाचमशेष १९।१०१
श्रुत्वा साधोरमित ८।९५
श्रुत्वेति वचनं ३।५७,१४।६४
श्रुत्वेति वाचम् २।९५
श्रुत्वेति सुन्दरी ५।४०
श्रुत्वेत्यवादीत् १५।९४
श्रेण्याममुत्राजनि १।२८
श्लेष्ममारुत १३।६१
श्वभ्रबाधाधिकां २।१६
श्वभ्रवासाधिकासाते १३।६३
श्वश्रूरागत्य मां ९।७०
श्वापदपूर्णं वरं ७।८९
श्वेतभिक्षुस्ततः १६।२८,१६।५५

ष

षट्काला मित्र १०।५३
षण्मासानवहत् १८।७०
षण्मासाभ्यन्तरे १८।४६

स

सकलमार्ग ६।८१
सकलं कुरुते ६।१३
सकषाये यदि १४।३
सघण्टाभेरिमाताड्य १७।६८
स छद्मना हेम १५।९६
स जगौ किमु ५।३९
स जितो मन्मथः १२।२६
सज्जनाः पितरौ २।४९
सज्जनैः शोच्यते ५।१०
स ततो गदितः ८।१४
स तत्स्वादनमात्रेण ७।४६
स तया सह ६।७
स ताम्रभाजनं १५।६०
सतीनामग्रणीः ६।४९
सदा नित्यस्य १७।४९
स दृष्टो गदितः ३।३
सदोपवासं निरवद्य २०।५६
सद्यो वशीकर्तुं १।४७
सद्वाक्यमविचाराणां ५।७३
स नत्वैवं करोमीति ४।६१
सप्तभिः सप्तकैः १८।१२
सप्तवर्षसहस्राणि १४।७५,१४।७८
स प्राह दृष्ट १५।७३
स प्राह भारताद्येषु ४।३
स भग्नो दशमे १२।३७
सभायामथ २।१
स मत्स्यः कच्छपः १०।४०
समस्तद्रव्य ९।५७
समस्तलब्धयः १८।७९
समस्तैरप्यसर्वज्ञैः १७।१६
समेत्य तत्र १०।८४
समेत्य भूसुरैः १५।७०
समेत्य वेगेन १२।८५
समेत्य शकटोद्यानं १८।४०
सम्यक्त्वज्ञान १८।७८
सम्यक्त्वतो नास्ति २०।७६
सम्यक्त्वसहिते १९।९
सरागत्वात्तदंशानां १०।३५
सर्वजीवकरुणा २०।५७
सर्वज्ञभाषितं २।५७
सर्वज्ञस्य विरागस्य १७।८१
सर्वज्ञेन विना १७।१३
सर्वज्ञो व्यापकः १३।४४
सर्वतो ऽपि विजहार ४।८३
सर्वतो यत्र ३।२३
सर्वप्राणिध्वंस २०।६०
सर्वत्र मैत्रीं कुरुते २०।७४
सर्वत्र लोके ऽशन ११।९१
सर्वत्राष्टगुणाः १२।२९
सर्वथास्माकं १३।२
सर्वधर्मक्रिया २०।५
सर्वरोगजरा ७।३१
सर्वर्तुभिर्दर्शित १।६५
सर्ववेदी कथं १६।१५
सर्वशून्यत्वनैरात्म्य १७।७३
सर्वाणि साराणि १।३०
सर्वाभिरपि नारीभिः ६।२७
सर्वामेध्यमये १३।६८
सर्वाशुचिमये १५।१३
सर्वे कर्मकरास्तस्य ८।१९
सर्वे रागिणि १३।७६
सर्वे सर्वेषु कुर्वन्ति १५।४९
सर्वो ऽपि दृश्यते २०।२५
सलिलं मृगतृष्णायां १८।२९
स विलोक्य १५।२२
स शंसति स्म १३।२३
स श्रुत्वा वचनं ५।२३
सस्त्रीकस्तीर्थ ११।६७
सहस्रैर्याति गोपीनां ११।२६
स हैमेन हलेन ८।४७
संचारो यत्र २०।२
सन्ति धृष्टमनसः ३।९०
संतोषेण सदा १९।६६
संधानं पुष्पितं १९।८२
संपत्स्यते ऽत्र १४।२२
संपद्यमान ६।३३
संपद्यमानोद्धत १।६०
संपन्नं धर्मतः २।२८
संबन्धा भुवि १५।४८
संबोध्येति प्रियां ४।७२
संयमो नियमः १७।२९
संयुज्यन्ते वियुज्यन्ते ६।६६
संयोगो दुर्लभः ६।६७
संवत्सराणां विगते प्रा२०
संवेगनिर्वेद २०।७३
संसारे दृश्यते १८।३५
संसारे यत्र २।७१
संस्कृत्य सुन्दरं ७।६८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्पर्शभीत ११।५
सा कृत्वा भृकुटीं ५।१४
साक्षीकृत्य व्रत १९।७
साचष्ट साधो १४।१००
सा जगाद दुराचारा ५।७०
सा टिण्टाकीलिके १६।७३
सा तथा स्थितवती ४।८६
सा तं सर्वतपोरिक्तं ११।४७
सा तेन भूभृता १५।२७
साधिताखिलनिजेश्वर ४।८७
साधो गृहाण ८।६१
साध्वी तथा स्थिता ४।५१
सामन्तनगरस्थायाः ४।४७
सारासाराचार ९।९०
सारासाराणि यः ८।४६
सार्धं पवनवेगेन १२।५४
सार्धे मासे ततः १४।१६
सावादीन्न मया ५।४१
सा विबुध्य दयिता ४।८५
सा विहस्य सुभगा ४।९२
सा समेत्य सह ४।९०
सिद्धान्त प्रा१
सुखतो गृह्यते १९।१४
सुखदुःखादिसंवित्तिः १७।५०
सुखेन शक्यते ५।२४
सुदुर्वारं घोरं १८।१००
सुभाषितं सुखाधायि ४।४४
सुरतानन्तरं १४।८६
सुशीलानां सुरूपाणां ९।३८
सुहृदस्ते वचः ३।५०
सुन्दरं मन्यते ४।७७, ७।१३
सुन्दराः सुभगाः २।३०
सुन्दरी च कुरङ्गी च ४।४८
सुन्दरी निगदति ४।९१
सुन्दरी भणितां ४।५०
सुन्दर्याः स्वयं ५।१६
सूत्रकण्ठास्ततः १३।१, १४।९
सूत्रकण्ठैस्ततः १३।५
सूनावसूनुर्विरही २०।८२
सूरीणां यदि १७।६४
सृष्टिस्थितिविनाशानां १७।७९
सो ऽगात्तस्याः १५।३२
सो ऽजायत महान् ७।३९
सो ऽज्ञानव्याकुल ७।२६
सो ऽमन्यत प्रियं ५।४
सो ऽमन्यताधमः ७।२२
सो ऽवादीति ३।५२
सो ऽवादीदहं १०।७२
सो ऽवादीद् भद्र ५।५१
सो ऽवोचद्बहवः ६।३७
सौधर्मकल्पाधिपतिः १६।१०१
स्तनंधयो युवा २।५२
स्तबकस्तननम्राभिः ३।४७
स्तवैरमीभिर्मम १।७
स्त्रियां क्वचित् १।३८
स्त्रीपुंसयोर्मतः ६।७३
स्त्रीपुंसयोर्युगं १८।१३
स्थापयित्वास्य ११।६६
स्थावरेष्वपि १९।२०
स्थितोऽहं तापस १४।३४
स्नेहशाखी गतः ६।११
स्फुटमशोक ६।८२
स्फुटितं विषमं ९।१६
स्मरं जितस्वर्गि ८।८३
स्रष्टारो जगतः १७।८४
स्वकीयमधुना ९।४४
स्वकीयया श्रिया ११।७८
स्वजनशकुन १०।९८
स्वमातुर्भवने ५।१५
स्वयं च संमुखं १६।३४
स्वर्गापवर्गसौख्यादि १७।७५
स्वर्गावतरणे १८।२३
स्ववृत्ते ऽपि मया १३।४
स्वविभूत्यनुसारेण २०।२२
स्वस्य भागत्रयं १२।१
स्वस्वपाण्डित्यदर्पेण १८।५७
स्वाध्यायः साधु ८।९
स्वान्तरस्थप्रिया १२।१३
स्वीकरोति पराधीनं ५।७
स्वेच्छया स सिषेवे १५।३३
स्वेदः खेदस्तथा १३।५३
स्वे स्वे स्थाने ११।९५
स्वोपकाराक्षमः १६।५८
स्खलनं कुरुते ५।६६

ह

हट्टे तेन ततः ८।३९
हन्तुं दृष्ट्वाङ्गिनः १९।२९
हन्यते येन १९।३२
हन्यन्ते त्रिदशाः २।५४
हन्यमाना हठात् १७।२०
हरनारायण ११।१५
हरः कपालरोगार्तः १३।७२
हरः शिरांसि १६।५७
हरिनामाभवत् १२।६३
हरे हर तपः ११।३३
हसित्वा भूभुजा ८।३८
हस्तमात्रं ततः ८।३६
हस्त्यश्वरथ २।५०, १०।२३
हारकङ्कण ३।७४, ७।३
हासं हासं सर्व ९।८५
हारयष्टिरिव २०।५३
हालिकेन ततः ८।१२
हालिको भणितः ८।३४
हालिको ऽसौ ततः ८।४०
हिते ऽपि भाषिते ५।७४
हित्वा लज्जां गृहं १८।५२
हिमांशुमालीव १।४४
हिंसा निवेद्यते १७।५
हुताश इव काष्ठं ६।७६
हेतुर्निवार्यते १४।५१
हेयाहेयज्ञान ९।८८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org